1.3. H1P

B.R. Sarayambhu Chaitanya

अथ द्वितीयं वर्णकम्

आत्मा श्रोतव्य इत्यस्य विधेर्वेदान्तवाक्यगः ।
विचारो विषयः साक्षात् स निरूप्योऽत्र वर्णके ॥
वेदान्तव्यवधानेन ब्रह्मैक्यं विषयो विधेः ।
निरूपितः स पूर्वस्मिन् वर्णके सप्रयोजनः ॥
वेदान्ता यदि शून्याः स्युर्विषयेण फलेन च ।
तदा दूरे तद्विचारोऽतस्तयोः पूर्वमीरणम् ॥
सम्भाविते विचारेऽद्य पूर्वमीमांसया स किम् ।
गतो न वेति सन्देहे निर्णयोऽत्राऽभिधीयते ॥

ननु वेदान्तानामर्थनिर्णयाय न्यायकलापोऽपेक्षितः। स च 'अथातो धर्म-

---

द्वितीय वर्णक

[प्रथम श्लोकसे द्वितीय वर्णकके प्रमेयका संग्रह करते हैं—]

'आत्मा श्रोतव्यः' (आत्माका श्रवण–विचार–करना चाहिए) इस विधि-वाक्यका साक्षात् विषय वेदान्तवाक्योंसे किया जानेवाला विचार है, उसका ही इस (द्वितीय) वर्णकमें निरूपण किया जायगा ।

[द्वितीय श्लोकसे प्रथम वर्णकके प्रमेयका उपसंहार करते हैं—]

वेदान्तशास्त्रोंके द्वारा ब्रह्मके ऐक्य--जीव और ब्रह्मके ऐक्य--(अथवा सर्व-तादात्म्य) रूप विषयका प्रथम वर्णकमें प्रयोजनके सहित निरूपण किया गया है ।

[तृतीय श्लोकसे सर्वप्रथम विषय तथा प्रयोजनके निरूपणकी आवश्यकता दिखलाते हैं—]

यदि वेदान्तशास्त्र विषय तथा प्रयोजनसे रहित हों अर्थात् इन शास्त्रोंका न तो कोई विषय हो और न कोई प्रयोजन हो, तो इनका विचार करना प्राप्त ही नहीं होता, इसलिए सर्वप्रथम इन दोनोंका (विषय और प्रयोजनका) वर्णन करना उचित है ।

वेदान्तोंके विषय तथा प्रयोजनके सिद्ध होनेपर उन वेदान्तोंका विचार करना अवश्य सम्भावित होता है, परन्तु अपेक्षित विचार पूर्वमीमांसशास्त्रसे गतार्थ है या नहीं, इस सन्देहका यहाँ निर्णय किया जाता है ।

वेदान्तवाक्योंका अर्थनिर्णय करनेके लिए न्यायवाक्योंकी अपेक्षा होती

जिज्ञासा' इत्यादिसूत्रैः सूत्रितः। न च विधिवाक्यार्थस्य तत्र निर्णयः प्रवृत्त इति वाच्यम्, कृत्स्नवेदस्य विधिमात्रपरत्वात्। वेदान्ताः सिद्धपरा इति चेत्, न ; तेषामप्यात्मा द्रष्टव्य इत्यादिज्ञानविधिपरत्वात्। तर्हि क्रियाविधिकलापः पूर्वमीमांसायां निरूपितः ज्ञानविधिनिरूपणायोत्तरमीमांसाऽऽरभ्यतामिति चेद्, न ; उत्पत्तिविनियोगप्रयोगाधिकाराणां चतुर्णां विध्यपेक्षितरूपाणां क्रियायां निरूपितानां ज्ञानेऽपि न्यायसाम्येन बोद्धुं शक्यत्वात्।

है। ऐसे न्यायवाक्योंका 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इत्यादि सूत्रोंसे प्रतिपादन किया गया है। उनमें केवल विधिवाक्योंके (कर्मकाण्डोंके) अर्थका ही निर्णय किया जाता है, ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि सम्पूर्ण वेदवाक्योंका तात्पर्य विधिमें—क्रियाकलापात्मक कर्मकाण्डमें— ही है [अर्थात् कोई भी ऐसा वेदवाक्य नहीं है, जिसका विचार विधिवाक्योंके विचारसे प्रवृत्त पूर्वमीमांसामें न किया गया हो]। वेदान्तवाक्योंका सिद्ध वस्तुके प्रतिपादनमें तात्पर्य है [साध्यस्वरूप कर्मकाण्डमें नहीं] यह कहना भी उचित नहीं है, कारण कि उनका (वेदान्तवाक्योंका) भी 'आत्मा द्रष्टव्यः' (आत्माका साक्षात्कार करना चाहिए) इत्यादि ज्ञानविधिमें तात्पर्य है। तब तो क्रियाकलापात्मक कर्मकाण्डविधिका निरूपण पूर्णमीमांसामें हो ही गया, सिद्ध वस्तुके विवेकात्मक ज्ञानविधिके निरूपणके लिए उत्तरमीमांसाशास्त्रका आरम्भ किया जाय ? ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि विधिवाक्योंसे अपेक्षित उत्पत्ति, विनियोग, प्रयोग तथा अधिकार इन चारोंका क्रिया—कर्मकाण्ड—में निरूपण किया गया है; इन्हें न्यायसाम्यसे ज्ञानमें भी जान सकते हैं, [क्योंकि वाक्यार्थ तो सर्वत्र समान रीतिसे ही होता है]।

[अर्थात् क्रियाकलापकी सिद्धि इन चारोंके विना नहीं हो सकती, अतः इनके ही कारण विधिवाक्योंमें विधिवाक्यत्व बनता है, अन्यथा नहीं। इससे सिद्ध होता है कि जिसको इन चारोंकी अपेक्षा हो, वही विधिवाक्य है। एवं ज्ञानको भी इन चारोंकी अपेक्षा होती है, इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञानविधि भी क्रियाकलापके तुल्य विधि ही है। इस तरह ज्ञान तथा क्रिया इन दोनों विधियोंमें कोई वैषम्य नहीं है, यह तात्पर्य है।]

तत्रोत्पत्तिविधिर्नाम कर्मस्वरूपमात्रबोधकः 'अग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादिः। तथाऽङ्गाङ्गिसम्बन्धबोधकः 'दध्ना जुहोति' इत्यादिर्विनियोगविधिः। साङ्गप्रधानकर्मण्यनुष्ठानबोधकः प्रयोगविधिः। स च श्रौत इति भाट्टाः। विध्याक्षेपलक्षणोपादानप्रमाणेन कल्पनीय इति प्राभाकराः। फलकामिनो जीवनादिनिमित्तवतो वा कर्मण्यधिकारप्रतिपादकोऽधिकारविधिः। त एते विधयः क्रियायां निरूपिता ज्ञानेऽपि यथायोगमुत्प्रेक्षितुं शक्याः। अन्यथा क्रियामेकामुदाहृत्य निरूपिताः क्रियान्तरे पुनः प्रतिपादनीयाः स्युः।

नन्वभ्यधिकाशङ्काभिर्निराकरणायाध्यायान्तरवच्छास्त्रान्तरमारम्भणी-

---

[उत्पत्ति आदि चारों विधियोंका विवेक दिखलाते हैं—] उनमें कर्मके स्वरूपमात्रका बोध करानेवाली विधि उत्पत्तिविधि है, जैसे 'अग्निहोत्रं जुहोति' (अग्निहोत्र करना) इत्यादि। अङ्गाङ्गिभावरूप सम्बन्धका प्रतिपादन करनेवाली विधि विनियोगविधि है, जैसे 'दधि–दही—से हवन करना' इत्यादि। अङ्ग सहित प्रधान कर्ममें अनुष्ठानका बोध करानेवाली विधि प्रयोगविधि है। वह प्रयोगविधि श्रौत—साक्षात् श्रुतिके तात्पर्यकी विषय—है, ऐसा भट्टमतानुयायी कहते हैं। विधिके आक्षेपात्मक उपादानप्रमाणसे उस प्रयोगविधिकी कल्पना की जाती है, ऐसा प्रभाकरानुयायी मीमांसक कहते हैं। स्वर्गादि फलकी इच्छा रखनेवाले तथा यावज्जीवन शुचिकालकी रक्षाके निमित्त राहूपरागमें स्नान आदिके लिए उपस्थित होनेवाले पुरुषके अश्वमेध आदि यागात्मक स्नान, संध्या आदि क्रियाकलापमें अधिकारका प्रतिपादन करनेवाली विधि अधिकारविधि है। इस प्रकार उक्त चारों विधियाँ, जिनका क्रियामें निरूपण किया गया है, ज्ञानकाण्डमें भी यथायोग—जहांपर जिस प्रकार जिस विधिका समावेश हो सके—लगाई जा सकती हैं। अन्यथा इन चारों विधियोंका जिस एक क्रियाका उदाहरण देकर निरूपण किया गया हो उसी क्रियामें समझी जायँगी, दूसरी क्रियामें पुनः इनका निरूपण करना होगा।

अधिक आशङ्काओंसे (एकके निरूपणके अनन्तर प्रसङ्गसे क्रमशः प्राप्त हुई शङ्काओंसे) [उत्पन्न हुए सन्देहको] दूर करनेके लिए दूसरे-दूसरे अध्यायोंके आरम्भके तुल्य एक शास्त्रके अनन्तर दूसरे शास्त्रका आरम्भ करना

यम् । तथा हि—वेदाप्रामाण्यशङ्कायां प्रथमेऽध्याये तत्प्रामाण्यं निरूपितम् । सर्वकर्मैक्यशङ्कायां द्वितीये 'यजति', 'जुहोति' इत्यादिशब्दान्तरादिहेतुभिरुत्पत्तिविधिभेदपूर्वकः कर्मभेदो निरूपितः । सर्वत्र समप्राधान्यशङ्कायां तृतीये श्रुतिलिङ्गादिप्रमाणैरङ्गाङ्गिभाव उक्तः । चतुर्थे क्रत्वर्थत्वेनैतावतामनुष्ठानं पुरुषार्थ-

चाहिए । जैसे—वेदोंमें प्रामाण्यकी आशङ्काका उदय होनेसे [बारह अध्यायवाली पूर्वमीमांसाके] प्रथम अध्यायमें उनके प्रामाण्यका निरूपण किया गया है । सब प्रकारके कर्मोंमें एक ही प्रकारकी विधि प्राप्त होनेकी आशङ्कासे द्वितीय अध्यायमें 'यजति' (याग करना), 'जुहोति' (हवन करना) इत्यादि दूसरे-दूसरे (भिन्न-भिन्न) शब्द आदि हेतुओंसे उत्पत्ति, विधि आदि भेदपूर्वक कर्मोंका भेद दिखलाया गया है । सभी विधिवाक्योंमें समानभावसे प्रधानता प्राप्त होनेकी शङ्कासे तृतीय अध्यायमें श्रुति[2], लिङ्ग[3] आदि प्रमाणोंसे अङ्गाङ्गिभावका—गुणगुणिभावका अर्थात् किसीमें प्रधानत्व और किसीमें उसके उपकारकत्वका निर्णय किया गया है । चौथे अध्यायमें

(१) उत्पत्ति, प्रयोग, विनियोग और अधिकार—इस प्रकार चार भेद पहले दिखलाये गये हैं । चारोंका स्वरूपवर्णन आगे चलकर मूलमें ही होगा ।

(२) श्रुत्यादि-न्याय इस प्रकार दिखलाया गया है—श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' यह जै० सूत्र है । इसका तात्पर्य यह है कि सूत्रमें पठित श्रुति आदि जहांपर सब प्राप्त हों वहांपर परको बाध कर पूर्व-पूर्वको मानना चाहिए । [इसमें सूत्रकार अर्थविप्रकर्ष हेतु देते हैं ।] अर्थात् श्रुत्यादिमें लिङ्ग आदि पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा पर-पर विलम्बसे अर्थका बोध कराते हैं, अतः पूर्वकी अपेक्षा पर दुर्बल हैं ।

जैसे—'व्रीहीन् अवहन्ति' यह श्रुति दूसरे प्रमाणकी अपेक्षा न रखती हुई स्वतः प्रमाणभूत है । यहांपर अवघातक्रियासे उत्पन्न अतिशयका भागी होना रूप कर्मपदार्थको द्वितीया विभक्तिकी श्रुति ही अपनी प्रकृतिके अर्थभूत व्रीहिको क्रियाके प्रति शेषी—प्रधान—बतला रही है । इसमें दूसरे प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है ।

(३) अर्थविशेषका प्रकाश करनेकी सामर्थ्य लिङ्गमें है, जैसे 'बर्हिर्देवसदनं दामि' इस मन्त्रमें उपलादिलवनमें भी अङ्गत्व प्राप्त हो सकता है, परन्तु शब्दसामर्थ्यसे पुरोडाशके सदनस्वरूप कुश, काश आदि स्वरूप मुख्य बर्हिका ही लवन लिया जाता है । कहा भी है—'सामर्थ्यं सर्वशब्दानां लिङ्गमित्यभिधीयते' अर्थात् शब्दसामर्थ्यका नाम लिङ्ग है ।

(४) परस्पर आकाङ्क्षादि द्वारा एक ही अर्थमें तात्पर्यका पर्यवसायक पदसमूह वाक्य

त्वेन चैतावतामिति निर्धारितम्। पञ्चमे 'वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत' इत्यादौ क्रमो दर्शितः। षष्ठे कामिन इहाधिकारो जीवनादिनिमित्तवतश्चेहेति विचारितम्। इति पूर्वषट्केन प्रकृतिविध्यपेक्षितो विचारः कृतः। समग्राङ्गसंयुक्तो विधिः प्रकृतिः। विकलाङ्गसंयुक्तो विधिर्विकृतिः। विकृतिविध्यपेक्षितो विचारः सप्तममारभ्योत्तरषट्केन कृतस्तत्रापि सप्तमेन प्रकृत्युपदिष्टानामङ्गानां सामान्येन विकृतावतिदेशो निर्णीतः। इत्थं कुर्यादित्युपदेशस्तद्वत्कुर्यादित्यतिदेशः। अष्टमे तु प्रकृतिभूतायां दर्शपूर्णमासाख्यायामिष्टावाग्नेयोऽष्टाकपाल इत्यत्र पुरोडाशप्रकृतिद्रव्यभूतानां व्रीहीणां ये निर्वापावघातप्रोक्षणादयो धर्मा अभिहितास्ते विकृतिभूतसौर्यचरौ व्रीहि-

---

इतनी विधियोंका अनुष्ठान यज्ञका और इतनी विधियोंका अनुष्ठान पुरुषका उपकार करते हैं, यह निर्णय किया गया है। [किसके अनन्तर किसका विधान हो, इस संशयकी निवृत्तिके लिए] पाँचवें अध्यायमें 'वाजपेयनामक यागके अनन्तर 'बृहस्पतियज्ञसे याग करे' इत्यादि वाक्योंमें विधियोंका क्रम दिखलाया गया है। [अधिकारीकी जिज्ञासासे] छठे अध्यायमें कामनावाले पुरुषके [काम्यविधिमें] तथा जीवन आदि निमित्तवाले पुरुषके [नित्य-नैमित्तिकविधिमें] अधिकारका प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार पूर्वमीमांसाशास्त्रके प्रथम छः अध्यायोंसे प्रकृतिविधिमें अपेक्षित विचार किया गया है। सम्पूर्ण अङ्गोंके सहित विधिको प्रकृति कहते हैं और अङ्गोंकी कमी रखनेवाली विधिको विकृति कहते हैं। इस विकृतिविधिका उपयोगी विचार, सातवें अध्यायमें आरम्भ कर, उत्तरार्द्धके छः अध्यायोंमें किया गया है। उनमें भी सातवें अध्यायसे प्रकृतिमें उपदेशरूपसे कहे गये अङ्गोंका विकृतिमें अतिदेश होता है, ऐसा सामान्य नियम बतलाया गया है। 'ऐसा करे' इस प्रकारके कथनको उपदेश कहते हैं। और 'वैसा करे' इसको अतिदेश कहते हैं। आठवें अध्यायमें प्रकृतिस्वरूप दर्शपूर्णमासनामक इष्टिमें—यागमें—'आग्नेयोऽष्टाकपालः', (अग्निदेवतासम्बन्धी पुरोडाश आठ कपालोंमें पकाया जाता है) इस विधिमें पुरोडाशकी प्रकृतिरूप [जिन द्रव्योंसे पुरोडाश बनाया जाता है]

कहलाता है। जैसे—'यस्य पर्णमयी जुहूः' (जिसकी पर्णमयी जुहू है।) इत्यादि वाक्यमें परस्पर समभिव्याहारसे पर्णता और जुहूमें अङ्गाङ्गिभाव प्राप्त होता है।

द्रव्यसारूप्यद्वारेण चरुप्रकृतिभूतव्रीहिष्वप्यतिदिश्यन्त इत्यादिविशेषातिदेशो निरूपितः। तदुक्तम्—

'सप्तमेनातिदेशेन धर्माः सन्तीति साधिते।
ततोऽष्टमेन यो यस्य यतश्चेति निरूपणा॥' इति।

नवमे तु प्रकृत्युपदिष्टमन्त्रसामसंस्कारकर्मणां विकृतावतिदिष्टानां प्रकृति-

द्रव्य धानोंके निर्वाप, अवघात, प्रोक्षण आदि जो धर्म बतलाये गये हैं, उन धर्मोंका विकृतिभूत सूर्यदेवतासम्बन्धी चरु—हवनद्रव्य—में व्रीहिरूप द्रव्यके सादृश्यसे चरुके प्रकृतिभूत द्रव्यमें भी अतिदेश किया जाता है, इस रीतिसे विशेष अतिदेशका निरूपण किया गया है। ऐसा कहा भी है—

सप्तम अध्यायमें प्रतिपादित अतिदेशसामान्यसे धर्मोंकी सत्तामात्रका साधन किया गया है, और जिस धर्मका जिससे अतिदेश किया जाता है, इस प्रकारका विशेष अतिदेश आठवें अध्यायमें कहा गया है।

नवें अध्यायमें तो प्रकृतिमें उपदिष्ट और विकृतिमें अतिदेशसे

(१) कार्यान्तरकी अपेक्षाके बलसे दो वाक्योंकी परस्पर आकाङ्क्षासे एकवाक्यताको प्रकरण कहते हैं। जैसे प्रयाजादिमें 'समिधो यजति' (समिधका याग) इत्यादि वाक्यमें फल-विशेषका निर्देश न होनेसे इतना ही बोध होता है कि समिद्यागसे भावना करे, परन्तु यथा भावना करे, ऐसी आकाङ्क्षा बनी ही रह गयी। एवं दर्शपूर्णमासवाक्यमें 'दर्शपूर्ण-माससे स्वर्गकी भावना करे।' इतना ही बोध होता है। 'कैसे करे' इति कर्तव्यताकी आकाङ्क्षा बनी ही रहती है, इसलिए प्रयाजवाक्य और दर्शपूर्णमासवाक्योंमें, परस्पर साकाङ्क्ष होनेसे, अङ्गाङ्गिभाव उपपन्न होता है।

(२) क्रम अर्थात् देशसामान्य, वह पाठसादेश्यसे हो अथवा अनुष्ठानसादेश्यसे हो, स्थान कहलाता है। जैसे 'इन्द्राग्निदेवताक एकादश कपालमें संस्कृत पुरोडाशका निर्वाप करे, और विश्वानरदेवताक द्वादश कपालमें संस्कृत पुरोडाशका, इस प्रकार क्रमसे विहित कर्मोंमें 'इन्द्राग्नी रोचनादिव' इत्यादि मन्त्रोंका यथासंख्य प्रथम मन्त्रका प्रथम कर्ममें, द्वितीयका द्वितीयमें क्रमात्मक स्थानबलसे विनियोग होता है।

(३) योगशब्दोंका योगार्थ समाख्या कही जाती है। जैसे 'होतुरिदं हौत्रम्' यहांपर यौगिक अणुके बलसे हौत्रपदसे विधीयमान कर्म होतासे ही किये जानेवाले होते हैं, इसी समाख्याके बलसे 'औपनिषद' पदसे भी ब्रह्मज्ञानका साधन वेदान्तवाक्य माना गया है। इनके परस्पर विरोधका उदाहरण विस्तारभयसे नहीं दिया गया है।

विकृत्योर्द्रव्यदेवताभेदे सति प्रकृतिगतद्रव्यादिशब्दं विहाय विकृतिस्थितद्रव्यादिशब्दाध्याहारादिलक्षण ऊहो दर्शितः। तद्यथा 'अग्नये जुष्टम्' इति मन्त्रस्य विकृतौ सूर्याय जुष्टमिति पदप्रक्षेपः। दशमे तु विकृतावतिदिष्टानामङ्गानां प्रकृतौ सावकाशानां विकृतिगतविशेषाङ्गोपदेशादिना बाधो दर्शितः। तद्यथा विकृतावतिदेशप्राप्तानां प्रकृतिसम्बन्धिबर्हिषां शरमयं बर्हिरिति विकृतिगतविशेषोपदेशेन बाधः। तथा 'कृष्णलान् श्रपयेत्' इति विहिते विकृतिभूते कृष्णलपाके प्राकृता अवघातादयः प्राप्ताः, तत्र कृष्णलाख्येषु सुवर्णशकलेषु रूपविमोकासम्भवादवघातस्य बाधः। तथा 'तौ न पशौ करोति' इति निषेधात् पशावाज्यभागयोर्बाधः। एकादशे त्वनेकशेषिविधि-

प्राप्त मन्त्र, साम, संस्कार और कर्मोंका प्रकृति और विकृतिमें द्रव्य-सम्बन्धी देवताओंका भेद होनेपर प्रकृतिमें आये हुए शब्दोंका त्याग कर विकृतिमें आये हुए द्रव्यादि शब्दोंका अध्याहार आदिरूप ऊह दर्शाया गया है। जैसे कि 'अग्नये जुष्टम्' इस मन्त्रका विकृतिमें 'सूर्याय जुष्टम्' ऐसा पदप्रक्षेप किया गया है। दसवें अध्यायमें तो विकृतिमें अतिदिष्ट (अतिदेश द्वारा प्राप्त किये गये) जिन्होंने प्रकृतिमें अवकाश प्राप्त किया है अर्थात् जो चरितार्थ हैं—ऐसे अङ्गोंका विकृतिमें दर्शाये गये विशेष अङ्गोंके उपदेश आदिसे बाध दिखलाया गया है। जैसे विकृतिमें सामान्य अतिदेशवाक्यसे प्राप्त हुए प्रकृतिसम्बन्धी (प्रकृतिमें चरितार्थ हुए) कुशोंका 'शरमयं बर्हिः' (शरकण्डा कुश होना चाहिए) विकृतिमें किये गये विशेष उपदेशसे बाध होता है। एवम् 'कृष्णलोंका पाक करे' इस वाक्यसे प्रतिपादित विकृतिरूप कृष्णलपाकमें प्रकृतिमें होनेवाले अवघात आदि प्राप्त होते हैं। परन्तु वहांपर कृष्णलनामसे कहे जानेवाले सुवर्णके टुकड़ोंमें रूपका विमोक असम्भव है, इसलिए अवघातका बाध होता है। [जैसे व्रीहि आदि द्रव्योंमें अवघात द्वारा उनके तुषादिको पृथक् कर देनेसे प्रथमरूपका परित्याग सम्भव है वैसे सुवर्णके खण्डोंमें सम्भव नहीं है]। तथा 'तौ पशौ न करोति' (उन दोनोंको पशुमें न करे) इस निषेधसे पशुमें आज्य भागोंका बाध होता है। ग्यारहवें अध्यायमें अनेक शेषी—प्रधान—विधिमें प्रयुक्त शेष—उपकारक—विधिका एक बार अनुष्ठान कर देनेसे ही सम्पूर्ण शेषी विधियोंकी उपकारसमानता तन्त्रनामसे कही

प्रयुक्तस्य शेषस्य सकृदनुष्ठानादेव सर्वशेषिणामुपकारसाम्यरूपं तन्त्रनामकमुक्तम् । तद्यथा—आग्नेयोऽष्टाकपालः, उपांशुयागमन्तरा यजति, अग्नीषोमीय एकादशकपाल इत्युक्तपौर्णमासकर्मप्रयुक्तस्य प्रयाजादेः सकृदनुष्ठानादेव शेषित्रयोपकार इति । द्वादशे त्वेकशेषिप्रयुक्तशेषानुष्ठानस्यप्रयोजकसामर्थ्यप्रयुक्तशेष्यन्तरेऽप्युपकारः प्रसङ्गाख्यो दर्शितः । तद्यथा पशुविधियुक्ताङ्गानां पशुपुरोडाशेऽप्युपकारः। तदेवं प्रत्यध्यायमाशङ्कान्तरनिराकरणेन विध्यसम्भेदो यथा निरूपितस्तथा प्रतिपत्तव्यस्य ब्रह्मणः प्रत्यक्षादिभिरसिद्धत्वात् प्रतिपत्तिविध्ययोगाशङ्कायां तन्निराकरणायोत्तरमीमांसाऽऽरभ्यत इति ।

तदेतदयुक्तम्, प्रत्यक्षाद्यसिद्धानामपि यूपाहवनीयादीनां यथा सिद्धिस्तथा ब्रह्मणोऽपि सिद्धौ पृथग् मीमांसानर्थक्यात् ।

गई है । जैसे 'अग्नि देवताके निमित्त आठ कपालोंमें संस्कृत पुरोडाश, उपांशुयाग, अग्नीषोमीय एकादश कपालमें संस्कृत पुरोडाश, इस प्रकार उक्त पौर्णमास कर्ममें प्रयुक्त प्रयाज आदि अङ्गका एक बार अनुष्ठान करनेसे ही शेषी तीनोंका उपकार हो जाता है । बारहवें अध्यायमें एक शेषीसे प्रयुक्त शेषके अनुष्ठानसे पुनः अनुष्ठान न करानेवाले और अनुष्ठान करानेकी सामर्थ्य रखनेवाले दूसरे शेषीकी उपकारसिद्धिका प्रसङ्गनामसे निरूपण किया गया है । जैसे—पशुविधिके अङ्गोंका पशुपरोडाशमें भी उपकार हो जाता है । इस प्रकार प्रत्येक अध्यायमें दूसरी दूसरी आशङ्काओंको दूर करनेसे जैसे विधिके अंशोंका भेद निरूपित है वैसे ही ज्ञेय ब्रह्मकी प्रत्यक्षादि शब्देतर प्रमाणोंसे सिद्धि न होनेसे प्रतिपत्ति—ज्ञानविधि—का सम्बन्ध प्राप्त न होनेकी * आशङ्काके उदय होनेसे उत्तरमीमांसा—वेदान्तविचारात्मक शास्त्र—का आरम्भ किया गया है ।

इस पूर्वोक्त प्रकारसे उत्तरमीमांसाके आरम्भकी आवश्यकताको सिद्ध करना युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे सिद्ध न होनेवाले यूप—स्तम्भ—आहवनीय—अग्नि—आदि पदार्थविशेषोंकी जैसे सिद्धि होती है, वैसे ही ब्रह्मके भी सिद्ध हो सकनेसे अलग उत्तरमीमांसाशास्त्रका आरम्भ करना सार्थक नहीं हो सकता ।

---

* जब कोई प्रतिपत्तव्य सिद्ध हो तब उसकी प्रतिपत्तिके लिए विधि करना सम्भव है, परन्तु जब ज्ञेय ही नहीं है, तो उसके लिए विधि कैसे सम्भव है ?

अथ मतम्—'यूपं तक्षति' इत्यादौ न यूपमुद्दिश्य तक्षणादि विधीयते, येन यूपाकारस्य लोकप्रसिद्धिरुपेक्ष्येत, किं तर्हि 'खादिरो यूपो भवति' इत्यादिनाऽवगतं खदिरादिप्रकृतिद्रव्यं तक्षति यूपं कर्तुमित्यलौकिकयूपाकारस्य साध्यत्वं प्रतीयते। स चाऽऽकारो'यूपे पशुं बध्नाति'इति विनियोगदर्शनाद्विशेषतोऽवगम्यते—तक्षणादिपरिनिष्पन्नः पशुबन्धाधारः काष्ठविशेषो यूप इति। एवमाहवनीयादयोऽपि। न त्वत्र तथा ब्रह्मणः किञ्चित्साधकमस्ति। तत आरब्धव्या

['यूपं तक्षति' इस वाक्यसे लोकसिद्ध यूपका विधान नहीं है। जिसका विधान है वह यूप केवल शास्त्रीय है, एवम् आहवनीय अग्निसे महानस आदिमें स्थित साधारण लौकिक अग्नि नहीं ली जाती, किन्तु मन्त्रादि द्वारा विधिपूर्वक संस्कृत अलौकिक अग्नि ली जाती है। जैसे यूप और तादृश अग्नि प्रत्यक्षादिसिद्ध नहीं है। तथापि 'यूपमष्टाश्री करोति', 'अग्नीनादधीत' इत्यादि वाक्योंसे इनके विधानकी सिद्धि होती है। इसके लिए पृथक् मीमांसा नहीं की गई है। वैसे ही ब्रह्मके प्रत्यक्षादि सिद्ध न होनेपर भी उसकी 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि दर्शन—ज्ञान—विधि उपपन्न हो सकती है, यह तात्पर्य है।]

यदि कहो कि 'यूपं तक्षति' (यूपको छीलता है) इत्यादि वाक्यमें यूपको उद्देश्य करके तक्षण—छीलने—का विधान नहीं है, जिससे कि यूपके स्वरूपकी लोकप्रसिद्धि न मानी जाय, किन्तु 'खादिरो यूपो भवति' (खैरका बना यूप होता है) इत्यादि वाक्यसे प्रतीत हुआ खदिर—खैरका पेड़—आदि यूपकी प्रकृतिभूत द्रव्य यूप बनानेके लिए छीला जाता है, इस प्रकार अलौकिक (प्रत्यक्षादिसे असिद्ध) यूपके आकारका [अष्टाश्रीकृत] साध्यत्व प्रतीत होता है। और वह आकार 'यूपमें पशु बाँधा जाता है' इत्यादि विनियोगके दिखाई देनेसे विशेषरूपसे प्रतीत हो जाता है—छिल कर बनाया गया, पशुके बन्धन—रस्सी, शृङ्खला आदि—का आधार एकविशेषप्रकारका काष्ठ यूप—स्तभ—कहलाता है। यही रीति आहवनीय आदि अग्निस्थलमें भी है। इस प्रकार प्रकृतमें ब्रह्मका साधक कोई नहीं है। अर्थात् अन्यत्र उसका विनियोग नहीं देखा गया है, इसलिए ब्रह्मविषयक प्रतिपत्तिविधिमें सम्भावित उक्त आशङ्काओंके निराकरणके लिए उत्तरमीमांसाशास्त्रके आरम्भकी आवश्यकता आ जाती है। तो यह कहना

उत्तरमीमांसेति । नैतदप्युपपन्नम्, ब्रह्मसिद्धिमन्तरेणापि 'योषा वा व गौतमाग्निः' इत्यादाविवाऽऽरोपितरूपेणोपासने प्रतिपत्तिविध्युपपत्तेः। ततोऽभ्यधिकाशङ्काया अभावान्नोत्तरमीमांसाऽऽरब्धव्या ।

अत्र केचित् सिद्धान्तैकदेशिनोऽभ्यधिकाशङ्कामेवमाहुः—'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इति ब्रुवता विधेः प्रामाण्यं दर्शितम्। न च 'सदेव सोम्य' इत्यादिवेदानां विधिरहितानां तत्सम्भवति । न च तेषां 'सोऽन्वेष्टव्यः' इत्यादिविधिभिरेकवाक्यतेति वाच्यम्, भावकर्मार्थवाचिनस्तव्यप्रत्ययस्य तत्र विधायकत्वाभावात्। विधावपि तव्यप्रत्यययोऽस्तीति चेत्, तथापि नेह विधिः सम्भवति, तव्यप्रत्ययस्य कर्माभिधायित्वात्। 'गन्तव्यम्' इत्यादौ

या मानना भी युक्त नहीं है, कारण कि ब्रह्मकी सिद्धिके बिना भी अर्थात् ब्रह्म असिद्ध भी हो, तो भी आरोपितरूपसे भी उपासनामें प्रतिपत्तिविधिका सम्भव है। जैसे—'हे गौतम, योषा—स्त्री—ही अग्निरूप है' इस वाक्यमें आरोपसे योषा अग्नि मानी जाती है। इसलिए किसी भी अधिक—अतिरिक्त—आशंकाके न होनेसे उत्तरमीमांसा—वेदान्तविचारशास्त्र—के पृथक् आरम्भ करनेकी आवश्यकता नहीं है। [यह शङ्का स्थिर होती है।]

समाधान—इस लम्बे प्रघट्टकसे की गई शङ्काका समाधान कोई सिद्धान्तैकदेशी अतिरिक्त शङ्काको ही इस प्रकार कहते हैं—[अतिरिक्त शङ्का यहांपर हो सकती है जिसके निराकरणके लिए पृथक् मीमांसा आवश्यक है।] 'प्रेरणात्मक अर्थ ही धर्म है' इस पू० मी० प्रथमसूत्रसे ही जैमिनिमुनिने विधिका प्रामाण्य दर्शाया है। 'हे सौम्य, सद्रूप ब्रह्म ही सत्य है' इत्यादि वेद [वेदान्त] वाक्योंका विधिरहित होनेसे प्रामाण्य सम्भव नहीं है, ऐसा भी नहीं कह सकते, और 'उस ब्रह्मकी खोज करनी चाहिए' इत्यादि विधिवाक्योंके साथ उनकी एकवाक्यता होगी, ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण कि भाव या कर्म*रूप अर्थका वाचक होनेवाला तव्यप्रत्यय विधिरूप अर्थका बोधक नहीं हो सकता। यदि कहो कि विधिरूप† अर्थमें भी तव्यका विधान है, तो भी प्रकृतमें विधि नहीं हो सकती है, क्योंकि प्रकृतमें तव्यप्रत्यय

---

* 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' पा० सूत्र ही तव्य आदि कृत्यप्रत्ययका भावकर्म अर्थ बोधन करता है।

† 'प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च' इस पाणिनिसूत्रसे प्रैष-विधि-में भी कृत्यप्रत्ययोंका विधान होता है।

तु तव्यप्रत्ययस्य भावार्थस्य प्राधान्येन स्वतन्त्रफलाय विधानं युक्तम्। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्यत्र कर्माभिधायितव्यप्रत्ययादपि धात्वर्थविषयो विधिर्दृष्ट इति चेद्, अस्त्वप्राप्तस्वाध्यायगतप्राप्तिफलाय तत्र विधिः। प्रकृते तु किं स्वतन्त्रफलाय कर्मीभूतब्रह्मणो दृष्टिर्विधीयते किं वा कर्मकारकगतफलाय। नाऽऽद्यः,अवघातादिवत् कर्मकारकद्रव्ये गुणभूताया दर्शनक्रियायाः स्वतन्त्रफलाय विधातुमशक्यत्वात्। न द्वितीयः, चतुर्विधं हि कर्मकारके क्रियाजन्यफलम्--उत्पत्तिराप्तिर्विकारः संस्कारश्च। तत्राऽऽद्यौ नित्यप्राप्ते निर्विकारे ब्रह्मणि न त्रिविधं फलं सम्भवति। नाऽप्यज्ञानाधर्मादिमलापकर्षणलक्षणः संस्कारः शङ्कनीयः, अवेक्षिताज्यस्येव संस्कृतस्य ब्रह्मणोऽन्यत्र विनियोगाभावात्।

कर्मरूप अर्थका बोधक है। 'गन्तव्यम्' इत्यादि पदस्थलमें तो भावार्थक तव्यप्रत्ययका प्रधानतया स्वतन्त्र फलके लिए विधान उचित है। [अर्थात् 'गन्तव्यम्' यहांपर किसी कर्मके न होनेसे क्रियाका प्राधान्य प्रतीत होता है। अतः भावार्थक तव्यप्रत्ययके बलसे गमनक्रियामें विधानकी प्रतीति संगत है, लेकिन 'सोऽन्वेष्टव्यः' इत्यादि स्थलमें तत्पदार्थरूप कर्मके रहते क्रिया प्रधान नहीं हो सकती, जिससे कि कर्मार्थक तव्यप्रत्यय भी विधिका बोध करा सके।] 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (स्वाध्याय---वेद---पढ़ना चाहिए) इस वाक्यमें कर्मार्थक तव्यप्रत्ययसे भी धातुके पठनरूप अर्थमें विधि देखी गई है, यदि ऐसा कहो, तो वहांपर अन्य प्रमाणसे प्राप्त न होनेवाले स्वाध्याय प्राप्तिरूप फलके लिए विधि मानी जा सकती है। प्रकृतमें तो क्या स्वतन्त्र फलके लिए कर्मकारक ब्रह्मदर्शनका विधान है अथवा कर्मकारकमें होनेवाले फलके लिए? इनमें पहला कल्प नहीं हो सकता, क्योंकि अवघात आदिके तुल्य कर्मकारकरूप द्रव्यमें विशेषणीभूत दर्शनक्रियाका स्वतन्त्र फलके लिए विधान नहीं बन सकता। दूसरा पक्ष भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि कर्मकारकमें क्रियाके द्वारा चार प्रकारका ही फल हो सकता है—उत्पत्ति, प्राप्ति, विकार और संस्कार। इनमें से प्रथम तीन फल तो उत्पत्तिरहित एवं नित्यप्राप्त तथा विकारशून्य ब्रह्ममें नहीं हो सकते। अज्ञान तथा अधर्मादि रूप मलको दूर करनेसे संस्कारात्मक फलकी भी आशङ्का नहीं हो सकती, क्योंकि अवेक्षण संस्कारसे संस्कृत घृतके तुल्य संस्कृत ब्रह्मका कहीं दूसरी विधिमें विनियोग नहीं है।

अथाऽऽत्मनि सक्तुन्यायेन विधिः सम्भविष्यति। तथा हि—'सक्तून् जुहोति' इति क्रतुप्रकरणे श्रवणात् क्रत्वङ्गता सक्तुहोमस्याऽवगता। तत्राऽङ्गानि द्विविधानि—अर्थकर्माणि संस्कारकर्माणि च। तत्र कारकाण्यनाश्रित्य स्वातन्त्र्येण गृहीतानि प्रयाजादीन्यर्थकर्माणि। व्रीह्यादिकारकगुणभूतानि संस्कारकर्माणि। तत्र न तावत् सक्तुहोमस्याऽर्थकर्मता, व्रीहिगुणप्रोक्षणवत् सक्तुद्रव्यगुणभूतत्वात्। नाऽपि संस्कारकर्मता। द्विविधो हि संस्कारः—विनियुक्तसंस्कारो विनियोक्ष्यमाणसंस्कारश्च। तद्यथा 'व्रीहिभिर्यजेत' इति विनियुक्तान् व्रीहीनुद्दिश्य विहितः प्रोक्षणादिर्विनियुक्तसंस्कारः। 'आहवनीये जुहोति' इति विनियोक्तुमग्नेराहवनीयत्वसिद्धये विहित आधानादिर्विनियोक्ष्यमाणसंस्कारः। तत्र होमेन भस्मीकृतानां सक्तूनां क्रतुं प्रत्यनुपकारिणां क्रतौ

सक्तुन्यायसे आत्मविषयक विधिका होना सम्भव होगा। सक्तुन्यायका दिग्दर्शन कराते हैं—'सक्तून् जुहोति' (सत्तुओंका हवन करता है) इस वाक्यका यज्ञप्रकरणमें श्रवण होनेसे सक्तुहोमकी यज्ञार्थता—यज्ञका उपकारक होना—प्रतीत होती है। ऐसे स्थलमें अङ्ग—उपकारक—दो प्रकारके होते हैं—एक अर्थकर्म और दूसरे संस्कारकर्म। उन दोनोंमें क्रतुके उपकारकोंका आश्रयण न करके स्वतन्त्ररूपसे उपात्त प्रयाज आदि अर्थकर्म कहलाते हैं और व्रीहि आदि कारकोंके विशेषण हुए संस्कारकर्म कहलाते हैं। इनमें सक्तुहोमको अर्थकर्म—स्वतन्त्रकर्म—नहीं मान सकते, कारण कि व्रीहिका विशेषण जैसे प्रोक्षण होता है वैसे प्रकृतमें होम भी सक्तुरूप द्रव्यका विशेषण है [जैसे 'व्रीहीन् प्रोक्षति' यहांपर प्रोक्षण स्वतन्त्र अर्थकर्म नहीं है वैसे ही 'सक्तून् जुहोति' इस वाक्यमें उपात्त होम भी स्वतन्त्र अर्थकर्म नहीं है, किन्तु सक्तुरूप द्रव्यका विशेषण है]। सक्तुहोम संस्कारकर्म भी नहीं हो सकता। संस्कार दो प्रकारका होता है—एक विनियुक्तका संस्कार और दूसरा विनियोक्ष्यमाणका संस्कार, जैसे 'व्रीहिसे याग करे' इस वाक्यसे यागमें विनियुक्त व्रीहिको उद्देश्य करके कहा गया [व्रीहीन् प्रोक्षति] प्रोक्षण आदि संस्कार विनियुक्तका संस्कार कहा जाता है। 'आहवनीये जुहोति' (आहवनीय—अग्नि—में हवन होता है) इस विनियोगकी सिद्धिके लिए अग्निको आहवनीय बनानेके निमित्त ['अग्नीनादधीत' इत्यादि] विहित आधानादि संस्कार विनियोक्ष्यमाणके संस्कार कहलाते हैं। इन दोनोंमें से सक्तुहोम कोई भी संस्कार

विनियोगासम्भवान्नोभयविधसंस्कारोऽप्यत्र घटते। न च सक्तुहोमवाक्यस्य वैयर्थ्यं युक्तम्, अध्ययनविधिपरिगृहीतत्वात्। तस्मात् 'सक्तून्' इति द्वितीययाऽवगतं प्राधान्यं विहाय सक्तुभिरिति तृतीयया परिणामेन सक्तूनां गुणभावं होमक्रियायाः प्राधान्यं चोपादायाऽर्थकर्मता निरूपिता। तद्वत् 'आत्मानमुपासीत' इत्यत्राऽप्यात्मनो विभक्तिविपरिणामेनाऽऽत्मगुणकमुपासनाकर्मैव स्वतन्त्रफलाय प्राधान्येन विधीयते।

विषम उपन्यासः। दृष्टान्ते हि शब्दतः करणभूता अपि सक्तवोऽर्थतः कर्मभूताः, होमक्रियाकृतातिशयस्य भस्मीभावलक्षणस्य विकारस्य सक्तुषु सद्भावात्। ततो 'जुहोति' इति सकर्मकधातुप्रयोगो युक्तः। दार्ष्टान्तिके तु यद्यात्मनोऽर्थतः कर्मत्वं तदोत्पत्त्यादीनां चतुर्णां क्रियाफलानामेकं वक्तव्यम्, तच्च निराकृतम्। अकर्मकत्वे चोपासीतेति

नहीं हो सकता, क्योंकि हवनसे भस्म किए गए सत्तुओंका क्रतुके प्रति कोई भी उपकार न होनेसे क्रतुमें विनियोग नहीं हो सकता। सक्तुहोमप्रापक वाक्यको व्यर्थ कहना उचित नहीं है, क्योंकि अध्ययनविधिसे उसका परिग्रह होता है। [अन्यथा स्थालीपुलाकन्यायसे अध्ययनविधिसे परिगृहीत स्वाध्यायमात्रके वैयर्थ्यका प्रसङ्ग हो जायगा।] इसलिए—सक्तुहोमकी सार्थकताके लिए—'सक्तून्' इस द्वितीयासे प्राप्त हुए प्राधान्यका त्यागकर उस पदको 'सक्तुभिः' इस प्रकार तृतीयाविभक्तिमें बदल देनेसे सक्तुओंके विशेषण होने और होमक्रियाके प्रधान होनेसे सक्तुहोममें अर्थकर्मताका निरूपण किया गया है। इस सक्तुहोमके तुल्य 'आत्माकी उपासना करे' इस वाक्यमें भी 'आत्मानम्' इस द्वितीयान्तपदको 'आत्मना' तृतीयान्त परिणाम करके आत्माको विशेषण मानकर प्रधानतया उपासनारूप कर्मका ही स्वतन्त्र फलके निमित्त विधान किया जायगा।

विषम उपन्यास है (अर्थात् दृष्टान्त सक्तुहोम तथा दार्ष्टान्तिक आत्मोपासनामें समानता नहीं है)। कारण कि दृष्टान्तमें 'सक्तुभिः' इस तृतीयान्तपद द्वारा शब्दतः करण होते हुए भी सक्तु अर्थतः कर्म ही हैं, कारण कि होमक्रियासे उत्पन्न किया गया अतिशयरूप भस्म हो जाना विकार सक्तुओंमें विद्यमान ही है। इसीलिए 'जुहोति' यह सकर्मक धातुका प्रयोग किया जाना उचित ही है। दार्ष्टान्तिक ब्रह्ममें यदि अर्थतः—वस्तुतः—कर्मकारक होना माना जाय, तो [क्रियाकृत अतिशय] उत्पत्ति आदि क्रियाके चार फलोंमें कोई एक ब्रह्ममें अवश्य

सकर्मकधातुप्रयोगोऽनुपपन्नः । नन्वात्मन्याप्तिः क्रियाफलं भविष्यति, स्वरूपतो नित्यप्राप्तस्याऽप्युपासनायाः पूर्वं प्रतीतितोऽप्राप्तत्वात् ।

नैतद्युक्तम्, स्वप्रकाशचैतन्यरूपत्वेन प्रतीतितोऽपि नित्यप्राप्तत्वात् । अतो विध्यभावादविवक्षितार्था वेदान्ता इति धर्मजिज्ञासानन्तरं स्नानं प्राप्तमिति तामेतामभ्यधिकाशङ्कां निराकर्तुं ब्रह्मजिज्ञासां त एव सिद्धान्तैकदेशिन एवमवतारयन्ति—अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति ।

अयमभिप्रायः—धर्मजिज्ञासानन्तरं ब्रह्म जिज्ञासितव्यं न स्नातव्यमिति । न च वेदान्तेषु विध्यभावः, 'कटः कर्त्तव्यः' इत्यादिवत् 'आत्मा द्रष्टव्यः' इत्यादौ

रहना चाहिए, इसका हम पहले ही खण्डन कर आए हैं [अर्थात् इन चारोंमें एक भी फल नहीं हो सकता ।] और यदि ब्रह्म कर्मकारक नहीं है, तो 'उपासीत' ऐसा सकर्मक धातुका प्रयोग सङ्गत नहीं होगा । आत्मामें प्राप्तिरूप क्रियाफल सम्भव होगा, क्योंकि यद्यपि ब्रह्म—आत्मा—नित्य प्राप्त है तथापि उपासनासे पहले प्रतीतिसे अप्राप्त ही है [जैसे वर्तमान भी सूक्ष्म दृश्य पदार्थ अणुवीक्षण यन्त्रसे देखनेके पूर्व अदृष्ट रहते हैं और यन्त्रव्यापारानन्तर दर्शनमें आते हैं, वैसे ही नित्य प्राप्त भी ब्रह्म उपासनाके विना प्रतीतिमें नहीं आता और उपासनाके माहात्म्यसे आ जाता है । एतावता ब्रह्म प्राप्य कर्म हो सकता है] ।

यह कथन भी युक्तिपूर्ण नहीं है, क्योंकि आत्माके स्वप्रकाश चैतन्यरूप होनेसे प्रतीतिसे भी नित्यप्राप्त है । इसलिए 'द्रष्टव्य' दर्शनको विधि कहना संगत न हो सकनेसे वेदान्तवाक्य [ब्रह्म नित्य सिद्ध वस्तु है ऐसे] विवक्षित अर्थका बोध नहीं करा सकते, इसलिए धर्मजिज्ञासा—कर्मकाण्डप्रतिपादक पूर्वमीमांसा—के अनन्तर स्नान—गार्हस्थ्यदीक्षाके निमित्त स्नान—प्राप्त होता है, इस प्रकार इस बढ़ी हुई आशङ्काको दूर करनेके लिए ब्रह्मजिज्ञासा—वेदान्तवाक्योंका विचारात्मक उत्तरमीमांसा—आवश्यक है । वे ही सिद्धान्तके एकदेशी इस प्रकार अवतरण देते हैं—अब ब्रह्मजिज्ञासाका आरम्भ होता है ।

तात्पर्य यह है—धर्मजिज्ञासाके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए, स्नान नहीं । [ब्रह्मजिज्ञासाके अनन्तर ही स्नान—समावर्तन—होना चाहिए] वेदान्तोंमें विधिका अभाव है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि 'चटाई बनानी चाहिए' इस विधिके

कर्मकारकगतफलाय विध्युपपत्तेः। सम्भवति ह्यात्मन्यज्ञानादिमलापकर्षणलक्षणः संस्कारः। न च संस्कृतस्याऽऽत्मन आज्यादिवदन्यत्र विनियोगोऽपेक्ष्यते, स्वयमेव पुरुषार्थत्वात्। अपुरुषार्थसंस्कारस्यैव विनियोगापेक्षत्वात्। तदेवं वेदान्तेषु विध्यभावलक्षणामभ्यधिकाशङ्कां निराकृत्य प्रतिपत्तिविधिं च समर्थयितुमुत्तरमीमांसारम्भ इति। तदेतत् सिद्धान्तैकदेशिमतं पूर्वपक्षिणो नाभिमतम्। तथाहि—सिद्धान्तैकदेशिना विध्यभावलक्षणाभ्यधिकाशङ्काकाले परमा युक्तिरन्तेऽभिहिता—स्वप्रकाशचैतन्यरूपत्वेन प्रतीतितोऽपि प्राप्तत्वान्नोपासनाविधिरिति। सा न युक्ता, यथा 'हिरण्यं भार्यम्' इत्यत्र भूषणार्थत्वेन प्राप्तं हिरण्यधारणमभ्युदयार्थत्वेन नियम्यते तद्वत् प्राप्तस्याऽप्यात्मज्ञानस्य कर्तृसमवायिमोक्षफलाय नियमविधिसम्भवात्।

सदृश 'आत्मदर्शन करना चाहिए' इत्यादि वाक्यमें आत्मरूप कर्मकारकमें फलकी उपपत्तिके लिए दर्शनविधि उपपन्न है। और आत्मामें अज्ञानादि मलका हटाना आदि संस्काररूप क्रियाफलका सम्भव है। दर्शनविधिसे सहमत ब्रह्मका [अवेक्षणसे संस्कृत घृतकी तरह] 'आज्याहुतीर्जुहोति' इत्यादिके समान दूसरी विधिमें कहीं भी विनियोग अपेक्षित नहीं है, क्योंकि ब्रह्मदर्शन स्वयं पुरुषार्थ है। जो संस्कार पुरुषार्थ नहीं हैं, उनके ही अन्यत्र विधिमें विनियोगकी अपेक्षा होती है। [अन्यथा संस्कार व्यर्थ होगा, पुरुषार्थ संस्कार तो स्वयं सफल है।] इस प्रकार वेदान्तोंमें विधिके प्राप्त न होने की बढ़ी हुई आशङ्काका खण्डन करके प्रतिपत्तिविधिका समर्थन करनेके लिए उत्तरमीमांसाका आरम्भ करना आवश्यक है। इस प्रकारके सिद्धान्तके एकदेशियोंका मत पूर्वपक्षीको सम्मत नहीं है। पूर्वपक्षीकी असम्मतिका वर्णन करते हैं—उक्त सिद्धान्तैकदेशीने वेदान्तोंमें विधिके प्राप्त न होने की बढ़ी हुई आशङ्का दिखानेके अवसरपर अन्तमें सबसे बढ़ी-चढ़ी यही युक्ति दिखलाई है कि स्वप्रकाश चैतन्यरूप होनेसे ब्रह्म प्रतीतिसे भी प्राप्त ही है, इसलिए उसे पानेके लिए उपासनाका विधान नहीं बन सकता, वह युक्त नहीं है, क्योंकि जैसे 'सुवर्णका धारण करना चाहिए' इस विधानमें भूषणके निमित्त प्राप्त हुआ सुवर्णका धारण करना अभ्युदय फलके लिए है ऐसा नियम माना जाता है वैसे ही नित्य प्राप्त भी आत्मज्ञान उपासनाकर्ताके मोक्षरूपी फलको देनेवाला है, ऐसा नियमविधान सम्भव हो सकता है।

हिरण्यधारणस्याऽप्राप्तिरपि पक्षेऽस्तीति नियमविधिस्तत्राऽस्तु। इह तु स्वरूपचैतन्यत्वेनाऽऽत्मप्रतीतेर्नित्यप्राप्तत्वान्न नियमविधिरिति चेत्, तर्ह्यनात्मप्रतिभासनिवृत्तये परिसंख्याविधिरदृष्टार्थः स्यात्। अतो नाऽभ्यधिकाशङ्का सम्भवति।

यच्चाभ्यधिकाशङ्कानिराकरणे तेनैव सिद्धान्तैकदेशिना फलमविद्यादिमलापनयनमुक्तम्। तदप्यसत्, किं लौकिकात्मज्ञानमविद्यामपनयति उताऽलौकिकात्मज्ञानम्। आद्येऽपि न तावत् स्वरूपमेव तामपनयति, अहमिति सर्वदाऽऽत्मप्रतीतावप्यविद्यानिवृत्त्यदर्शनात्। नाऽपि विधिबलात्। तर्ह्यसम्भावितपाकेषु कृष्णलेषु विधिबलादपि मुख्यः पाको

पक्षमें हिरण्यधारण करनेकी अप्राप्ति भी है [ऐसी कोई राजाज्ञा या स्वभाव नहीं है कि सब ही सुवर्णधारण करें। अतः सुवर्णधारण पाक्षिक प्राप्त है], इससे वहांपर नियमविधि हो सकती है। लेकिन ['नियमः पाक्षिके सति'] प्रकृतमें स्वरूपचैतन्य होनेसे आत्मप्रतीति नित्य प्राप्त है, [क्योंकि उसका सबको ही और सर्वत्र प्रकाश होना स्वरूपप्राप्ति सार्वदेशिक है, पाक्षिक नहीं है।] इससे नियमविधिका होना सम्भव नहीं है। यदि ऐसी शङ्का करो, तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि अनात्माकी निवृत्तिके लिए परिसंख्याविधि ही अदृष्टफल मान ली जायगी। इसलिए आपकी कही हुई [वेदान्तोंमें विधिका अभावरूप] आशङ्का सम्भव नहीं है।

और जो उक्त अभ्यधिक शङ्काका निवारण करते हुए उस सिद्धान्तैकदेशीने ही अविद्यादि मलका दूर करना फल कहा है वह भी असंगत है, क्या लौकिक आत्मज्ञान अज्ञानको दूर करता है? अथवा अलौकिक आत्मज्ञान? प्रथम पक्ष माननेमें [लौकिक आत्मज्ञानका] स्वरूप ही अविद्याकी निवृत्ति नहीं करा सकता, कारण कि 'अहम्' (मैं) इस प्रकार सदैव आत्माकी प्रतीति होनेपर भी अविद्याकी निवृत्ति नहीं देखी जाती। 'विधान किया गया' इस विधानकी सामर्थ्यसे निवृत्ति मानी जाय, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि जिनका पाक होना सम्भव नहीं है [अर्थात् जिनमें पाकसे कोई विलक्षण आकार, रूप, रस आदि नहीं हो सकते] ऐसे कृष्णल सुवर्णके टुकड़ोंमें पाकका विधान करनेकी सामर्थ्यसे

दर्शयितुं शक्यः । द्वितीयेऽपि किं तादृशात्मज्ञानमत्यन्तमप्रसिद्धमुत सामान्यतः प्रसिद्धम् अथवा विशेषतः ? नाऽऽद्यः, अत्यन्ताप्रसिद्धस्य विध्ययोगात् । यागादावपि हि कश्चिद्यागं दृष्टवतः पुरुषस्य यागत्वसामान्योपाधिना प्रसिद्धौ सत्यां दृष्टयागव्यक्तिसदृशं यागव्यक्त्यन्तरं प्रतिपत्तृबुद्धिस्थमेव विधीयते । अन्यथा 'ममेदं कर्त्तव्यम्' इति प्रतिपत्त्यसम्भवात् । न द्वितीयः, अलौकिकात्मज्ञानत्वसामान्याक्रान्तस्य व्यक्तिविशेषस्य कस्यचिदपि पूर्वमननुभूतत्वात् । तृतीयेऽपि किं तादृगात्मज्ञानं पुरुषान्तरे विशेषतः प्रसिद्धम् उत विधेः प्रतिपत्तर्यधिकारिण्येव ? नाऽऽद्यः, पुरुषान्तरप्रसिद्धेरधिकारिणं प्रत्यनुपयोगात् । न द्वितीयः, अधिकारिणि विशेषतः प्रसिद्धस्याऽर्थस्य विधिवैयर्थ्यात् । तदेवं सिद्धान्तैकदेशिनाऽभिहितयोरभ्यधिकाशङ्कातन्निराकरणप्रकारयोरसंगतत्वान्न तेनोत्तरमीमांसाया अगतार्थत्वं प्रतिपादयितुं शक्यम् ।

भी मुख्य पाक दिखलाया जा सकता है । [कृष्णलोंमें मुख्य पाक माना नहीं गया है] दूसरा—अलौकिक आत्मज्ञानसे निवृत्ति—पक्ष माननेमें क्या वैसा—अलौकिक—आत्मज्ञान अत्यन्त अप्रसिद्ध है ? अथवा सामान्यतः प्रसिद्ध है ? या विशेष रूपसे प्रसिद्ध है ? प्रथम पक्ष नहीं बनता, क्योंकि अत्यन्त अप्रसिद्धका विधान नहीं हो सकता । यागादिस्थलमें भी किसी यागको देख चुके पुरुषका यागत्वसामान्यरूपसे प्रसिद्धिके सिद्ध होनेपर दृष्ट यागविशेषके सदृश ज्ञाताकी बुद्धिमें स्थित ही दूसरे यागका विधान किया जाता है । अन्यथा 'मेरा यह कर्तव्य है' ऐसा ज्ञान सम्भव न होगा । दूसरा पक्ष भी नहीं बनता, क्योंकि अलौकिक आत्मज्ञानत्वसामान्यसे अवच्छिन्न किसी भी ज्ञानव्यक्तिविशेषका पहले अनुभव ही नहीं हुआ है । तृतीय पक्ष माननेमें भी क्या वैसा आत्म-ज्ञान दूसरे पुरुषमें विशेषरूपसे प्रसिद्ध है ? अथवा विधिके जाननेवाले अधिकारीमें ही विशेषरूपसे प्रसिद्ध है ? इनमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि दूसरे पुरुषकी प्रसिद्धिका अधिकारीके प्रति कोई उपयोग नहीं है । दूसरा पक्ष भी कोई कार्यसाधक नहीं है कारण कि अधिकारीमें विशेषरूपसे प्रसिद्ध अर्थका विधान करना व्यर्थ है । तब तो इस प्रकार सिद्धान्तके एकदेशीसे प्रतिपादित अधिक आशङ्का और उसका निराकरणप्रकार दोनों संगत नहीं हैं, इससे उत्तरमीमांसा गतार्थ नहीं है, ऐसा प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है ।

अपरे पुनः सिद्धान्तैकदेशिन एवमगतार्थत्वमाहुः—न वयं तद्वद् वेदान्तेषु विध्यभावलक्षणामभ्यधिकाशङ्कां ब्रूमः, येनोक्तदोषः स्यात्, किन्तु विधिमभ्युपेत्यैव ब्रह्मासिद्धिलक्षणाम् । तथा हि—प्रतिपत्तिविध्यपेक्षितानामुत्पत्त्यादीनां चतुर्णां रूपाणां क्रियाविध्युक्तन्यायेन यद्यपि निर्णयः सिद्धः तथापि प्रतिपत्तव्यस्य ब्रह्मणः सिद्धवस्तुप्रतिबोधनसमर्थैरपि प्रत्यक्षादिभिरदर्शनाद् वेदस्य च कार्यमात्रपरस्य सिद्धब्रह्मतत्त्वाप्रतिपादकत्वादारोपितरूपस्य च ब्रह्मण उपासनायां मोक्षलक्षणात्यन्तिकफलासम्भवादनुपास्यमेव ब्रह्मेत्येतामभ्यधिकाशङ्कां निराकर्तुमुत्तरमीमांसाऽऽरब्धव्या ।

तत्र चैवं निर्णीयते—न कार्यमात्रपरो वेदः, उपासनाविधिपरैर्वेदान्तैर्ब्रह्मणोऽप्यवगम्यमानत्वात् । यथा रूपप्रत्यायनाय प्रवृत्तं चक्षुर्द्रव्यमपि प्रख्यापयति तद्वत् ।

दूसरे सिद्धान्तके एकदेशी उत्तरमीमांसाकी इस प्रकार अगतार्थता कहते हैं—हम (दूसरे सिद्धान्तैकदेशी) उन सिद्धान्तैकदेशियोंके समान वेदान्तोंमें विधिके अभावरूप अभ्यधिक आशङ्काको नहीं कहते हैं, जिससे कि पूर्वपक्षीका दिया हुआ दोष आ सके। किन्तु विधिको मानकर ही ब्रह्मकी असिद्धिको कहते हैं। कथित ब्रह्मासिद्धिका प्रतिपादन करते हैं,—क्योंकि प्रतिपत्तिविधिसे अपेक्षित उत्पत्ति आदि चारों प्रकारोंका क्रियाविधिस्थलमें कहे गये न्यायसे यद्यपि निर्णय सिद्ध है तथापि प्रतिपत्तिके कर्म ब्रह्मका सिद्ध [घट पट आदिरूप] वस्तुके बोध करानेमें समर्थ प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे दर्शन नहीं हो सकता, तथा वेदका कार्यमात्रमें तात्पर्य है, अतः वह सिद्ध—अकार्य—ब्रह्मतत्त्वका प्रतिपादक नहीं हो सकता। और ब्रह्मकी आरोपितरूपसे उपासना करनेसे मोक्षस्वरूप अव्यभिचरित फलका सम्भव न होनेसे ब्रह्म उपासनायोग्य नहीं होगा, इन दोनों बढ़ी हुई आशङ्काओंके निवारणके लिए उत्तरमीमांसाका आरम्भ करना आवश्यक है।

इस एकदेशीके मतमें सिद्धान्तका निम्न प्रकारसे निर्णय किया जाता है—वेदोंका तात्पर्य केवल कार्य—विधि—में ही नहीं है क्योंकि उपासनाविधिमें तात्पर्यवाले वेदान्तवाक्योंसे [कार्यसे भिन्न सिद्ध] ब्रह्मकी भी प्रतीति कराई जाती है। जैसे रूपका ज्ञान करानेके लिए प्रवृत्त हुआ चक्षु द्रव्यका भी बोध कराता है वैसे ही उपासनापरक वेदान्तवाक्य भी सिद्ध ब्रह्मकी प्रतीति कराते हैं।

ननु कथं वेदानामुपासनाविधिपरत्वम्? न तावदुपासनं नाम ब्रह्मापरोक्षज्ञानम्, तस्य परमानन्दसाक्षात्काररूपत्वेन फलभूतस्य स्वर्गवदविधेयत्वात्। नाऽपि दृष्टिज्ञानं, तत्र विधेरश्रवणात्। नहि शाब्दज्ञानं कर्तव्यमित्येतादृशो विधिः क्वचिच्छ्रूयते। मैवम्, 'इदं सर्वं यदयमात्मेत्या' इत्यादिवाक्यानां विधिपराणां शाब्दज्ञानविधौ पर्यवसानात्। न च वाच्यं यदयमात्मेत्यात्मस्वरूपमुद्दिश्य तदिदं सर्वमिति प्रपञ्चरूपत्वविधाने सति आत्मनोऽचेतनत्वप्रसङ्गेन विधेर्बोद्धुरभावादात्मनः प्रपञ्चरूपत्वस्याऽपुरुषार्थत्वात् कथमेतद्वाक्यं विधिपरमिति? यदिदं सर्वमिति प्रतिपन्नं प्रपञ्चमुद्दिश्य

शङ्का—वेदोंका उपासनाविधिमें तात्पर्य ही कैसे हो सकता है? [उपासना विधिकी अनुपपत्ति दिखानेकेलिए विकल्प करते हैं] ब्रह्मके अपरोक्ष ज्ञानको—साक्षात्कारको—उपासना नहीं कह सकते, कारण कि यह तो परम आनन्द साक्षात्काररूप होनेसे उपासनाका फलस्वरूप माना गया है। अतएव स्वर्गके सदृश विधेय नहीं हो सकता।

[यहांपर वैधर्म्यसे दृष्टान्त है जैसे—स्वर्ग आदि फल याग द्वारा उत्पाद्य होनेसे विधेय हो सकते हैं अतः ऐसे फलोंकी उत्पादक विधिका अनुशासन सम्भव है, परन्तु सुख आदिका साक्षात्कारात्मक अनुभव-ऐसे, जो फल उत्पाद्य नहीं हो सकते, उनका विधेय होना या इनके लिए विधिका प्रतिपादन करना संगत नहीं है।] और दृष्टिज्ञानको—शब्दोंके द्वारा दर्शनको—भी उपासना नहीं कह सकते, कारण कि इस शाब्द ज्ञानके विधानका श्रवण नहीं है। 'शाब्द ज्ञान करना चाहिए' ऐसे विधिवाक्यका कहीं श्रवण नहीं है।

समाधान—ऐसी शङ्का नहीं हो सकती, क्योंकि 'यह सब जो कुछ है वह सब आत्मा ही है' इत्यादि विधिपरक वाक्योंका शाब्द ज्ञानके विधानमें ही पर्यवसान है।

ऐसी शङ्का भी नहीं करनी चाहिए कि 'जो यह आत्मा' इत्यादि प्रकारसे आत्माके स्वरूपको उद्देश्य करके उसमें 'वह यह सब' इस प्रकार प्रपञ्चरूपत्वका विधान होनेपर आत्माके अचेतन होनेका प्रसङ्ग होनेसे विधिका ज्ञाता कोई (चेतन) रहेगा ही नहीं। इसलिए आत्माका प्रपञ्चरूप होना पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता। इस अवस्थामें 'इदं सर्व यदयमात्मा' इत्यादि वाक्यका

तदयमात्मेत्यप्रतिपन्नात्मरूपस्यैव विधानात्। 'नेति नेति' इत्यादिवाक्यपर्यालोचनया प्रपञ्चं प्रविलाप्याऽऽत्मैव विधेय इति विशेषनिश्चयात्। यद्यपि 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यत्र विधिर्न श्रूयते तथापि 'पूषा प्रपिष्टभागः' इत्यादाविव विधिः कल्प्यतामिति।

तमेतमप्येकदेशिशास्त्रारम्भप्रकारं पूर्वपक्षी नाऽङ्गीकुरुते। तथा हि— 'पूषा प्रपिष्टभागः' इत्यत्र प्रपिष्टो भागो यस्येति समासे यथा प्रमीयमाणो द्रव्यदेवतासम्बन्धः स्वाविनाभूतं यागं गमयति। यागश्च स्वाविनाभूतं

[शाब्द ज्ञानरूप] विधिमें कैसे तात्पर्य हो सकता है? कारण कि 'यदिदं सर्वम्' जो यह सब माना हुआ (दृश्यमान संसार) है, उसको उद्देश्य करके 'तदयमात्मा' (वह यह आत्मा ही है) इस प्रकार अप्रतिपन्न (जो सर्ववादियोंका सम्मत नहीं है) आत्माके स्वरूपका ही विधान है। [दृश्यमान जगत्को नैयायिक 'यथार्थ', वेदान्ती 'प्रातिभासिक' इत्यादि जिस किसी रूपसे सभी वादी मानते ही हैं। परन्तु उस प्रपञ्चको वेदान्तीसे अतिरिक्त कोई भी वादी ब्रह्मरूप नहीं मानता। इससे अप्रतिपन्नका विधान सङ्गत है] क्योंकि 'नेति नेति' (ऐसा नहीं, ऐसा नहीं) इत्यादि वाक्यका विचार करनेसे 'अध्यारोपापवादन्यायसे' प्रपञ्चका—दृश्य जगत्का—निराकरण [यहाँपर अपने-अपने कारणमें लयरूप निराकरण है] करके आत्मा ही विधेय है, ऐसा विशेष निश्चय होता है। यद्यपि 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इस वाक्यमें विधिका श्रवण [विधिके बोधक तव्य या लिङादि प्रत्यय] नहीं है, तथापि 'सूर्य प्रपिष्टभागवाला है' * इत्यादिके समान विधिकी कल्पना करनी चाहिए।

इस प्रकार एकदेशी द्वारा प्रतिपादित शास्त्रारम्भप्रकारका भी पूर्वपक्षी स्वीकार नहीं करता। खण्डनप्रकार कहते हैं—'पूषा प्रपिष्टभागः' यहांपर प्रपिष्ट है भाग जिसका, इस समासमें जैसे निश्चितरूपसे ज्ञात होनेवाले द्रव्यका देवताके साथ सम्बन्ध अपने अविनाभूत † यागका बोध कराता है।

* जैसे 'प्रपिष्टभाग' इस पदमें 'प्रपिष्टरूपो भागो यस्य' इस प्रकार षष्ठ्यर्थमें बहुव्रीहि समास है, जिसके द्वारा देवताके साथ प्रपिष्टरूप द्रव्यके सम्बन्धका बोध होता है और वह सम्बन्ध अन्य किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है, अतः अपूर्व होनेसे पूषा—सूर्यरूप देवता—के उद्देश्यसे प्रपिष्टरूप द्रव्यका वैध त्याग करना प्राप्त होता है, इसलिए वहांपर विधिबोधक पदकी कल्पना करनी पड़ती है वैसे ही ब्रह्ममें भी समझना चाहिए।

† द्रव्य—पिष्टादि—इस भूलोकमें हैं और पूषा आदि देवता तत्तत् लोकमें अथवा मन्त्रात्मक

विध्यर्थं नियोगमिति। श्रुतसामर्थ्याद्विध्यर्थे प्रतिपन्ने व्यवहारमात्राय पूषोद्देशेन पिष्टपरित्यागः कर्त्तव्य इत्युपसंह्रियते। तद्वदत्र न द्रव्यदेवतासम्बन्धः प्रमीयते, यद्बलाद् विधिः कल्प्येत।

अथ मन्येत—यथा 'विश्वजिता यजेत' इत्यादिषु प्रमीयमाणौ यागनियोगावन्यथानुपपत्त्या चेतनं स्वर्गकामं नियोज्यं कल्पयतः, तथेहापि श्रूयमाणश्चेतन आत्मा यागनियोगौ कल्पयतीति। तदसत्, अनुपपत्तेर-

और याग अपने अविनाभूत † विध्यर्थ नियोगका बोधन कराता है। इस प्रकार 'पूषा प्रपिष्टभागः' इत्यादि श्रवणकी सामर्थ्यसे विध्यर्थ नियोगकी सिद्धि होनेपर केवल व्यवहारके लिए 'सूर्यके उद्देश्यसे पिष्टका परित्याग करना चाहिए' ऐसा उपसंहार किया जाता है। [अर्थात् 'पूषा प्रपिष्टभागः' यहांपर उक्त रीतिसे प्रपिष्टभागपदके श्रवणसामर्थ्यसे ही विधिकी प्रतीति हो जाती है केवल स्पष्ट प्रतीतिके लिए विध्यर्थक 'कर्तव्य' आदि पदकी कल्पना करनी पड़ती है। कर्तव्य आदि पदोंकी कल्पनाके अनन्तर विधिकी प्रतीति होती है, ऐसा नहीं है।] वैसे ही 'सर्वं यदयं मात्मा' इस प्रकृत वेदान्तवाक्यमें किसी देवता और द्रव्यके सम्बन्धकी प्रतीति नहीं होती, जिसकी सामर्थ्यसे विधिकी कल्पना की जाय।

शङ्का—जैसे 'विश्वजित् यागके द्वारा इष्टकी भावना करनी चाहिए' इत्यादि स्थलोंमें प्रतीत होनेवाले याग और विध्यर्थ (नियोग) अपनी अन्यथा अनुपत्तिसे स्वर्गकी इच्छा रखनेवाले चेतन नियोज्य (अधिकारी) की कल्पना करते हैं, वैसे ही प्रकृतमें भी श्रुतिसे प्रतीयमान चेतन आत्मा भी याग और नियोगकी कल्पना कर लेगा।

समाधान—ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है। [जैसा याग या नियोग—प्रेरणा—चेतन अधिकारीके बिना उपपन्न नहीं है वैसा

हैं, उनके साथ द्रव्यका साक्षात् सम्बन्ध अनुपपन्न है। विधिविहित आधारमें यागका प्रतिपादक शब्दप्रमाणगम्य याग ही तादृश सम्बन्धका उपपादक होगा अर्थात् तत्-तद् देवताके उद्देश्यसे विशेषमन्त्रोंसे किये गये द्रव्यका त्याग ही द्रव्य और देवताके सम्बन्धका उपपादक है। ऐसे सम्बन्धके बिना यागकी उपपत्ति ही नहीं होती, अतः याग देवताद्रव्यसम्बन्धसे अविनाभूत है।

† 'यजेत' इत्यादि लिङादि प्रत्यय ही यागादिविधिके प्रतिपादनमें समर्थ हैं और लिङादि विधिकी यागादि क्रियाकलापके बिना सम्भव ही नहीं है, अतः विध्यर्थ यागके अविनाभावसे ग्रस्त है।

भावात्। अन्तरेणाऽपि यागनियोगौ, लोकव्यवहारे चेतनस्य दृष्टत्वात्।

नियोगाभावे कृत्स्नवेदस्य कार्यपरत्वनियमोऽनुपपन्न इति चेद्, एवमपि न नियोगः कल्पयितुं शक्यः, तत्साधनस्य धात्वर्थस्य कस्यचिदप्यभावात्। सोऽपि कल्प्यत इति चेत्, तत्र किं पाकं गमनं करोतीत्येकपाकगमनादिसर्वधात्वर्थानुगतः कृत्यर्थः कल्प्यते, उत ज्ञप्त्यर्थः कल्प्यते, अथ वोभयम्? आद्ये 'यदिदं सर्वं तदयमात्मा कर्त्तव्यः' इति वचनव्यक्तिः स्यात्। तथा च सति अशक्यविधानमापद्येत। नहि निपुणतरेणाऽपि घटः पटीकर्तुं शक्यते। अथाऽमी पिष्टपिण्डाः सिंहाः क्रियन्तामित्यत्राऽन्यदन्याकारेण क्रियमाणं दृष्टमिति चेद्, एवमप्यत्रेतिकर्त्तव्यताया अभावादसंपूर्णो विधिः।

प्रकृतमें नहीं कह सकते।] कारण कि याग और नियोगके बिना भी लोकव्यवहारमें चेतनकी उपपत्ति देखी गई है। [यदि लोकमें चेतनकी उपपत्ति याग और नियोगसे ही होती, तो चेतनसे अपने उपपादक याग और और नियोगकी कल्पना की जा सकती, परन्तु चेतन यागादिके विना भी देखा गया है, अतः उक्त कल्पना नहीं मानी जा सकती।]

यदि 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादि वेदवाक्योंमें नियोगकी प्रतीति नहीं होती, तो सम्पूर्ण वेदोंका कार्यमें ही तात्पर्य है, यह नियम नहीं बन सकेगा। ऐसा माननेपर भी प्रकृत नियोगकी कल्पना नहीं की जा सकती, कारण कि उस नियोगका उपपादक कोई भी धात्वर्थ—क्रिया—नहीं है। यदि कहो कि धात्वर्थकी भी कल्पना की जाती है, तो यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि 'इदं सर्वम्' इत्यादि वाक्योंमें क्या 'पाक गमन करता है' इस प्रकार एक पाक गमनादिसे सम्पूर्ण धात्वर्थके साथ अन्वित होनेवाले कृति—करना—रूप धात्वर्थकी कल्पना की जाती है? अथवा 'पाक गमनको जानता है' इस प्रकार सकल धात्वर्थानुगत ज्ञप्ति—जानना—रूप धात्वर्थकी कल्पना की जाती है या दोनोंकी? प्रथम कृतिरूप धात्वर्थकी कल्पना माननेमें 'जो यह सम्पूर्ण है उसे आत्मा करना चाहिए' इस प्रकारका वाक्य होगा। ऐसा वाक्यार्थ माननेमें विधान करना सम्भव नहीं होगा, कारण कि चतुरसे चतुर भी कारीगर घटको कपड़ा नहीं बना सकता। 'पिष्टपिण्डों—सने हुए आटेके गोले—का सिंह बनाना चाहिए' इन वाक्योंसे भिन्न वस्तुका भिन्न आकारसे बनाना देखा गया है, ऐसा यदि कहा जाय, तो भी इतिकर्तव्यता—बनानेका

नहि शमादयः प्रपञ्चविलयनेतिकर्त्तव्यता रूपाः, तेषां ज्ञानेतिकर्तव्यता-रूपत्वात्। न द्वितीयः, प्रपञ्चे सर्वस्मिन् विधिबलादात्माकारेण ज्ञायमानेऽपि प्रपञ्चभावस्याऽनिवृत्तेः। नहि योषिदादिष्वग्न्यादिरूपेण ज्ञायमानेषु योषिदादिभावोऽपि निवृत्तः। न तृतीयः, पक्षद्वयदोषप्रसङ्गात्।

ननु योषिदग्न्यादिषु मानसी क्रिया, न ज्ञानम्। इह त्वात्मतत्त्वज्ञानेन विधीयमानेन प्रपञ्चः प्रविलीनः स्यात्, स्थाणुतत्त्वज्ञानेन पुरुषभावप्रविलय-दर्शनादिति चेत्, तर्हि स्थाणुतत्त्वज्ञानस्येवाऽऽत्मतत्त्वज्ञानस्याऽपि विधि-व्यतिरिक्तं किञ्चित्प्रापकं वक्तव्यम्, तत्त्वज्ञानस्य वस्तुतन्त्रस्याऽविधेयत्वात्।

प्रकार—न होनेसे विधानकी पूर्णता नहीं होगी। प्रपञ्चके विलयन–निराकरण—स्वरूप शमादि ही इतिकर्तव्यता—विधिके सम्पादन प्रकार—होंगे, यह भी नहीं मान सकते, कारण कि शम, दम आदि ज्ञानकी इतिकर्तव्यतारूप हैं। द्वितीय—ज्ञानक्रियारूप मानना—पक्ष भी नहीं बन सकता, कारण कि सम्पूर्ण प्रपञ्च विधानके बलसे आत्माका स्वरूप माना जाय, तो भी प्रपञ्चकी सत्ता नहीं मिट सकती। स्त्री आदिको अग्निरूप माननेसे उनका स्त्रीत्व नहीं चला जाता। दोनों—ज्ञप्ति और कृति—का मानना तीसरा विकल्प भी नहीं बन सकता, कारण कि इसमें ऊपर कहे गए दोनों पक्षोंके दोष प्राप्त होते हैं।

शङ्का—स्त्रीको अग्नि समझनेमें मानसव्यापार है, ज्ञान नहीं। [प्रकृतमें ज्ञानपद जिससे अर्थका ज्ञान हो 'ज्ञायतेऽनेन' ऐसा करणल्युडन्त है। जहां-पर दूसरी वस्तु दूसरे रूपमें जानी जाय वहांपर उसका सम्भव नहीं है, अतः योषिदग्नि स्थलोंमें ज्ञान न मानकर मानसव्यापार–आहार्यारोप–मानना चाहिए जो कि पुरुष व्यापाराधीन है।] प्रकृतमें विहित आत्मतत्त्वज्ञानसे प्रपञ्चका विलय होगा, जैसे कि स्थाणु–सूखे शाखाहीन काष्ठ—के तत्त्वज्ञानसे पुरुषभावका विलीन—नष्ट—हो जाना देखा गया है।

समाधान—तब तो जैसे स्थाणुतत्त्वके ज्ञानका प्रापक विधिसे भिन्न ही वस्तु है, वैसे ही विधिसे अतिरिक्त ही किसी दूसरी ज्ञानसामग्रीको ही ब्रह्मतत्त्व-ज्ञानका भी प्रापक मानना चाहिए। तत्त्वका ज्ञान वस्तु—पदार्थ—के अधीन है उसका विधान नहीं हो सकता। [विधान उसका ही हो सकता है जिसमें

विधायकशब्दव्यतिरिक्ता वेदान्तगताः शब्दास्तत्प्रापका इति चेत्, तर्हि तेभ्य एव ज्ञानसिद्धेः कृतं विधिना ? ननु उत्पन्नेऽपि ज्ञाने पुनस्तादृशं ज्ञानव्यक्त्यन्तरं विधीयते। न च विधिवैयर्थ्यम्, मन्त्रेष्टिवत् प्राप्तस्यापि पुनर्विध्युपपत्तेः। तथा हि—'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्यत्र स्वशाखा स्वाध्यायशब्देनोच्यते। अतस्तन्मध्यपातिनो मन्त्रा अपि स्वाध्यायविधिना पठितव्यतया स्वीकृतास्ते च गृहीतपदपदार्थसम्बन्धस्य स्वार्थे प्रत्ययमुत्पाद्य प्रयोजनशून्या व्यवतिष्ठन्ते। न च स्वार्थानुष्ठापकत्वं प्रयोजनम्, स्वार्थस्य द्रव्यदेवतास्वरूपस्याऽननुष्ठेयत्वात्। नाऽपि तत्प्रमापकत्वम्, ब्राह्मणवाक्यैरेव मन्त्रार्थस्य द्रव्यादेः प्रमितत्वात्। ततो निष्प्रयोजनत्वे प्राप्ते

पुरुष—कर्ता—के व्यापारकी सामर्थ्य करने न करने या अन्यथा करनेमें हो। ज्ञान तो अपनी सामग्रीके बलसे अवश्य ही हो जायगा। वह पुरुष प्रमाताके व्यापारकी अपेक्षा नहीं रखता। अतः ज्ञानका विधान करना संगत और सम्भव नहीं है।] वेदान्तशास्त्रमें आए हुए विधिप्रतिपादक शब्दोंसे भिन्न—तव्य आदि प्रत्ययरहित—शब्द ही ब्रह्मतत्त्वज्ञानके प्रापक हैं यदि ऐसा कहो, तो उन शब्दोंके द्वारा ही ज्ञानकी सिद्धि हो जायगी, फिर विधि माननेकी आवश्यकता ही क्या है ? ज्ञानके उन शब्दोंसे उत्पन्न हो जानेपर भी पुनः उसी प्रकारके दूसरे ज्ञानका विधान किया जाता है, इस प्रकार सिद्धका विधान करना व्यर्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि मन्त्रोंमें जैसे प्राप्तका भी पुनर्विधान हो सकता है। [मन्त्रोंमें पुनर्विधानका साफल्यप्रकार दिखलाते हैं—] 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस वाक्यमें स्वाध्यायपदसे अपनी शाखाके वेदका ग्रहण किया जाता है। इससे उस शाखामें पढ़े हुए मन्त्र भी स्वाध्यायविधिके द्वारा पाठ्यरूपसे लिए जाते हैं, ऐसे ही मन्त्र अध्ययन * से ज्ञात पद तथा पदार्थके सम्बन्धका अपने स्वार्थमें बोध कराकर प्रयोजनसे रहित हो जाते हैं। स्वार्थका ही अनुष्ठान करना प्रयोजन नहीं माना जाता, कारण कि द्रव्यदेवतारूप स्वार्थका अनुष्ठान नहीं किया जा सकता। स्वार्थभूत द्रव्यदेवताकी प्रमिति करना प्रयोजन भी नहीं हो सकता, क्योंकि मन्त्रोंके अर्थ द्रव्यदेवताकी प्रमिति तो ब्राह्मणवाक्योंसे ही हो जाती है। इससे मन्त्रोंमें निष्प्रयोजनत्व

---

* अर्थज्ञानपर्यन्त ही अध्ययन कहलाता है, केवल पाठमात्रको अध्ययन नहीं कहते हैं।

श्रुतिलिङ्गादिभिर्व्रीह्यादिवन्मन्त्राः सप्रयोजनस्य कर्मणोऽङ्गभावेऽपि न विनियुज्यन्ते। तत्र 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इत्यस्मिन् ब्राह्मणे 'गार्हपत्यम्' इति द्वितीयाश्रुतिः 'कदाचन स्तरीरसि' इत्येतन्मन्त्रस्येन्द्रप्रकाशनसमर्थस्याऽपि गार्हपत्योपस्थाने विनियोगं बोधयति, श्रुतसामर्थ्यलक्षणाल्लिङ्गाच्छ्रुतेर्बलीयस्त्वात्। 'बर्हिर्देवसदनं दामि' इत्ययं मन्त्रस्तु मन्त्रलिङ्गाद् बर्हिर्लवने विनियुज्यते। एवं वाक्यप्रकरणस्थानसमाख्याभिरपि तत्र तत्र मन्त्रा विनियुक्ताः। ते च मन्त्राः केनोपकारेण प्रधानापूर्वसिद्धेरुपकुर्वन्तीति वीक्षायामनुष्ठानापेक्षितद्रव्यदेवतादिस्मारणेनेति कल्पनीयम्, दृष्टोपकारे सत्यदृष्टकल्पनानुपपत्तेः। सम्भवति हि हुंफडादिव्यतिरिक्तमन्त्रैरर्थस्मृतिः। तदध्ययनस्याऽर्थाऽवबोधपर्यन्तत्वात्। यद्यपि ब्राह्मणवाक्यैर्द्रव्यदेवतादिस्मृतिः सम्भवति तथापि मन्त्रैरेव

प्राप्त होनेपर उनके सार्थक्यके लिए व्रीहि आदिके तुल्य श्रुति, लिङ्ग आदि प्रमाणोंसे मन्त्रोंका प्रयोजनविशिष्ट (यज्ञ-यागादि) कर्मोंके—अङ्ग—उपकारक होनेमें भी विनियोग नहीं किया जाता है। इनमें 'ऐन्द्री ऋचासे गार्हपत्य अग्निका उपस्थान करना चाहिए' इस ब्राह्मणवाक्यमें 'गार्हपत्यम्' इस प्रकार द्वितीयान्त पदकी श्रुति 'कदाचन स्तरीरसि' इस मन्त्रकी इन्द्रदेवताके प्रकाशनमें सामर्थ्य होते हुए भी इसका गार्हपत्यके उपस्थानमें विनियोग बोधन करती है, क्योंकि श्रुतसामर्थ्यरूप लिङ्गकी अपेक्षा श्रुति बलवान् मानी गई है। 'बर्हिर्देवसदनं दामि' इस मन्त्रका तो मन्त्रलिङ्गसे बर्हि–कुशा—के लवन—छेदन—में विनियोग होता है। इस प्रकार वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्याओंसे मन्त्रोंका तत्-तत् विधियोंमें विनियोग किया गया है। ऐसे विनियोगमें लाये गए मन्त्र किसका उपकार करनेसे प्रधान अपूर्वकी सिद्धिका उपकार करते हैं, इस जिज्ञासाके होनेपर उत्तरमें यही कल्पना की जानी चाहिए कि द्रव्य देवताका स्मरण–उपस्थान–करानेसे प्रधानकी सिद्धिमें उपकार करते हैं, क्योंकि दृष्ट–प्रत्यक्ष–उपकारका सम्भव रहते अदृष्ट—अप्रत्यक्ष—की कल्पना उपयुक्त नहीं है। हुं, फट् आदिसे भिन्न मन्त्रोंके द्वारा अर्थस्मरण हो सकता है। [इससे हुं, फट् आदिके दृष्टान्तसे मन्त्रोंका अर्थबोध करानेमें सामर्थ्य नहीं है, इस कथनका खण्डन हुआ।] [स्वाध्यायके अध्ययनविधिमात्रसे अर्थस्मरण नहीं होगा, इस शङ्काका निराकरण करते हैं—]स्वाध्याय–मन्त्रोंके पढ़ने—का अर्थज्ञानपर्यन्तमें तात्पर्य है। यद्यपि ब्राह्मणवाक्योंसे द्रव्य, देवता आदिका स्मरण हो सकता है,

स्मृतावदृष्टविशेषः कल्पनीयः । अन्यथा मन्त्राणामानर्थक्यप्रसङ्गात् । अध्ययनविध्युपात्तानां तदयोगात् । एवं च सति प्रयोगविधिः सर्वैरङ्गैर-पूर्वोपकारं कारयन् मन्त्रैरर्थज्ञानलक्षणमुपकारं कारयति । तत्र यथा प्रयोगवचनो मन्त्रैरध्ययनकालोत्पन्नज्ञानातिरिक्तमपूर्वोपकारिज्ञानान्तरमनुष्ठापयति तथाऽ-त्रापि मोक्षोपकारिब्रह्मज्ञानव्यत्त्यन्तरमनुष्ठापयतु । न चाऽत्र दार्ष्टान्तिके तद्वत् प्रयोगविधिर्नास्तीति शङ्कनीयम्, तस्य सम्पादयितुं शक्यत्वात् ।

ननु सर्वत्रोत्पन्ने कर्मणि विनियोगोत्तरकालमधिकारसम्बन्धे सति पश्चात् प्रयोगविधिरन्विष्यते । इह तूत्पत्त्यादिविधित्रयाभावे कथं प्रथमत एव प्रयोगविधिसम्पादनमिति चेद्, न; उत्पत्त्यादिविधित्रयस्याऽप्यत्र सुसम्पाद-

---

तथापि मन्त्रोंसे ही स्मरण होनेमें अदृष्टविशेष—पुण्य—की कल्पना मानी जाती है । अन्यथा मन्त्र अनर्थक हो जायँगे। [मन्त्रोंको अनर्थक मानना इष्ट नहीं है] कारण कि अध्ययनविधिसे प्राप्त हुए मन्त्रोंका आनर्थक्य नहीं बन सकता । इस सिद्धान्तके अनुसार प्रयोगोंका विधान सम्पूर्ण अङ्गोंके द्वारा प्रधान, अपूर्वका उपकार कराता हुआ मन्त्रोंसे [द्रव्यदेवतारूप] अर्थज्ञान-लक्षण उपकार कराता है। [निष्कर्ष कहते हैं—] जैसे प्रयोगविधानका कथन मन्त्रस्थलमें मन्त्रोंके द्वारा अध्ययनकालमें उत्पन्न हुए अर्थज्ञानके अतिरिक्त अपूर्वके उपकारी दूसरे ज्ञानका अनुष्ठान कराता है, वैसे ही प्रकृतमें भी मोक्षके उपकारी ब्रह्मज्ञानसे भिन्न दूसरे ज्ञानका अनुष्ठान कराना सम्भव होगा। प्रकृत दार्ष्टान्तिकमें—ब्रह्मज्ञानमें—दृष्टान्त मन्त्रोंमें जैसी प्रयोगविधि है वैसी प्रयोग-विधि नहीं है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि प्रकृतमें भी प्रयोगविधिका सम्पादन हो सकता है।

शङ्का—कर्मके उत्पन्न—उत्पत्तिविधिसे सिद्ध—होनेपर विनियोग होता है अनन्तर अधिकारीका सम्बन्ध होनेपर प्रयोगविधिकी अपेक्षा होती है। अर्थात् प्रयोगविधिके पूर्व उत्पत्तिविधि, विनियोगविधि तथा अधिकारविधिका होना आव-श्यक है । प्रकृत ब्रह्मज्ञानमें उत्पत्ति आदि तीनों विधियोंके न होनेसे सर्वप्रथम ही प्रयोगविधिका सम्पादन कैसे हो सकेगा ?

समाधान—उत्पत्ति आदि तीनों विधियोंका भी सम्पादन किया जा सकता

त्वात्। तथाहि—'वेदान्तवाक्येनाऽऽत्मज्ञानं कुर्यात्' इत्येवं वेदान्तशब्दलक्षणकरणेन विशिष्टस्याऽऽत्मज्ञानस्य स्वरूपबोध उत्पत्तिविधिस्तावदध्याह्रियते। न च वाच्यं विशिष्टप्रतीतौ नोत्पत्तिविधित्वं सम्भवति, स्वरूपमात्रबोधकत्वादुत्पत्तिविधेरिति, 'सोमेन यजेत' इत्यत्र विशिष्टोत्पत्तिविधेरङ्गीकृतत्वात्। तत्र हि सोमशब्दो यागविशेषनामधेयं गुणवाची वेति विचार्य वल्लीविशेषे रूढस्य यागनामत्वासम्भवाद्गुणवाचित्वं निर्धारितम्। तत्र यद्यपि 'दध्ना जुहोति' इतिवत् 'सोमेन यजेत' इत्युक्ते गुणसम्बन्धः प्रतीयते, तथापि 'अग्निहोत्रं जुहोति' इतिवत् पृथगुत्पत्त्यश्रवणात् सोमगुणविशिष्टयागोत्पत्तिविधिरिति अङ्गीकर्त्तव्यम्। तद्वत् प्रकृतेऽपि विशिष्टोत्पत्तिविधिः किं न स्यात्?

है। क्योंकि 'वेदान्तवाक्यसे आत्मज्ञान करना चाहिए' इस प्रकार वेदान्तशब्दरूप करणसे विशिष्ट आत्मज्ञानकी स्वरूपबोधात्मक उत्पत्तिविधिका अध्याहार किया जाता है। विशिष्टप्रतीतिके विषयमें उत्पत्तिविधिका सम्भव नहीं है, कारण कि उत्पत्तिविधि स्वरूपमात्रका बोध करानेवाली है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि 'सोमयागसे इष्टका सम्पादन करे' इस वाक्यमें विशिष्टकी उत्पत्तिविधि मानी गई है। यहांपर सोमशब्द यागविशेषका नाम है अथवा गुणवाची है? इसका विचार करके एक लताविशेषमें रूढ़ सोमशब्द यागका नाम नहीं हो सकता, इसलिए सोमशब्द गुणवाची है, ऐसा निश्चित किया है। यद्यपि 'दहीसे हवन करना चाहिए' इस विधिके समान 'सोमसे याग करना चाहिए' ऐसा कहनेसे गुणका सम्बन्ध ही प्रतीत होता है, [उत्पत्तिविधि प्रतीत नहीं होती] तथापि 'अग्निहोत्र करता है' इस विधिके तुल्य प्रकृतमें पृथक् उत्पत्तिविधिका श्रवण नहीं है। इसलिए सोमगुणविशिष्ट यागकी ही उत्पत्तिविधि माननी चाहिए। [जैसे 'दध्ना जुहोति' यह वाक्य केवल 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस उत्पत्तिविधिको उद्देश्य करके दधिरूप गुणमात्रका बोध कराता है वैसे प्रकृतमें कोई अन्य उत्पत्तिविधि नहीं है, जिसके द्वारा ज्ञातका अनुवाद करके सोमगुणका विधान किया जाय। दूसरी बात यह है कि प्रसिद्धिरूप रूढिके बलवान् होनेसे यागका नाम भी वल्लीविशेष सोम नहीं माना जा सकता, अतः उसके विशिष्टविधि होनेमें कोई क्षति नहीं है।] ठीक इसीके तुल्य प्रकृत—ब्रह्मज्ञानविधि—में भी उत्पत्तिविधि क्यों नहीं होगी?

स एवोत्पत्तिविधिः पर्यालोचितो विनियोगाधिकारप्रयोगाख्यविधित्रयाकारेण सम्पद्यते। प्रथमं तावदुत्पत्तिविधिबोधितमात्मज्ञानं कथमिति जिज्ञासायाम् 'फलवत्संनिधावफलं तदङ्गम्' इति न्यायेन फलवदात्मज्ञानप्रकरणपठितशमादीनि निष्फलानि इतिकर्त्तव्यत्वेन विनियोजयन्नङ्गाङ्गिसम्बन्धबोधकत्वादुत्पत्तिविधिरेव विनियोगविधिः सम्पद्यते। ततः शमादीतिकर्त्तव्यतानुगृहीतैर्वेदान्तवाक्यकरणैरात्मज्ञानं कुर्यादित्येवंरूपेण निष्पन्नः स एव विनियोगविधिः साङ्गे कर्मणि 'ममेदं कर्त्तव्यम्' इति प्रतिपत्तारमधिकारिणमाकाङ्क्षन्नर्थवादगतं मोक्षं फलत्वेन रात्रिसत्रन्यायेनोपसंहृत्य 'मोक्षकामः कुर्यात्' इत्येवमधिकारविधिः सम्पद्यते। 'रात्रिसत्रे' ह्येवमर्थवादः श्रूयते—'प्रतितिष्ठन्ति ह वै य एता रात्रीरुपयन्ति' इति। तत्राऽश्रुतत्वादधिकारी कल्पनीयः। स किं

इस प्रकारकी कल्पनासे सिद्ध वही उत्पत्तिविधि विचार करनेसे नियोग, अधिकार तथा प्रयोग नामक तीनों विधियोंके रूपमें परिणत हो जाती है। [विधित्रयकी स्वरूपसम्पत्ति दिखलाते हैं—] सर्वप्रथम उत्पत्तिविधिसे बोधित आत्मज्ञान कैसे सम्पन्न हो, ऐसी जिज्ञासा होनेपर 'फलवान्‌की सन्निधिमें निष्फल उसका अङ्ग होता है' इस न्यायसे फलयुक्त आत्मज्ञानके प्रकरणमें पढ़े हुए स्वयं निष्फल शमादि (विधि) का इतिकर्तव्यताके रूपमें विनियोग करती हुई उत्पत्तिविधि ही अङ्गाङ्गिसम्बन्धबोधक होनेसे विनियोगविधि हो जाती है। [आत्मज्ञान करना चाहिए, यह तो उत्पत्तिविधि हुई और इसको अपने करणकी आकाङ्क्षासे उसका सम्बन्धबोधन करना ही विनियोगविधि है। इस कार्यको उक्त उत्पत्तिविधिने शमादिविधिको अपना अङ्ग बनाकर सम्पन्न किया है, यह भाव है।] इसके अनन्तर शमादिरूप इतिकर्तव्यतासे उपकार पाकर करणत्वको प्राप्त हुए वेदान्तवाक्योंसे 'आत्मज्ञान करना चाहिए' इस प्रकारके स्वरूपको प्राप्त वही विनियोगविधि साङ्ग—अङ्गोंके सहित—अनुष्ठानमें 'मुझे यह करना चाहिए' इस प्रकारके प्रमाता अधिकारीकी आकाङ्क्षा करती हुई अर्थवादगत मोक्षको रात्रिसत्रन्यायसे फल बनाकर 'मोक्षकी इच्छा रखनेवाला आत्मज्ञान करे' इस प्रकार अधिकारविधिके आकारको पा जाती है। 'रात्रिसत्र' (याग) में अर्थवादका इस प्रकार श्रुतिमें वर्णन आया है कि 'जो पुरुष इन रात्रिविशेषोंका उपयान करते हैं, वे प्रतिष्ठाको प्राप्त होते हैं' इसमें अधिकारीका श्रवण नहीं है, इसलिए अधिकारीकी कल्पना करनी

स्वर्गकामो भवेत् किं वाऽऽर्थवादिकप्रतिष्ठाकाम इति सन्देहः। तत्र विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गकामः प्राप्तः। 'विश्वजिता यजेत' इत्यत्र फलस्याऽश्रुतस्याऽपेक्षायां 'स स्वर्गः स्यात् सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात्' इति सूत्रेण क्वचिन्नियोज्यविशेषणत्वेन श्रुतः स्वर्ग इतरत्राऽपि फलत्वेन कल्पनीयः, सर्वेषां स्वर्गार्थित्वाविशेषादिति निर्णीतम्। तथा रात्रिसत्रेऽपि स्वर्गः फलं तत्कामोऽधिकारीति पूर्वपक्षे प्राप्ते 'फलमात्रेयो निर्देशात्' इति सूत्रेणेत्थं राद्धान्तितम्—विश्वजिदादौ फलस्योत्पत्तौ अश्रवणात् स्वर्गः कल्प्यतां नाम, रात्रिसत्रे त्वर्थवादनिर्दिष्टा प्रतिष्ठैव फलम्; सार्थवादेनैव वाक्येन नियोगप्रतीतेः। अर्थवादानां विध्येकवाक्यताया

चाहिए। वह अधिकारी स्वर्गकी इच्छा करनेवाला होगा? अथवा अर्थवादसे सिद्ध प्रतिष्ठाकी कामनावाला होगा? ऐसा सन्देह होता है। इस अवसरपर [पूर्वमीमांसामें] विश्वजिन्न्यायसे स्वर्गकी कामनावाला प्राप्त होता है, कारण कि 'विश्वजित् याग करना चाहिए' इस विधिमें फलका श्रवण न होनेसे किस फलके लिए उक्त याग किया जाय? ऐसी अपेक्षा होनेमें 'जहां कोई फलश्रुति न हो वहां सभी विधियोंके अविशेष होनेसे स्वर्गको ही फल मानना चाहिए' इस सूत्रसे किसी एक विधिमें स्वर्ग नियोज्य—अधिकारी—के विशेषणरूपसे श्रुत है, इसलिए जहांपर फलश्रुति नहीं है ऐसी दूसरी विधिमें भी स्वर्गरूप ही फलकी कल्पना करनी चाहिए, क्योंकि सभी समानरूपसे स्वर्गके प्रार्थी हैं, ऐसा निर्णय किया गया है। एवं रात्रिसत्रमें भी स्वर्गको ही फल मानना चाहिए और उसकी इच्छा रखनेवाला अधिकारी होगा, इस प्रकार पूर्वपक्षके प्राप्त होनेपर 'फलमात्रेयः *' इत्यादि सूत्र द्वारा यह सिद्धान्त किया गया है कि विश्वजित् आदि यागकी उत्पत्तिविधिमें फलका श्रवण नहीं है। इससे वहांपर स्वर्गरूप फलकी कल्पना करना संगत है, परन्तु रात्रिसत्रस्थलमें तो अर्थवादमें दिखलाया गया प्रतिष्ठारूप ही फल मानना चाहिए। कारण कि अर्थवादसे युक्त वाक्यसे ही नियोगकी प्रतीति होती है। [और स्वर्गरूप फल तो भिन्न वाक्यसे प्रतीत होता है। रात्रिसत्रका विधान तो अर्थवादके साथ एकवाक्यता प्राप्त होकर ही होता

* 'फलमात्रेयो निर्देशादश्रुतौ ह्यनुमानं स्यात्' (जै० सू० ४।३।१८) अर्थात् जहांपर फलनिर्देशका श्रवण नहीं हो वहींपर अनुमानसे स्वर्गरूप फलकी कल्पना करनी चाहिए।

अर्थवादाधिकरणे निर्णीतत्वात्। तत आर्थवादिकप्रतिष्ठाकामो यथा रात्रिसत्रेऽधिकारी तथा 'तरति शोकमात्मवित्' इत्याद्यर्थवादावगतमोक्षकाममधिकारिणं संपादयन्नधिकारविधिः स्यात्। ततः स एव साङ्गतत्त्वज्ञानमधिकारिणाऽनुष्ठापयन् प्रयोगविधिः संपद्यते। ततः प्रयोगविधिबलाद् मन्त्रवद् वेदान्तशब्दाः प्रथमतः स्वार्थमात्मानमवबोध्याऽपि पश्चादपूर्वोपकारिविधेयज्ञानव्यक्त्यन्तरे पर्यवस्थास्यन्ति। न च वाच्यं मन्त्राणामपूर्वोपकारिप्रत्ययमात्रे तात्पर्यम्, स्वार्थस्य ब्राह्मणवाक्यैः प्रतिपादितत्वात्। वेदान्तानां तु स्वार्थेऽपि तात्पर्यं वक्तव्यम्। अन्यतोऽप्राप्तत्वात्। अतो न विधेय-

---

है] अर्थवादवाक्योंकी विधिवाक्योंके साथ एकवाक्यता होती है। ऐसा (पूर्वमीमांसाके) अर्थवाद अधिकरणमें निर्णय किया गया है। जैसे अर्थवादसे सिद्ध प्रतिष्ठाकी इच्छावाला पुरुष रात्रिसत्रमें अधिकारी माना जाता है, वैसे ही 'आत्मज्ञानी पुरुष शोक—दुःखजालस्वरूप प्रपञ्च—को पार करता है' इस अर्थवादसे प्राप्त मोक्षस्वरूप फलकी कामनावालेको अधिकारी बनाती हुई अधिकारविधि हो जायगी। तदनन्तर वही साङ्ग तत्त्वज्ञानका—शम, दम आदि इतिकर्तव्यताविशिष्ट ब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कारका—अधिकारीके द्वारा अनुष्ठान कराती हुई प्रयोगविधि हो जाती है। तदनन्तर प्रयोगविधिकी सामर्थ्यसे मन्त्रोंके तुल्य वेदान्तशब्द अपने अर्थभूत आत्माका बोध करानेके अनन्तर अपूर्वोपकारक दूसरी विधेय ज्ञानव्यक्तिमें पर्यवसन्न हो जायंगे। [अर्थात् जैसे मन्त्र स्वाध्यायविधिसे अपने स्वार्थका बोधन करनेके अनन्तर भी प्रयोगविधिके बलसे अपूर्वोपकारक विधेयभूत अन्य यागादि व्यक्तिमें पर्यवसित होते हैं] वैसे ही 'यदिदम्' इत्यादि वेदान्तवाक्य भी अपने स्वार्थभूत आत्माका बोध कराकर 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि अर्थवादसे कल्पित प्रयोगविधिकी सामर्थ्यसे अपूर्वोपकारक दूसरी विधेय ज्ञान व्यक्तिमें पर्यवसित होंगे, यह भाव है। यदि शङ्का हो कि मन्त्रोंका तो तात्पर्य अपूर्वके उपकारक बोधनमें ही है, क्योंकि उनके स्वार्थ—द्रव्यदेवतासम्बन्ध या स्वरूप—का तो ब्राह्मणवाक्योंसे भी निर्णय किया गया है और वेदान्त वाक्योंका तो स्वार्थमें—ब्रह्मके अर्थबोधमें—भी तात्पर्य है, यह कहना होगा, कारण

प्रत्यये तात्पर्यमिति, कुल्याप्रणयनन्यायेनोभयार्थत्वाविधेयत्वात् । यथा शाल्यर्थं कुल्याः प्रणीयन्ते ताभ्य एव पानीयं च पीयते तद्वत् ।

ननु स्थायिनां कुल्यादीनां युगपत्क्रमेण वाऽनेककार्यकारित्वमस्तु, उपलभ्यमानत्वात् । शब्दस्य तु न तावत्क्रमकारित्वं क्वचिदपि, विरम्य व्यापारानुपलम्भात् । नाऽपि युगपदर्थद्वये तात्पर्यं प्रत्यक्षेण दृश्यते । न्यायतस्तत्कल्पने च न युगपद् न्यायद्वयप्रवृत्तिः संभवतीति चेद्, न; प्रयाजवाक्येष्वर्थद्वये तात्पर्यस्याऽङ्गीकृतत्वात् । 'समिधो यजति', 'तनूनपातं यजति', 'इडो यजति', 'बर्हिर्यजति', 'स्वाहाकारं यजतीति' पञ्चवाक्यानि पञ्च प्रयाजान्

कि वह (आत्मज्ञान) दूसरे किसीसे प्राप्त नहीं है, इस लिए दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें वैषम्य होनेसे वेदान्तवाक्योंका उक्त प्रकारके विधेयमें तात्पर्य नहीं हो सकता, तो यह शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि कुल्याप्रणयनन्यायके अनुसार वेदान्तवाक्योंका दोनोंमें अर्थात् स्वार्थ और विधेय ज्ञानव्यक्त्यन्तरमें तात्पर्य हो सकता है। जैसे—खेतीको सीचनेके लिए गूलें—पानहरे—बनाई जाती हैं और उनसे ही जल भी पिया जाता है वैसे ही वेदान्तवाक्योंमें भी समझना चाहिए। [अर्थात् अपूर्व अर्थका बोधन करानेसे वेदान्तवाक्योंका तात्पर्य स्वार्थके—ब्रह्मस्वरूपके—बोधमें भी होगा, इस परिस्थितिमें प्रयोग-विधिके बलसे ज्ञानव्यक्त्यन्तरमें तात्पर्य होनेसे वेदान्त विधिपरक भी होंगे।]

शङ्का—कुल्यादि स्थायी पदार्थ हैं, अतः उनसे तो एक साथ या क्रमसे अनेक कार्योंका सम्पादन हो सकता है, कारण कि वैसा प्रत्यक्ष देखा जाता है। शब्दमें तो क्रमसे कार्यकारित्व कभी भी नहीं हो सकता, क्योंकि शब्दका विराम होनेके अनन्तर व्यापार नहीं देखा जाता। और एक साथ दो अर्थोंमें शब्दका तात्पर्य भी कहीं नहीं देखा गया है। यदि न्याय द्वारा दो अर्थोंमें तात्पर्यकी कल्पना करो, तो भी एक साथ दो न्यायोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है।

समाधान—प्रयाजवाक्योंमें शब्दोंका दो अर्थोंमें तात्पर्य माना गया है।

[प्रयाजवाक्योंमें उभयार्थता दिखलाते हैं—] 'समित् याग करता है', 'तनूनपात याग करता है', 'इडा याग करता है', 'बर्हि याग करता है'। 'स्वाहाकार याग करता है' इस प्रकार पांच वाक्य पांच प्रयाजोंका तथा

क्रमं च तदनुष्ठानस्य बोधयन्तीति ह्यङ्गीकृतम् । अतः प्रयाजवाक्यवदुभयार्था वेदान्तशब्दा मन्त्रवदपूर्वोपकारिणि ज्ञानव्यक्त्यन्तरे विधेये पर्यवस्थास्यन्तीति ।

अत्रोच्यते—वेदान्तानां विधेयसमर्पकतायां न स्वार्थपरता संभवति । विधायकस्य योषिदग्न्यादिवाक्यस्य स्वार्थपरत्वादर्शनात् । योषिदादिपदार्थस्य लोकसिद्धतया न तत्र स्वार्थपरता इह तु विधिब्रह्मणोरलौकिकत्वादुभयपरत्वं वेदान्तजन्यज्ञानस्य स्यादिति चेत्, किमत्र वेदान्तेषु या ज्ञानव्यक्तिर्विधीयते सैव वेदान्तार्थभूतं ब्रह्मस्वरूपं प्रमापयति उत ज्ञानव्यक्त्यन्तरम् ? आद्ये विरुद्धत्रिकद्वयापत्तिलक्षणं वैरूप्यं ब्रह्मणः प्रसज्येत । प्राधान्यमुपादेयत्वं विधेयत्वं चेत्येकं त्रिकम् ।

उनके अनुष्ठानके क्रमका भी बोधन कराते हैं, ऐसा माना ही गया है। इसलिए प्रयाजवाक्योंके दृष्टान्तसे वेदान्तवाक्य दोनों अर्थमें तात्पर्य रखते हुए मन्त्रोंके समान अपूर्वका उपकार करनेवाली दूसरी ज्ञानव्यक्तिके विधानमें पर्यवसित होते हैं अर्थात् परम तात्पर्य रखते हैं। [इस प्रकार एकदेशीने ज्ञानविधिका समर्थन कर वेदान्तवाक्य भी कार्यपरक हैं, ऐसा सिद्धान्त किया है।]

[सिद्धान्तमतका प्रदर्शन करते हैं—] इस एकदेशीके मतकी आलोचनामें कहा जाता है कि वेदान्तोंका विधेयमें तात्पर्य माननेसे स्वार्थबोधनमें तात्पर्य नहीं हो सकता, कारण कि विधानमें तात्पर्य होनेसे 'योषिदग्नि' आदि वाक्योंका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं देखा जाता। यदि कहो कि योषित् आदि पदार्थ तो लोकप्रसिद्ध हैं, इसलिए उन वाक्योंका स्वार्थके बोधनमें तात्पर्य नहीं है; प्रकृतमें तो विधि और ब्रह्म दोनों लोकसिद्ध नहीं हैं, इसलिए वेदान्तशब्दों द्वारा उत्पन्न ज्ञानका दोनोंमें तात्पर्य माना जायगा, तो यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि प्रकृतमें जिस ज्ञानका विधान किया जाता है, वही ज्ञानव्यक्ति वेदान्तवाक्योंके अर्थभूत ब्रह्मस्वरूपका निश्चय करा देती है ? अथवा उससे दूसरी ज्ञानव्यक्ति ब्रह्मस्वरूपका बोध कराती है। प्रथम पक्षके माननेसे परस्पर विरुद्ध दो त्रिकोंकी आपत्तिस्वरूप ब्रह्ममें वैरूप्य प्रसक्त हो जायगा। [उनमें प्रथम त्रिक दिखलाते हैं] प्राधान्य, उपादेयत्व और विधेयत्व यह एक त्रिक है और गुणभाव—गुणत्व—

गुणभावमुद्देश्यत्वमनुवाद्यत्वं चेत्यपरं त्रिकम्। तत्र प्रमापकस्य ज्ञानस्य प्रमेयार्थतया प्रमेयस्य ब्रह्मणः प्राधान्यम्। तथा कस्य ज्ञानमित्यपेक्षायां ब्रह्मणो ज्ञानमित्येवं विधेयज्ञानं प्रति व्यावर्त्तकतया तदर्थस्य ब्रह्मणो गुणभावः तथा प्रमाणविषयस्य ब्रह्मणः प्रमाणजन्यातिशययोगित्वाकारेण साध्यत्वादुपादेयत्वं तथा स्वभावतः सिद्धत्वाद् ब्रह्मण उद्देश्यत्वम्। तथेदानीं प्रमाणविषयस्य ब्रह्मणः पूर्वमज्ञाततयाऽङ्गीकार्यत्वाद् विधेयत्वम्। तथेदानीमुद्देश्यस्य ब्रह्मणः पूर्वं ज्ञातत्वादनुवाद्यत्वम्। तदेवं विधेयज्ञानमेव ब्रह्मप्रमापकमित्यस्मिन्नाद्यपक्षे वैरूप्यं दुर्वारम्। अस्तु तर्हि द्वितीयः पक्षः—वेदान्तेभ्य उत्पन्नं प्रथमज्ञानं ब्रह्मपरं द्वितीयज्ञानं विधेयतया

उद्देश्यत्व तथा अनुवाद्यत्व दूसरा त्रिक है। इनमें प्रथम त्रिकका प्रथम प्राधान्य ब्रह्ममें आता है, क्योंकि प्रमाजनक ज्ञान प्रमेयके लिए ही होता है, [और वह प्रमेय ज्ञानक्रियासे जन्य फलका आश्रय होनेसे ब्रह्म ही है।] अतः ब्रह्ममें प्राधान्य प्राप्त होता है।

इसके विरुद्ध द्वितीय त्रिकका प्रथम गुणत्व भी ब्रह्ममें दिखलाते हैं—'किसका ज्ञान' इस प्रकारकी अपेक्षा होनेपर 'ब्रह्मका ज्ञान' इस प्रकारके उत्तरवाक्यमें विधेयभूत ज्ञानके प्रति विशेषण होनेसे वेदान्तशब्दार्थ ब्रह्ममें गुणभाव प्राप्त होता है। एवं प्रमाणके विषय ब्रह्ममें प्रमाणजन्य अतिशयका सम्बन्ध होनेके कारण साध्यत्व होनेसे ब्रह्ममें उपादेयत्व भी आता है। और स्वभावतः सिद्ध होनेसे ब्रह्ममें उद्देश्यत्व आता है। एवं इस समय प्रमाणविषय ब्रह्ममें पहले (वेदान्तवाक्यके श्रवणसे पूर्व) अज्ञातस्वरूप माननेसे विधेयत्व सिद्ध होता है। [अपूर्व ही विधेय होता है और पूर्वसिद्ध उद्देश्य होता है, इस प्रकार उद्देश्यत्व और विधेयत्व ब्रह्ममें विरूपत्वके प्रतिपादक हैं] एवं उद्देश्यस्वरूप ब्रह्मके प्रथम ज्ञात होनेसे उसका अनुवाद भी प्राप्त होता है [जो विधेयके विरुद्ध है] इस परिस्थितिमें विधेयज्ञान ही ब्रह्मका निश्चायक है, इस प्रकारके प्रथम पक्षके माननेमें उक्त रीतिसे ब्रह्ममें वैरूप्य नहीं हटाया जा सकता। यदि कहो कि दूसरा पक्ष—विधेय ज्ञानसे अन्य ज्ञान ही ब्रह्म प्रमापक है—ही मान लिया जाय! क्या हानि है? क्योंकि वेदान्तवाक्योंसे उत्पन्न प्रथम ब्रह्मज्ञान ब्रह्मपरक होगा और द्वितीय ज्ञान विधिका

विधिपरमिति। नाऽयमपि पक्षः समीचीनः, शब्दस्योभयपरत्वाभावे तज्जन्यज्ञानस्याऽसकृज्जातस्याऽप्युभयपरत्वानुपपत्तेः। न च शब्दस्योभयपरत्वम्, प्रयाजवाक्यदृष्टान्तस्य निराकरिष्यमाणत्वात्।

ननु वैरूप्यप्रसङ्गो न दोषमावहति। अन्यथा गुणकर्मविधानानुपपत्तेः। तथाहि—क्रत्वङ्गभूतव्रीह्यादिकारकसंस्कारार्थानि कर्माणि गुणकर्माणि। तत्र व्रीहीणामन्यार्थत्वसिद्धत्वज्ञातत्वलक्षणानि गुणत्वोद्देश्यत्वानुवाद्यत्वानि तावद् विद्यन्ते। यागक्रियां प्रति कारकत्वादन्या-

---

विषय होनेसे विधिपरक होगा [इससे कोई विरोध नहीं है] तो, यह दूसरा पक्ष भी दोषरहित नहीं है, क्योंकि शब्दका दो अर्थोंमें तात्पर्य न होनेसे उस शब्दसे उत्पन्न ज्ञानके बार बार उत्पन्न होनेपर भी उसका दो अर्थोंमें तात्पर्य हो नहीं सकता, [जैसे घट-पटसे उत्पन्न घटज्ञान पुनः पुनः उत्पन्न होनेपर भी दो अर्थोंमें तात्पर्य नहीं रखता]।

शब्दका दो अर्थोंमें तात्पर्य होता है, इसमें दिये हुए प्रयाजवाक्योंके दृष्टान्तका आगे खण्डन किया जायगा। [इससे शब्दोंका दो अर्थोंमें तात्पर्य नहीं माना जा सकता, अतः अभियुक्तोंका 'सकृदुक्तः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति' (एक बार उच्चारण किया गया शब्द एक ही अर्थका बोधन कर सकता है,) यह सिद्धान्त ही स्वीकरणीय है।]

शङ्का—वैरूप्यका प्रसङ्ग दोषाधायक नहीं है। यदि वैरूप्यप्रसङ्ग दोषकारक हो, तो गुणकर्मके विधानकी उपपत्ति न हो सकेगी, क्योंकि यज्ञके अङ्गभूत व्रीहि आदि साधनोंके संस्कारके लिए किये जानेवाले (अवघातादि) कर्म गुणकर्म कहलाते हैं। ऐसे स्थलमें व्रीहि आदि साधनद्रव्योंमें अन्यार्थत्व, सिद्धत्व तथा ज्ञातत्वस्वरूप गुणत्व, उद्देश्यत्व तथा अनुवाद्यत्व प्राप्त होता है, [अन्यार्थत्व अर्थात् स्वार्थके लोकतः सिद्ध होनेसे उसमें तात्पर्य न होनेके कारण व्रीह्यादिमें यज्ञोपकारकत्व सिद्ध होता है, अतः व्रीह्यादि गुण—विशेषण—होते हैं एवं लोकसिद्ध होनेसे अपूर्वस्वरूप विधेय नहीं हो सकते, अतः उद्देश्य ही होंगे, तथा प्रथम ज्ञान ही उद्देश्य होता है, अतः उद्देश्यका अनुवाद ही उचित है। इस आशयका स्वयं ग्रन्थकार ही प्रकाश करते हैं]—व्रीहि आदि यागक्रियाके प्रति कारक—साधन—होनेसे अन्यार्थत्व होता है। और

र्थत्वम् । मानान्तरगम्यत्वात् सिद्धत्वज्ञातत्वे । तथा शेषित्वसाध्यत्वाज्ञातत्वलक्षणानि प्राधान्योपादेयत्वविधेयत्वानि प्रोक्षणक्रियावशाद् व्रीहीणामत्र संभविष्यन्ति । प्रोक्षणस्य व्रीह्यर्थत्वाद् व्रीहीणां शेषित्वम् । प्रोक्षणजन्यातिशयवदाकारेण पूर्वमसिद्धत्वात् साध्यत्वाज्ञातत्वे । तत्र गुणत्वोद्देश्यत्वानुवाद्यत्वाख्यं त्रिकं व्रीहिशब्दात् प्रतीयते । प्राधान्योपादेयत्वविधेयत्वाख्यं त्रिकं प्रोक्षणक्रियाजन्यातिशयवाचिद्वितीयाविभक्त्या प्रतीयते । ततो व्रीहिप्रोक्षणादिषु गुणकर्मस्वेकस्यां प्रमितौ विरुद्धत्रिकद्वयापत्तिर्दुर्वारेति नेयं दोषावहेति चेद्, मैवम्; न तत्र क्रियाजन्यातिशयो विभक्तिगम्यः,

---

प्रत्यक्ष आदि अन्य लौकिक प्रमाणों द्वारा सिद्ध होनेसे—सिद्धत्व और ज्ञातत्व माना जाता है ।

इस पूर्वोक्त त्रिकसे भिन्न दूसरा त्रिक भी व्रीहि आदिमें दिखलाते हैं—शेषित्व, साध्यत्व तथा अज्ञातत्व स्वरूप प्राधान्य, उपादेयत्व तथा विधेयत्व लक्षण अन्य त्रिक भी प्रोक्षण आदि क्रियाकी सामर्थ्यसे व्रीहि आदि द्रव्योंमें सम्भव होगा । प्रोक्षणक्रिया व्रीहिके संस्कारके लिए है, अतः व्रीहिको शेषित्वलक्षण प्राधान्य प्राप्त है— [जिसके लिए जिसका विधान है, वह प्रधान होता है; जैसे सेवकोंका सब कार्य स्वामीके निमित्त होता है । वहांपर स्वामी प्रधान होता है] प्रोक्षणक्रियासे उत्पन्न अतिशययुक्त आकारसे व्रीहि प्रोक्षणसे पूर्व सिद्ध नहीं है । इसलिए उस आकारसे व्रीहियोंमें साध्यत्व और अज्ञातत्व भी प्राप्त है । इनमें गुणत्व, उद्देश्यत्व तथा अनुवाद्यत्व रूप त्रिक व्रीहिशब्दसे प्रतीत होता है और प्राधान्य, उपादेयत्व तथा विधेयत्व रूप दूसरा त्रिक प्रोक्षणक्रियासे जनित अतिशयको कहनेवाली द्वितीया विभक्तिसे मालूम होता है । [द्वितीया विभक्ति 'कर्मणि द्वितीया' (पा० सू०) से कर्मरूप अर्थमें होती है और कर्म पदार्थ क्रियाजन्यफलाश्रयत्वस्वरूप है]। इस रीतिसे गुणकर्मभूत व्रीहिप्रोक्षणादिस्थलमें एक ही ज्ञानमें विरुद्ध दो त्रिकोंकी आपत्ति दूर नहीं की जा सकती, इसलिए उक्त वैरूप्यकी आपत्ति दोषजनक नहीं मानी जा सकती ।

समाधान—ऐसा नहीं है, कारण कि उक्त गुणकर्ममें क्रियासे उत्पन्न अतिशय विभक्ति द्वारा प्रतीत नहीं होता है, किन्तु व्रीहिके लिए विहित प्रोक्षणादि क्रियाविधिकी अनुपपत्तिसे प्रतीत होता है । [अर्थात् व्रीहिमें प्राधान्यादि त्रिक

किन्तु व्रीह्यर्थक्रियाविध्यनुपपत्तिगम्यः। अतः शाब्दे ज्ञाने गुणत्वोद्देश्यत्वानुवाद्यत्वान्येव प्रमीयन्ते। प्राधान्योपादेयत्वविधेयत्वानि त्वर्थापत्त्येति ज्ञानभेदान्न तत्र वैरूप्यप्रसङ्गः। प्रकृतेऽपि तर्हि ब्रह्मज्ञानविधेयज्ञानयोर्भेदादविरोधोऽस्त्विति चेद्, न; व्रीह्यादाविव ब्रह्मणि मानान्तरस्याऽसंभवात्। नहि सामग्रीभेदमन्तरेण कार्यभेदः संभवति। अथोच्येत—विधायकपदव्यतिरिक्तपदसमुदायो ब्रह्मस्वरूपं प्रथमतः प्रतिपाद्य पुनस्तदनुवादज्ञानं जनयित्वा तस्य ज्ञानस्य विधिविषयत्वसमर्पणेन पुनर्विधायकपदेन पदैकवाक्यतां गच्छति, ततः प्रमाणभेदसिद्धिरिति। नैतद्युक्तम्, पदैकवाक्यतायाः प्राग् वाक्यरूपस्य पदसमुदायस्य प्रमाणत्वायोगात्। अथाऽत्र

अर्थापत्तिगम्य है, साक्षात् शब्द द्वारा नहीं, यह भाव है] अतएव शब्दजनित ज्ञानमें गुणत्व, उद्देश्यत्व तथा अनुवाद्यत्वरूप त्रिककी ही प्रतीति होती है। प्राधान्य, उपादेयत्व तथा विधेयत्व रूप त्रिक तो अर्थापत्तिसे प्रतीत होता है। इस प्रकार ज्ञानभेद होनेसे वैरूप्यका प्रसङ्ग नहीं है। तब तो प्रकृतमें भी ब्रह्मज्ञान और विधेयज्ञानमें भेद होनेसे कोई विरोध नहीं होगा, ऐसा कहना भी नहीं बनता, कारण कि व्रीहि आदि (लौकिक द्रव्यों) की भाँति ब्रह्ममें किसी दूसरे प्रमाणका सम्भव नहीं है। सामग्रीके भेदके बिना कार्यभेदका सम्भव नहीं है। यदि विधायक पदोंके अतिरिक्त शब्दोंका समुदाय—वेदान्तवाक्य—पहले ब्रह्मस्वरूपका प्रतिपादन कर, पश्चात् उसके अनुवादज्ञानको उत्पन्न करके उस ज्ञानको विधिका विषय बनानेके अनन्तर विधायक पदोंसे पदैकवाक्यताको प्राप्त होता है, इस कारण प्रमाणभेदकी सिद्धि हो जायगी, [इस आशङ्काके द्वारा करणभेदसे ज्ञानभेद दिखलाया। ब्रह्मस्वरूपका बोधक स्वतन्त्र वेदान्तवाक्य करण—प्रमाण—है। और ज्ञानविधिकी बोधक पदैकवाक्यताकी रीतिसे विधायक वाक्योंके साथ एकवाक्यतापन्न वेदान्तवाक्य करण हैं, इससे करणभेद सिद्ध हुआ। इस पूर्व शङ्काके समाधानसे तो एक शब्दज्ञानका दोनोंमें तात्पर्य होनेका निराकरण किया गया था], ऐसा कहो तो यह कथन भी युक्त नहीं है, कारण कि पदैकवाक्यसे पहले वाक्यरूप पदसमुदाय प्रमाण नहीं माना जा सकता।

ब्रह्मवाक्यं ज्ञानविधिवाक्यं चेति द्वेधा विभज्य पश्चादर्थवादविधिवाक्ययोरिव वाक्यैकवाक्यता कल्प्येत, तदसत्; अर्थवादानामफलानां विध्येकवाक्यत्वेऽपि ब्रह्मवाक्यस्य स्वत एव पुरुषार्थपर्यवसायिनस्तदयोगात्। अथ प्राथमिकशाब्दज्ञानस्य परोक्षत्वेनाऽफलत्वात् फलभूतापरोक्षानुभवहेतुत्वाभावात् तद्धेतुज्ञानं विधेयम्। ततो ब्रह्मवाक्यस्य तद्विध्येकवाक्यत्वं युक्तमिति चेद्, तर्हि यागस्य व्रीह्यादिवद्विधीयमानज्ञानस्य किञ्चित्करणकारकं वक्तव्यम्। तच्च न संभवति, त्वन्मते शब्दस्य परोक्षज्ञानोपक्षयात्। इन्द्रियादीनां च ब्रह्मगोचरत्वाभावात्।

अथ मतं शाब्दज्ञानस्याऽपरोक्षानुभवहेतुता यद्यपि स्वतो न दृश्यते तथापि विधिबलाद् भविष्यति, ततः शब्द एव विधेयज्ञानकरणमिति। तदयु-

---

[इससे एकवाक्यताको प्राप्त नहीं हुआ, वेदान्तवाक्य पृथक् प्रमाण न होनेसे प्रमाणभेद नहीं पाता।]

यदि कहो कि ब्रह्मवाक्य और ज्ञानविधिवाक्य इस प्रकार दो वाक्योंका विभाग करके पीछे अर्थवादवाक्य और विधिवाक्योंके तुल्य वाक्यैकवाक्यताकी कल्पना करेंगे, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि स्वतन्त्र फल न रखनेवाले अर्थवादवाक्योंकी विधिवाक्यके साथ एकवाक्यता होनेपर भी ब्रह्मवाक्यकी विधिवाक्यके साथ एकवाक्यता नहीं हो सकती, कारण कि ब्रह्मवाक्य स्वयं—दूसरे विधिवाक्यके साथ एकवाक्यता हुए बिना—भी पुरुषार्थका बोधन करनेमें समर्थ हैं। यदि प्रथमोत्पन्न शब्दज्ञान परोक्ष होनेसे निष्फल है, अतः फलस्वरूप अपरोक्ष अनुभवका कारण नहीं हो सकता, इसलिए उक्त फलके कारणीभूत ज्ञानको विधेय मानना होगा। इससे ब्रह्मवाक्यकी उस विधेयज्ञानविधिके साथ एकवाक्यता संगत ही है, ऐसा यदि कहो, तो जैसे यागके व्रीहि आदि कारकोंका विधान किया जाता है, वैसे ही ब्रह्मज्ञानका भी कोई करण कारक कहना होगा, वह करण कोई नहीं हो सकता, क्योंकि तुम्हारे—विधिवादी सिद्धान्तैकदेशीके—मतमें शब्द परोक्ष ज्ञानको उत्पन्न करके व्यापारहीन हो जाता है। और इन्द्रिय आदि करण ब्रह्मको विषय ही नहीं कर सकते।

यद्यपि शब्दज्ञान अपरोक्ष अनुभव—साक्षात्कार—का कारण स्वतः नहीं देखा गया है, तथापि विधान सामर्थ्यसे हो जायगा,

क्तम् । किमत्र शब्दजन्यं प्राथमिकं ब्रह्मज्ञानं विधेयमुत तेन ज्ञानेनाऽवगतं ब्रह्मोद्दिश्य प्रत्ययसंतानः । नाऽऽद्यः, विधेयज्ञानस्यैव ब्रह्मप्रमापकत्वे वैरूप्यस्य दर्शितत्वात् । न द्वितीयः, प्रत्ययसंतानस्याऽश्रुतत्वात् । 'आत्मेत्येवोपासीत' इत्यादौ प्रत्ययसंतानरूपस्योपासनस्य विधिः श्रूयत इति चेद्, नः स्वभावसिद्धप्रत्ययमुद्दिश्य तस्याऽलौकिकात्मलक्षणविषयप्रतिपादने वाक्यतात्पर्यात् । एवकारयोगादात्मनः प्रतिपाद्यत्वनिर्णयात् । तदुक्तम्—

'यच्छब्दयोगः प्राथम्यमित्याद्युद्देश्यलक्षणम् ।
तच्छब्द एवकारश्च स्यादुपादेयलक्षणम् ॥' इति ॥

[अन्यथा अपरोक्षानुभवके लिए शब्द ज्ञानका विधान व्यर्थ हो जाता है ।] इसलिए शब्द ही विधेयभूत ज्ञानमें करण—साधन—कारक होगा, यदि ऐसा मानो तो वह भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि प्रकृतमें शब्दसे प्रथम उत्पन्न हुआ ब्रह्मज्ञान विधेय है ? अथवा उस प्रथम ज्ञानसे प्राप्त ब्रह्मको उद्देश्य करके ज्ञान-सन्तान—ज्ञानधारा—विधेय है ? । इनमें प्रथम पक्ष नहीं बनता, क्योंकि विधेय ज्ञानको ही ब्रह्मस्वरूपका निश्चायक माननेमें वैरूप्यप्रसङ्गकी आपत्ति दिखला आये हैं । दूसरा पक्ष भी नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञानसन्तान—ज्ञानधारा—श्रुतिमें नहीं दिखलाई गई है । 'आत्मा है, इस प्रकार ही उपासना (पुनः पुनः परिशीलन) करे' इत्यादि वाक्योंमें ज्ञानधारारूप उपासनाका विधान श्रुतिमें आया है, ऐसा कहना भी साधक नहीं है, कारण कि स्वभावसिद्ध ज्ञानको उद्देश्य करके उसके अलौकिक आत्मस्वरूपविषयका प्रतिपादन करनेमें उपासना-वाक्यका तात्पर्य है । [अर्थात् 'अहम्' इत्यादि प्रत्ययसिद्ध लौकिक आत्माको उद्देश्य करके दूसरे प्रमाणोंसे न जाना हुआ प्रपञ्चशून्य अलौकिक आत्मा ही उपासनाका विषय है, इसमें ही उपासनावाक्यका तात्पर्य है] । यह 'आत्मेत्येव' इस वाक्यमें 'एव' पदके सम्बन्धसे आत्मा प्रतिपाद्य है, ऐसा ही निर्णय होता है ।

ऐसा ही अभियुक्तोंने कहा भी है—यत् शब्दका सम्बन्ध अथवा प्रथम कहना, इत्यादि उद्देश्यका लक्षण है । और तत् शब्दका सम्बन्ध तथा 'एव' पद देना उपादेयका लक्षण है ।

न चैतद्वाक्यमात्मानं तदुपासनं च प्रतिपादयितुं शक्नोति, वाक्यभेदप्रसङ्गात् । न च 'निदिध्यासितव्यः' इति वाक्यमुपासनां विदध्यात् , आत्मप्रतिपादकवाक्यमध्ये पठितस्य तस्य स्तुतिपरत्वात् । अन्यथा वाक्यभेदापत्तेः । नन्वात्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येदिति ज्ञानविधानेन संतानविधिरुपलभ्यते, ज्ञानस्य सर्वत्र प्रवाहेणाऽविनाभावादिति चेद्, न; अविनाभावासिद्धेः । क्वचित्पुरोवर्त्ति वस्तु सकृद् दृष्टवतो झटिति प्रत्यङ्मुखत्वादिदर्शनात् । अथाऽपि दर्शपूर्णमासप्रकरणे मलवद्वाससो व्रतकलापविधानवदात्मप्रकरणे सन्तानरूपं निदिध्यासनं विधातुं शक्यत इति चेद्, एवमपि संतानस्याऽप्रमाण-

---

'आत्मेत्येव' इत्यादि वाक्य आत्मा तथा उसकी उपासना दोनोंका प्रतिपादन करनेमें समर्थ नहीं हैं, कारण कि दोनोंमें तात्पर्य माननेसे वाक्यभेद हो जायगा । 'निदिध्यासन करना चाहिए' यह वाक्य भी उपासनाका विधान नहीं कर सकता, क्योंकि आत्माके प्रतिपादक वाक्योंके मध्यमें पढ़े हुए उक्त वाक्यका स्तुतिमात्रमें तात्पर्य है । नहीं तो वाक्यभेदकी आपत्ति हो जायगी । अपने ही में अपनेको देखे (आत्मामें ही आत्मबुद्धि करे, अनात्मामें आत्मबुद्धि न करे) इस प्रकार ज्ञानके विधानसे ज्ञानधाराका विधान पाया जाता है, क्योंकि ज्ञानका सर्वत्र प्रवाहके साथ अविनाभाव है । [जैसे घट, पट आदि अनात्म पदार्थका ज्ञान घट, पटादि अनात्मप्रवाहके साथ ही है एवं आत्मज्ञान भी प्रवाहका सहचारी ही है । इस प्रकार प्रवाहका और ज्ञानका सर्वत्र साहचर्यरूप अविनाभाव है, अतः 'ज्ञान' पदकी ज्ञानसत्तामें लक्षणा करेंगे] इस प्रकार कहना संगत नहीं, कारण कि अविनाभावकी सिद्धि नहीं है । [प्रवाह तथा ज्ञानधाराके साहचर्यके अभावका दृष्टान्त द्वारा समर्थन करते हैं]—कभी कभी सामनेकी वस्तुको एक बार ही देखनेवाले पुरुषका तुरन्त ही प्रत्यङ्मुख हो जाना देखा गया है । [जैसे किसी सभ्य पुरुषके सामने बीभत्स या लज्जाजनक वस्तु अचानक आ भी जाय, तो भी वह तुरन्त प्रत्यङ्मुख हो जाता है, वहांपर ज्ञानधारा और प्रवाहका साहचर्य नहीं है और ज्ञान है] यदि दर्शपूर्णमासप्रकरणमें मलयुक्त वस्त्रवालेके व्रतके समूहोंके विधानके तुल्य आत्मप्रकरणमें सन्तान—धारा—रूप निदिध्यासनका विधान किया जा सकता है, ऐसा कहो, तो ऐसा माननेपर भी अप्रमाणरूप सन्तान अपरोक्ष अनुभवका कारण नहीं हो सकता । इसलिए

स्याऽपरोक्षानुभवहेतुत्वासंभवान्न शाब्दज्ञानाद्विशेषः सिध्येत्। न च मृतपुत्रादेर्भावनाधिक्यादापरोक्ष्यं दृष्टमिति वाच्यम्, तत्र विषयस्याऽसंप्रयुक्तत्वेन तदापरोक्ष्यस्य भ्रान्तत्वात्। 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः' इति श्रुत्या ध्यानस्याऽपरोक्षानुभवहेतुत्वमुक्तमिति चेद्, मैवम्; नाऽत्र 'ध्यायमानः पश्यति' इत्येवमन्वयो येन ध्यानं दर्शनहेतुः स्याद्, अपि तु ध्यायमानो ज्ञानप्रसादेन पश्यतीति। ज्ञानशब्देनाऽत्राऽन्तःकरणमुच्यते, ज्ञायतेऽनेनेति व्युत्पत्तेः। तस्य प्रसाद ऐकाग्र्यम्। तच्च सहकारिकारणम्। लोके दुर्ज्ञेयवस्तुदर्शने चित्तैकाग्र्यसहायापेक्षाया दृष्टत्वात्।

शाब्दज्ञानकी अपेक्षा कोई विशेष नहीं सिद्ध हो सकता। भावनाके आधिक्यसे—पुनः पुनः भावना करनेसे—मरे हुए पुत्र आदिका साक्षात्कार देखा गया है, ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि मरे पुत्रके साक्षात्कारस्थलमें विषय—मृत पुत्रादि—का इन्द्रियसे सम्प्रयोग न होनेसे उसका साक्षात्कार भ्रम है।

शङ्का—* ज्ञानके प्रसादसे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, इसके अनन्तर ध्यान करता हुआ, उपासक उस निष्कल—निरवयव—आत्माका साक्षात्कार करता है, इस श्रुतिसे ध्यान अपरोक्ष अनुभवका कारण कहा गया है।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि इस वाक्यमें 'ध्यायमानः पश्यति'—ध्यान करता हुआ देखता है' ऐसा अन्वय नहीं है (ध्यान और दर्शनमें कार्यकारणभावका बोधक नहीं है) जिससे ध्यान दर्शनका हेतु हो सके, किन्तु 'ध्यान करता हुआ ज्ञानप्रसादसे साक्षात्कार करता है, ऐसा अन्वय है। यहांपर ज्ञानशब्दसे अन्तःकरण लेना चाहिए, क्योंकि यह ज्ञानपद 'जिससे जाना जाता है' इस प्रकार करणव्युत्पत्तिसे करणार्थक है। उस ज्ञान (अन्तःकरण) का प्रसाद—एकाग्रता है। और वह सहकारी कारण है। लोकमें दुर्ज्ञेय—समझनेमें कठिन—वस्तुके अपरोक्ष अनुभवात्मक दर्शन करनेमें चित्तैकाग्रताकी सहायताकी अपेक्षा देखी जाती है। इस प्रकार (विचारनिष्कर्षमें) सहकारी कारणको प्राप्त हुई चित्तैकाग्रताका ज्ञानधारारूप ध्यान साधन है, ऐसा श्रुतिका तात्पर्यार्थ कहना होता है। इस प्रकार जो श्रुतिसे सिद्ध नहीं होता, ऐसा अश्रुत अर्थकी कल्पना करना (श्रुति तो 'ध्यायमानः पश्यति'—इस प्रकार दर्शनमें ध्यानका अन्वय

---

* ज्ञानसे चित्तके प्रसादसे एकाग्रता, ऐसा अर्थ आगे करना है।

एवं च सहकारिभूतचित्तैकाग्र्यस्य प्रत्ययसन्तानरूपं ध्यानं साधनमित्युक्तं भवति। न चैवमश्रुतान्वयकल्पनमयुक्तमिति वाच्यम्, अदृष्टानुपपन्नार्थकल्पनादन्वयमात्रवैपरीत्यकल्पनस्य लघीयस्त्वात्। नह्यन्यत्र ध्यानस्याऽपरोक्षप्रमितिहेतुत्वं दृष्टम्, नाऽप्युपपन्नम्, ध्यानस्य प्रमाणरूपत्वाभावात्। साक्षात्कारस्य तु प्रमाणभूतः शब्द एव कारणमिति पूर्ववर्णके विद्याप्राप्तिवादे 'तं त्वौपनिषदम्' इति तद्धितप्रत्ययमुपजीव्य सिद्धान्तिना समर्थितम्। अतः शब्दज्ञानस्य तत्सन्तानस्य वा नाऽपरोक्षानुभवकरणतया विधेयत्वसम्भवः।

यदुक्तं प्रयाजवाक्यवद्वेदान्तानामुभयार्थत्वे सति ब्रह्मप्रतिपादनं विधेयज्ञानव्यक्त्यन्तरपर्यवसानं च भविष्यतीति। तदपेशलम्, दृष्टान्तासिद्धेः।

दिखा रही है) युक्तिसंगत नहीं है, ऐसा नहीं कहना चाहिए, कारण कि जो लोकमें कहीं देखा ही नहीं गया है तथा जिसकी युक्तियोंसे भी उपपत्ति नहीं हो सकती, ऐसे अदृष्ट और अनुपपन्न अर्थकी कल्पना करनेकी अपेक्षा तो अन्वयके वैपरीत्यकी (अश्रुत ध्यानका मनःप्रसादके साथ अन्वयकी) कल्पना करनेमें ही लाघव है। दूसरे स्थलमें कहीं भी ध्यान अपरोक्ष अनुभव—साक्षात्कार—का हेतु नहीं देखा गया है और ध्यानमें साक्षात्कारकी कारणता युक्तिसे भी उपपन्न नहीं है, कारण कि ध्यान प्रमाणरूप नहीं है। [ब्रह्म] साक्षात्कारका तो प्रमाणस्वरूप शब्द ही कारण है, ऐसा पूर्ववर्णकमें विद्याप्राप्तिवादके अवसरपर 'तन्त्वौपनिषदम्' इस वाक्यमें तद्धितप्रत्ययका आश्रयण कर सिद्धान्तीने समर्थन किया है।

इससे शब्दजन्यज्ञानका अथवा उसके सन्तान (धारा) का अपरोक्ष अनुभवके करणरूपसे विधान नहीं हो सकता है।

और जो कहा गया है कि 'समिधो यजति' इत्यादि प्रयाजवाक्यके तुल्य अर्थात् जैसे 'समिधो यजति' 'तनूनपातं यजति' इत्यादि वाक्योंका समिधादि याग और उनके अनुष्ठानका क्रम इन दोनोंमें तात्पर्य है वैसे ही—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि वाक्यके उभयार्थक होनेसे उनका ब्रह्मके प्रतिपादनमें और ब्रह्मज्ञानके विधानमें भी पर्यवसान होगा, वह ठीक नहीं है, क्योंकि दृष्टान्तकी असिद्धि है; प्रयाजादि याग ही 'समिधो यजति' इत्यादि वाक्यका अर्थ

प्रयाजा एव हि तत्र शब्दगम्यास्तदनुष्ठानक्रमस्त्वर्थापत्तिगम्यः । ननु न तावत्प्रयाजा एव क्रमः, तेषां क्रमशब्दानभिधेयत्वात् । नापि तदतिरिक्तः क्रमः सुनिरूपः, एकैकस्मिन्प्रयाजे क्रमादर्शनात् । संयोगवदनेकाश्रितः क्रम इति चेद्, न; तथा सति संयोगिनोरिव प्रयाजानां यौगपद्यप्रसङ्गात् । यौगपद्ये च कालकृते क्रमव्याघातात् । मैवम्, लोकप्रसिद्धस्य क्रमस्याऽपह्नवायोगात् । कालकृतक्रमत्वादेवाऽऽश्रययौगपद्यानपेक्षत्वात् । यदि देशकालवस्तूपाधिपरामर्शमन्तरेण स्वतन्त्रः क्रमो न दृश्येत, तर्ह्येकदेशोपाधिकेषु वृक्षेषु वनव्यवहारवत् संनिहितानेकक्षणोपाधिकेषु प्रयाजेषु क्रमव्यवहारोऽ-

---

है, उनका अनुष्ठानक्रम तो वाक्यका अर्थ नहीं है वह अर्थापत्तिसे गम्य है । [जब प्रयाजस्थलमें दोनों वाक्यार्थ नहीं हैं तब प्रकृतमें वे दृष्टान्त कैसे हो सकते ?]

शङ्का—[यदि क्रम कोई वस्तु सिद्ध हो, तो वह शाब्द है अथवा अर्थापत्तिगम्य है यह विचार हो सकता है लेकिन क्रम तो कोई वस्तु ही नहीं है इससे यह विचार निराधार है—] प्रयाज ही क्रम हैं यह नहीं कह सकते, क्योंकि क्रमशब्दसे प्रयाज की और प्रयाजशब्दसे क्रमकी प्रतीति नहीं होती है । और प्रयाजसे अतिरिक्त भी क्रम नहीं है, क्योंकि प्रत्येक प्रयाजनमें क्रम नहीं दिखाई देता । यदि कहो कि संयोगके तुल्य क्रम अनेकमें रहता है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा हो, तो संयोगी दो पदार्थोंके तुल्य क्रमयुक्त वस्तुओंमें एककालिकत्वका प्रसङ्ग हो जायगा, और यदि प्रयाजोंको एककालिक मान लिया जाय, तो उनमें कालकृत क्रमका—पौर्वापर्यका—व्याघात हो जायगा ।

समाधान—अनेक वस्तुओंमें कालकृत क्रम प्रसिद्ध है, उसका अस्वीकार नहीं हो सकता है । और क्रम कालकृत ही होता है, इससे क्रमिक वस्तुओंमें यौगपद्य—एककालिकत्व—नहीं होगा । यदि कहें कि देश, काल और वस्तुरूप उपाधिसे अतिरिक्त क्रम कोई वस्तु नहीं है, तो यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि एक देश जिनका उपाधि—अधिकरण—है ऐसे वृक्षोंमें जैसे 'वन' व्यवहार होता है वैसे ही सन्निहित अनेक क्षण जिनकी उपाधि—अधिकरण—हैं ऐसे प्रयाजोंमें क्रमव्यवहार होनेमें हानि क्या है ? [अभिप्राय यह है कि क्रमव्यवहारमें देश, काल आदि उपाधि—निमित्त—हैं क्रमशब्दके अर्थ नहीं हैं । क्रमशब्दका अर्थ पदार्थान्तर है, इससे यह विचार हो सकता है कि वह शाब्द नहीं है, अर्थापत्ति-

स्तु। अथाऽनुष्ठेयपदार्थानामनिष्पन्नस्वभावत्वाद्देशकालवस्तुकृतः क्रमो न सम्भवेत्, तर्हि वाक्यपाठक्रम एव स्मर्यमाणोऽनुष्ठेयपदार्थेऽप्युपकल्पताम्। ननु कथमयं क्रमोऽनुष्ठेयविशेषणतया प्रमीयते, विधायकाभावात्; प्रयोगवचनस्य तद्विधायकत्वे परस्पराश्रयत्वप्रसङ्गात्। विहिते प्रयोगविधिः, प्रयोगविधौ च तद्विधिकल्पनेति। नैष दोषः, एकस्य कर्तुर्युगपदनेकपदार्थप्रयोगानुपपत्त्या क्रमस्य प्रमीयमाणत्वात्। ततः प्रयाजवाक्यानामेकार्थपरत्वान्न तद्दृष्टान्तेन वेदान्तानामर्थद्वयपरत्वं सम्भवति।

यदप्युक्तम्—उपासनाविधिपरैर्वेदान्तैर्ब्रह्माप्यवगम्यते, रूपप्रत्यायकेन चक्षुषा द्रव्यस्याऽपि प्रतीतिदर्शनादिति, तदप्यसत्। यथा प्रतिवस्तु

गम्य है।] यदि कहें कि अनुष्ठेय यागरूप पदार्थ असिद्ध हैं उनमें कालकृत क्रमका व्यवहार नहीं होगा, तो प्रयाजवाक्योंके पाठमें जो क्रम है, उसीका स्मरण कर यागोंमें भी क्रमकी कल्पना कर व्यवहार कीजिए, कोई हानि नहीं है।

शङ्का—अनुष्ठेय यागमें विशेषणरूपसे यह क्रम कैसे भासेगा, क्योंकि क्रमका विधायक कोई वाक्य नहीं है। यदि कहें कि 'समिधो यजति' इत्यादि विधिवाक्य ही क्रमविशिष्ट यागका विधान करेंगे, तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा माननेमें अन्योन्याश्रयका प्रसङ्ग होगा, कारण कि क्रमका विधान होनेपर क्रमविशेषित यागका विधान होगा और यागका विधान होनेपर उनमें क्रमकी कल्पना होगी।

समाधान—'समिधो यजति' इत्यादि वाक्योंसे बोध्य क्रमविशिष्ट याग नहीं है, किन्तु एक कर्त्ता अनेक यागोंको एक कालमें कर नहीं सकता है, इससे—एककर्तृक अनेक यागोंकी एक कालमें अनुपपत्तिसे—क्रमकी कल्पना होती है, अतः अन्योन्याश्रय नहीं होता। इससे यह सिद्ध हो गया कि प्रयाजवाक्य केवल यागका ही विधायक है, क्रमका विधायक नहीं है अर्थात् एकार्थ है; अतः प्रयाजवाक्यके दृष्टान्तसे वेदान्तवाक्य दो अर्थका बोध नहीं करा सकेंगे। अर्थात् यदि उनको ज्ञानविधिपरक मानें, तो वे ब्रह्ममें पर्यवसित नहीं होंगे।

पीछे जो यह कहा गया है कि 'आत्मेत्येवमुपासीत' इत्यादि वाक्य उपासनाका विधान करते हैं, उन वाक्योंसे ही ब्रह्मका बोध भी होगा। जैसे कि रूपकी प्रतीतिके लिए प्रवृत्त चक्षुसे द्रव्यका भी ग्रहण होता है, वह कहना भी

सम्प्रयोगनिरपेक्षमेव प्रमाणं चक्षुर्न तथा प्रतिपदार्थं प्रमाणं शब्दः किन्तु यत्र तात्पर्यं तत्र सम्भूयैव प्रमाणम्। तथा च विधिपरा वेदान्ताः कथं ब्रह्मावगमयेयुः। नन्वेवं तर्हि वेदान्तशब्दा ब्रह्मस्वरूपं मा प्रमापयन्तु किन्तु विधायकपदजन्यविधिप्रमितिविषयत्वेनैव ब्रह्मज्ञानं समर्पयन्तु ब्रह्मस्वरूपं त्वर्थापत्त्या सेत्स्यति, विधेयज्ञानस्य ज्ञेयभूतब्रह्मस्वरूपमन्तरेणाऽनुपपत्तेरिति चेद्, महदिदं न्यायविचारकौशलमायुष्मतः, यदेकस्मिन् विषये ब्रह्मस्वरूपाख्ये प्रथमप्रतिपत्तिः प्रमाणं तस्मिन्नेव द्वितीयज्ञानं न प्रमाणमिति। तथा श्रुतिर्न प्रमाणम्, श्रुत्यर्थापत्तिश्च प्रमाणमिति। अथ श्रुतिर्विधिशेषत्वान्न स्वार्थे प्रमाणं श्रुत्यर्थापत्तिस्त्वनन्यशेषत्वात् प्रमाणम्, इत्युच्येत, एवमपि नाऽत्र ब्रह्म सिध्येत्, 'वाचं धेनुमुपासीत' इत्यादाविव

ठीक नहीं है, क्योंकि चक्षु एक वस्तुके ग्रहणमें दूसरी वस्तुके सम्बन्धकी अपेक्षा नहीं रखता और शब्द एक अर्थके बोधमें अन्य शब्दके सम्बन्धकी अपेक्षा रखता है, क्योंकि परस्परसमभिव्याहाररूप आकांक्षा शाब्दबोधमें कारण है, ऐसी परिस्थितिमें ब्रह्मज्ञानविधायक वेदान्तवाक्योंसे ब्रह्मका अवगमन कैसे होगा ?

शङ्का—जब ऐसी बात है, तब वेदान्तवाक्य ब्रह्मस्वरूपका प्रतीपादन न करें, विधायक पदोंसे उत्पन्न विधिकी प्रमितिके विषय होकर ही ब्रह्मज्ञानका विधान करें, परन्तु ब्रह्मके अवगमके बिना ब्रह्मज्ञानका विधान नहीं हो सकता, इससे ब्रह्मज्ञानके विधानकी अनुपपत्तिरूप अर्थापत्ति प्रमाणसे ही ब्रह्म प्रमित होगा, नुकसान क्या है ?

समाधान—ठीक है, यह आपकी महती न्यायकुशलता है, जो एक ही ब्रह्मस्वरूपके विषयमें प्रथम ज्ञान प्रमाण है और द्वितीय ज्ञान प्रमाण नहीं है एवं ब्रह्ममें श्रुति प्रमाण नहीं है, बल्कि श्रुतिमूलक अर्थापत्ति प्रमाण है। यदि आप कहें कि श्रुति विधि-शेष होनेसे अपने अर्थमें प्रमाण नहीं है, श्रुतिमूलक अर्थापत्ति अन्यशेष न होनेके कारण प्रमाण है, तो आपका यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्मकी उपासनाका विधान ब्रह्मके स्वरूपके बिना भी हो सकता है। जैसे 'वाचं धेनुमुपासीत' (वाणीकी धेनुरूपसे उपासना करे) यहांपर वस्तुतः वाणी धेनु नहीं है, पर धेनुरूपसे उसकी उपासना होती है, वैसे ही ब्रह्मके वस्तुतः न होनेपर भी आरोपसे ब्रह्मोपासना होगी। यदि कहें

विधेयज्ञानस्य वास्तवज्ञेयमन्तरेणाप्युपपत्तेः । स्वतःप्रामाण्यमाश्रित्य विधेयज्ञानाद् ब्रह्मसाधने तथैव सिद्धार्थपदजन्यप्राथमिकज्ञानाद् ब्रह्म किं न सिध्येत्? तत्सिद्धौ च तावतैव मुक्त्युपपत्तौ विधिवैयर्थ्यम्। अथ विधेयज्ञानस्यारोपितविषयतायामदृष्टफलकल्पनात् ततो विषयप्रमिति-लक्षणं दृष्टफलं कल्प्यत इति चेद्, न; सकलप्रमाणविरोधप्रसङ्गात्। तदेव-मत्यन्तदुष्टस्य प्रतिपत्तिविधेरध्याहर्तुमशक्यत्वात् 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादि-वेदान्तैर्मन्त्रैरिव प्रयोगवचनो न ज्ञानव्यक्त्यन्तरमनुष्ठापयति, ततो नानेनापि सिद्धान्तैकदेशिना वेदान्तविचारस्याऽगतार्थत्वं सुसम्पादम्। नन्वध्ययन-विध्युपात्तानां वेदान्तानां धर्मब्रह्मविषयत्वाभावे सत्यानर्थक्यं स्यादिति चेद्, मैवम्; यद्यपि वेदान्तानां सिद्धब्रह्मस्वरूपाबोधकत्वान्नास्ति ब्रह्म, तथापि न वेदान्तवैयर्थ्यं, कर्तृत्वभोक्तृत्वादिविशिष्टस्याहंप्रत्ययगम्यस्य

कि विधेयज्ञान स्वतः प्रमाण है, इससे उसीसे ब्रह्म सिद्ध होगा, तो सिद्धार्थक सत्य, ज्ञान, आनन्द आदि पदसे जन्य प्रथम ज्ञानसे ही ब्रह्मकी सिद्धि क्यों नहीं होगी? और जब ब्रह्मज्ञान हो गया तब उसीसे मुक्तिकी उपपत्ति हो गई फिर विधि व्यर्थ है। विधेयज्ञानरूप उपासनाको यदि आरोपितविषयक मानें, तो उसके अदृष्ट (पुण्य) फलकी कल्पना करनी पड़ेगी। इससे विषय-प्रमितिलक्षण दृष्ट फलकी ही कल्पना क्यों न करें? क्योंकि अदृष्ट फलकी कल्पनाकी अपेक्षा दृष्ट फलकी कल्पना करना उचित है, तो आपका यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इस कल्पनामें सभी प्रमाणोंका विरोध हो जायगा। इसलिए अत्यन्त दुष्ट—दोषसे युक्त—प्रतिपत्तिविधिका अध्याहार नहीं किया जा सकता है। इससे 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (जो यह सब है वह आत्मा ही है) इत्यादि वेदान्तवाक्योंसे मन्त्रोंके समान प्रयोगवचन ज्ञानव्यक्त्यन्तरका अनुष्ठान नहीं करा सकेगा। अतः यह सिद्धान्तैकदेशी भी वेदान्तविचारको अगतार्थ नहीं कर सकता।

'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (स्वाध्यायका—अपनी शाखाका—अध्ययन करे) इस अध्ययनविधिसे गृहीत वेदान्त यदि ब्रह्मविषयक न हों, तो वे वेदान्तवाक्य अनर्थक हो जायँगे, यदि यह कहें, तो यह कहना भी उचित नहीं है। यद्यपि वेदान्तवाक्योंके सिद्ध ब्रह्मस्वरूपके बोधक न होनेसे ब्रह्म नहीं है, तथापि वेदान्तोंमें वैयर्थ्य नहीं है, क्योंकि कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदिसे विशिष्ट और 'अहं'

जीवात्मनो विद्यमानः कर्तृत्वादिभिरविद्यमानैश्चाऽन्तर्यामित्वब्रह्मत्वादिभिर्वेदान्तोक्तसमस्तगुणैर्विशिष्टतयोपासनोत्पत्तिविधौ शमदमादीतिकर्तव्यतोपसंहारेण विनियोगविधौ मोक्षकामिनियोज्यसम्बन्धितयाऽधिकारविधौ साङ्गे कर्मण्यधिकारिण्यनुष्ठापकतया प्रयोगविधौ च वेदान्तानां पर्यवसानाङ्गीकारात्। तत्र विध्यपेक्षितन्यायस्य सर्वस्य पूर्वतन्त्र एव गतत्वादभ्यधिकाशङ्काया अदर्शनान्नैवारब्धव्योत्तरमीमांसेत्येवं पूर्वः पक्षः।

अत्राऽभिदध्मे—किं सिद्धे व्युत्पत्त्यभावाद्वेदान्तानामुपासनाक्रियापरत्वमुच्यते किंवा जैमिन्यादिवचनसामर्थ्यात्? तत्राऽऽद्यः समन्वयसूत्रे निराकरिष्यते। न द्वितीयः, वेदान्तानां जैमिन्यादिभिरविचारितत्वात्। 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इत्यत्र हि सूत्रे भाष्यकारादिभिर्धर्ममात्रविचारप्रतिज्ञापरत्वेनाऽधिकरणमाचितं न तु कृत्स्नवेदार्थविचारप्रतिज्ञापरत्वेन। तथा-हि—धर्ममीमांसाशास्त्रं विषयः, ततः किमारम्भणीयं न वेति संदेहः।

प्रत्ययके विषय जीवात्माके विद्यमान कर्तृत्वादि धर्मसे तथा अविद्यमान अन्तर्यामित्व, ब्रह्मत्व आदि वेदान्तोक्त समस्त गुणोंसे विशिष्टरूपसे उपासनाकी उत्पत्तिविधिमें, शम, दम, आदि इतिकर्तव्यताके उपसंहारसे विनियोगविधिमें, मोक्षकामी पुरुषरूप जो नियोज्य हैं, उनके सम्बन्धीरूपसे अधिकारविधिमें तथा अङ्गसहित कर्मोंमें अधिकारीके अनुष्ठापक—प्रवर्तक—होनेसे प्रयोगविधिमें वेदान्तोंका पर्यवसान है। उन विधियोंमें अपेक्षित सम्पूर्ण न्यायोंका पूर्वतन्त्रमें ही कथन हो चुका है, इससे अधिक शङ्काके न होनेसे उत्तरमीमांसाका आरम्भ नहीं करना चाहिए, यह पूर्वपक्ष है।

इसपर उत्तर कहते हैं—क्या सिद्ध पदार्थमें शब्दोंका सङ्केतग्रह न न होनेसे वेदान्तोंको उपासनाक्रियापरक मानते हैं अथवा जैमिनि आदिके वचनकी सामर्थ्यसे? इनमें प्रथम विकल्पका 'तत्तु समन्वयात्' इस सूत्रमें निराकरण किया जायगा। रहा द्वितीय विकल्प, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि महर्षि जैमिनि आदिने वेदान्तवाक्योंका विचार ही नहीं किया है। देखिए—'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस पूर्वमीमांसाके प्रथम सूत्रमें भाष्यकार शबरस्वामी प्रभृति आचार्योंने धर्ममात्रविचारकी प्रतिज्ञाके तात्पर्यसे अधिकरणकी रचना की है। सम्पूर्ण वेदार्थके विचारकी प्रतिज्ञाके तात्पर्यसे अधिकरणकी रचना नहीं की है। उस अधिकरणका धर्ममीमांसाशास्त्र विषय है, उसका आरम्भ करना

तदर्थमर्थान्तरं चिन्त्यते—अध्ययनविधिरदृष्टार्थो दृष्टार्थो वेति ? तत्राऽदृष्टार्थ इति तावत् प्राप्तम्, दृष्टफलसाधने भोजनादौ विध्यदर्शनात्। अध्ययनक्रियाकर्मणि स्वाध्याये संस्कारप्राप्तिलक्षणं दृष्टफलं सम्भवेत्। कथमदृष्टार्थतेति चेद्, मैवम्। न तावत् संस्कारः सम्भवति; संस्कृतस्य स्वाध्यायस्य कुत्रचित्क्रतौ विनियोगादर्शनात्। नाऽपि प्राप्तिः, अक्षरग्रहणमात्ररूपायाः प्राप्तेः स्वयमफलत्वात्फलान्तरासाधनत्वाच्च। अर्थावबोधसाधनं तदिति चेत्, तर्ह्यर्थावबोधाक्षरग्रहणयोः साध्यसाधनभावस्य लोकसिद्धत्वाद्विधिवैयर्थ्यम्। यदि कर्मकारकगतफलाभावे कर्माभिधायितव्यप्रत्ययेन कर्मप्रधानो विधिर्न सम्भवेत्, तर्हि सक्तुन्यायेन 'अधीयीत' इति वैपरीत्यं कल्प्यताम् ? न च फलाश्रवणादध्ययनस्य कथमदृष्टार्थतेति वाच्यम्, 'यदृचो-

---

चाहिए या नहीं ? ऐसा सन्देह होता है। इस अर्थकी सिद्धिके लिए अर्थान्तरकी चिन्ता करते हैं—'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययनविधिका दृष्ट फल है या अदृष्ट ? पहले अदृष्ट फल है यह प्राप्त हुआ, क्योंकि जिनका दृष्ट ही फल है ऐसे भोजन आदिमें शास्त्रीय विधि दिखाई नहीं देती। अध्ययनक्रियाका कर्म जो स्वाध्याय उसमें संस्कार और प्राप्ति ये ही दो दृष्ट फल हो सकते हैं, फिर वे अदृष्टार्थक हैं यह कैसे कहते हैं ? यदि यह कहें, तो ठीक नहीं है, क्योंकि संस्कार स्वाध्यायका फल नहीं हो सकता है, कारण कि संस्कृत स्वाध्यायका कहींपर विनियोग नहीं दीखता और प्राप्ति भी दृष्ट फल नहीं हो सकती, क्योंकि अक्षरग्रहणरूप प्राप्ति स्वयं फल नहीं है। सुख और दुःखकी निवृत्ति—ये ही दो फल कहलाते हैं। इन दोनोंकी वह साधिका भी नहीं है, जिससे कि वह परम्परया फल कहलावे। यदि कहें कि अर्थावबोधकी साधन होनेसे अक्षरप्राप्ति फल है, तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि अक्षरप्राप्ति और अर्थावबोध—इन दोनोंमें कार्यकारणभाव लोकसिद्ध है, अपूर्व नहीं है, अतः उनका विधान नहीं हो सकता, कारण कि 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ' इसके अनुसार अत्यन्त अप्राप्तिमें ही विधि होती है। यदि कर्मकारक गत फलका अभाव होनेपर कर्मका अभिधान करनेवाले तव्यप्रत्ययसे कर्मप्रधान विधिकी सम्भावना नहीं है, तो सक्तुन्यायसे 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' की जगह 'स्वाध्यायमधीयीत' ऐसे वाक्यकी कल्पना कर लीजिए।

ऽधीते पयसः कुल्या अस्य पितॄन् स्वधा अभिसम्भवति यद्यजूंषि घृतस्य कुल्या' इत्यादिना ब्रह्मयज्ञरूपजपाध्ययनफलत्वेन श्रूयमाणस्य घृतकुल्यादेरध्ययनत्वसाम्येन प्रथमाध्ययनेऽप्यतिदेष्टुं शक्यत्वात्; ततो रात्रिसत्रन्यायेन घृतकुल्यादिकामः 'स्वाध्यायेनाधीयीत' इत्येवं विधिः सम्पद्यते। यदि केचिदर्थवादफलातिदेशं नेच्छन्ति, तर्हि तन्मते विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गः कल्पनीयः। तदुक्तम्—

'विनाऽपि विधिनाऽदृष्टलाभान्नहि तदर्थता।
कल्प्यस्तु विधिसामर्थ्यात् स्वर्गो विश्वजिदादिवत् ॥' इति।

[कर्मकारकमें क्रियाजन्य अतिशय न होनेसे कर्मका प्राधान्य नहीं प्राप्त होता। 'अतः सक्तून् जुहोति' इसमें जैसे सक्तुका प्राधान्य प्राप्त न होनेपर शक्तु साधन माने जाते हैं वैसे ही प्रकृत 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधिमें भी स्वाध्यायको अध्ययनका साधन मानकर 'सक्तुभिः' के 'तुल्य स्वाध्यायेन' इस प्रकार तृतीयान्तविपरिणाम कर लिया जायगा, यह तात्पर्य है।]

[अर्थवादमें भी] फलका श्रवण नहीं है, इसलिए अध्ययनका अदृष्ट फल कैसे माना जाय, यह कहना भी उचित नहीं; कारण कि 'यदृचोऽधीते' (ऋचाओंका जो अध्ययन करता है, उसके पितरोंको दूधकी धाराएँ तृप्त करती हैं और जो यजुर्वेदमन्त्रोंका अध्ययन करता है, उसके पितरोंको घीकी धाराएँ) इत्यादि अर्थवादमें ब्रह्मयज्ञरूप जप तथा अध्ययनका फल घृतकुल्या आदि श्रुत है। उस फलके सम्बन्धका, अध्ययनसामान्य होनेसे, प्रथम अध्ययनमें भी अतिदेश किया जा सकता है। इससे रात्रिसत्रन्यायके बलपर 'घृतकुल्यादिकी इच्छावालेको स्वाध्यायका अध्ययन करना चाहिए' ऐसी विधि सम्पन्न होगी। यदि कोई वादी अर्थवादमें सुने गये फलका अतिदेश प्रथम अध्ययनमें नहीं करना चाहे, तो उसके मतमें विश्वजिन्न्यायसे स्वर्गरूप फलकी ही कल्पना करनी चाहिए। कहा भी है—

'अदृष्ट फलका लाभ तो विधिके बिना भी हो सकता है, इसलिए विधिका अदृष्ट फल नहीं मानना चाहिए। अतएव विधिकी सामर्थ्यसे विधिको सफल बनानेके लिए 'विश्वजित्' आदि यागोंकी भाँति स्वर्गरूप फलकी कल्पना करनी चाहिए।'

न चाऽदृष्टार्थत्वेऽपि स्वाभाविकस्वार्थावबोधसामर्थ्यस्य का हानिरिति वाच्यम्, अन्यार्थस्याऽपि स्वार्थपरतायां मन्त्रार्थवादयोरतिप्रसङ्गात् । तस्मादाम्नायस्याऽविवक्षितार्थत्वाद्धर्मस्य च प्रत्यक्षाद्यविषयत्वात् प्रमाणानुग्राहकतर्करूपस्य विचारस्याऽनुग्राह्यप्रमाणाभावे निरालम्बनत्वान्न शास्त्रमारम्भणीयमिति पूर्वपक्षे प्राप्ते राद्धान्तं ब्रूमः—

'लभ्यमाने फले दृष्टे नाऽदृष्टफलकल्पना ।
विधेस्तु नियमार्थत्वान्नाऽऽनर्थक्यं भविष्यति ॥'

लभ्यते हि कर्मकारके स्वाध्याये द्विविधं दृष्टफलम्—अध्ययनक्रियाजनितं फलवदर्थावबोधहेतुभूतप्राप्तिः, संस्कारश्च । अर्थावबोधार्थाक्षरग्रहणयोः साध्यसाधनभावस्य लोकसिद्धत्वेऽपि न विधिवैयर्थ्यम्, नियमार्थत्वात् । न

अदृष्टरूप फलमें तात्पर्य माननेसे भी अपने स्वाभाविक अर्थबोध करानेकी सामर्थ्यकी क्या हानि होगी ? ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अन्य अर्थमें तात्पर्य रखनेवाले वाक्यका स्वार्थमें भी तात्पर्य माननेसे मन्त्र तथा अर्थवादमें भी अतिप्रसक्ति हो जायगी अर्थात् मन्त्र और अर्थवादोंकी भी स्वार्थबोधनमें सामर्थ्य हो जायगी, जो कि इष्ट नहीं है । इस पूर्वोक्त निष्कर्षके अनुसार आम्नाय—वेद—स्वरूप स्वाध्यायके अविवक्षितार्थ होनेसे [अर्थात् किसी भी अर्थका बोध करानेमें उसका तात्पर्य निर्द्धारित न होनेसे] धर्मके प्रत्यक्ष आदिका विषय न होनेसे तथा प्रमाणकी पुष्टि करनेवाले तर्कस्वरूप विचारके, जिसकी तर्क द्वारा पुष्टि करना अभीष्ट है ऐसे, अनुग्राह्य प्रमाणके बिना अवसर न पानेसे विचारशास्त्रका प्रारम्भ करना नहीं प्राप्त होता । इस प्रकारका पूर्वपक्ष—शङ्का—होनेपर हम इस प्रकार सिद्धान्त—समाधान—करते हैं—

दृष्ट फलका मिलना सम्भव हो, तो अदृष्ट फलकी कल्पना नहीं करनी चाहिये । विधिको नियमार्थ माननेसे तो उसके व्यर्थ होनेकी सम्भावना नहीं होगी ।

प्रकृतमें दृष्ट फलकी सम्भावना दिखलाते हैं—कर्मकारकभूत स्वाध्यायमें—वेदमें—अध्ययनक्रियासे उत्पन्न हुए समस्त अर्थज्ञानकी कारणस्वरूपप्राप्ति और संस्कार ये दो दृष्ट फल पाये जाते हैं । यद्यपि अर्थज्ञान और अक्षरज्ञानमें कार्यकारणभाव लोकसिद्ध है तथापि नियमार्थ होनेसे विधि व्यर्थ नहीं मानी जा सकती । [सिद्धका विधान प्राप्त होनेपर ही नियमकी उपपत्ति

च संस्कृतस्य विनियोगाभावः, क्रतुविध्युपादानप्रमाणादेव विनियोगसिद्धेः। क्रतुविधिर्हि स्वविषयावबोधमपेक्षमाणस्तस्य जनकतया संस्कृतं स्वाध्यायमुपादत्ते। ननूपादानप्रमाणं ज्ञानस्य जनकतया स्वाध्यायमात्रमादत्ते न संस्कारमिति चेत्, सत्यम्, तथापि कर्मप्रधानाध्ययनविधिसामर्थ्यादेव संस्कृतस्वाध्यायजन्यविशिष्टज्ञानवतैवाऽनुष्ठितो यागोऽपूर्वं जनयतीति कल्प्यते। प्रधानवदनङ्गस्याऽप्यध्ययनस्य क्रतूपकारित्वमविरुद्धम्, तत उभयविधिसामर्थ्याद्विवक्षितार्थो लभ्यते। एवं च यथाश्रुतकर्मकारकगत-

---

होती है। संस्कृत स्वाध्यायका कहीं दूसरे विधानमें विनियोग नहीं है, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, कारण कि क्रतुविधिके उपादान प्रमाणसे ही विनियोगकी सिद्धि हो जाती है, क्योंकि क्रतुका विधान अपने विषयके ज्ञानकी अपेक्षा रखता है। वह अपने विषयके ज्ञानका जनक होनेसे स्वाध्यायका संस्कृत उपादान करता है। [अतः स्वाध्याय क्रतुका उपादानप्रमाण होता है।] उपादानप्रमाण तो विषयज्ञानका जनक होनेसे केवल स्वाध्यायका ही ग्रहण करेगा, संस्कारका नहीं, ऐसा कहना यद्यपि ठीक है; तथापि कर्मप्रधान [अध्येतव्यः इसमें तव्यप्रत्यय कर्मकारकरूप अर्थमें हुआ है और कृदन्त स्थलमें प्रत्ययार्थ प्रधान होता है] अध्ययनविधिकी सामर्थ्यसे ही संस्कारयुक्त स्वाध्यायसे उत्पन्न हुए विशिष्ट ज्ञानवान् अधिकारी द्वारा ही किया गया याग अपूर्व—पुण्य—को उत्पन्न करता है, ऐसी कल्पना की जाती है। [अध्ययन क्रतुका उपकार तो तब कर सकता है जब कि अध्ययन क्रतुका अङ्ग हो, इस आशङ्काका दृष्टान्त द्वारा समाधान करते हैं—] आधान—अग्निका संस्कार विशेष—क्रतुका अङ्ग न होता हुआ भी संस्कृत अग्निमें ही हवन करनेसे अपूर्व होना माना गया है एवं प्रकृतमें भी अध्ययन यद्यपि क्रतुका अङ्ग नहीं है तो भी उसे क्रतुके उपकारक माननेमें कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार दोनोंके विधानोंकी सामर्थ्यसे विवक्षित अर्थका लाभ हो जायगा। [अर्थात् 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' विधिसे स्वाध्यायका संस्कार तथा संस्कृत स्वाध्यायसे ही याग करनेसे अदृष्टकी सिद्धि होती है। इस प्रकार दोनोंका विधान होनेसे वेदमें विवक्षितार्थत्व सिद्ध होता है] इस प्रकार यथाश्रुत कर्मकारक (तव्यप्रत्ययसे प्रधानतया गृहीत स्वाध्यायरूप कर्मकारक) में दृष्ट फल—

दृष्टफलसम्भवे सक्तुन्यायेनाऽश्रुतकरणत्वकल्पनमदृष्टफलकल्पनं चाऽन्याय्यम्। ननु तव्यप्रत्ययेन प्रकृत्यर्थभूताध्ययनोपरक्तमपूर्वमभिधीयते, न तु कल्प्यत इति चेद्, मैवम्; अपूर्वाभिधायितव्यप्रत्ययः स्वाध्यायगतत्वेनैवाऽपूर्वमभिदध्यान्नाऽध्ययनगतत्वेन, तव्यप्रत्ययस्य कर्मभूतस्वाध्यायपरत्वात्। अपूर्वस्य धात्वर्थजन्यत्वनियमेऽपि तदुपरक्तत्वानियमेन स्वाध्यायगतत्वमविरुद्धम्। नन्वदृष्टार्थत्वे स्वाध्यायस्य विवक्षितार्थता न स्यात्, विषनिर्हरणादिकार्यान्तरविनियुक्तमन्त्रादिवदिति चेद्, न; तथा सत्यध्ययनविधिवाक्यस्याऽप्यविवक्षितार्थत्वाददृष्टार्थतयाऽध्ययनविधानमित्येतादृशं त्वन्मतमपि न सिध्येत्। अथोच्येत अध्ययनवाक्य-

---

संस्कारादि—का सम्भव होनेपर सक्तुन्यायसे अश्रुत फलकी कल्पना न्यायसंगत नहीं है।

शङ्का—तव्यप्रत्ययसे प्रकृति (इङ्धातु जिससे तव्यप्रत्ययका विधान किया गया है) के अर्थभूत अध्ययनसे उपरक्त—सम्बद्ध—अपूर्वका—पुण्यका—अभिधान होता है, तव्यका वाच्य अर्थ ही अध्ययनसम्बन्धी पुण्यरूप है, उस अर्थकी कल्पना नहीं होती है [वाच्यवृत्तिसे लब्ध अर्थ कल्पित नहीं कहा जाता]।

समाधान—ऐसा नहीं हो सकता, कारण कि अपूर्वका वाचक तव्यप्रत्यय स्वाध्यायसम्बन्धी अपूर्वका ही अभिधान कर सकता है, अध्ययनसे सम्बद्धका नहीं, क्योंकि कर्मवाचक तव्यप्रत्ययका कर्मकारकभूत स्वाध्यायके बोधनमें ही तात्पर्य है। अपूर्व धात्वर्थफल क्रियासे ही उत्पन्न होता है। इस नियमके रहते भी उसका (अपूर्वका) धात्वर्थसे उपरक्त रहनेका नियम नहीं है, इसलिए अपूर्वका स्वाध्यायगत होना विरुद्ध नहीं हो सकता। विषका दूरीकरण आदि दूसरे कार्योंमें विनियुक्त मन्त्रोंकी तरह स्वाध्यायको यदि अदृष्टपरक मानें, तो उसमें विवक्षितार्थत्व नहीं होगा [स्वार्थमें तात्पर्य नहीं होगा] ऐसी शङ्का भी नहीं कर सकते, कारण कि ऐसा माननेसे अध्ययनविधिके बोधक "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस वाक्यमें भी अविवक्षितार्थत्व होनेसे 'अदृष्ट अर्थमें तात्पर्य रखकर अध्ययनका विधान है' ऐसा आपका मत भी सिद्ध नहीं हो सकता।

स्याऽदृष्टत्वार्थत्वं तस्याऽर्थविवक्षाप्रतिबन्धकं न भवति, स्ववाक्यार्थमध्ययनावच्छिन्नफलभावनारूपं प्रत्येवाऽध्ययनविधिनाऽध्ययनवाक्यस्य विनियुक्तत्वात् । नहि मन्त्रेष्वपि विनियुक्तत्वमात्रमविवक्षितार्थत्वप्रयोजकम्, किन्तु स्वार्थादन्यत्र विनियुक्तत्वम् । न चाऽध्ययनवाक्यं स्वार्थादन्यत्र विनियुज्यते तेन स्वार्थपरस्य तस्य कस्मादविवक्षितार्थता स्यात् । ज्योतिष्टोमादिवाक्यानि तु यागाद्यवच्छिन्नफलभावनारूपात् स्वार्थादन्यत्राऽध्ययनावच्छिन्नफलभावनायामध्ययनविधिना विनियुज्यन्ते, ततो मन्त्राणामिवाऽन्यत्र विनियुक्तस्याऽदृष्टार्थस्य स्वाध्यायस्याऽर्थविवक्षाप्रतिबन्धो दुर्वार इति । नैतद्युक्तम्, न तावददृष्टार्थत्वेनाऽर्थविवक्षा प्रतिबध्यते,

---

शङ्का—अध्ययनवाक्यका अदृष्टार्थत्व उसकी अर्थविवक्षाका प्रतिबन्ध नहीं कर सकता, कारण कि स्ववाक्यका अर्थ अध्ययनावच्छिन्नफलभावनारूपके प्रति ही अध्ययनविधिसे अध्ययनवाक्यका विनियोग है । [अध्ययनविधिका प्रतिपादक वाक्य 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' है, उसका अर्थ है—'स्वाध्यायके अध्ययनसे इष्टकी भावना करनी चाहिए' इस प्रकार अध्ययनका विधान है, इस विधानसे अध्ययनावच्छिन्न फलभावनामें ही अध्ययनविधिका विनियोग है, अन्य फलमें नहीं, इसलिए अध्ययनविधि स्वार्थका प्रतिबन्ध नहीं कर सकती] मन्त्रोंमें भी केवल विनियुक्त होनेसे ही स्वार्थपरताका प्रतिबन्ध नहीं होता, किन्तु स्वार्थसे अन्यत्र विनियोग होनेसे ही स्वार्थका प्रतिबन्ध होता है । और अध्ययनवाक्यमें स्वार्थसे अन्यत्र विनियोग नहीं होता है । इस कारण उस अध्ययनवाक्यमें अविवक्षितार्थत्व होनेका प्रसङ्ग कैसे आ सकता है ? [स्वाध्यायको अदृष्टार्थ माननेमें स्वार्थविवक्षाका अभाव दिखलाते हैं—] ज्योतिष्टोम आदि यागोंके प्रतिपादक वाक्यस्वरूप 'स्वाध्यायका' तो अध्ययनविधिके बलसे यागादिसे युक्त फलभावनारूप स्वार्थसे अन्यत्र अध्ययनावच्छिन्नफलभावनारूप (अध्ययन विधिके) स्वार्थमें अध्ययनविधिसे विनियोग किया जाता है । इसलिए मन्त्रोंके सदृश अन्य फलमें विनियुक्त अदृष्टार्थक स्वाध्यायमें अर्थविवक्षाप्रतिबन्धत्व नहीं हटाया जा सकता । [इस प्रकार अदृष्टार्थ माननेपर भी अध्ययनविधिकी स्वार्थविवक्षा उचित ही है और स्वाध्यायको अदृष्टार्थ माननेसे स्वार्थपरता नहीं बन सकती ।]

स्वतन्त्राऽदृष्टस्य निरपेक्षस्वर्गादिफलजनकस्य कथंचित्प्रतिबन्धकत्वशङ्कायामप्यत्र तदभावात् । अत्र हि स्वाध्यायगतकर्मत्वप्रतीतिनिर्वाहाय कर्मगतमदृष्टमवश्यं कल्पनीयम्, तस्य च कर्मद्वारेणैव फलमपेक्षितमित्यक्षरसामर्थ्यसिद्धार्थावबोध एव तत्फलं स्यात् । तथा चाऽत्राऽदृष्टं नाऽर्थविवक्षाया बाधकं प्रत्युत साधकमेव । कर्मगतादृष्टस्याऽवर्जनीयत्वे तस्याऽदृष्टार्थावबोधलक्षणफलोत्पादनेन चरितार्थतायां च ततोऽतिरिक्तस्वतन्त्रादृष्टं तत्फलं वा कल्पयितुमशक्यम्, गौरवप्रसङ्गात् । नाऽप्यन्यत्र विनियोगोऽ-

---

समाधान—ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं है, कारण कि अदृष्टार्थत्व होनेसे स्वार्थविवक्षाका प्रतिबन्ध नहीं होता। निरपेक्ष स्वर्गादिफलके जनक अदृष्टमें कथंचित् स्वार्थप्रतिबन्धकत्वकी आशङ्का हो भी सकती है। परन्तु प्रकृतमें ऐसा नहीं है। [अर्थात् जिन वाक्योंकी केवल स्वतन्त्र अदृष्टकी कल्पनासे ही संगति है। उनके स्वार्थकी विवक्षा कथंचित् प्रतिबद्ध हो सकती है, जैसे ज्योतिष्टोमादि यागवाक्य कालान्तरमें होनेवाले निरपेक्ष स्वर्गादिकी जनकता क्रियाकलापात्मक ज्योतिष्टोमादिमें नहीं बन सकती, अतः श्रुतिप्रतिपादित कारणताकी रक्षाके लिए स्वतन्त्र अदृष्टकी कल्पना होती है, परन्तु प्रकृतमें 'प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपि' इस न्यायसे स्वतन्त्र अदृष्टकी कल्पना नहीं हो सकती, कर्मकारकगत दृष्टफलसमवायी अदृष्टकी ही कल्पना हो सकती है। इस आशयसे समाधान करते हैं—] 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस वाक्यमें कर्मकारकभूत स्वाध्यायमें प्राप्त कर्मत्वकी प्रतीतिके निर्वाहके लिए कर्मकारकगत अदृष्टकी अवश्य कल्पना करनी होगी। और उसका कर्म द्वारा ही फल अपेक्षित है। इसलिए अक्षरोंकी सामर्थ्यसे सिद्ध अर्थज्ञान ही उसका फल होगा। इस प्रकार अदृष्ट अर्थविवक्षाका प्रतिबन्धक नहीं है। प्रत्युत—इसके विपरीत—अर्थविवक्षाका साधक ही है। [स्वाध्यायोऽध्येतव्यः] इस वाक्यसे स्वाध्यायका अध्ययन प्राप्त है, अध्ययनव्यापार अर्थावबोधपर्यन्त कहलाता है। इसलिए अर्थावबोध न होनेसे अध्ययन ही नहीं कहा जा सकता। अतः कर्मकारकभूत स्वाध्यायका अर्थावबोधरूप फल समवायी स्वाध्यायगत अदृष्ट माना जायगा। कर्मकारकगत अदृष्टका त्याग नहीं करना है। कर्मकारकगत अदृष्ट मानना ही है। उसकी अदृष्ट अर्थके ज्ञानरूप फल उत्पन्न करानेसे चरिता-

र्थविवक्षां प्रतिबध्नाति, अन्यत्र विनियुक्तानामपि मन्त्राणां स्वसामर्थ्यसिद्धार्थविबोधकत्वदर्शनात् । अन्यथा ब्राह्मणादिवाक्यैरपि स्मर्त्तुं शक्यस्य द्रव्यदेवतादेर्मन्त्रैरेव स्मरणाय नियमफलो विनियोगः कथं सङ्गच्छेत । तदुक्तम्--

'विधिशक्तिर्न मन्त्रस्य नियोगेनाऽपनीयते ।
स्वतो विधास्यति ह्येषां नियोगात्स्मारयिष्यति ॥' इति ।

तस्माद्विवक्षितार्थमाम्नायमवलम्ब्य प्रवृत्तं तदनुग्राहकं धर्मविचारशास्त्रमारम्भणीयमिति । तदेवं पूर्वमीमांसारम्भाधिकरणपर्यालोचनया कृत्स्नवेदस्याऽर्थविवक्षां धर्ममात्रस्य विचारावसरं च प्रदर्शयितुमादिसूत्रं प्रवृत्ते, न तु सर्ववेदार्थविचारप्रतिज्ञानायेत्यवगम्यते । ननु वेदवाक्यानि विचार-

---

र्थता हो जाती है, इसलिए गौरवग्रस्त होनेसे स्वतन्त्र अदृष्ट या उसके फल की अतिरिक्त कल्पना नहीं हो सकती । अन्यत्र विनियोग होना भी अर्थविवक्षाका प्रतिबन्धक नहीं हो सकता । अन्यत्र विनियुक्त हुए मन्त्रोंका भी अपनी सामर्थ्यसे सिद्ध अर्थका बोध कराना देखा गया है । ऐसा न माननेपर ब्राह्मणादिवाक्योंसे भी स्मरणमें आ सकने योग्य द्रव्य, देवता आदिका मन्त्रोंके द्वारा ही स्मरण करनेके लिए नियमार्थ विनियोग कैसे संगत होगा ? [अन्यत्र विनियुक्त भी मन्त्रोंका द्रव्य, देवता आदिके स्मरणरूप स्वार्थमें तात्पर्य होनेसे ही नियमकी उपपत्ति हो सकती है] ऐसा कहा भी है—मन्त्रकी विधिशक्ति नियोगसे नहीं हटाई जा सकती । इनकी विधिशक्ति ही स्वतः विधान करेगी । और नियोग द्वारा स्वयं द्रव्य, देवता आदि स्वार्थका स्मरण भी करा लेगी ।

इसलिए स्वार्थविवक्षायुक्त आम्नाय—वेद—को विषय करके प्रवृत्त हुए उसके अनुग्राहक धर्मविचारशास्त्र पूर्वमीमांसाका आरम्भ करना चाहिए । इस प्रकार पूर्वमीमांसाके आरम्भाधिकरणकी पर्यालोचना—विचार—करनेसे सम्पूर्ण वेदकी अर्थविवक्षा और धर्ममात्रके विचारका अवसर दिखानेके लिए 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस प्रथम सूत्रका प्रणयन किया गया है, सम्पूर्ण वेदके अर्थविचारकी प्रतिज्ञाके लिए नहीं किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है ।

शङ्का—'वेदवाक्योंका विचार करना चाहिए' इत्यादि भाष्यप्रमाणसे 'पूर्वमीमांसासे' सम्पूर्ण वेदके अर्थमात्रके विचारकी प्रतीति होती है ?

येदित्यादिभाष्यलिङ्गाद् वेदार्थमात्रविचारोऽवगम्यते। मैवम्, त्वया तदभिप्रायानवबोधात्। भाष्यकारो हि धर्मे सामान्यतः प्रसिद्धिं विशेषतो विप्रतिपत्तिं चोपन्यस्य चैत्यवन्दनादीनामेव धर्मत्वाद् बुद्धादिवाक्यान्येव विचार्याणीति पूर्वपक्षीकृत्य सिद्धान्तसूत्रमर्थकथनपुरःसरमेवमवतारयति स्म—धर्माय वेदवाक्यानि विचारयिष्यन् वेदस्याऽर्थविवक्षां विचारावसरं च प्रदर्शयितुम् 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इति सूत्रयामास जैमिनिरिति। ततः पूर्वापरपर्यालोचनया धर्मविचार एव भाष्यकाराभिप्रेत इति निश्चीयते। सूत्रस्य चाऽयमर्थः—वेदमधीत्याऽनन्तरमधीतवेदस्य विवक्षितार्थस्य विचारहेतुत्वाद्धर्मविचारः कर्त्तव्य इति। तत्राऽप्यथशब्देन कृत्स्नवेदाध्ययनस्य पूर्ववृत्तत्वमभिधायाऽतःशब्देन च कृत्स्नवेदस्य विवक्षितार्थत्वे हेतूकृते सति सर्ववेदार्थविचारः कर्त्तव्य इत्येव प्रतिज्ञा यद्यपि प्राप्ता, अन्यथा

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि आपको—शङ्का करनेवालेको—उक्त भाष्यके अभिप्रायका ज्ञान नहीं हुआ है। [उक्त भाष्यका तात्पर्य स्वयं दिखाते हैं—] भाष्यकारने धर्मके विषयमें सामान्यतः प्रसिद्धि और विशेषरूपसे विप्रतिपत्तिका उपन्यास करके चैत्यवन्दन आदि ही धर्म है और बुद्ध आदि नास्तिकोंके ही वाक्य विचार करने योग्य हैं, ऐसा पूर्वपक्ष करके अर्थ करते हुए सिद्धान्तसूत्रका निम्न प्रकारसे अवतरण दिया है—धर्मके निमित्त वेदवाक्योंका विचार करनेवाले सूत्रकार जैमिनि मुनिने वेदकी अर्थविवक्षाको और विचारके अवसरको दिखानेके लिए 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस प्रथम सूत्रका प्रणयन किया है। तदनन्तर पूर्वापरविचार करनेसे धर्मविचारमें ही भाष्यकारका अभिप्राय है, ऐसा निश्चय होता है। और सूत्रका भी यह अर्थ है कि वेद पढ़नेके अनन्तर विवक्षितार्थ—सार्थक—अधीत वेदके विचारका कारण होनेसे धर्म विचार करना चाहिए। उस वाक्यमें अथशब्दसे सम्पूर्ण वेदका अध्ययन पहले ही सम्पन्न हुआ यह कहकर अतः शब्दसे सम्पूर्ण वेदमें विवक्षितार्थत्वरूप हेतुकी सिद्धि करके यद्यपि 'सम्पूर्ण वेदार्थका विचार करना चाहिए' ऐसी ही प्रतिज्ञा प्राप्त होती है। अन्यथा प्रतिज्ञा तथा हेतुका वैयधिकरण्य प्राप्त होता है। (सम्पूर्ण वेदार्थका विवक्षितार्थत्व होना हेतु है। और विचारकी प्रतिज्ञा केवल कुछ ही भागके विषयमें की जाय, तो

प्रतिज्ञाहेत्वोर्वैयधिकरण्यात्। तथापि वेदशब्दं परित्यज्य धर्मशब्दमुच्चार्य प्रतिजानतः सूत्रकारस्य वेदैकदेशार्थविचार एवाऽभिप्रेत इति गम्यते। युक्तं च धर्मस्यैव विचार्यत्वम्। लोके हि यत्सन्दिग्धं सप्रयोजनं च तद् विचार्यम्, धर्मश्च सामान्याकारेण लोकप्रवादसिद्धत्वादग्निहोत्रचैत्यवन्दनादिविशेषाकारेण वादिभिर्विप्रतिपन्नत्वाच्च सन्दिग्धः, पुरुषैरर्थ्यमानस्य सुखस्य साधनतया सप्रयोजनश्चेति विचारयोग्यः। वेदार्थस्तु वेदप्रामाण्यप्रतिपादनात्प्राङ् न सामान्यतः प्रसिद्धः। अत एव न विशेषतोऽपि प्रतिपद्यते। नापि पुरुषार्थसाधनतयाऽवगम्यते। तत्कथं तस्य विचारयोग्यता? न च वाच्यं वेदार्थस्यैवाऽग्निहोत्रादेर्विचारसाध्यता

हेतुप्रतिज्ञामें वैयधिकरण्य होगा। अतः सम्पूर्ण वेदार्थके विचारकी प्रतिज्ञा ही प्राप्त होती है) तथापि वेदशब्दको छोड़कर धर्मशब्दका उच्चारण करके प्रतिज्ञा करनेवाले सूत्रकारका वेदके कुछ भाग—कर्मकाण्डभाग—मात्रके अर्थका विचार करनेमें ही अभिप्राय जाना जाता है। (नहीं तो सूत्रकार 'अथातो वेदजिज्ञासा' ऐसा ही सूत्र बनाते वेदकी जगह धर्मशब्द न रखते। और धर्मका ही विचारका विषय होना उचित भी है। कारण कि लोकमें जो सन्दिग्ध तथा प्रयोजनशाली होता है, उसीका विचार किया जाता है, और धर्म सामान्यतः लोकप्रसिद्धिसे सिद्ध है। और अग्निहोत्र या चैत्यवन्दन आदि विशेष आकारके विषयमें वादियों द्वारा विवाद होनेसे [अर्थात् कोई वादी चैत्यवन्दन को धर्म मानते हैं और कोई अग्निहोत्रादि यागोंको धर्म मानते हैं] सन्देहका अवसर आता है। पुरुषोंके अभीष्ट सुखका हेतु होनेसे प्रयोजनसहित भी है, इससे धर्मविचारके योग्य है। और सम्पूर्ण वेदार्थमात्र तो वेदके प्रामाण्यके प्रतिपादनसे पहले सामान्यतः प्रसिद्ध नहीं है। अतएव विशेषरूपसे भी नहीं जाना जा सकता। और न वह किसी पुरुषार्थका साधन है, ऐसा ही प्रतीत होता है। इसलिए कैसे विचार करने योग्य हो सकता है। 'अर्थात् वेदार्थकी सामान्यतः सिद्धि न होनेसे, विशेषतः विप्रतिपत्ति न होनेसे एवम् सप्रयोजन न होनेसे वह विचारका विषय नहीं हो सकता'। वेदार्थस्वरूप अग्निहोत्रादिको तो आपने भी विचारसाध्य माना है, ऐसा

भवताऽप्यङ्गीकृतेति, धर्मत्वप्रयुक्त्यैवाऽङ्गीकृतत्वात्। न चोक्तवैयधिकरण्यदोषः, विचार्यस्याग्निऽहोत्रादेर्धर्मस्य दैवगत्या वेदार्थत्वेन वैयधिकरण्यपरिहारात्। तस्माद्धर्ममात्रविचारपरं प्रथमसूत्रम्। तथा 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इति द्वितीयसूत्रमपि वेदैकदेशार्थविचारमेव गमयति। 'तत्र यश्चोदनालक्षणः स धर्मः' इति वचनव्यक्त्या धर्मलक्षणपरं सूत्रम्। अर्थात्प्रमाणप्रतिज्ञेति प्राभाकराः। 'यो धर्मः स चोदनालक्षणः' इत्यन्वयात् प्रमाणप्रतिज्ञा मुखतः अर्थाद्धर्मलक्षणमिति वार्त्तिककारीयाः। तत्र मतद्वयेऽपि यदि कृत्स्नो वेदो धर्ममेवाऽवबोधयेत् तदा वेदप्रमाणको धर्म इति वक्तव्यं स्यात्। चोदनालक्षण इति तु वदन् सूत्रकारो वेदैकदेशमेव धर्मपरं मन्यत इति

भी नहीं कह सकते, कारण कि धर्मत्वप्रयुक्तिसे ही अग्निष्टोमादिरूप वेदार्थ विचारसाध्य माना गया है*। और पहले कहे गये वैयधिकरण्य दोषका भी प्रसङ्ग नहीं है, कारण कि विचारके विषय अग्निहोत्र आदि धर्मके [अभ्युदयके साधनके] अकस्मात् वेदार्थस्वरूप हो जानेसे वैयधिकरण्य दोषका परिहार हो सकता है; इसलिए 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस पूर्वमीमांसाशास्त्रके प्रथम सूत्रका धर्मके विचारमें ही तात्पर्य है। एवम् 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस दूसरे सूत्रसे भी वेदके एक भागका—कर्मकाण्डमात्रके ही अर्थका—बोध होता है। उसमें 'जो प्रेरणात्मक अर्थ है वह धर्म है' इस प्रकार वचनकी प्रतीतिसे दूसरे सूत्रका तात्पर्य धर्मके लक्षण करनेमें ही है और प्रमाणकी प्रतिज्ञा अर्थात् सूचित होती है, ऐसा प्रभाकरानुयायीमीमांसकोंका मत है। [चोदनाको उद्देश्य मानकर धर्मका विधान किया गया है, इसलिए धर्मके लक्षणमें मुख्य तात्पर्य है और चोदनात्मक प्रमाणका ज्ञापन करना अर्थात् सिद्ध होता है।] 'जो धर्म है वह चोदना—प्रेरणा—स्वरूप है' ऐसा अन्वय करनेसे प्रमाणकी प्रतिज्ञा शब्दतः प्रतीत होती है और धर्मका लक्षण अर्थात् प्रतीत होता है, ऐसा वार्तिककारका मत है। [धर्म उद्देश्य होनेसे तात्पर्यका मुख्य विषय नहीं होता, चोदनाके विधेय होनेसे प्रमाण ज्ञापन ही मुख्य है।] इन दोनों मतोंमें भी यदि सम्पूर्ण वेद धर्मका ही बोध करावे, तो धर्ममें वेद ही प्रमाण है, ऐसा ही कहना होगा। चोदना—प्रवर्तना—ही

* वेदार्थस्वरूप ज्योतिष्टोम आदि श्रेयःसाधन हैं, अतएव उनका विचार किया गया है। स्वातन्त्र्यसे नहीं।

गम्यते। स्यादेतत्, चोदनाग्रहणं वेदैकदेशस्य धर्मपरत्वमिति ज्ञापनाय न भवति किन्तु अर्थभावनारूपायाः पुरुषप्रवृत्तेः पुरुषार्थपर्यवसायित्वद्योतनाय। तथाहि—अस्ति तावद्भाव्यकरणेतिकर्त्तव्यतालक्षणेनांऽशत्रयेणोपेता भावना नाम, 'किं केन कथमित्यंशत्रयपूर्णा हि भावना' इति भट्टाचार्यैरुक्तत्वात्। सा च द्वेधा—अर्थभावना शब्दभावना चेति। तत्र पुरुषप्रवृत्तिरर्थभावना। लिङादिशब्द एवांऽशत्रयविशिष्टः शब्दभावनेति केचित्। तदुक्तम्—

'किमाद्यपेक्षितैः पूर्णः समर्थः प्रत्ययो विधौ।
तेन प्रवर्त्तनावाक्यं शास्त्रेऽस्मिंश्चोदनोच्यते॥' इति।

धर्मका लक्षण है, ऐसा कहते हुए सूत्रकार वेदके एक भागका ही धर्ममें तात्पर्य मानते हैं। उक्त तात्पर्यमें शङ्का करते हैं—स्यादेतत्—अर्थात् आपका कहना तब माना जा सकता है जब कि कही जानेवाली शङ्काका समाधान हो जाय—चोदनाशब्दका ग्रहण वेदके एक किसी भागका ही तात्पर्य धर्ममें है, ऐसा ज्ञापन करनेके लिए नहीं है, किन्तु अर्थभावनारूप पुरुषप्रवृत्तिका पुरुषार्थमें तात्पर्यबोधन करनेके लिए है [अर्थात् अर्थभावनारूप पुरुषप्रवृत्ति पुरुषार्थ है, ऐसा अर्थ चोदनापदसे प्रतीत होता है]। कारण कि भावना तीन अंशोंसे युक्त होती है—एक अंश भाव्य—जिसको भावनासे पुरुष सिद्ध करता है, दूसरा अंश करण—जिसके द्वारा भावना करता है और तीसरा अंश इतिकर्तव्यता—भावनाप्रकार, कौन, किसके द्वारा तथा कैसे? इन तीन अंशोंसे पूर्ण ही भावना कहलाती है, ऐसा भट्टाचार्यने कहा है। वह तीन अंशवाली भावना अर्थभावना और शब्दभावनाके भेदसे दो प्रकारकी है। उनमें पुरुषकी प्रवृत्ति अर्थभावना है और तीन अंशोंसे युक्त लिङ् आदि शब्द ही शब्दभावना है, ऐसा कोई कहते हैं।

जैसा कि कहा है—

किमादि अपेक्षित अंशोंसे पूर्ण तथा विधिमें समर्थ प्रतीति होती है [अर्थात् कौन? किस प्रकार तथा किससे—इस प्रकार तीन अंशोंसे युक्त ही प्रतीति होती है।] इसलिए प्रवर्तनाबोधक वाक्य ही इस शास्त्रमें चोदनाशब्दसे कहा जाता है।

लिङादिशब्दस्य व्यापारः पुरुषप्रवर्त्तनालक्षणः शब्दभावनेत्यन्ये । लिङादिशब्दस्य गुणः प्रवर्त्तनासामर्थ्यलक्षणः शब्दभावनेत्यपरे । त्रिविधाया अप्यस्याः शब्दभावनायाः पुरुषप्रवृत्तिरूपाऽर्थभावनैव भाव्यत्वेनाऽवगन्तव्या । शब्दभावनाप्रत्यायकं ज्ञानमेव करणं स्तुतिनिन्दाऽर्थवादादिज्ञानमितिकर्त्तव्यता । न च शब्दभावनाया वाचकपदाभावः, लिङादिप्रत्ययान्तस्याऽऽख्यातत्वसामान्याकारेणाऽर्थभावनाभिधायित्वेऽपि लिङादिरूपविशेषाकारेण शब्दभावनाभिधायित्वस्याऽप्यङ्गीकारात् । तदुक्तम्—

'अभिधाभावनामाहुरन्यामेव लिङादयः ।
अर्थात्मभावना त्वन्या सर्वाख्यातेषु गम्यते ॥' इति ।

अभिधाभावनामप्याहुरेवेत्यन्वयः । ननु 'सम्बन्धबोधः करणं तदीयम्' इति मण्डनाचार्यैः स्वर्गयागयोः साध्यसाधनसम्बन्धावबोधस्य

पुरुषका—अधिकारीका—प्रवर्तनरूप लिङादिशब्दका व्यापार ही शब्दभावना कहलाती है, ऐसा दूसरे वादी मानते हैं । प्रवर्तनासामर्थ्यस्वरूप लिङादिशब्दका गुण ही शब्दभावना कहलाती है, ऐसा दूसरे वादी मानते हैं । इस प्रकार तीन प्रकारकी भी इस शब्दभावनाकी पुरुषप्रवृत्तिरूप अर्थभावनाको ही भाव्यके स्वरूपमें मानना चाहिए । शब्दभावनाका बोधक ज्ञान ही साधन है । स्तुतिनिन्दास्वरूप अर्थवादादिज्ञान ही इतिकर्तव्यता है । शब्दभावनाका कोई वाचक पद नहीं है, ऐसा भी नहीं है, कारण कि लिङादि प्रत्ययान्तके आख्यातत्वसामान्याकारसे अर्थभावनाका वाचक होनेपर भी लिङादिरूपविशेषाकारसे शब्दभावनाका वाचक होना भी माना गया है। [यद्यपि मीमांसकोंके मतमें आख्यातकी भावनामें शक्ति है और वह भावना पुरुषप्रवृत्तिरूप अर्थभावना ही है, तथापि उसका अधिष्ठान आख्यातत्वरूपसे ही माना गया है । अर्थात् लिङ आदि विशेषरूपसे शब्दभावनाका ही अभिधान होता है, ऐसा माना गया है] । कहा है—

'लिङादि प्रत्यय अन्य ही अभिधाभावना—शब्दभावना—को कहते हैं । और इससे भिन्न अर्थस्वरूप भावना ही सब आख्यात स्थलोंमें प्रतीत होती है ।'

लिङादि अभिधाभावनाको भी कहते ही हैं, ऐसा अन्वय है ।

शङ्का—सम्बन्धका ज्ञान ही विधिका करण—साधन—है, इस प्रकार मण्डन-

करणत्वमुक्तं ततो न शब्दभावनाप्रत्यायकस्य ज्ञानस्य करणत्वमिति चेद् , द्वयोरपि करणत्वात् । हस्तेन शरेण विद्ध इत्यादौ करणद्वयदर्शनात् । शब्दभावनाज्ञानस्य च करणलक्षणोपेतत्वात् । इतिकर्त्तव्यतानुगृहीतो भाव्यहेतुः करणमिति हि तल्लक्षणं शब्दभावनाज्ञानं च स्तुत्यादिज्ञानानुगृहीतं सत्प्रवर्त्तकज्ञानत्वात्पुरुषप्रवृत्तिलक्षणभाव्यहेतुरिति कुतो न करणं स्यात् ? सेयमंशत्रयवती शब्दभावना स्वभाव्यरूपायां पुरुषप्रवृत्तिलक्षणायामर्थभावनायां पुरुषं प्रेरयन्ती चोदनेत्युच्यते । 'चुद् प्रेरणे' इत्यस्माद्धातोश्चोदनाशब्दनिष्पत्तेः । तच्च चोदनाप्रेरकत्वमर्थभावनायाः पुरुषार्थविषयत्वमन्तरेण न सिध्यति, अपुरुषार्थे पुरुषस्याऽप्रवृत्तेः । ननु 'यजेत' इत्यत्र लिङ्प्रत्ययगम्याया अर्थभावनाया धात्वर्थो भाव्य इति वाच्यम्, एकपदो-

---

मिश्रने स्वर्ग और यागके साध्यसाधनसम्बन्धके ज्ञानको कहा है । इससे शब्दभावनाका बोध करानेवाला ज्ञान करण नहीं हो सकता ।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि दोनों ही करण माने गये हैं । जैसे हाथके द्वारा बाणसे शत्रु घायल किया गया, इस प्रतीतिमें हाथ और बाण—दो करण देखे गये हैं । और शब्दभावनाका ज्ञान करणके लक्षणसे युक्त भी है । इतिकर्तव्यतासे अनुगृहीत भाव्य विषयका जनक करण कहलाता है, यह करणका लक्षण है, और शब्दभावनाका ज्ञान स्तुत्यादि अर्थवादके ज्ञानसे अनुगृहीत होता हुआ प्रवर्तकज्ञानस्वरूप होनेसे पुरुषप्रवृत्तिस्वरूप भाव्यका कारण है, इससे शब्दभावना करण क्यों नहीं होगी ? वह यह इस प्रकार तीन अंशवाली शब्दभावना अपने भाव्यात्मक पुरुषप्रवृत्तिरूप अर्थभावनामें पुरुषको प्रवृत्त कराती हुई चोदना—प्रेरणा—कहलाती है । 'चुद् प्रेरणे' इस धातुसे चोदनाशब्दकी सिद्धि हुई है । और अर्थभावनामें चोदनाप्रेरकत्व पुरुषार्थविषयक हुए विना सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि जो पुरुषार्थ नहीं है, उसमें पुरुषकी प्रवृत्ति नहीं होती ।

शङ्का—'यजेत' इस पदमें लिङ्प्रत्ययसे ज्ञात होनेवाली अर्थभावनाका धात्वर्थ—याग—ही भाव्य माना जायगा, क्योंकि दोनों—धात्वर्थ—याग—और लिङर्थ—अर्थभावना—के 'यजेत' इस एक पदसे ही बोधित होनेसे वे दोनों ही

पात्तत्वेनाऽत्यन्तसंनिहितत्वात्। स च क्लेशात्मकस्तत्कथमर्थभावनायाः पुरुषार्थविषयत्वमिति चेद्, उच्यते--अनयैवाऽनुपपत्त्या धात्वर्थं विहाय भिन्नपदोपात्तमप्यधिकारिविशेषणं स्वर्गभाव्यं कल्पयामः। ततश्च स्वर्गादिकं भाव्यं धात्वर्थः करणं प्रयाजादय इतिकर्त्तव्यतेत्येवमंशत्रयमर्थभावनायाः सम्पद्यते। तदेवमर्थभावनायाः पुरुषार्थपर्यवसायित्वं द्योतयितुं प्रेरणार्थवाचकस्य चोदनापदस्य ग्रहणं सूत्रकारेण कृतम्, न तु वेदैकदेशस्यैव धर्मपरत्वं द्योतयितुमिति। तदेतदसारम्, सूत्रे वेदग्रहणेऽप्यर्थभावनानां पुरुषार्थपर्यवसायित्वसिद्धेः। तथाहि--'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इति तव्यप्रत्ययस्य व्यापारः शब्दभावना। सा चाऽध्ययनविषयपुरुषप्रवृत्तिलक्षणार्थभावनारूपभाव्यनिष्ठा स्वगोचरज्ञानकरणिका घृतकुल्याद्यध्ययनफलार्थवादादिज्ञानेतिकर्त्तव्यताका सती पुरुषप्रवृत्तिलक्षणार्थभावनामध्ययनकरणिकां स्वाध्यायरूपभाव्यनिष्ठां प्राङ्मुखत्वादीतिकर्त्तव्यतामुत्पादयति। तत्र

अत्यन्त सन्निहित है। और वह यागस्वरूप धात्वर्थ क्लेशरूप है, तो अर्थभावना पुरुषार्थविषयक कैसे हो सकती है?

समाधान—इस अनुपपत्तिसे ही धात्वर्थको छोड़कर भिन्नपदसे गृहीत अधिकारीका विशेषण स्वर्गरूप भाव्यकी ही कल्पना की जाती है। इसलिए स्वर्गादि भाव्य है, धात्वर्थ करण है और प्रयाज आदि इतिकर्तव्यता है—इस प्रकार अर्थभावनाके तीन अंश उपपन्न होते हैं। इस प्रकार अर्थभावनाका पुरुषार्थमें तात्पर्य है, इसका द्योतन करनेके लिए प्रेरणारूप अर्थके वाचक चोदनापदका ग्रहण सूत्रकारने किया है, 'केवल वेदके एकदेशका ही धर्ममें तात्पर्य है' ऐसा बोधन करनेके लिए चोदनापदका उपादान नहीं किया है। यह सब पक्ष सारयुक्त नहीं है, क्योंकि सूत्रमें [धर्मपदके स्थानमें) वेदपदके रहते भी अर्थभावनाओंका पुरुषार्थमें तात्पर्य सिद्ध हो सकता है। [सिद्धि दिखलाते हैं—तथाहि] 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (स्वाध्यायका अध्ययन करना चाहिए) इस वाक्यमें तव्यप्रत्ययका व्यापार शब्दभावना है, यह शब्दभावना अध्ययनविषयक पुरुषप्रवृत्तिरूप अर्थभावनात्मक भाव्यमें अपने स्वरूपज्ञानरूप करणसे और घृतकुल्यादिरूप अध्ययनफल अर्थवादादिज्ञानरूप इतिकर्तव्यतासे युक्त होती हुई अध्ययनात्मक साधनवाली पुरुषप्रवृत्तिस्वरूप अर्थभावनाको स्वाध्यायरूप भाव्यमें प्राप्त प्राङ्मुखत्व आदि इतिकर्तव्यताको उत्पन्न करती है।

भाव्यस्य स्वाध्यायस्य फलवद्विज्ञानजननिमित्तत्वमन्तरेण तामर्थभावना-मुत्पादयितुमसमर्था शब्दभावना स्वाध्यायगतलिङादिशब्दाभिधेयक्रतु-भावनानां स्वर्गादिविषयत्वं परंपरया कल्पयति । ततोऽध्ययनविधि-सामर्थ्यादेव वेदस्य विशिष्टफलविषयभावनाप्रतिपादकत्वं सिद्धमिति वेद-ग्रहणेनापि विवक्षितार्थसिद्धेर्न तदर्थं सूत्रे चोदनाग्रहणमपेक्षितं प्रत्युत कृत्स्नवेदस्य धर्मपरत्वं वदतस्तव तत्प्रतिकूलमेव। चोदनाग्रहणे हि सति विधिवाक्यानामेव धर्मपरत्वं नेतरेषां वेदान्तानां किन्तु अर्थान्तरपरत्वं तेषामित्याशङ्का स्यात् तथा लौकिकविधिवाक्यानामपि धर्मपरत्वमा-शङ्क्येत। तदुभयव्यावृत्तये त्वन्मते वेदपदमेव सूत्रे वक्तव्यमापद्येत ।

वेदाध्ययनान्तरं धर्मविचारं प्रतिज्ञाय चोदनालक्षण इति ब्रुवता वैदिक्येव

उसमें भाव्यस्वरूप स्वाध्यायका सफल विज्ञानके उत्पन्न करनेमें निमित्त हुए विना उस अर्थभावनाको उत्पन्न करानेमें असमर्थ होती हुई शब्दभावना स्वाध्यायगत लिङादि शब्दोंके वाच्य अर्थभूत यज्ञ भावनाओंमें स्वर्गादि-विषयत्वकी परम्परासे कल्पना करती है। इस हेतुसे अध्ययनविधिकी सामर्थ्यसे ही वेदको विशिष्टफलविषयक भावनाका प्रतिपादन करना सिद्ध हो जाता है, इससे वेदग्रहणसे भी विवक्षित अर्थकी सिद्धि होनेसे, इसके लिए सूत्रमें चोदना-ग्रहण करनेकी अपेक्षा नहीं है, वल्कि सम्पूर्ण वेद धर्मपरक ही है, ऐसा माननेवाले तुम्हारे ही प्रतिकूल होता है। और चोदनापदका ग्रहण करनेपर विधिवाक्य ही धर्मपरक होता है, अन्य वेदान्त नहीं, किन्तु उन अन्य वेदान्तोंको अर्थान्तरपरक होना ही प्राप्त होता है, ऐसी आशङ्का होगी। एवम् लौकिक विधि-वाक्योंको भी धर्मपरक होनेकी आशङ्का होगी, इन दोनों आशङ्काओंकी व्यावृत्तिके लिए तुम्हारे मतके अनुसार वेदपदका ही सूत्रमें कहना आवश्यक हो जायगा। [यदि सूत्रमें वेदपद होगा, तो वेदवाक्यबोधित प्रेरक धर्म कहलायेगा और सम्पूर्ण वेदान्तका तात्पर्य धर्ममें ही सिद्ध होगा, अन्यथा लौकिक विधिको धर्म होनेकी और वेदान्तवाक्योंको अर्थान्तरपरक होनेकी आशङ्का वनी ही रहेगी।]

वेदाध्ययनके अनन्तर धर्मविचारकी प्रतिज्ञा करके 'चोदनालक्षणो धर्मः' (चोदना—प्रेरणा—स्वरूप धर्म है) ऐसा सूत्र वनानेसे वेदप्रतिपादित प्रेरणाका विवक्षित होना

चोदना विवक्षितेति गम्यत इति चेद्, न; प्रथमसूत्रे 'वेदाध्ययनानन्तरम्' इति विशेषाभावात्। एतत्सूत्रानुसारेण तत्रापि सर्वचोदनानन्तर्यकल्पनाप्रसङ्गात्। न च वेदाधिकरणे 'वेदांश्चैके संनिकर्षम्' इति सूत्रगतवेदपदादतिप्रसङ्गपरिहारः। वेदाधिकरणस्याऽतिदूरस्थत्वात्। अतो वेदान्तानां धर्मपरत्वपर्युदासाय चोदनाग्रहणमिति सूत्रभाष्यवार्तिककाराभिप्रायेण वेदान्तानां ब्रह्मपरत्वमेव सिध्यति।

न च 'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्' इति भाष्यवचनात् कृत्स्नवेदस्य धर्मपरत्वसिद्धिः, सामान्यस्य भाष्यस्य प्रथमद्वितीयसूत्रगतविशेषवचना-

---

प्रतीत हो ही जाता है, ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण कि 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस प्रथम सूत्रमें 'वेदाध्ययनानन्तरम्' (वेदाध्ययनके अनन्तर) ऐसा विशेषरूपसे नहीं कहा गया है। इस सूत्रके अनुसार उसमें भी सम्पूर्ण चोदनाके आनन्तर्यकी कल्पनाका अतिप्रसङ्ग हो जायगा। वेदाधिकरणमें 'वेदांश्चैके संनिकर्षम्' (गौतम आदि आचार्य वेदोंको संनिकर्ष मानते* हैं) इस सूत्रमें वेदपदसे अतिप्रसङ्गका वारण हो जायगा। (अर्थात् सकल वेदाध्ययनका ही आनन्तर्य लिया जायगा, सकल चोदना—प्रेरणाओं—का नहीं।) यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि वेदाधिकरण अत्यन्त दूर है, (अर्थात् अत्यन्त दूरके अधिकरणगत सूत्रमें स्थित वेदपदका सम्बन्ध प्रथम सूत्रमें नहीं आ सकता,) इसलिए वेदान्तोंमें धर्मपरकताके निषेधके लिए चोदनापदका ग्रहण किया गया है, इसलिए सूत्र, भाष्य तथा वार्तिककारके अभिप्रायसे वेदान्तोंका ब्रह्ममें ही तात्पर्य सिद्ध होता है।

'दृष्टो हि तस्या०' ('उसका अर्थ कर्मका बोध कराना ही देखा गया है) इस भाष्यवचनसे सम्पूर्ण वेदका धर्ममें ही तात्पर्य सिद्ध होता है, ऐसा भी नहीं माना जा सकता, कारण कि उक्त सामान्यभाष्यवचनके तात्पर्यका प्रथम तथा द्वितीय सूत्रोंमें कहे गये भाष्यके विशेषवचनोंसे ही निर्णय करना होगा। [प्रथम सूत्रमें धर्मपद है और दूसरे सूत्रमें 'चोदनालक्षणो धर्मः' इस प्रकार धर्मका लक्षण—चोदनारूप—कहा गया है। इन दोनों सूत्रोंमें दोनों पदोंके व्याख्यानभूत भाष्यसे विधायक वेदवाक्य ही धर्मपरक है, वेदान्तवाक्य नहीं। इसलिए सामान्य भाष्यके भी इसके ही अनुसार तात्पर्यविशेषकी कल्पना दिखलाते हैं।]

---

* नैयायिक वेदोंको पुरुषप्रणीत मानते हैं, यदि वेद पुरुषप्रणीत न होते, तो काठक—कठ मुनिसे प्रोक्त—सूक्त इत्यादि नामोंसे नहीं पुकारे जा सकते, इससे कठ, आपिशल आदि मनुष्यके नामोंका सम्बन्ध होनेसे वेद पौरुषेय हैं।

नुसारेण निर्णेतव्यत्वात्। तद्धि भाष्यं पूर्वापरपर्यालोचनायां वेदस्याऽर्थ-सद्भावमात्रे पर्यवसितं ततः कर्मानवबोधकत्वलक्षणमयोगं व्यवच्छिनत्ति न तु ब्रह्मबोधकत्वलक्षणमन्ययोगम्।

ननु 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' इति सूत्रादानर्थक्यं क्रियारहितानामिति चेद्, मैवम्। न तावदानर्थक्यमभिधेयाभावः। एव-मेव भूतमर्थमनुवदन्तीति भाष्येऽभिधेयप्रदर्शनात्। नाऽपि प्रयोजनाभावः, सोऽरोदीदित्याद्यर्थवादानां विध्येकवाक्यतामन्तरेण प्रयोजनाभावेऽपि वेदा-

वह भाष्य तो पूर्वापरग्रन्थके प्रसङ्गका विचार करनेसे सम्पूर्ण वेदकी सार्थकता के समर्थनमें ही पर्यवसित होता है, इससे कर्मका बोध न करना, इस प्रकार अयोग—सम्बन्धाभाव—की ही निवृत्ति करता है 'ब्रह्मका बोध करना' इत्यादि प्रकारसे अन्य योगका विच्छेद नहीं करता। [अर्थात् 'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मा-वबोधनम्' इस भाष्यवचनमें 'हि' पद है, जो एवके अर्थके लिए आया है। एव-कारकी दो अर्थोंमें खण्डशः शक्ति है, इससे कहींपर अयोगव्यवच्छेद—सम्बन्धा-भाव—की निवृत्तिरूप अर्थ है। जैसे—'नीलमुत्पलं भवत्येव' (नील कमल होता ही है) अर्थात् कमलके साथ नीलगुणके सम्बन्धके अभावका व्यवच्छेद होता है। और कहींपर अन्ययोगव्यवच्छेद—सन्निहित पदार्थसे इतरके साथ सम्बन्धके अभाव—में एवकारकी शक्ति है। जैसे—'पार्थ एव धनुर्धरः' (अर्जुन ही धनुर्धारी हैं) अर्थात् अर्जुनमें जैसा धनुर्धारित्वका सम्बन्ध है, वैसा दूसरोंमें नहीं है। एवम् प्रकृतमें 'हि' पदका अयोगव्यवच्छेद अर्थ है, जिससे वेदोंसे 'कर्मसम्बन्ध नहीं है' इस प्रकार सम्बन्धाभावकी ही निवृत्ति होती है। अन्य अर्थोंसे वेदोंका सम्बन्ध नहीं है, इस प्रकार अन्ययोगव्यवच्छेद नहीं होता।]

शङ्का—वेदमात्रका क्रियाकलापमें ही तात्पर्य है, जो वेदवाक्य क्रियापरक नहीं हैं, उनको अनर्थक होना प्राप्त होता है, इस सूत्रके बलसे क्रियामें तात्पर्य न रखनेवाले वाक्योंके अनर्थक होनेका दोष आता है।

समाधान—ऐसा दोष नहीं आता, कारण कि अनर्थक पदका अर्थ अभिधेय अर्थका अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि 'भूतमर्थं॰' (भूत–सिद्ध—अर्थका अनुवाद करते हैं) इस भाष्यमें अभिधेयका प्रदर्शन किया गया है। और प्रयोजनका अभाव भी नहीं हो सकता, क्योंकि 'सोऽरोदीत्' (वह रोया) इत्यादि अर्थवाद वाक्योंकी विधिवाक्यके साथ एकवाक्यता किए बिना प्रयोजनका अभाव होनेपर

न्तेषु श्रूयमाणस्य फलस्याऽनिवार्यत्वात् । अतएव भाष्यकारेण तस्मिन्नधिकरणे क्रियाप्रकरणपठिता अर्थवादा एवोदाहृता न तु वेदान्तवाक्यं किञ्चिदप्युदाहृतम् । तदेवं भट्टमते वेदान्तानामगतार्थत्वं सिद्धम् ।

ननु प्राभाकरास्तु शास्त्रारम्भमेवमाहुः—अध्ययनविधिर्हि विचारं विदधाति, स च स्वाध्यायस्य फलपर्यन्ततामाकाङ्क्षन् वेदार्थविचारमेव विदध्यान्न धर्मविचारम् । न च वेदार्थे सामान्यप्रतिपत्त्यभावः, साङ्गं वेदमधीतवत आपाततस्तदर्थप्रतिपत्तिसत्त्वात् । नाऽपि विशेषप्रतिपत्त्यभावः, 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इत्यादौ पशुकाममुद्दिश्य यागो विधीयते, यागविधानं चोद्दिश्य पशुकामाधिकार इत्यादिवचनव्यक्तिसन्देहात् । तस्मात्

भी वेदान्तवाक्योंमें सुनाई देनेवाले फलका निवारण नहीं किया जा सकता । इसलिए ही भाष्यकारने उस अधिकरणमें क्रियाप्रकरणमें— कर्मकाण्डमें—पढ़े हुए अर्थवादोंका ही उदाहरणरूपसे ग्रहण किया है, किसी भी वेदान्तवाक्यका उदाहरणरूपसे ग्रहण नहीं किया है । इस पूर्वोक्त विवेचनसे भट्टमतमें वेदान्तवाक्योंकी अगतार्थता सिद्ध होती है। [अतः वेदान्तवाक्योंका विचार करनेके लिए पृथक् मीमांसा करना आवश्यक है, क्योंकि पूर्वमीमांसासे वेदान्तवाक्योंका विचार नहीं किया जा सकता ।]

प्रभाकरमतानुयायी मीमांसक शास्त्रके आरम्भका निरूपण निम्न प्रकारसे करते हैं—अध्ययनविधि ही विचारका विधान करती है । और वह विधि स्वाध्यायके—वेदके—फलकी आकाङ्क्षा करती हुई वेदार्थके विचारका ही विधान करेगी, धर्मके विचारका नहीं । वेदार्थका सामान्यतः ज्ञान नहीं है, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, कारण कि अङ्गोंके सहित वेद पढ़नेवाले पुरुषको आपाततः—विचारके पूर्व भी सामान्यतः—[तात्पर्यका निश्चय न होते हुए भी] वेदार्थका ज्ञान हो जाता है । और ऐसा भी नहीं है कि विशेषरूपसे ज्ञान न हो, क्योंकि 'पशुओंकी प्राप्तिकी इच्छासे उद्भिद्याग करना चाहिए' इत्यादि विधिमें पशुकाम पुरुषको उद्देश्य करके यागका विधान किया जाता है या यागविधिको उद्देश्य करके पशुकाम पुरुषका अधिकार विहित है ? अथवा दोनोंका विधान है ? इस प्रकार वचनव्यक्तिका सन्देह होता ही है । ['उद्भिदा यजेत पशुकामः' इस वाक्यमें याग को उद्देश्य कर पशुकाम पुरुषके अधिकारका और पशुकामको उद्देश्य करके यागका विधान है, इस प्रकार पृथक्-पृथक्को उद्देश्य करके

'अथातो धर्मजिज्ञासा' इत्यस्याऽधिकरणस्य वेदार्थविचारो विषयः, स कर्त्तव्यो न वेति संशयः। न कर्त्तव्य इति तावत्प्राप्तम्, आलम्बनप्रमाणाभावात्। आम्नायालम्बनो विचार इति चेद्, नः अध्ययनविधिशेषतयाऽऽम्नायस्य स्वार्थविवक्षायोगात्। अध्ययनाङ्गत्वमाम्नायस्य न सम्भवति, विनियोजकाभावादिति चेद्, नः प्रयुक्तिशेषत्वस्याऽनिवार्यत्वात्। अध्ययनं तावद्ध्यापनविधिप्रयुक्तानुष्ठानत्वात्तच्छेषतामश्नुते, तच्चाऽध्ययनमुच्चारणरूपमुच्चार्यमाणस्वाध्यायनिष्पाद्यम्। अतोऽध्ययनस्य प्रयोजकोऽध्यापनविधिस्तदुप-

---

पृथक्-पृथक्का विधान है? अथवा दोनोंको उद्देश्य करके एकका विधान अथवा एक को ही उद्देश्य करके दोका विधान है? इस प्रकार सामान्य दृष्टिसे वचनकी कल्पना द्वारा एक ही अर्थमें विरुद्ध नाना अर्थान्तरोंकी आपाततः प्रतीति होनेसे वेदार्थके विषयमें भी विप्रतिपत्तिका सम्भव होनेसे वेदार्थका सामान्य ज्ञान होनेपर भी विशेषरूपसे वेदार्थ सन्देहका विषय होता ही है। अतः वेदार्थके विचारका अवसर प्राप्त होना असंगत नहीं है।] इसलिए 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस धर्मजिज्ञासा-अधिकरणका वेदार्थ-विचार ही विषय है। उक्त विचार करना चाहिए या नहीं करना चाहिए? ऐसा संशय प्राप्त होता है। इसमें प्रथम 'नहीं करना चाहिए' ऐसा प्राप्त होता है, कारण कि आलम्बनप्रमाणका अभाव है। [विचार किसी विवक्षितार्थ विषयको लेकर ही हो सकता है। वेदार्थके विचारप्रसङ्गमें ऐसा कोई विवक्षितार्थ आलम्बन नहीं है] आम्नायका—वेदका—ही आलम्बन करके विचारका प्रसङ्ग होगा, ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि अध्ययनविधिका अङ्ग होनेसे आम्नायमें—वेदमें—स्वार्थ-विवक्षाका अवसर नहीं है। आम्नाय—वेद—अध्ययनविधिका अङ्ग नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें कोई विनियोजक नहीं है, ऐसी शङ्का नहीं हो सकती, क्योंकि प्रयुक्ति—अध्ययनरूप प्रयोग—द्वारा आम्नायको अध्ययन-विधिके अङ्ग होनेका निवारण नहीं किया जा सकता। उपपादन करते हैं—अध्यापनविधिसे प्रयुक्त अनुष्ठानात्मक होनेसे अध्ययन उसका अङ्ग होता है, और उच्चारणस्वरूप वह अध्ययन उच्चारण किये जानेवाले स्वाध्याय—आम्नाय—द्वारा ही निष्पन्न हो सकता है। [अध्ययन—पढ़ना—'आचार्य-मुखतः म्रियात्' इत्यादि वचनोंके अनुसार अध्यापन—पढ़ाना—रूप गुरुव्यापारके

कारिणमाम्नायमपि प्रयुङ्क्ते प्रयुक्तौ चाऽङ्गत्वान्न विवक्षितार्थत्वम्। अथ मन्यसे—न प्रयुक्तिमात्रादङ्गत्वम्, अनङ्गस्याऽप्युपकारस्य प्रयुक्तिसम्भवाद्; अतो विपनिर्हरणादिमन्त्रवाक्यवदविवक्षितार्थत्वं नास्तीति, तर्हि प्रकारा-

---

बिना नहीं बनता। इसलिए अध्ययन अध्यापनका अङ्ग है। और अध्ययनका उपकारी आम्नाय है। विषयके बिना अध्ययनका होना असंभव है। इसलिए आम्नायमें उच्चारणरूप-अध्ययनत्व निश्चित है।] इसलिए अध्ययनका प्रयोजक अध्यापन—पढ़ाना—विधि है। वह अध्यापनविधि उसके उपकारी आम्नायको भी अनुष्ठानमें प्रयुक्त करती है। इस प्रकार प्रयुक्तिमें अङ्ग होनेसे स्वाध्यायकी अपनी स्वार्थविवक्षा सिद्ध नहीं हो सकती। प्रयुक्तिमात्रसे अङ्ग होनेका नियम नहीं है, क्योंकि जो अङ्ग नहीं है, उससे भी उपकारकी प्रयुक्ति हो सकती है। (अर्थात् जैसे आधानकी उत्तर क्रतुमें प्रयुक्ति है। परन्तु आधान उत्तर क्रतुका अङ्ग नहीं माना गया है) इसलिए विपनिवारणमें प्रयुक्त मन्त्र-वाक्योंके दृष्टान्तसे स्वाध्यायमें अविवक्षितार्थत्व सिद्ध नहीं होता।

[पृ० ४२७ पं० ७ में विपनिर्हरणादिमन्त्रवाक्योंके दृष्टान्तसे स्वाध्यायमें अविवक्षितार्थत्व सिद्ध कर आए हैं। इसलिए यहांपर उक्त दृष्टान्त प्रयुक्तिमात्रसे अविवक्षितार्थत्वका साधक नहीं है यह कहनेमें तात्पर्य है। वस्तुतः विवरणके पाठके अनुसार 'प्रयुक्तौ चाङ्गत्वान्न विवक्षितार्थत्वम्' इस ग्रन्थके आगे 'अतो विपनिर्हरणादि-मन्त्रवाक्यवत् विवक्षितार्थत्वं नास्ति' यह पाठ होना चाहिए, और 'अथ मन्यसे न प्रयुक्तिमात्रादङ्गत्वम्' इसके आगे 'अनङ्गस्याऽप्याधानस्य प्रयुक्तिसम्भवात्' ऐसा उपकारके स्थानमें आधान पाठ रखना सङ्गत मालूम होता है। यथाश्रुत पाठ रखने के आग्रहसे ऊपर कथित अनुवाद किया गया है और यथाश्रुत उपकारको उपकारकपरक माननेसे तो सङ्गति नहीं बन सकती, क्योंकि अङ्ग और उपकारक पर्याय ही हैं अथवा 'विधिशक्तिर्न मन्त्रस्य' इत्यादि पृ० ४३० पं० ५ में प्रति-पादित न्यायसे विपनिर्हरणादि मन्त्रवाक्योंकी भी स्वार्थविवक्षा मानकर उक्त वाक्योंका दृष्टान्त विवक्षितार्थत्वमें दिया गया है।]

यदि ऐसा सिद्धान्त मानते हैं, तो दूसरी रीतिसे आम्नायके अविवक्षितार्थत्वका सम्पादन करेंगे। [कोई आचार्य आम्नायकी अध्ययनमें प्रयुक्ति मानकर अङ्गत्व-सिद्धि द्वारा अर्थविवक्षाका अभाव कहते हैं और कोई-कोई प्रयुक्तिमात्रको अङ्गत्वका

न्तरेण विवक्षितार्थत्वं सम्पादयामः। स्वाध्यायविधिवाक्ये तव्यप्रत्ययेनाऽपूर्वस्य प्रतिपादनात् तदङ्गता तावत् स्वाध्यायस्याऽधिगता। यद्यप्यध्यापनविधिप्रयोज्यमध्ययनस्याऽध्यापनाङ्गत्वमपि प्राप्तं क्रतुप्रयुक्तस्य प्रयाजादेः क्रत्वङ्गत्वदर्शनात् तथापि प्रथमावगतमपूर्वाङ्गत्वं नाऽपाकर्तुं शक्यम् , ततश्चाऽपूर्वाङ्गस्य स्वाध्यायस्याऽविवक्षितार्थत्वात् 'न वेदार्थविचारः कर्त्तव्यः' इति पूर्वपक्षे प्राप्ते राद्धान्तं ब्रूमः—

न तावत् प्रयुक्तिबलादध्यापनाङ्गत्वमध्ययनस्य युज्यते, उत्तरनु-

---

प्रयोजक न मानकर प्रयुक्तिसे ही अर्थविवक्षाका अभाव नहीं मानते हुए स्वाध्यायकी अविवक्षितार्थताका अन्य प्रकारसे साधन करते हैं] 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययनके कर्मकारक स्वाध्यायघटित विधिवाक्यमें [कर्मार्थक] तव्यप्रत्ययसे अपूर्वका प्रतिपादन करनेसे स्वाध्यायको अपूर्वका अङ्ग होना प्राप्त ही होता है । [नियम है 'भूतं भव्यायोपदिश्यते' सिद्ध वस्तुका उपदेश साध्यके निमित्त होता है, इसके अनुसार सिद्धस्वरूप स्वाध्यायका कर्मकारकत्व असिद्धभूत अपूर्वके ही निमित्त होनेसे वह अपूर्वका अङ्ग है और अङ्गका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं होता, इसलिए स्वाध्यायको—वेदको—अविवक्षितार्थ ही मानना होगा ।] यद्यपि अध्यापनविधिके द्वारा प्रयुक्त अध्ययनको अध्यापनका अङ्ग होना भी प्राप्त होता है, क्योंकि क्रतुप्रयुक्त प्रयाजादिको क्रतुका अङ्ग होना देखा गया है, तथापि पहले ही से ज्ञात हुए अपूर्वका अङ्ग होना नहीं छोड़ा जा सकता । [अर्थात् अध्यापनविधिसे सामान्यतः अध्ययनमात्रका अनुष्ठान नहीं होता, किन्तु 'उपनीय तु यो विप्रम्' इत्यादिसे विहित अध्ययनका ही अनुष्ठान प्राप्त होता है । अन्यथा अनुपनीतादि अनधिकारीको भी अध्ययन प्राप्त हो जायगा । एवम् गुरुके—आचार्यके—मुखसे नियमपूर्वक अध्ययनमें ही पुण्य है, इस प्रकार अध्यापनको प्रथमतः अपूर्वका—पुण्यका—अङ्ग होना प्राप्त है, उसका निष्प्रमाण त्याग नहीं किया जा सकता] । इस हेतु अपूर्वके अङ्गभूत स्वाध्यायके अविवक्षितार्थ होनेसे वेदार्थका विचार नहीं करना चाहिए । इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्त पक्ष कहते हैं ।

[उक्त पूर्वपक्षमें दो आचार्योंका मत है एक प्रयुक्तिके कारण अङ्ग मानते हैं दूसरे अपूर्वका अङ्ग मानते हैं । दोनोंका क्रमशः समाधान करते हैं—] प्रयुक्तिके

प्रयुक्तस्याऽऽधानस्य तदङ्गत्वादर्शनात् । प्रयाजादीनां विनियोजकप्रकरणादिप्रमाणबलादङ्गत्वसिद्धेः । इह च तादृशप्रमाणाभावात् । अपूर्वार्थत्वं त्वध्ययनस्य नाऽर्थविवक्षाप्रतिबन्धकम्, अपूर्वस्य स्वाध्यायगततव्यप्रत्ययाभिहितत्वेन प्रयोजनाकाङ्क्षायां दृष्टे सत्यदृष्टकल्पनाऽनुपपत्त्या स्वाध्यायसामर्थ्यजन्यं प्रयोजनवद्विज्ञानं फलमिति कल्पयितुं शक्यत्वात् । तस्माद्विवक्षितार्थस्य वेदस्याऽर्थविचारः कर्त्तव्य इति स्थितम् । एवं च वेदार्थविचारं प्रतिजानतां प्राभाकराणां मते वेदान्तानामगतार्थत्वं दुःसम्पादमिति ।

कारण अध्ययनको अध्यापनका अङ्ग होना, यही पहले सङ्गत नहीं है, कारण कि उत्तर क्रतुमें प्रयुक्ति होनेसे भी आधानको उत्तर क्रतुका अङ्ग होना नहीं देखा गया है । क्रतुमें प्रयुक्तिके आधारपर प्रयाजादिका क्रतुके अङ्ग होनेमें दिए गए दृष्टान्तका खण्डन करते हैं—] प्रयाजादिको विनियोजक प्रकरण आदि प्रमाणके आधारपर क्रतुका अङ्ग होना सिद्ध होता है । प्रकृतमें तादृश प्रकरण आदि कोई प्रमाण नहीं है, इसलिए प्रयुक्तिमात्रसे अङ्गभावकी सिद्धि नहीं हो सकती । [दूसरे आचार्योंके मतका खण्डन करते हैं—] अध्ययनको अपूर्वका निमित्त माननेसे भी उसकी विवक्षितार्थताका प्रतिबन्ध नहीं हो सकता, कारण कि स्वाध्यायगत अपूर्वका तव्यप्रत्ययसे अभिधान होता है । [मीमांसकमतमें अपूर्व लिङादिप्रत्ययका अर्थ है ।] उसके प्रयोजनकी आकाङ्क्षा होनेपर दृष्टफलके सम्भव होनेपर अदृष्ट फलकी कल्पना करना उपपन्न न होनेसे स्वाध्यायकी सामर्थ्यसे उत्पन्न हुआ प्रयोजनशाली विज्ञान ही फल है, ऐसी कल्पना की जा सकती है । [तात्पर्य यह कि जैसे 'सोमेन यजेत' इत्यादि विधिवाक्यघटक लिङादिप्रत्ययसे अभिहित अपूर्व स्वर्गादिरूप फलकी प्राप्तिके द्वारा सप्रयोजन होता है, वैसे ही प्रकृतमें 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस वाक्यमें आये हुए तव्यप्रत्ययसे स्वाध्यायगत अपूर्वका अभिधान होता है, उसका प्रयोजन सफल वेदार्थविज्ञान ही मानना उचित है । इस विवेचनसे विवक्षितार्थ वेदके अर्थका विचार करना चाहिए, यह सिद्धान्त निश्चित होता है । इस प्रकार वेदार्थके विचारकी प्रतिज्ञाका समर्थन करनेवाले प्रभाकरानुयायी मीमांसकोंके मतमें वेदान्तोंकी अगतार्थताका सम्पादन नहीं किया जा सकता । [प्रभाकरानुयायी मीमांसकोंका कहना है कि 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस प्रथम सूत्रसे

अत्रोच्यते—यद्यपि कृत्स्नवेदाध्ययनविधिप्रयुक्तो विचारो वेदार्थमेव विषयीकुर्यात् तथाप्यनन्यथासिद्धेन सूत्रकृतधर्मग्रहणेन वेदार्थैकदेश-विषयः संपद्यते । न चैवमध्ययनविधिविरोधः, सामान्यरूपस्य विधेः प्रतिवाक्याध्ययनं प्रतिवाक्यविचारं च व्यापारभेदेन वेदार्थैकदेशविचारेऽ-

---

धर्मपदको वेदार्थका उपलक्षण मानकर वेदार्थमात्रके विचारकी प्रतिज्ञा सूत्रकारने की है। इससे वेदान्तवाक्योंके अर्थका विचार भी प्रतिज्ञात हो जानेसे उसके लिए पृथक् मीमांसाका आरम्भ करना प्राप्त नहीं होता, अर्थात् पूर्वमीमांसासे ही वेदान्तवाक्योंका भी विचार हो जायगा।]

इस प्राभाकरमतके ऊपर विचार किया जाता है—यद्यपि सम्पूर्ण वेदोंके अध्ययनकी विधिसे प्रयुक्त हुआ विचार वेदार्थको ही विषय करेगा तथापि अनन्यथासिद्ध सूत्रघटक धर्मग्रहणसे वेदार्थके एक भागको विषय करनेवाला ही सिद्ध होता है। [अर्थात् धर्मकी सिद्धि वेदसे ही हो सकती है, धर्म वेदार्थस्वरूप ही है। धर्मकी सिद्धि वेदसे अन्य प्रमाण द्वारा होती ही नहीं है, अतः धर्म अनन्यथासिद्ध है। उसका ग्रहण सूत्रमें 'अथातो वेदार्थ-जिज्ञासा' इस प्रकार वेदार्थपदसे हो ही जाता है, पुनः धर्मग्रहण व्यर्थ होकर विचारके विषयका नियम कर देगा कि इस प्रथम सूत्रसे केवल वेदार्थके एकदेशका विचार करनेकी ही प्रतिज्ञा की गई है।] इस प्रकार वेदार्थैक-देशको ही विषय माननेसे अध्ययनविधिका विरोध भी नहीं आता। [पूर्व-पक्षीका तात्पर्य है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययनविधिवाक्यसे सकल वेदका अध्ययन प्राप्त होता है और 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्रमें सकल वेद पढ़नेके अनन्तर विचारका प्रारम्भ किया गया है, इस प्रकार उपक्रमके बलसे सम्पूर्ण वेदार्थका विचार प्राप्त होता है, एकदेशमें ही तात्पर्यका निर्णय करनेसे विरोध आता है।] [यदि सम्पूर्ण वेदके अध्ययनप्रयुक्त सम्पूर्ण वेदार्थको विचारका विषय माना जाय, तो धर्मपदके स्थानमें वेदार्थपद देना ही उचित था और वेदार्थके एकदेशको विषय माननेसे सम्पूर्ण वेदके अध्ययनविधिमें प्रयुक्तिकी उपपत्ति भी प्रतिवाक्य विचार प्राप्त होनेसे प्रयोजन तथा व्यापारभेदसे हो सकती है इस आशयसे समाधान करते हैं—] क्योंकि सामान्यविधिके प्रति-वाक्यके अध्ययन एवम् प्रतिवाक्यके विचारमें व्यापारभेदसे वेदार्थके एकदेशके

पि चरितार्थत्वात्। यथा 'चक्षुषा रूपं पश्येत्' इति विधेर्नीलरूपदर्शनमात्रेणाऽपि चरितार्थता तद्वत्। अथ तत्र सर्वरूपदर्शनस्याऽशक्यत्वात् संकोचस्तर्हि अत्रापि अविरक्तेनानधिकारिणा वेदान्तानां विचारयितुमशक्यत्वादेव संकोचोऽस्तु। न चैवमध्ययनेऽपि संकोचप्रसङ्गः, तत्र विरक्तेरधिकारं प्रत्यप्रयोजकत्वात्; विचारस्य चाऽसंकोचे धर्मग्रहणमनुपपन्नं स्यात्। वेदार्थविचार इत्येव वक्तव्यत्वात्। पुरुषार्थद्योतनाय वेदार्थ एव धर्मशब्देन निर्दिश्यत

विचार करनेपर भी चारितार्थ्य हो सकता है। [यद्यपि स्वाध्यायाध्ययन सामान्यतः सम्पूर्ण वेदका प्राप्त होता है एवम् विचार भी सम्पूर्ण वेदार्थका ही प्राप्त होता है तथापि प्रतिवाक्यके अध्ययन तथा विचारमें व्यापारभेद होनेसे सामान्यविधिको विशेषपरक माननेमें कोई बाधा नहीं है, अतएव प्रथम सूत्रको वेदार्थविशेषके विचारपरक माननेपर भी अध्ययनविधिमें प्रयुक्तिकी अनुपपत्ति नहीं हो सकती। इस आशयको दृष्टान्तसे सिद्ध करते हैं—] जैसे 'चक्षुरिन्द्रियसे रूप देखना—रूपका प्रत्यक्ष करना—चाहिए, इस (सामान्य) विधानका (विशेष) नीलरूपमात्रके दर्शनसे भी चारितार्थ्य हो सकता है, वैसे ही प्रकृतमें भी सामान्यवेदार्थका विचार विशेषपरक हो सकता है। दृष्टान्त स्थलमें सम्पूर्ण रूपका दर्शन हो नहीं सकता, इसलिए सामान्यविधिको विशेषपरक माननेमें संकोच करना पड़ता है, यदि यह कहा जाय, तो प्रकृतमें भी जिसको वैराग्य नहीं हुआ है, ऐसे अनधिकारी पुरुषसे वेदान्तोंका विचार करना भी नहीं हो सकता, इसलिए संकोच करना प्राप्त होता है। इस प्रकार अध्ययनविधिमें संकोच नहीं हो सकता, कारण कि अध्ययनमें वैराग्य अधिकारका प्रयोजक नहीं है। ['ब्राह्मणेन निष्कारणः षडङ्गो वेदोऽध्येयः' इत्यादि नित्यविधिके बलसे वैराग्य हो अथवा न हो, उपनीत-द्विज होनामात्र अध्ययनमें अधिकारका प्रयोजक है। और वेदान्तविचारमें 'शान्तो दान्तः' इत्यादिके अनुसार शमदमादिसाधनचतुष्टयसम्प्राप्तिके अनन्तर ही अधिकार प्राप्त हो सकता है। इसलिए अध्ययनविधिका संकोच नहीं हो सकता] और विचारका संकोच न किया जाय, तो धर्मग्रहणकी उपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वेदार्थविचार—वेदार्थका विचार—किया जाना—ऐसा सामान्यरूपसे ही कहना पड़ेगा। वेदार्थको पुरुषार्थबोधन करनेके लिए धर्मशब्दसे निर्देश किया गया

इति चेद् नः धर्मशब्दस्य वेदार्थवाचकत्वाभावात्। अवेदार्थे चैत्यवन्दनादावपि कैश्चिद्धर्मशब्दप्रयोगात्। अथाऽन्वयव्यतिरेकसिद्धश्रेयःसाधनाभिधायी धर्मशब्दो वेदार्थश्च श्रेयःसाधनमिति तत्र धर्मशब्दो वर्त्तत इति मन्यसे, तर्हि श्रेयोरूपं ब्रह्म न धर्मशब्देनाऽभिधीयते, साधनत्वाभावात्; तत एकदेशविचारोऽङ्गीकार्यः। नो चेद् ब्रह्मणोऽपि संग्रहाय सूत्रे वेदार्थपदं वक्तव्यम्। न च सामान्यतोऽप्यप्रतिपन्नस्य ब्रह्मणः कथं संग्रह इति वाच्यम्, साङ्गवेदाध्यायिनो विचारात् प्राग् धर्मवद् ब्रह्मणोऽप्यापाततः प्रतिपत्तेः सत्त्वात्। ततश्च वेदार्थपदाभावादादिसूत्रं धर्ममात्रविचारविषयम्।

तथा लक्षणपरं द्वितीयसूत्रमपि धर्मविषयम्, न वेदार्थविषयम्। लक्षणं

है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, कारण कि धर्मशब्द वेदार्थका वाचक नहीं है। जो वेदार्थ नहीं है, ऐसे चैत्यवन्दन आदिमें भी कई-एक वादी धर्मशब्दका प्रयोग करते हैं। अन्वय और व्यतिरेकसे सिद्ध श्रेय—अभ्युदय—के साधनका वाची धर्मशब्द है और वेदार्थ भी अभ्युदयका साधन—कारण—है। इससे धर्मशब्दकी वेदार्थमें वृत्ति हो सकती है। [अर्थात् श्रेयःसाधनमें विशेष न होनेसे धर्मशब्दका प्रयोग वेदार्थके लिए आ सकता है। और श्रेयःसाधन न होनेसे चैत्यवन्दनादिकी व्यावृत्ति हो सकती है।] यदि ऐसा मानते हो, तो श्रेय—अभ्युदय—स्वरूप ब्रह्म तो धर्मशब्दसे नहीं लिया जा सकता, कारण कि ब्रह्म साधनरूप नहीं है, किन्तु ब्रह्म स्वयं अभ्युदयस्वरूप है। इससे 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्रसे वेदार्थके एकदेशका ही विचार करके प्रतिज्ञा माननी होगी, नहीं तो ब्रह्मका भी संग्रह करनेके लिए वेदार्थपद ही सूत्रमें देना चाहिए। जिसकी सामान्य रीतिसे भी प्रतीति नहीं है, [विशेषरूपसे नहीं है, इसमें तो कहना ही क्या ?] ऐसे ब्रह्मका [वेदार्थपदसे भी] कैसे संग्रह हो सकेगा ? [सामान्यतः प्रतीत और विशेषतः विप्रतिपन्न ही विचारका विषय हो सकता है, ब्रह्ममें ऐसा नहीं है।] ऐसी शङ्का भी नहीं कर सकते, कारण कि अङ्गोंके सहित वेदोंको पढ़ लेनेपर विचार करने के पूर्व ही धर्मकी भाँति ब्रह्मकी भी आपाततः प्रतीति होती ही है। इसलिए वेदार्थपदके न रहनेसे प्रथम सूत्रका विषय धर्ममात्रका ही विचार है।

एवं धर्मके लक्षणमें तात्पर्यवाला दूसरा 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' सूत्र भी धर्मविषयक ही है। वह वेदार्थमात्रको विषय नहीं करता। लक्षण लक्ष्यका

हि लक्ष्यस्याऽन्यत्र प्रसङ्गभ्रमनिरासपरम्। तत्र धर्मस्य लक्ष्यत्वे चैत्यवन्दनादौ प्रसङ्गभ्रमो निरस्यते, कैश्चित् चैत्यवन्दनादिषु धर्मत्वभ्रमं प्राप्य विप्रतिपद्यमानत्वात्। ननु वेदार्थेऽपि विप्रतिपत्तयः सन्ति--किमर्थवादादिलक्षणो वेदार्थः किं वा चोदनालक्षण इति, ततस्तन्निरासाय लक्षणमुच्यतामिति चेत्, तर्हि 'चोदनालक्षणो वेदार्थः' इति सूत्रे लक्षणं वक्तव्यम्, धर्मग्रहणे हि वेदार्थविप्रतिपत्तिनिरासोऽशाब्दः स्यात्। वेदार्थमेव विवक्षित्वा धर्मशब्दः प्रयुक्त इति चेद् नः तस्य तदवाचकत्वात्। न च धर्मशब्दो वेदार्थं लक्षयति, जहल्लक्षणायां वेदार्थस्याऽधर्मत्वप्रसङ्गात्। अभिधेयादन्यस्य तीरादेर्लक्ष्यस्याऽ-

---

भ्रमसे अन्यत्र प्राप्त प्रसङ्गका निवारण करना ही अपना प्रयोजन रखता है। उस सूत्रमें धर्मके लक्ष्य होनेसे चैत्यवन्दनादिको धर्म समझनेका भ्रम दूर किया जाता है, क्योंकि कोई-कोई चैत्यवन्दन आदिको धर्म समझ कर विरुद्ध प्रतीति करते हैं अर्थात् भ्रममें पड़कर चैत्यवन्दनादिको भी धर्म मान बैठते हैं।

शङ्का—वेदार्थके विषयमें भी विप्रतिपत्तियाँ—संशयात्मक विरुद्ध प्रतीतियां—होती हैं, जैसे क्या अर्थवादादिरूप धर्म है? अथवा प्रेरणात्मक धर्म है? इसलिए उक्त संशय—विप्रतिपत्ति—को दूर करनेके लिए ही लक्षण किया जाता है अर्थात् दूसरे सूत्रमें भी लक्षणका विषय लक्ष्य वेदार्थ ही है।

समाधान—इस शङ्काके अनुसार तो 'चोदनात्मक वेदार्थ है' इस प्रकार ही सूत्रमें लक्षण करना चाहिए था, धर्मका ग्रहण करनेपर, तो वेदार्थविषयक विप्रतिपत्तिका समाधान शब्द द्वारा नहीं हो सकता।

शङ्का—वेदार्थकी विवक्षासे ही धर्मशब्दका प्रयोग किया गया है।

समाधान—ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि धर्मपद वेदार्थका वाचक नहीं है। [शब्दप्रयोगका नियम है कि जिस अर्थकी विवक्षा हो उसके वाचक शब्दका ही प्रयोग करना चाहिए, अन्यथा अतिप्रसङ्ग होगा और आलङ्कारिकोंका अवाचकत्व दोष विराजमान हो जायगा।] धर्मशब्दकी वेदार्थमें लक्षणा भी नहीं कर सकते, क्योंकि जहल्लक्षणामें वेदार्थके अधर्म होनेका प्रसङ्ग आ जायगा। जैसे अभिधेय—वाच्य—अर्थसे इतर तीर आदि लक्ष्यभूत अर्थ गङ्गारूप नहीं हैं। ['जहति स्वानि—स्वीयानि—पदानि यः स जहत्स्वः एवंभूतोऽर्थो यस्यां लक्षणायाम् सा जहल्लक्षणा' इस जहत्स्वार्था लक्षणामें लक्षकपद अपने स्वार्थका—वाच्यार्थका—

गङ्गात्वदर्शनात्। अजहल्लक्षणायामपि कीदृशी वचनव्यक्तिः? यश्चोदनालक्षणः स धर्म इति यो धर्मः स चोदनालक्षण इति वा। द्वेधाऽपि न वेदार्थविवक्षा सिध्यति, चोदनाधर्मशब्दयोर्वेदतदर्थैकदेशवाचिनोः कृत्स्नवेदतदर्थलक्षकत्वे कारणाभावात्। नहि यच्चाक्षुषं तद्रूपं यद्रूपं तच्चाक्षुषमित्यत्र सर्वप्रत्यक्षतद्विषयलक्षणा दृष्टा। मुख्यार्थेऽनुपपत्त्यभाव उभयत्राऽपि समानः।

त्याग कर देता है। जैसे 'गङ्गायां घोषः' यहांपर गङ्गापदसे अपने प्रवाहरूप वाच्य अर्थका त्याग करके लक्षणाके द्वारा गङ्गासे भिन्न केवल तीररूप अर्थका बोध होता है, वैसे ही प्रकृतमें भी धर्मपदसे जहत्स्वार्था लक्षणाके द्वारा धर्मभिन्न अधर्मस्वरूप वेदार्थका बोध होगा, जो कि यहाँ इष्ट नहीं है।] अजहल्लक्षणाके [जिस लक्षणामें स्वार्थका त्याग नहीं होता है, उसको अजहल्लक्षणा कहते हैं, जैसे 'श्वेतो धावति' 'कुन्ताः प्रविशन्ति' इत्यादि] माननेमें वचनका स्वरूप कैसे होगा? क्या जो प्रेरणात्मक अर्थ है वह धर्म है? अथवा जो धर्म है वह प्रेरणात्मक अर्थ है? अर्थात् चोदनात्मक धर्मका लक्षण है। दोनों प्रकारकी वचनव्यक्तिसे भी वेदार्थमात्रकी विवक्षा सिद्ध नहीं हो सकती, कारण कि चोदना तथा धर्म—ये दोनों शब्द वेद तथा वेदार्थके एक देश—किसी एक भाग—के ही वाचक * हैं, अतः उन दोनों पदोंसे लक्षणा द्वारा भी सम्पूर्ण वेद तथा सम्पूर्ण वेदार्थका बोध किसी कारणवश नहीं हो सकता।

जो चाक्षुष प्रत्यक्ष है वह रूप है या जो रूप है—वह चाक्षुष प्रत्यक्ष है, इस प्रकारके वाक्योंमें सम्पूर्ण प्रत्यक्षों तथा प्रत्यक्षके सम्पूर्ण विषयोंकी प्रतीति लक्षणाके द्वारा नहीं देखी गई है। मुख्य अर्थमें अनुपपत्तिका अभाव दोनों स्थलोंमें समान ही है। [जो चाक्षुष है वह रूप है, इत्यादि स्थलमें मुख्य अर्थका बाध आदि लक्षणाके बीजके न होनेसे लक्षणा नहीं होती, यदि यह कहो, तो जो चोदनात्मक अर्थ है वह धर्म है, इस स्थलमें भी मुख्यार्थका बाध नहीं है, इस प्रकार मुख्यार्थके बाध आदि लक्षणाके कारणका अभाव दोनों स्थलोंमें समान ही है।]

---

* लिङादिप्रत्ययघटित विधिवाक्यस्वरूप होनेसे वेदका विधायक वाक्यसमूहात्मक भाग चोदना है और चोदनाविहित अभ्युदयका साधनभूत विधायक वाक्यात्मक वेदका अर्थ है—धर्म। अतः धर्म भी वेदार्थैकदेश ही हुआ।

अथोच्येत—

'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥'

इत्यादिवत् संज्ञाविधिपरमिदं सूत्रम् , ततो धर्मशब्दस्य पूर्वमभिधानलक्षणावृत्त्योरभावेऽपि वेदार्थविवक्षा भवतीति, तन्न; प्रयोजनाभावात् । यथा 'आचार्याय गां दद्यात्' इत्यादिकार्यान्तरे नियोगार्थमाचार्यसंज्ञा विधीयते न तथेह कार्यान्तरमस्ति यदर्थं वेदार्थस्य धर्मसंज्ञा विधीयते । धर्मशब्दस्य वेदार्थवाचकत्वाङ्गीकारेऽपि सूत्रगतार्थशब्दवैयर्थ्यं चोदनाशब्दस्य कृत्स्नवेदलक्षणापरत्वमधिकरणरचनानुपपत्तिश्च त्वन्मते वारयितुं न शक्यते । न च 'श्येनेनाभिचरन्यजेत' इत्यादयोऽर्थशब्दव्यावर्त्याः, तेषामपि वेदार्थत्वव्यावृत्त्य-

---

शङ्का—यदि कहा जाय कि 'जो द्विज (ब्राह्मण) शिष्यका उपनयन संस्कार करके रहस्य और कल्पके सहित वेदको पढ़ावे उसको आचार्य कहते हैं' इत्यादिसे जैसे आचार्यसंज्ञाका विधान होता है, वैसे ही इस सूत्रका भी संज्ञाके विधानमें तात्पर्य है, इसलिए धर्मशब्दका इस संज्ञासूत्रसे पहले अभिधाशक्ति तथा लक्षणा—इन दोनों वृत्तियोंके न होनेपर भी [संज्ञासूत्रके बलसे] वेदार्थकी विवक्षा होती है ।

समाधान—तो यह भी नहीं कह सकते, कारण कि ऐसा कहनेसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता ।

[आचार्यसंज्ञाके विधानमें प्रयोजन दिखलाते हैं —] जैसे 'आचार्यको गाय देनी चाहिए' इत्यादि गोदानरूप प्रभृति दूसरे कार्योंमें नियोगकी सिद्धिके लिए आचार्यसंज्ञाका विधान किया जाता है, वैसे प्रकृतमें कोई अन्य कार्य नहीं है, जिससे कि वेदार्थकी धर्मसंज्ञा विहित हो ।

[अभ्युपगमवादमें भी दूषण देते हैं]—कथञ्चित् धर्मशब्दको वेदार्थका वाचक मान भी लिया जाय, तो भी सूत्रमें दिये गये अर्थशब्दका वैयर्थ्य, चोदनाशब्दकी सम्पूर्ण वेदमें लक्षणा तथा अधिकरणरचनाकी अनुपपत्ति—ये सब दोष तुम्हारे मतमें [संज्ञासूत्र मानकर धर्मको वेदार्थकी संज्ञा माननेवालेके मतमें] हटाये नहीं जा सकते । 'श्येन यागसे अभिचार करते हैं' इत्यादि अर्थशब्दके व्यावर्त्य होंगे [अर्थात् वेदार्थ श्रेय.साधन होता है और श्येनयागादि आभिचारिक (मारण-उच्चाटनके साधन) कृत्य

योगात्; अवेदार्थत्वे च धर्मशब्देनैव व्यावृत्तिसिद्धेः। सिद्धामेव व्यावृत्तिमर्थशब्दोऽनुवदतीति चेद्, न; तथा सति वैयर्थ्यतादवस्थ्यात्। वेदार्थैकदेशभूतधर्मविचारपक्षे तु श्येनादेः प्रतिषेधचोदनालक्षणस्याऽनर्थत्वेनाऽधर्मत्वसिद्धिरर्थशब्दप्रयोजनं भविष्यति। अर्थशब्दवैयर्थ्येऽपि चोदनाशब्दस्य लक्षणापरत्वं कथमिति चेद्, उच्यते--किं चोदनातिरिक्तोऽपि कश्चिद्वेदभागोऽस्ति उत न? यदि नाऽस्ति तदा चोदनालक्षणोऽर्थश्चोदनार्थ इति

हैं, श्रेयःसाधन नहीं हैं], ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण कि उन श्येनयाग आदिमें वेदार्थत्वकी व्यावृत्ति नहीं हो सकती। तात्पर्य यह है कि श्येनयागादि भी वेदप्रतिपादित होनेसे वेदार्थ ही माने जायँगे। [यदि वे वेदार्थ नहीं हैं, तो धर्म भी नहीं होंगे, क्योंकि आपके मतमें धर्म और वेदार्थ एक ही वस्तु है। इस आशयसे लिखते हैं—] श्येनयागादि यदि वेदार्थ नहीं हैं, तो धर्मशब्दसे ही उनकी व्यावृत्ति सिद्ध हो जायगी। [इससे भी अर्थशब्द व्यर्थ ही है] धर्मशब्दसे सिद्ध हुई व्यावृत्तिका ही अर्थशब्द अनुवाद करता है, यह मानना भी उचित नहीं है, कारण कि उसको अनुवादक माननेसे भी वैयर्थ्यदोष तो बना ही है। [यदि अर्थशब्द उसका अनुवादक न हो तो भी धर्मज्ञानसे ही अभीष्ट व्यावृत्ति उपलब्ध ही हो जाती है। इससे अर्थपदका सार्थक्य नहीं आ सकता।] [सिद्धान्त पक्षमें अर्थशब्दका सार्थक्य दिखलाते हैं—वेदार्थके एकभागमात्र धर्मके ही विचारविषयक प्रथम सूत्रको माननेवालेके पक्षमें तो प्रतिषेधात्मक प्रेरणास्वरूप श्येन आदि यागके अनर्थक होनेसे उनमें अधर्मत्वकी सिद्धि ही अर्थशब्दका प्रयोजन होगा। [पूर्व मूलमें दिखाए गए प्रभाकरमतमें तीन दोषोंमें से प्रथम दोष—अर्थशब्दका वैयर्थ्य—बतलाया गया है। अब चोदनाशब्दकी सम्पूर्ण वेदमें लक्षणाका असम्भवरूप द्वितीय दोष दिखलाते हैं—] अर्थशब्दके व्यर्थ होनेपर भी सम्पूर्ण वेदमें चोदनाशब्दकी लक्षणा कैसे सिद्ध हो सकती है? [अर्थशब्दका व्यर्थ होना ही दोष नहीं है। दूसरा दोष भी प्रभाकरमतमें आता है, मीमांसक पूछता है—कैसे? वेदान्ती उत्तर देता है—] कहा जाता है, क्या चोदनासे अतिरिक्त कोई वेदका भाग है? या नहीं? यदि नहीं है, तो 'प्रेरणात्मक अर्थ प्रेरणात्मक है' ऐसा

सूत्रार्थः स्यात्, ततो लक्ष्यलक्षणयोरैक्यमापद्येत। अस्ति चेत् सोऽपि वेद-भागोऽर्थवान्न वा ? अर्थवांश्चेत् कथं चोदनाप्रमेयोऽचोदनाभागस्याऽर्थः स्यात् ? अर्थशून्यत्वेऽपि चोदनार्थः कथं सार्थकनिरर्थकभागद्वयसमुदायवेदार्थः स्यात्। तस्मात् चोदनाशब्दस्य कृत्स्नवेदलक्षकत्वं त्वया दुर्वारम्। अधिकरणं चैवं त्वया रचनीयम्--किं वेदार्थश्चोदनालक्षणः किं वाऽर्थवादादिलक्षण इति। विशये सति नाऽर्थवादादिलक्षणः किन्तु चोदनालक्षण इति। सेयं रचनाऽनुपपन्ना, वेदस्य प्रामाण्यप्रतिपादनात् प्रागर्थवत्त्वस्यैवाऽनिश्चयात्। प्रथम-

सूत्रका अर्थ होगा। [क्योंकि धर्म और चोदना— दोनों पद आपके मतमें सम्पूर्ण वेदके लक्षक होनेसे पर्याय ही हो गए]। ऐसा अर्थ होनेपर लक्ष्य और लक्षणमें ऐक्य हो जायगा। [लक्ष्य और लक्षणका ऐक्य होनेसे लक्षण करना ही व्यर्थ होता है। घटका लक्षण कम्बुग्रीवादिरूप ही होता है न कि घट ही।] यदि चोदनासे अतिरिक्त वेदभागकी सत्ता मानते हो, तो हम पूछते हैं कि वह अतिरिक्त वेदभाग अर्थवान् है ? या निरर्थक है ? यदि सार्थक है, तो चोदना—लिङाद्यर्थ—का प्रमेय अर्थ चोदनासे भिन्न भागका अर्थ–प्रमेय–कैसे हो सकता है ? [वेदके दो भाग हैं--एक चोदनात्मक और दूसरा उससे भिन्न। इस दशामें चोदनाभागका जो अर्थ है, उसे इतरभागके अर्थसे भिन्न ही होना चाहिए, एक नहीं, अन्यथा भेद नहीं बन सकेगा।] उस इतरभागके निरर्थक माननेमें भी चोदनात्मक अर्थ सार्थक और निरर्थक दोनों वेदभागोंका अर्थ कैसे हो सकता है ? [अर्थशून्य भागका चोदनारूप अर्थ कैसे हो सकता है ? उसका चोदनारूप अर्थ कहना व्याघातदोषसे ग्रस्त है।] इसलिए तुमको—प्रभाकरमतानुयायीको--चोदनापदकी सम्पूर्ण वेदमें लक्षणा मानना दुर्वार हो जायगा। [इस सम्पूर्ण वेदरूप अर्थमें चोदनापदकी लक्षणा करनेसे चोदना और अर्थ—इन दोनों पदोंका सार्थक्य नहीं हो सकता।] इनके अति-रिक्त तीसरा दोष भी दिखलाते हैं—तुमको— गुरुमतानुयायीको—अधिकरणकी रचना इस प्रकार करनी होगी--क्या वेदार्थ चोदनास्वरूप है अथवा अर्थवादादि-स्वरूप है ? इस प्रकार संशय उत्पन्न होनेपर वेदार्थ अर्थवादादिस्वरूप नहीं है, किन्तु चोदना–प्रेरणा–स्वरूप है। [इस प्रकारके निर्णयमें सूत्रका तात्पर्य होगा।] परन्तु उक्त तात्पर्यवाली आपकी कल्पित रचना उपपन्न नहीं हो

सूत्रेऽध्ययनविधिप्रयुक्ताप्रामाण्यनिराकरणेऽपि पौरुषेयत्वादिप्रयुक्ताप्रामाण्यमनिराकृतम्। अन्यथोत्तरसूत्रसन्दर्भस्य प्रामाण्यप्रतिपादकस्य वैयर्थ्यापातात्। न च दृढीकरणाय पुनः प्रतिपादनमिति वाच्यम्, अदार्ढ्यशङ्काया अभावात्। वेदप्रामाण्यस्याऽपि वेदार्थान्तःपातित्वात् सूत्रसन्दर्भेण प्रतिपादनमिति चेद्, न; तथा सति प्रामाण्यस्य सिद्धरूपतया वेदस्य कार्यैकनिष्ठत्वहानिप्रसङ्गात्। तर्हि प्रथमसूत्रमेव प्रामाण्यं साधयति, नाऽन्यः सूत्रसन्दर्भ इति चेद्, न; भाष्यविरोधात्। भाष्यकारो हि द्वितीयाध्यायमारभमाणो वृत्तं प्रमाणलक्षणमित्यनुवदन् प्रथमाध्यायेन वेदस्य प्रामाण्यमेव साधितं दर्शयति—किं चोदनालक्षणो वेदार्थो नाऽर्थवादादिलक्षण इति। अयमेव यद्यस्य सूत्र-

---

सकती, क्योंकि वेदके प्रामाण्यसमर्थनके पूर्व उसके समर्थक होनेका निश्चय नहीं हो सकता। यद्यपि प्रथम सूत्रमें अध्ययनविधिसे वेदके अप्रामाण्यका निराकरण हो जाता है [यदि वेद विवक्षितार्थ नहीं है, तो उसका अध्ययनविधान निष्प्रयोजन हो जाता है, इत्यादि अनेक युक्तियोंसे वेदके सार्थक्यका पहले ही प्रतिपादन कर आए हैं।] तथापि पुरुषप्रणीत होनेसे प्राप्त हुआ अप्रामाण्य तो निराकृत नहीं हुआ। अन्यथा—यदि सर्वविध अप्रामाण्यका निराकरण हो गया होता—वेदोंके प्रामाण्यका प्रतिपादक द्वितीय सूत्रका सन्दर्भ व्यर्थ हो जायगा। [वेदोंकी अध्ययनविधि द्वारा प्राप्त प्रामाण्यको] दृढ करनेके लिए ही पुनः प्रतिपादन किया गया है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, कारण कि अदृढ होनेकी आशङ्का ही नहीं है।

शङ्का—वेदोंका प्रामाण्य भी वेदोंकी अर्थकोटिमें ही आ जाता है, इसलिए सूत्रसन्दर्भसे उसका प्रतिपादन किया गया है।

समाधान—ऐसा नहीं मान सकते, कारण कि इस प्रकार माननेसे प्रामाण्य सिद्धरूप हो जायगा, अतः वेदोंका तात्पर्य केवल कार्यमें ही है, इस प्रकारके आपके सम्मत नियमकी हानिका प्रसङ्ग हो जायगा। यदि कहो कि तब तो प्रथम सूत्र ही प्रामाण्यकी सिद्धि करता है, दूसरा सूत्रसन्दर्भ नहीं, तो ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ऐसा माननेमें भाष्यसे विरोध आता है। भाष्यकारने द्वितीयाध्यायको प्रारम्भ करते हुए प्रथम अध्यायसे वेदका प्रामाण्य ही सिद्ध किया है, उसे दिखाते हैं—क्या चोदनास्वरूप ही वेदार्थ है? अर्थवादादिस्वरूप नहीं

स्याऽर्थस्तदाऽर्थवादमन्त्राधिकरणानारम्भः प्रसज्येत। अस्मिन्नेव सूत्रे मन्त्रार्थवादयोर्धर्मप्रमापकत्वनिराकरणात्। स्तावकत्वादिनाऽन्यप्रकारप्रतिपादनार्थस्तदधिकरणारम्भ इति चेद्, न; अत्रैव धर्मप्रमापकत्वनिराकरणे तत्र धर्मप्रतिपादकत्वलक्षणपूर्वपक्षस्याऽनुदयात्। तदेवं प्रथमद्वितीयसूत्रपर्यालोचनया कार्यनिष्ठो वेदभागो विचार्यतया प्रक्रान्तो विचारितश्च न वस्तुतत्त्वनिष्ठः। तस्मादगतार्थत्वाद्वस्तुतत्त्वनिष्ठं वेदभागं विचारयितुमुत्तरमीमांसाऽऽरब्धव्येति सिद्धम्।

* इति विवरणप्रमेयसंग्रहे प्रथमसूत्रे द्वितीयवर्णकं समाप्तम् *

है ? यदि यही इस सूत्रका अर्थ होगा, तो अर्थवादमन्त्राधिकरणका प्रारम्भ ही न होगा, क्योंकि इसी सूत्रमें मन्त्र और अर्थवादके धर्मनिश्चायक होनेका खण्डन हो जाता है। स्तावकत्व—स्तुति करनेवाले—आदि अन्य प्रकारसे प्रतिपादन करनेके लिए उस अधिकरणका प्रयोजन है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यहीं—इसी प्रथम सूत्रमें ही—धर्मके प्रमापक—निश्चायक—होनेका निराकरण हो जानेसे पुनः उस अधिकरणमें अर्थवाद आदिके धर्मप्रमापक हो जानेकी आशङ्कासे युक्त पूर्वपक्षके उदयका सम्भव ही नहीं हो सकता। इन युक्तियोंसे 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस प्रथम सूत्रतथा 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस द्वितीय सूत्रकी पर्यालोचनासे—सन्दर्भपूर्वक विचार करनेसे कर्ममें तात्पर्य रखनेवाले वेदभागमें ही विचारविषयत्व प्रक्रमप्राप्त है और उसीका विचार भी किया गया है, वस्तुतत्त्व—सिद्धान्त—का विचार करना पूर्वमीमांसामें प्रक्रमप्राप्त भी नहीं है और उसका उसमें विचार भी नहीं किया गया है। इसलिए पूर्वमीमांसा द्वारा अगतार्थ होनेसे सिद्धवस्तुपरक वेदान्तवाक्योंका विचार करनेके लिए उत्तरमीमांसाका आरम्भ किया जाना चाहिए, यह सिद्ध होता है।

श्री पं० ललिताप्रसादडबरालविरचित विवरणप्रमेयसंग्रह-
भाषानुवादमें प्रथमसूत्रका द्वितीयवर्णक समाप्त।



अथ तृतीयं वर्णकम्

एवं सूत्रस्य तात्पर्याच्छास्त्रारम्भो निरूपितः ।
वर्णकद्वितयेनाऽथ पदव्याख्या निरूप्यते ॥
तात्पर्ये निश्चिते पूर्वं तत्र योजयितुं पदम् ।
सुशकं तेन तात्पर्यं कथितं वर्णकद्वये ॥
तृतीये वर्णके सूत्रपदव्याख्यामुखेन तम् ।
शास्त्रारम्भं दृढीकर्त्तुं पदार्थोऽत्र विचार्यते ॥

अथशब्दस्य चत्वारोऽर्था वृद्धव्यवहारे प्रयोगसामर्थ्यात्प्रसिद्धाः आनन्तर्यमधिकारो मङ्गलाचरणं प्रकृतादर्थादर्थान्तरत्वं च । तत्रेतरपर्युदासेनाऽऽनन्तर्यमथशब्देनोपादीयते । तच्च जिज्ञासापदस्याऽवयवार्थस्वीकारे लभ्यते । तत्राऽधिकारो नाम प्रारम्भः । नहि ब्रह्मज्ञानेच्छा कर्त्तव्यतया प्रतिपाद्यतया वा प्रारब्धुं शक्या, इच्छाया विषयसौन्दर्यमात्रजन्यत्वात्प्रत्य-

---

तृतीय वर्णक

उक्त रीतिसे सूत्रके तात्पर्यका निश्चय कर द्वितीय वर्णकमें वेदान्तशास्त्रारम्भका विस्तारपूर्वक उपपादन किया गया, अब 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रके प्रत्येक पदकी व्याख्या करेंगे । पहले सूत्रके तात्पर्यका परिज्ञान होनेपर ही उसके पदोंकी ठीक-ठीक योजना हो सकती है, इसीलिए प्रथम दो वर्णकोंसे हमने सूत्रके तात्पर्यका सविशेष निरूपण किया है । अब तृतीय वर्णकमें जिज्ञासासूत्रमें कहे गये पदोंकी व्याख्या द्वारा वेदान्तशास्त्रके प्रारम्भको पुनः दृढ़ करनेके लिए पदोंके अर्थोंका विचार करते हैं ।

व्यवहारमें वृद्धोंके प्रयोगकी सामर्थ्यसे अथशब्दके चार अर्थ प्रसिद्ध हैं—आनन्तर्य, अधिकार, मङ्गलाचरण और प्रकृत अर्थसे अर्थान्तर । उक्त चार अर्थोंमें से अन्य सब अर्थोंको छोड़ कर प्रकृतमें केवल आनन्तर्य ही अथशब्दका अर्थ लेना चाहिए । और यह जिज्ञासाशब्दके अवयवार्थका अङ्गीकार करनेसे अनायास ही लब्ध होता है । [जब जिज्ञासाशब्दको अवयवार्थक अर्थात् 'ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा' इस व्युत्पत्तिसे ज्ञानेच्छावाचक मानेंगे, तब अथशब्दका अधिकार अर्थ हो नहीं सकता, क्योंकि] अधिकारशब्दका अर्थ है—प्रारम्भ । इच्छाका उत्पाद्यत्वरूपसे या प्रतिपाद्यत्वरूपसे हम लोग प्रारम्भ नहीं कर सकते, क्योंकि

धिकरणमप्रतिपाद्यमानत्वाच्च ।

ननु जिज्ञासाशब्दो विचारे रूढः । भाष्यकारादिभिस्तत्र विचारविवक्षया प्रयुक्तत्वात् । अतो 'रूढिर्योगमपहरति' इति न्यायेनाऽवयवार्थस्वीकारो न युक्तस्ततोऽथशब्दोऽप्यधिकारार्थो भविष्यतीति विचारस्य प्रारब्धुं शक्यत्वादिति चेद्, मैवम् ; रूढिर्योगमपहरतीति न्यायस्याऽत्राऽप्रसरात् । तथाहि—द्विविधा तावच्छब्दवृत्तिर्मुख्यामुख्यभेदात् । तत्र रूढिर्योगश्चेति द्वयं मुख्यम्, लक्षणा गौणवृत्तिश्चेति द्वयममुख्यम् । अवयवार्थमनपेक्ष्य वृद्धप्रयोगमात्रेण व्युत्पाद्यमाना अश्वगजादिशब्दा रूढाः । अवयवार्थद्वारा

वह केवल विषयके सौन्दर्यसे अपने-आप उत्पन्न हो जाती है एवं इस वेदान्तशास्त्रके प्रत्येक अधिकरणमें उसका प्रतिपादन भी नहीं मिलता ।

शङ्का—जिज्ञासाशब्द विचाररूप अर्थमें रूढ़ है, इसीसे भगवान् भाष्यकार आदिने तत्-तत् स्थलोंमें विचाररूप अर्थकी विवक्षासे उक्त शब्दका प्रयोग किया है, अतः 'रूढिर्योगमपहरति' इस न्यायसे जिज्ञासाशब्दको अवयवार्थपरक मानना युक्त नहीं है । इस परिस्थितिमें अथशब्द अधिकारार्थक भी हो सकता है, क्योंकि विचारका प्रत्येक अधिकरणमें प्रारम्भ है ही ।

समाधान—ऐसा नहीं हो सकता, कारण कि 'रूढि योगार्थका अपहार करती है' इस न्यायका यहांपर प्रसङ्ग नहीं आता, क्योंकि मुख्य और अमुख्य इस प्रकार शब्दकी दो वृत्तियां होती हैं । इनमें रूढि और योग—ये दोनों मुख्य वृत्तियाँ हैं और लक्षणा तथा गौणी—ये दोनों अमुख्य वृत्तियाँ हैं । अवयवोंके अर्थकी अपेक्षा न रखकर केवल वृद्धोंके व्यवहारमात्रसे व्युत्पाद्यमान[1] अश्व—घोड़ा, गज—हाथी आदि शब्द रूढ़ कहे जाते हैं । और अवयवार्थ द्वारा विशिष्ट अर्थका अभिधान करनेवाले

(१) जिज्ञासुको तत्-तत् पदोंका अर्थबोध करानेके लिए जिसका आश्रय लिया जाता है, उसको व्युत्पत्ति कहते हैं । और वे सब पद व्युत्पत्तिके विषय होनेसे व्युत्पाद्यमान होते हैं । अश्व तथा गज आदि पदोंका अर्थबोध करानेके लिए 'पचतीति पाचकः' या 'रसोई करनेवाला रसोइया' इस भाँति प्रकृति प्रत्ययार्थरूप अवयवार्थके दिखानेका सहारा नहीं लिया जाता, केवल अंगुलीका निर्देश करके दिखा दिया जाता है कि इस वस्तुको वृद्ध लोग घोड़ा और इसको हाथी कहते हैं । इस प्रकार वृद्धव्यवहारका ही सहारा लिया जाता है । इस भाँति अश्व, गज आदि शब्द वृद्धव्यवहारसे ही व्युत्पाद्यमान होते हैं ।

विशिष्टार्थाभिधायिनश्चतुराननकमलासनादिशब्दा यौगिकाः ।

'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गौणता ॥'

इत्युक्तत्वादभिधेयाविनाभूततीरप्रत्यायको गङ्गाशब्दो लाक्षणिकः। शौर्यादिगुणयोगाद्देवदत्ते प्रयुज्यमानः सिंहशब्दो गौणः ।

न च पङ्कजादिशब्देषु योगरूढ्याख्या पञ्चमी शब्दवृत्तिरस्तीति शङ्कनीयम्, तत्र रूढिकल्पने प्रयोजनाभावात्। तामरसे व्यवहारबाहुल्या-

चतुरानने, कमलासन आदि शब्द यौगिक कहलाते हैं। 'मुख्य अर्थके सम्बन्धकी प्रतीतिको लक्षणा कहते हैं। और गुणोंके सम्बन्धसे जहां अर्थकी प्रतीति होती है, ऐसे स्थलोंमें गौणी वृत्ति मानी जाती है'। इस अभियुक्तोंके वचनके अनुसार मुख्य—प्रवाहरूप—अर्थसे नित्य सम्बन्ध रखनेवाले तीरकी प्रतीति करानेवाले 'गङ्गायां घोषः' इस प्रयोगमें गङ्गाशब्द लाक्षणिक है और ['सिंहो देवदत्तः' इस प्रयोगमें] शौर्य आदि गुणोंके सम्बन्धसे देवदत्त नामक पुरुषरूप अर्थमें प्रयोग किया गया सिंहशब्द गौण है ।

पङ्कजादिशब्दोंमें योगरूढिनामक पांचवीं शब्दवृत्ति माननेकी शङ्का नहीं करनी चाहिए, कारण कि पङ्कजादि स्थलमें रूढि माननेका कोई प्रयोजन नहीं है । तामरसमें अर्थात् सूर्यविकासी कमलसामान्यमें ही पङ्कजपदका अधिक प्रयोग होता है, इससे उत्पल आदि—कमलविशेषकी व्यावृत्ति सिद्ध हो जायगी। और

(१) चत्वारि आननानि यस्य, अर्थात् चार मुख जिसके हैं, इस बहुव्रीहि समासके बलसे 'चतुर' और 'आनन' दोनों अवयवोंका 'चार' और 'मुख' अर्थको लेते हुए विशिष्ट ब्रह्माका बोध हुआ, एवं कमल और आसन इन अवयवोंसे बने हुए कमलासन पदमें भी समझना चाहिए ।

(२) यहांपर अविनाभाव पदका व्याप्तिरूप विशिष्ट सम्बन्ध नहीं है, किन्तु सम्बन्धमात्र अर्थ है ।

(३) पङ्कजका अवयवार्थ है, जो कीचड़में पैदा हो । कीचड़में तो सेवाल आदि भी होते हैं । परन्तु पङ्कज केवल कमलको ही कहते हैं। यह नियन्त्रण रूढ़िने किया और स्थलकमल भी पङ्कज नहीं कहा जा सकता, यह नियम योगार्थने किया । इस प्रकार पङ्कजादि शब्दोंमें योग और रूढि दोनोंसे मिश्रित पांचवीं वृत्ति मानी जाती है ।

(४) 'पंकेरुहं तामरसम्' इत्यादि अमरकोशमें पङ्कजका पर्याय पंकेरुह सूर्यविकासी कमलसामान्यके नामोंमें आया है ।

(५) 'स्यादुत्पलं कुवलयम्' इस अमरकोशसे चन्द्रविकासी कमलको उत्पल कहते हैं। और कभी कभी नीलादि विशेषण देनेसे या प्रसिद्धिसे नीलकमलको उत्पल कहते हैं ।

दप्युत्पलादिव्यावृत्तिसिद्धेः। दृश्यते ह्यनेकार्थस्याऽपि गोशब्दस्य प्रयोगबाहुल्यात् सास्नादिमद्व्यक्तौ प्रथमप्रतिपत्तिः। ततश्चतस्र एव शब्दवृत्तयः। तत्र यः शब्द एकत्राऽर्थे रूढोऽपरत्र यौगिको यथा छागे रूढोऽजशब्द आत्मनि यौगिकस्तत्राऽजं पश्येत्युक्ते रूढिर्योगमपहरतीति न्यायः प्रसरति। इह तु जिज्ञासाशब्दो न विचारे रूढः। ज्ञानेच्छालक्षणाद्यौगिकार्थाद्विचारस्याऽत्यन्तपार्थक्याभावात्। नहि ज्ञानेच्छामात्रं जिज्ञासाशब्दार्थः, किन्तु विचारसाध्यज्ञानविषयेच्छा। ज्ञानं खल्विष्यमाणं विषयेण सहाऽवगतमिष्यते, अनवगते विषये इच्छायोगात्।

देखा भी जाता है कि गोशब्दके अनेक[1] अर्थ हैं, परन्तु गोशब्दसे श्रवण करते ही [प्रकरण आदि अर्थनिश्चायकोंकी अपेक्षाके बिना ही] गलकम्बल और लम्बी पूँछ आदिसे युक्त चतुष्पाद पशु 'गौ' रूप ही अर्थका बोध होता है। कारण कि उक्त पशु गाय या बैलके बोध करानेमें ही गौ शब्दका अधिक प्रयोग होता है। [अतः पङ्कजपद भी अधिक प्रयोग होनेसे कुवलय आदिकी व्यावृत्ति करा देगा, इसके लिए पांचवीं वृत्ति मानना व्यर्थ है] इस कारण शब्दकी चार ही वृत्तियाँ हैं। ऐसी दशामें जो शब्द एक अर्थमें रूढ है और दूसरे अर्थमें यौगिक है, जैसे अजशब्द बकरारूप अर्थमें रूढ है और वही अज शब्द आत्मामें ('न जायते' जिसका जन्म नहीं होता, योग द्वारा) यौगिक है, ऐसे स्थलमें 'अजको देखो' ऐसा वाक्य कहनेसे 'रूढि योगका अपहार करती है' इस न्यायका अवसर आता है। प्रकृतमें जिज्ञासापद विचाररूप अर्थमें रूढ [केवल वृद्धव्यवहारव्युत्पाद्य] नहीं है। ज्ञानकी इच्छारूप यौगिक अर्थकी अपेक्षा विचाररूप अर्थ अत्यन्त भिन्न नहीं है [अर्थात् ज्ञानकी इच्छा और विचार—ये दोनों रात-दिनकी भाँति परस्पर भिन्नार्थ नहीं हैं] कारण कि ज्ञानकी केवल इच्छा यहाँपर जिज्ञासापदका अर्थ नहीं है, किन्तु विचारसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानके विषयकी इच्छा है, क्योंकि इच्छाके विषय—अभीष्ट—ज्ञानको उसके विषयके साथ ही जानना इष्ट है। ज्ञानके विषयके ज्ञात न होनेपर इच्छाका होना सम्भव नहीं है।

(१) "गौः स्वर्गे च बलीवर्दे रश्मौ च कुलिशे पुमान्।
स्त्री सौरभेयी दृग्बाणदिग्वाग्भूष्वप्सु भूम्नि च॥"

ततश्च प्रतिपन्ने वस्तुनि ज्ञानमिष्यमाणं संदिग्धे निश्चयफलं परोक्षेऽपरोक्षफलं वेष्यते। तच्चोभयं प्रमाणादिविचारप्रयत्नसाध्यमिति प्रतिपन्ने वस्तुनि विशिष्टज्ञानमिष्यमाणमविनाभावेन प्रमाणादिविचारं गमयति। ततो भाष्यकारादिभिर्जिज्ञासाशब्दो लक्षणया विचारे प्रयुक्तो न तु रूढ्या, येनाऽत्रोक्तन्यायः प्रसरेत्।

ननु शब्दत इच्छायाः प्राधान्येऽपि नेच्छामात्रं सूत्रेण प्रतिपाद्यते, प्रयोजनाभावात् किन्तु इष्यमाणज्ञानप्रदर्शनमुखेन तत्साधनं विचारमन्तर्णीतश्रुतिमुपलक्ष्य स एव तात्पर्येण प्रतिपाद्यते। अतोऽर्थतः प्रधानानां

ज्ञात वस्तुके ज्ञानकी इच्छाका प्रयोजन दिखलाते हैं—ज्ञात हुई वस्तुमें ज्ञानकी इच्छा होना सन्देहस्थलमें निश्चयात्मक ज्ञानरूप फलके लिए है और परोक्षस्थलमें साक्षात्काररूप फलके लिए है। ये दोनों फल प्रमाण आदि विचारविषयक प्रयत्नसे ही सिद्ध हो सकते हैं, इस रीतिसे ज्ञात वस्तुमें इच्छाका विषय हुआ विशिष्ट ज्ञान अविनाभाव द्वारा प्रमाण आदिके विचारका बोध कराता है। इसलिए भाष्यकारादिने जिज्ञासा शब्दका लक्षणाके द्वारा विचाररूप अर्थमें प्रयोग किया है, रूढिके द्वारा नहीं, जिससे उक्त 'रूढि योगार्थका अपहार करती है' न्यायका अवसर आ सके।

शङ्का—शब्द द्वारा इच्छाका प्राधान्य होनेपर भी इच्छाका ही सूत्रसे प्रतिपादन नहीं किया गया है, क्योंकि इसमें कोई प्रयोजन नहीं है, किन्तु इच्छाके विषयभूत ज्ञानके द्वारा उस ज्ञानके साधनीभूत अन्तर्णीत विचारको उपलक्ष्य करके उसीका तात्पर्य द्वारा प्रतिपादन किया जाता है। इसलिए अर्थसे प्राप्त प्रधानीभूत विचार, ज्ञान और ब्रह्म इनमें से किसी भी एकके प्रतिपादनमें

इस मेदनी कोशके अनुसार गो शब्दके अर्थ स्वर्ग, बैल, किरण, वज्र, गाय, दृष्टि, बाण, दिशा, वाणी, पृथ्वी, जल ग्यारह हैं। इनमें प्रथम अर्थोंमें पुल्लिङ्ग हैं और शेषमें स्त्रीलिङ्ग।

(१) प्रकृति और प्रत्ययार्थमें प्रत्ययार्थका ही प्राधान्य होता है, इस व्युत्पत्तिके बलसे जिज्ञासापदमें इच्छाको ही शब्दप्राधान्य है।

(२) आपाततः ज्ञात ब्रह्मके ज्ञानकी इच्छा निश्चयरूप या साक्षात्काररूप फलके लिए होती हुई प्रमाणादि विचारमें पर्यवसित होती है, अतः जिज्ञासापदसे शब्दतः विचारका बोध न होते हुए भी अर्थतः विचारका बोध होता है। अतः विचाररूप अर्थ जिज्ञासापदसे अन्तर्णीत गृहीत है।

विचारज्ञानब्रह्मणामन्यतमस्य तात्पर्येण प्रतिपाद्यस्याऽऽरम्भायाऽथशब्द इति चेद्; मैवम्। तथा सत्यथशब्देनाऽऽनन्तर्याभिधानमुखेन शास्त्रीयसाधनचतुष्टयसंपन्नस्याऽधिकारिविशेषस्य न्यायतः समर्पणाभावात् कर्त्तव्यतया विधीयमानो विचारो निरधिकारोऽननुष्ठेयः स्यात्। न च विचारविधिरेव विश्व-

(सूत्रका) तात्पर्य मानकर [सूत्रमें] आरम्भवाची अथशब्द है। [यद्यपि जिज्ञासापदसे शब्दतः इच्छाका प्राधान्य है, उसका अधिकारप्रारम्भ सम्भव नहीं, तथापि अर्थतः विचारादिका ही प्राधान्य है, इसलिए अर्थतः प्रधान विचारका प्रारम्भ करना सम्भव है और विचारादिका प्रतिपादन प्रत्येक अधिकरणमें किया भी गया है, यह तात्पर्य है]।

समाधान—ऐसा मानना उचित नहीं है, कारण कि अथशब्दका आपका सम्मत अधिकाररूप अर्थ माना जाय, तो अथशब्द द्वारा आनन्तर्यरूप अर्थका बोधन करनेसे शास्त्रप्रतिपादित साधनचतुष्टयकी सम्पत्ति—उत्कर्ष—युक्त अधिकारिविशेषका न्यायसे [शब्दार्थ द्वारा] बोध नहीं हो सकता। इसलिए कर्तव्य मानकर विहित विचार अधिकारके बिना अनुष्ठानके योग्य नहीं हो सकता।

[हमारे मतमें अथशब्दसे आनन्तर्यरूप अर्थमें तात्पर्यका प्रतिपादन करनेसे शम, दम आदि साधनचतुष्टयसम्पन्न ही विचारका अधिकारी है, यह प्रतिपादित होता है। अतः अधिकारयुक्तके लिए ही विहितका अनुष्ठान संगत होता है।] यह भी

(१) 'नित्याऽनित्यविवेकः, इहामुत्रार्थभोगविरागः, शमदमादिसाधनसंपत्, मुमुक्षुत्वं च' नित्य—आत्मा—अनित्य देहेन्द्रियादि विषय अर्थात् दृश्य, इनका तथा इनके धर्मोंका विवेकज्ञान। इस लोकमें तथा परलोकमें भी प्राप्य विषयभोगसे विरक्ति। शम—विरक्तिका मूल साधन मनका विजय है, जिससे पाप-पुण्योंकी उत्पन्न करनेवाली फलभावनासे होनेवाली प्रवृत्तियां शान्त हो जाती हैं। इसके कारण ही पुरुष जितेन्द्रिय तथा वशी कहलाता है। और वशमें आये हुए मनकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्मतत्त्वके साक्षात्कार करनेमें योग्यता प्राप्त करना दम है। आदि पदसे विषयोंसे जनित सुख, दुःख, शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वोंसे उद्वेग न होना तितिक्षा है, जैसे कि भगवान्‌ने गीतामें कहा है 'मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः। आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥' तथा वैराग्य, भोगेच्छासे विमुखता एवम् ब्रह्मतत्त्वमें श्रद्धा रखना, श्रुति कहती है 'तस्माच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येत्, 'सर्वमात्मनि पश्यति' और मोक्षकी इच्छा करना। इन चारोंके उत्कर्षवालेको ही शास्त्र अधिकारी कहता है।

जिन्न्यायेनाऽधिकारिविशेषं कल्पयित्वा प्रवृत्तिपर्यन्तो भविष्यति किमानन्तर्यार्थेनाऽथशब्देनेति वाच्यम्, कर्त्तव्यतयाऽवगतो विचारः प्रारम्भमर्थाद्गमयति किं विचारप्रारम्भार्थेनाऽथशब्देनेत्यपि सुवचत्वात्। तर्हि विधिसामर्थ्यादुभयप्राप्तौ कस्तत्र निर्णय इति चेद्; विध्यपेक्षितोपाधित्वादानन्तर्याभिधानमुखेनाऽधिकारिसमर्पणमेव युक्तमिति ब्रूमः। यद्यथशब्देन विशिष्टाधिकारिणं मुखतोऽसमर्प्य विश्वजिन्न्यायेन तं कल्पयसि तदा विचारविध्यन्यथानुपपत्त्या सामान्यतस्त्रैवर्णिकाधिकारं प्रसक्तं कृत्वा पुनस्तन्निषेधेन मोक्षकामाधिकारः कल्पनीय इति गौरवं स्यात्। ततो वरमथशब्देनैव विशिष्टाधिकारिसमर्पणम्।

कहना संगत नहीं होता कि विचारका विधान करना ही विश्वजिन्न्यायसे अधिकारिविशेषकी कल्पना करके स्वयं प्रवृत्तिपरक हो जायगा। इसके लिए अथ शब्दको आनन्तर्यार्थक माननेकी आवश्यकता ही क्या है ? कारण कि कर्तव्यरूपसे समझा गया विचार—विवेक—प्रारम्भरूप अर्थका अर्थात् बोध करा देता है। प्रारम्भार्थक अथशब्द रखनेकी आवश्यकता ही क्या है ? प्रतिवादीका ऐसा भी कहना सरल और सम्भव है। यदि विधिसामर्थ्यसे प्रवृत्ति—अनुष्ठान—और विचारविधिसामर्थ्यसे ही प्रारम्भरूप अर्थ दोनों सम्भव हैं, तो इनमें से किस अर्थका निर्णय किया जाय, ऐसी शङ्का होती है। उत्तरमें कहेंगे कि विधिसे अपेक्षित उपाधि—हेतु—बलसे आनन्तर्यरूप अर्थका बोध करा कर अधिकारीका उपस्थान करना ही युक्तिसङ्गत है।

विपक्षमें बाधक दिखलाते हैं—यदि अथशब्द द्वारा साक्षात् विशिष्ट—साधनचतुष्टयसम्पन्न—अधिकारीका समर्पण न करके विश्वजिन्नयायसे अधिकारीकी कल्पना करो, तो विचारविधिकी अन्यथा अनुपपत्तिसे सामान्यतः तीन—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—वर्णोंके अधिकारकी प्रसक्ति करनेके अनन्तर [अतिप्रसङ्गका वारण करनेके लिए] निषेध वचन करना होगा, मोक्षकी इच्छा रखनेवालेको ही वेदान्तविचारमें अधिकारकी कल्पना करनी होगी, इस प्रकार गौरव होगा। इसलिए—उक्त गौरवसे छुटकारा पानेके लिए—अथशब्दसे ही विशिष्ट अधिकारीका समर्पण करना उचित है।

ननु विधिप्रतिपत्तिविशिष्टाधिकारिप्रतिपत्त्योः कालभेदे सत्युक्तदोषो भवति। नेह कालभेदः। किन्तु रात्रिसत्रन्यायेनाऽर्थवादगतं मोक्षं ब्रह्मज्ञानं वा फलत्वेन परिणमय्य मोक्षकामो ब्रह्मज्ञानकामो वा विचारयेदिति विधिप्रतिपत्तिसमयेऽधिकारिविशिष्टविधिः प्रतीयते; ततो न प्रसज्य-प्रतिषेधरूपं गौरवमिति चेत्, तत्रेदं वक्तव्यम्—किं विशिष्टाधिकारं विचार-शास्त्रम् उत त्रैवर्णिकमात्राधिकारमिति? आद्ये प्रतीतो विधिरुत्सर्ग-तस्त्रैवर्णिकसम्बन्धी पश्चादर्थवादबलात् त्रैवर्णिकविशेषमोक्षकामसम्बन्धीति

शङ्का—विधिके बोध और विशिष्ट अधिकारीके बोधमें जहां कालभेद होता है [अर्थात् दोनों भिन्न-भिन्न कालमें होते हैं] वहींपर उक्त गौरवरूप दोष आता है। प्रकृतमें कोई कालभेद नहीं है, किन्तु रात्रिसत्रन्यायसे अर्थवादसे अवगत मोक्ष या ब्रह्मज्ञानका फलरूपसे परिणाम करके (अर्थात् फल मानकर) मोक्षकी कामनावाले अथवा ब्रह्मज्ञानार्थीको विचार करना चाहिए, ऐसा विधि-ज्ञानकालमें ही अधिकारिविशिष्ट विधिका ही बोध होता है [निरधिकार विधिका बोध नहीं होता।] इससे (त्रैवर्णिकके अधिकारकी प्रसक्तिका निषेधात्मक) प्रसज्य प्रतिषेधरूप गौरव आनेका अवसर नहीं आता।

समाधान—ऐसा नहीं, कारण कि इसमें हमको कहना है कि विचार-शास्त्रमें विशिष्टका ही अधिकार है? अथवा तीनों वर्णमात्रका ही अधिकार है? यदि दोनों विकल्पोंमें प्रथम विकल्प माना जाय, तो सूत्र द्वारा प्रतीत हुआ विधान सामान्यतः (वेदाधिकारी होनेसे) तीनों वर्णोंके लिए है, ऐसा प्रतीत होनेके अनन्तर अर्थवादकी सामर्थ्यसे तीनों वर्णोंमें विशिष्ट व्यक्ति जो

(१) रात्रिसत्रन्याय 'प्रतितिष्ठन्ति ह वा एतेयएता रात्रीरुपयन्ति' इस रात्रिसत्र—'आयु-र्ज्योतिः' इत्यादि वाक्योंसे प्रतिपादित सोमयागविशेषके प्रतिपादक वाक्यमें 'अमुक इच्छावाले करे' ऐसा अधिकारका श्रवण नहीं है, इसलिए अविशेषरूपसे स्वर्ग सबका ही अभीष्ट होनेसे स्वर्गकामीका अधिकार निःसन्देह प्राप्त होता है, अन्यथा विधिवैयर्थ्य होता है। वाक्यशेष द्वारा फलकल्पना सन्देहस्थलमें मानी जाती है, 'प्रतिष्ठन्ति' पदश्रुति भी लक्षणाके द्वारा स्वर्ग-परक ही है, इस पूर्वपक्षके उत्तरमें जैमनि अधिकरणमालाके चतुर्थ अध्यायके 'फलमात्रेयो निर्देशादश्रुतौ ह्यनुमानं स्यात्' १८वें सूत्रसे निर्णय किया गया कि 'प्रतितिष्ठन्ति' पदश्रुतिसे प्रतिष्ठा-कामका ही अधिकार श्रुतिसिद्ध है। श्रुतिसिद्ध न होनेसे ही अश्रुतका अनुमान होता है। एवम् श्रौत प्रतिष्ठारूप फलसे ही विधि चरितार्थ हो जाती है। वैसे ही प्रकृतमें अर्थवाद गत श्रौत फल मानना उचित है।

कालभेदेन प्रतिपत्तेरुक्तदोषो दुर्वारः । ननु त्वत्पक्षेऽपि विधिबलात् सर्वाधिकारप्रसक्तावथशब्देन विशिष्टाधिकारिसमर्पणात् प्रसज्यप्रतिषेधो दुर्वार इति चेद्, न; श्रवणविधिप्रकरणपठितस्यैव साधनचतुष्टयसंपन्नाधिकारिणोऽथशब्देन न्यायतः समर्पणात् । द्वितीयेऽपि किं फलतः सर्वाधिकारं शास्त्रं किं वा विधितः? नाऽऽद्यः, सर्वेषां ब्रह्मज्ञानलक्षणफलार्थित्वाभावात् । न च वस्तुसुखसाक्षात्काररूपे ब्रह्मज्ञाने किमित्यर्थित्वाभाव इति वाच्यम्,

---

मोक्षार्थी है, उसके ही लिए हैं, ऐसा माननेसे प्रतिपत्तिमें कालभेद आ जाता है अतः उक्त दोष नहीं हटाया जा सकता ।

शङ्का—अथशब्दको आनन्तर्यर्थक माननेवाले के मतमें भी विधानकी सामर्थ्यसे सबका ही (अधिकारिमात्रका) अधिकार प्रसक्त होनेपर अथशब्द द्वारा विशिष्ट (मोक्षार्थी) अधिकारीका समर्पण होता है ।

समाधान—मेरे मतमें यह दोष नहीं आता, कारण कि श्रवणविधिमें पढ़े गये साधनचतुष्टयसे युक्त अधिकारीका ही अथशब्द द्वारा न्यायत समर्पण किया जाता है ।

संकुचिताधिकारयुक्तका ही विधान अथशब्द प्रतीत कराता है, प्रसक्तका निषेध नहीं कराता । द्वितीय कल्प माननेमें भी विकल्पोंका उदय होगा कि क्या फलके द्वारा शास्त्रमें सबका ही अधिकार कहते हो? विचारशास्त्रका ब्रह्मज्ञान या मोक्षरूप फल है, इसके लिए सभी विचारशास्त्रके अधिकारी होंगे? अथवा विधिसामर्थ्यसे? (विधान ही स्वयं सबका अधिकार कहता है?) इनमें प्रथम कल्प नहीं हो सकता, कारण कि सभी ब्रह्मज्ञानरूप फलकी चाह नहीं रखते हैं। वस्तुभूतमें वस्तु पदका देना विशेष अर्थका साधक नहीं, अथवा वस्तुतः पाठ उचित मालूम होता है। (वास्तविक) सुखके साक्षात्कारस्वरूप ब्रह्मज्ञानकी इच्छा नहीं होती, ऐसा क्या असंगत कहा जाता है? अर्थात् सुखको कौन नहीं चाहता? ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण कि साधारण लोगोंकी दृष्टिमें ब्रह्मज्ञान पुरुषार्थ नहीं है, इसलिए उसकी इच्छा सर्वसाधारणको नहीं हो सकती। (ब्रह्मज्ञानको पुरुषार्थ न माननेका उपपादन करते हैं—यह निश्चित है कि ब्रह्मज्ञानसे मनका (मनोवृत्तियोंका) विलय हो जाता है, जिसके कारण सम्पूर्ण विषयोंके सम्पर्क (इच्छामें

ब्रह्मज्ञानाद्धि मनसोऽपि वियोगान्निखिलविषयानुषङ्गनिवृत्तिः श्रूयते। सा च सार्वभौमोपक्रमं ब्रह्मलोकावसानमुत्कृष्टोत्कृष्टसुखं श्रूयमाणं सोपायं निवर्तयति; अतो ब्रह्मज्ञानमपुमर्थः, उत्कृष्टसुखनिवर्तकत्वाद्, व्याध्यादिवत्, इति मन्वानो लोको न ब्रह्मज्ञानमर्थयते, प्रत्युत तस्मादुद्विजते। ब्रह्मज्ञानं पुमर्थः, निरतिशयानन्दहेतुत्वात्, धर्मवत्। तद्धेतुत्वं च श्रुतिसिद्धमिति चेद्, एवमपि दृष्टानन्दोपायान् विषयान् परित्यज्य श्रुतानन्दसाधने ब्रह्मज्ञाने प्रेक्षा न युक्ता। तदुक्तम्—

'अथाऽऽनन्दः श्रुतः साक्षान्मानेनाऽविषयीकृतः।
दृष्टानन्दाभिलापं स न मन्दीकर्तुमप्यलम्॥' इति॥

आना) की निवृत्ति हो जाती है। और वह विषयाभिलाषाकी निवृत्ति अतिशय सुखवाले सार्वभौमसे—भूलोकके साम्राज्यसे—लेकर ब्रह्मलोक तककी इच्छाकी उपायसहित निवृत्ति करा देती है। [अर्थात् जब मनका विलय होनेसे सम्पूर्ण विषयोंका अनुषङ्ग ही निवृत्त हो जाता है तब किसी सुखमात्रा तक पहुँचानेवाले विषयकी प्राप्तिके उपायका अन्वेषण करना नहीं बनता।] इसलिए 'ब्रह्मज्ञान पुरुषार्थ नहीं है, उत्कृष्ट सुखका निवर्तक होनेसे, व्याधि—रोग—आदिके समान। [जैसे रोग सब प्रकारके सुखोंका निवर्तक होनेसे पुरुषार्थ नहीं है वैसे ही ब्रह्मज्ञान भी पुरुषार्थ नहीं हो सकता।] इस प्रकार सिद्धान्त मानकर सर्वसाधारण लोग ब्रह्मज्ञानको नहीं चाहते, प्रत्युत—उसके विपरीत—उससे भय खाते हैं। उक्त अनुमानके प्रतिकूल ब्रह्मज्ञान पुरुषार्थ है, सबसे उत्कृष्ट आनन्दका कारण होनेसे, धर्मके समान, ऐसा अनुमान करेंगे, ब्रह्मज्ञान उत्कृष्ट सुखका कारण है, यह 'तरति शोकमात्मवित्' (आत्मज्ञानी शोकको पार कर जाता है) इस श्रुतिसे ही सिद्ध है; यदि ऐसा कहो तो, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्यक्ष अनुभवमें आनेवाले आनन्ददायक विषयोंको छोड़कर शब्द द्वारा जाने हुए—सुने हुए—आनन्ददायक ब्रह्मज्ञानमें निश्चयात्मिका बुद्धिका होना युक्तिसङ्गत नहीं है। कहा भी गया है—

'किसी अन्य प्रमाणका विषय न होनेवाला श्रुत आनन्द प्रत्यक्ष अनुभवमें आनेवाले आनन्दका बाध करनेमें तो क्या न्यून करनेमें भी समर्थ नहीं है।'

शङ्का—सम्पूर्ण विषयोंके सम्पर्कसे होनेवाला आनन्द भी ब्रह्मज्ञानसे ही

ननु निखिलविषयानुषङ्गसाध्य आनन्दो ब्रह्मज्ञानादेव सिध्यतीति नित्यतृप्तये विषयपरित्यागेन ब्रह्मज्ञानमपेक्ष्यतामिति चेत्, न पामराणां विषयविच्छेदिकायां तृप्तावप्युद्वेगदर्शनात्। तथा च मूर्खा वदन्ति—अहो कष्टं किमिति सृष्टिरेवं न बभूव यत्सर्वदैव भोक्तुं सामर्थ्यमतृप्तिर्भोग्यानां चाऽक्षय इति। मोक्षस्तु विषयसुखलेशमपि नाऽर्हतीति तेषामभिमानः। तथा च रागिगीतमुदाहरन्ति—

सिद्ध होता है, [पहले मङ्गलाचरणमें ग्रन्थकार कह आये हैं कि 'स्वमात्रयानन्दयदत्र जन्तून्' अर्थात् विषयानन्दमें भी ब्रह्मानन्दकी ही मात्रा है। श्रुति भी कहती है—उसकी ही आनन्दमात्राके सहारे अन्यत्र भी आनन्द है। अतः मूल आनन्दके ज्ञानसे नित्य आनन्द अर्थात् पूर्ण तृप्ति होती है] अतः नित्य तृप्तिके लिए विषयका परित्याग कर ब्रह्मज्ञानकी ही अपेक्षा करो।

समाधान—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, कारण कि सर्वसाधारण अविवेकी पुरुषोंको तृप्ति होनेपर विषयका विनाश होनेसे, उद्वेग—विकलता—अर्थात् अरुचि देखी जाती है। [विवेकशून्योंका व्यवहार दिखलाते हैं—] मूर्ख—विचाररहित—पुरुष कहा करते हैं कि अहो ! बड़ा दुःख है कि सृष्टि ऐसी क्यों नहीं हुई कि भोग करनेकी सामर्थ्य सदैव बनी रहती और अतृप्ति तथा भोग करनेकी सामग्रीका विनाश न होता। [विषयाभिलाषी लोगोंको स्रक्, वनिता आदि विषय रहते हुए भी वार्द्धक्य अथवा रोगादिके कारण सामर्थ्यके क्षीण होनेपर पश्चात्ताप होता है कि विधाताने यह क्या किया कि हमारी भोगशक्ति पूर्ववत् न रही, अब हमारे ये विषय किस कामके हैं ? एवं भोगसामर्थ्य भी है और भोग भी है, परन्तु भोगके अनन्तर ही क्षणिक तृप्ति हो जानेके कारण तुरत अरुचि हो जानेसे खेद होता है कि अतृप्ति ही बनी रहती, तो ऐसा सुन्दर विषय क्यों छोड़ा जाता ? बराबर ही भोग किया करते तथा क्षणान्तरमें पुनः अतृप्ति हो जानेसे भोगाभिलाषमें प्रवृत्त हुए प्राणीने देखा तो विषय ही समाप्त। बस, सृष्टिके इन तीनों गुणोंसे भिन्न होनेके लिए विषयियोंका पूर्वोक्त आक्रोश है।] मोक्ष तो विषयसुखके अंशको भी नहीं पा सकता, इस प्रकार उनका अभिमान है। इस अभिप्रायसे रागियोंके गीतका उदाहरण देते हैं—

'अपि वृन्दावने शून्ये शृगालत्वं स इच्छति ।
न तु निर्विषयं मोक्षं कदाचिदपि गौतम ! ॥' इति ।

नन्वस्तु तर्हि विधितः सर्वाधिकारं शास्त्रमिति द्वितीयः पक्षः । दृष्टफलो ह्ययमध्ययनविधिर्यावदर्थावबोधं व्याप्रियमाणः फलनिष्पत्तये विचारमप्यनुष्ठापयति । तथा चाऽध्ययनविधेस्त्रैवर्णिकाधिकारत्वात् तत्प्रयोजनस्य विचारस्याऽपि तथात्वं युक्तम् । यद्यपि न विचारोऽध्ययनविधेर्विषयः, पाठमात्रस्यैव धात्वर्थत्वाद् । नाऽपि तदुपकारी, विचारमन्तरेणाऽपि पाठनिष्पत्तेः; तथाऽपि अध्ययनविधेः फलपर्यन्तत्वसिद्धये विचारस्य तद्विधिप्रयोज्यत्वं भविष्यति । यथा 'व्रीहीनवहन्ति' इत्यत्र सकृदवघातमात्रेण

हे गौतम ! वह विषयरागी पुरुष शून्य वृन्दावनके जंगलोंमें सियार होना चाहता है, परन्तु विषयहीन मोक्षको कभी भी नहीं चाहता ।

शङ्का—यदि प्रथम पक्ष—मोक्ष या ब्रह्मज्ञानरूप फलके कारण विचारशास्त्रमें सबका अधिकार मानना—युक्तिसङ्गत न हो, तो द्वितीय पक्ष—विधिसामर्थ्यसे ही सबका अधिकार प्राप्त होना—मानो, क्योंकि अर्थज्ञानरूप फलवाला अध्ययनविधान अर्थज्ञान कराने तक अपना व्यापार करता हुआ 'ब्रह्मज्ञान या मोक्षरूप' फलकी सिद्धिके लिए विचारका भी अनुष्ठान करा देता है । इसलिए अध्ययनविधिमें तीनों वर्णोंका अधिकार होनेसे विचारशास्त्रमें भी सभी अधिकारियोंका अधिकार प्राप्त होना युक्तिसंगत होता है । यद्यपि विचार न अध्ययनका विषय है, क्योंकि पढ़ना—पाठमात्र करना—ही 'इङ् अध्ययने' धातुका अर्थ है, और न उसका—पढ़नेका—उपकारी ही है, क्योंकि विचार किए बिना भी पाठ हो सकता है; तथापि अध्ययनविधानकी फलपर्यन्त सिद्धिके लिए विचार अध्ययनविधिका प्रयोज्य माना ही जायगा । [तात्पर्य यह है कि यदि अध्ययनसे ब्रह्मज्ञान या मोक्ष न होगा, तो अध्ययन व्यर्थ हो जायगा और ब्रह्मज्ञान तभी हो सकता है, जब विचार किया जाय, इसलिए अध्ययनको सफल करनेके लिए अध्ययनविधान ही विचारकी भी सिद्धि करेगा ।] जैसे 'व्रीहियोंका—धानोंका—अवघात करना चाहिए' इस विधानमें केवल एकबार ही मूसलका आघात कर देनेसे विधिके चरितार्थ होनेपर भी चावलोंकी सिद्धिरूप फल पानेके लिए अवि-

विध्युपपत्तावपि तन्दुलनिष्पत्तिलक्षणफलसिद्ध्यर्थमविहितस्य विहितानुपकारस्याऽप्यवघातपौनःपुन्यस्य विधिप्रयोज्यत्वं तद्वत्। तस्मात् विचारसाध्यार्थनिश्चयफलादध्ययनविधेः शास्त्रं सर्वाधिकारं प्राप्तमिति। नैतत्सारम्, किमर्थज्ञानमध्ययनस्य दृष्टफलमन्वयव्यतिरेकसिद्धम्, उत तदुद्देशेन विधानात् शास्त्रीयम्, किं वा विधेः प्रयोजनपर्यन्ततासामर्थ्येन लभ्यम्? आद्येऽपि न तावदर्थनिश्चयोऽध्ययनफलम्, केवलादध्ययनादावृत्तिसहिताद्वा निश्चयानुदयात्। विचारेण तदुदये विचारस्यैव फलं स्याद् नाऽध्ययनस्य। यद्यर्थस्याऽऽपातदर्शनमध्ययनफलं न तदा विचारस्य तत्प्रयोज्यत्वम्, साङ्गवेदाध्ययनादेव तत्सिद्धेः।

नन्वस्तु तर्हि विधिबलाच्छास्त्रीयमिति द्वितीयः पक्षः। तथा हि—

हित तथा अनुपकारी भी मुसलघातोंका बराबर करते रहना अवघातविधिसे ही सिद्ध होता है वैसे ही प्रकृतमें भी विचार अध्ययनविधिसे प्रयोज्य होता है, इसलिए विचारसाध्य अर्थनिश्चय—ब्रह्मज्ञान—रूप फलके कारण विचारशास्त्रमें तीनों वर्णोंका अधिकार प्राप्त होता है।

समाधान—उक्त कथनमें कोई सार—तत्त्व—नहीं है। क्या अध्ययनका अर्थज्ञानरूप दृष्ट फल अन्वय—व्यतिरेकसे सिद्ध है? अथवा अर्थज्ञानके उद्देश्यसे अध्ययनका विधान होनेसे शास्त्रसे सिद्ध है? या विधानकी प्रयोजनपर्यन्त सामर्थ्य होनेसे वह [अर्थज्ञानका दृष्ट फल] सिद्ध होता है? प्रथम पक्ष माननेमें भी अध्ययनका अर्थनिश्चयरूप फल नहीं हो सकता, कारण कि केवल पढ़नेसे या बार—बार आवृत्ति करनेसे ही अर्थके निश्चयका उदय नहीं हो पाता। विचारके द्वारा उसका [अर्थनिश्चयका] उदय होता है, इसलिए विचारका ही वह फल होगा, अध्ययनका नहीं। अर्थका—ब्रह्मका—आपातदर्शन [पढ़ते ही साक्षात्कार हो जाना] अध्ययनका फल है, यदि ऐसा कहो, तो विचारको अध्ययनका प्रयोज्य मानना सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि अङ्गोंके सहित वेदके पढ़नेसे ही वह—ब्रह्मनिश्चयरूप फल—सिद्ध हो जायगा। [इस अवस्थामें अध्ययनविधिका विचारपर्यन्त तात्पर्य क्यों कर मानना होगा?]

शङ्का—दृष्ट फल अन्वय-व्यतिरेकसे सिद्ध नहीं है, तो विधिकी सामर्थ्यसे

---

(१) 'व्रीहिनवहन्ति' यह विधिवाक्य केवल अवघातका विधान करता है, अवघातकी बराबर आवृत्तिरूप पौनःपुन्यका विधान नहीं करता। इससे पौनःपुन्य—आवृत्ति—अविहित है।

अध्येतव्य इति तव्यप्रत्ययेन स्वव्यापारः शब्दभावना विधिरूपतयाऽभिधीयते। सा च शब्दभावनाऽर्थभावनां निष्पादयन्ती फलवदर्थावबोधं पुरुषार्थं भाव्यत्वेन कल्पयति। तत्र भाव्यान्तरत्वात् समानपदोपात्तमध्ययनं करणतामापद्यते। यद्यध्ययनमेव भाव्यं स्यात् तदाऽक्षरावाप्तिः फलमिति मतं त्वदीयमपि न सिध्येत्। ततः करणस्याऽध्ययनस्य भाव्योऽर्थावबोधो विधिबलात् फलं भविष्यतीति। नैतदप्युपपन्नम्, कर्माभिधायिना तव्यप्रत्ययेन कर्मभूतस्वाध्यायगतप्राप्तिलक्षणभाव्याभिधाने संभवति भाव्या-

---

उसको शास्त्रीय फल मान लेंगे, ऐसा दूसरा विकल्प रहेगा, क्योंकि 'अध्येतव्यः' इस पदमें तव्यप्रत्ययसे व्यापाररूप शब्दभावना ही विधिस्वरूपमें अभिहित होती है। [तव्यप्रत्ययका अर्थ शाब्दी भावना ही अप्रवृत्तको प्रवृत्त करानेवाली विधि है।] वह शब्दभावना अर्थभावनाको उत्पन्न करती हुई अर्थनिश्चयात्मक पुरुषार्थकी साध्यत्वरूपसे कल्पना करती है। वहांपर भाव्यान्तर होनेसे समानपदसे बोधित हुआ अध्ययन करण हो जाता है। ['भावयेत्' इत्यादि पदात्मिका शाब्दी भावनामें भाव्य और किस प्रकार तथा किस साधनसे ? इन अशोंकी अपेक्षा होनेपर अर्थभावना शाब्दी भावनासे साध्य होगी और अर्थभावनाको भी करणकी अपेक्षा होनेपर अध्ययन करण माना जायगा, कारण कि स्वाध्यायका अध्ययन तो स्वयं पुरुषार्थ हो नहीं सकता और अर्थनिश्चयात्मक साध्य दूसरा विद्यमान ही है। इसलिए प्रत्ययार्थभावनासे गृहीत अध्ययनको करणभावना ही मानना उचित है।] यदि अध्ययन ही भावनासे साध्य माना जाय, तो इस दशामें 'अक्षरोंका ज्ञान होना फल है' ऐसा तुम्हारा भी मत सिद्ध नहीं होगा। [यदि संनिहित अध्ययन द्वारा प्रत्ययार्थभावना अपने भाव्यांशमें निराकाङ्क्ष हो जाय, तो अध्ययनक्रियाका अक्षरग्रहणान्त स्वाध्यायकी प्राप्तिरूप फलकी सिद्धि नहीं हो सकती, जैसा कि अध्ययनके बारेमें पद्मपादाचार्य कहते हैं—'सा ह्यधीयमानावाप्तिफलत्वादक्षरग्रहणमात्रा' इति। इसलिए करणभूत अध्ययनक्रियाका साध्य—अर्थनिश्चयात्मक फल ही—अध्ययनविधिकी सामर्थ्यसे होगा।

समाधान—ऐसा कहना भी नहीं बन सकता, कारण कि कर्मरूप अर्थको कहनेवाले तव्यप्रत्ययसे कर्मभूत अपने स्वाध्यायकी प्राप्तिरूप भाव्य—

न्तरकल्पनायोगात् । समानपदोपात्तमध्ययनं परित्यज्य भिन्नपदोपात्तस्य बहिरङ्गस्य स्वाध्यायस्य प्राप्तेः कथं भाव्यत्वमिति चेद्, न; स्वाध्यायस्य कर्माभिधायितव्यप्रत्ययार्थत्वेन प्रत्ययार्थभूतभावनां प्रति प्रकृत्यर्थाद्ध्ययनादप्यन्तरङ्गत्वात् ।

नाऽपि तृतीयः, अक्षरग्रहणस्यैवाऽध्ययनविधिप्रयोजनत्वात् । नन्वक्षरग्रहणस्य स्वयमपुरुषार्थत्वात् न फलत्वं तदर्थावबोधस्य त्वया विधिप्रयोजनत्वानङ्गीकारादन्यस्य च कर्मकारकगतफलस्याऽभावात् सक्तुन्यायेन कर्मप्राधान्यं परित्यज्य स्वाध्यायाध्ययनेन स्वर्गं भावयेदिति कल्पना प्रसज्येत, ततो वरमर्थावबोधस्य विधिप्रयोजनत्वम्, दृष्टे सत्यदृष्टं न कल्प्यमिति न्यायात् । संभवति हि साङ्गवेदाध्ययनमात्रादर्थनिश्चयः । अर्थावबोधहेतोर्व्याक-

---

साध्य—की प्रतीतिका सम्भव होनेसे दूसरे साध्यकी कल्पना करनेका अवसर नहीं आ सकता । 'अध्येतव्यः' इस समानपदसे गृहीत अध्ययनको छोड़ कर 'स्वाध्यायः' इस भिन्नपदसे ज्ञात बहिरङ्ग स्वाध्यायकी प्राप्ति साध्य कैसे हो सकती है ? ऐसी शङ्का नहीं हो सकती, कारण कि स्वाध्याय कर्मवाचक तव्यप्रत्ययका अर्थ है, इसलिए स्वाध्याय प्रत्ययार्थ भावनाके प्रति प्रकृतिके अर्थ अध्ययनकी अपेक्षासे भी अन्तरङ्ग है ।

तीसरा विकल्प—विधिका अर्थनिश्चयरूप प्रयोजनपर्यन्त तात्पर्य होनेसे शास्त्रमें सबका अधिकार भी नहीं माना जा सकता, कारण कि अक्षरग्रहण ही अध्ययनविधिका प्रयोजन माना गया है ।

शङ्का—अक्षरका ग्रहण स्वयं पुरुषार्थ नहीं है, इसलिए वह फल नहीं हो सकता, उसके अर्थज्ञानको तुम—वेदान्ती—अध्ययनविधिका प्रयोजन मानते नहीं । इन दोनोंसे अतिरिक्त कोई कर्मकारकगत फल है नहीं, इसलिए सक्तुन्यायसे [प्रत्ययार्थ होते हुए भी] कर्मके प्राधान्यका त्याग कर 'स्वाध्यायके अध्ययनसे स्वर्गकी भावना करनी चाहिए' यह कल्पना करनी होगी । [अर्थात् विश्वजिन्न्यायसे अध्ययनविधिका भी स्वर्ग ही भाव्य होगा ।] इससे यही उत्तम है कि अध्ययनविधिका अर्थ निश्चयरूप ही प्रयोजन माना जाय । न्याय भी है कि दृष्ट फलके सम्भव रहते अदृष्ट फलकी कल्पना नहीं करनी चाहिए । अङ्गोंके सहित वेदाध्ययनसे ही अर्थका निश्चय होता है, क्योंकि अर्थावबोधका कारण व्याकरण भी तो अङ्ग है, ऐसा माननेसे विचार-

रणस्याऽप्यङ्गत्वात् । न चैवं विचारशास्त्रवैयर्थ्यम्, अवबुद्धार्थावगतविरोधपरिहाराय तदपेक्षणात् । अतः पुरुषार्थभूतफलवदर्थावबोधो विधिप्रयोजनम्, नाऽक्षरग्रहणमिति चेद्, नैवम्; अर्थावबोधहेतुत्वेनाऽक्षरग्रहणस्याऽपि पुरुषार्थत्वात् । फलभूतक्षीरादिहेतूनां गवादीनामपि पुरुषैरर्थ्यमानतादर्शनात् । विधेरक्षरग्रहणमात्रोपक्षयेऽर्थज्ञानमाकस्मिकं स्यादिति चेद्, न; अर्थावबोधस्य फलप्रयुक्तत्वात् । नहि विधिप्रयुक्तोऽर्थावबोधः, लौकिकाप्तवाक्यानां विधिमन्तरेण फलवदर्थावबोधकत्वदर्शनात् । न चाऽध्ययनादक्षरग्रहणस्य विशेषाभावात् कथं तयोर्हेतुफलभाव इति वाच्यम्; अक्षराभिव्यक्तिर्नाम स्वाधीनोच्चारणयोग्यत्वाख्योऽक्षरधर्मः । अध्ययनं तु तदर्थो वाङ्मनसव्यापार इति विशेषसद्भावात् । एवं च तदध्ययनस्याऽक्षरग्रह-

---

शास्त्र व्यर्थ भी नहीं हो सकता, कारण कि ज्ञात अर्थमें प्रतीत विरोधके परिहारके लिए विचार-शास्त्रकी अपेक्षा है । इससे पुरुषार्थस्वरूप फलवान् अर्थ-ज्ञान (ब्रह्मज्ञान) ही अध्ययनविधिका प्रयोजन है, अक्षरग्रहण नहीं ।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि अर्थज्ञानका कारण होनेसे अक्षरग्रहण भी पुरुषार्थ हो सकता है । [पुरुषार्थका उपकारी भी पुरुषोंका अभीष्ट प्रयोजन होता है । इसमें दृष्टान्त देते हैं—] फलस्वरूप दूध आदिके कारणभूत गाय आदि भी पुरुषोंके अर्थ—प्रयोजन—होते दिखलाई देते हैं । [यद्यपि अभीष्ट दुग्धादि है तथापि उनके साधन गौ आदि भी पुरुषार्थ माने जाते ही हैं] अक्षरका ग्रहण-मात्र करा देनेसे विधिकी सामर्थ्य क्षीण हो जाती है, इसलिए अर्थज्ञान आकस्मिक हो जायगा । ऐसा दोष भी नहीं आ सकता, क्योंकि अर्थज्ञान (अक्षर ग्रहणरूप) फलसे उत्पन्न होता है । विधिसे ही अर्थनिश्चय नहीं माना जा सकता, कारण कि लौकिक आप्त वाक्योंमें विधिके विना भी सफल अर्थबोधकत्व देखा गया है । अध्ययन और अक्षरपरिचय—इनमें कोई विशेष नहीं है । [अर्थात् अक्षरग्रहण और अध्ययन एक ही वस्तु हैं] इससे इनमें कार्यकारणभाव कैसे हो सकता है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि अक्षरोंका ज्ञान—परिचयात्मक ग्रहण करना—अक्षरोंके अधीन है (अन्यकी—गुरु आदिकी—सहायताके विना, उच्चारणके योग्य हो जाना अक्षरोंका एक धर्म है) और अध्ययन तो अक्षरपरिचयके निमित्त वाणी और मनका व्यापार कहलाता

णहेतुत्वमन्वयव्यतिरेकसिद्धमिति व्यर्थो विधिरिति चेद्, न; अवघातादिवद्दृष्टोत्पत्तये नियमार्थत्वात्। न चैवं दृष्टफलत्वहानिः, दृष्टफलभूताक्षरप्राप्तिसमवेतस्यैव नियमादृष्टस्याङ्गीकारात्। दृष्टे सत्यदृष्टं न कल्प्यमिति न्यायस्य स्वतन्त्रादृष्टविषयत्वात्। अर्थावबोध एव फलमिति वदताऽपि नियमविधित्वाङ्गीकारात्। न चोपपत्तिसाम्ये सत्यक्षरग्रहणे एव किमिति पक्षपात इति वाच्यम्, अध्ययनविधेः फलवदर्थावबोधः प्रयोजनमिति पक्षे यस्य यस्मिन्कर्मण्यधिकारस्तस्य तद्वाक्याध्ययनमेव स्याद्, न तु वाक्यान्तराध्ययनम्, तत्र प्रवृत्त्यादिफलाभावात्। ततो न कृत्स्नवेदाध्ययनसिद्धिः। अस्मत्पक्षे तु कृत्स्नवेदावाप्तिः प्रायश्चित्तजपादावुपयुज्यते।

है, इसलिए दोनोंमें विशेष विद्यमान है। इस प्रकार अध्ययनको तो अक्षरग्रहणका कारण होना अन्वय और व्यतिरेकसे ही सिद्ध हो गया, फिर उसके लिए विधान करना व्यर्थ है ? नहीं, कारण कि अवघात आदिके तुल्य अदृष्टकी उत्पत्तिके लिए नियमार्थ है। [तुषसे रहित धान तण्डुल कहलाते हैं। धानोंका तुष छुड़ानेके लिए अन्वयव्यतिरेकसे अवघातके सिद्ध होनेपर जैसे अदृष्ट अपूर्व तपकी उत्पत्तिके लिए 'व्रीहीनवहन्ति' यह विधान है वैसे ही 'अध्येतव्यः' यह विधान भी नियमार्थ हैं, जैसा कि ग्रन्थारम्भमें ही प्रतिपादन कर आये हैं।] ऐसा नियमार्थ माननेमें उसे दृष्ट फलके प्रति कारण होनेकी बाधा नहीं हो सकती, कारण कि नियमसे उत्पन्न अदृष्ट फल भी दृष्ट फलभूत अक्षरग्रहणसमवायी ही माना गया है। 'दृष्ट फलके सम्भवमें अदृष्ट फलकी कल्पना करना अनुचित है, यह न्याय केवल स्वतन्त्र अदृष्ट फलको ही विषय करता है [दृष्ट फलगत अदृष्ट फलका निवारण नहीं करता]। अर्थज्ञानको ही (अध्ययनविधिका) फल माननेवाले आपको भी यह नियम मानना ही है। दोनों—(अर्थ ज्ञान—और अक्षरज्ञान) में समान युक्ति होनेसे अक्षर ग्रहणमें ही आग्रह क्यों किया जाय ? ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि अध्ययनविधिका फल सफल अर्थज्ञान माननेके पक्षमें जिसका जिस कर्ममें अधिकार है, उसको उन्हीं वाक्योंका अध्ययन प्राप्त होगा। दूसरे वाक्योंका नहीं, क्योंकि उनमें प्रवृत्ति आदि फल नहीं है। इससे [अध्ययनविधिके द्वारा] सम्पूर्ण वेदके अध्ययनकी सिद्धि नहीं हो सकती। हमारे [अक्षरग्रहण फल माननेवालेके] मतमें तो सम्पूर्ण वेदका ज्ञान प्रायश्चित्त, जप आदिमें उपयुक्त होता है।

नन्वर्थावबोधमधिकारिविशेषणमुद्दिश्याऽध्ययनं विधातव्यम्, निरधिकारविधानायोगात्। अक्षरावाप्तिमुद्दिश्य विधानेऽपि तदवाप्तिकाम एवाऽधिकारी स्यादिति चेद्, न; अर्थाऽवबोधोद्देशनपूर्वकशब्दोच्चारणाभावे वाक्यस्य तात्पर्यासिद्धेः। लोकेऽर्थावबोधमुद्दिश्योच्चारितशब्दे तात्पर्यदर्शनात्। न च लोकवदेव विधिर्मा भूदिति वाच्यम्, तद्वदत्र शब्दोच्चारणप्रयोजकस्य रागस्याऽ-

---

'जैसे राजसूय आदि यज्ञोंमें ब्राह्मण और वैश्य आदिका अधिकार न होनेसे उनमें उक्त वर्णोंकी प्रवृत्ति नहीं होती, अतः उक्त वर्ण उक्त अर्थका प्रतिपादन करनेवाले वाक्योंको नहीं पढ़ेंगे, वैसे ही सफल सोम आदि यागके प्रतिपादक वाक्योंको क्षत्रिय आदि नहीं पढ़ेंगे। इस परिस्थितिमें केवल अपने-अपने उपयोगमें आनेवाले यज्ञयागादिके प्रतिपादक वेदभागका ही तत्-तत् अधिकारी द्वारा पढ़ना प्राप्त होगा। और अक्षरग्रहणरूप फलपक्षमें तो अधिकारी-मात्रकी सम्पूर्ण वेदाध्ययनमें प्रवृत्ति होगी, क्योंकि अक्षरग्रहणकी फलवत्ता अर्थज्ञानसे ही होती है, प्रवृत्तिसे नहीं। अर्थज्ञान सभी अध्ययन करनेवालोंको होगा। अन्यथा स्वाध्यायका जपयज्ञ नहीं बनेगा। एवं प्रायश्चित्तभागी होगा। अतः सम्पूर्ण वेदका अध्ययन प्राप्त होता है, इसीलिए अक्षरग्रहणरूप फल माननेमें हमारा आग्रह है, यह तात्पर्य है]।

शङ्का—अधिकारीके अर्थज्ञानरूप विशेषणको उद्देश्य करके अध्ययनका विधान करना होगा [अर्थात् 'अध्येतव्यः' इस विधिसे 'अर्थावबोधकामः स्वाध्यायेनेष्टं भावयेत्' इस प्रकार अर्थज्ञानार्थीको अधिकारी माननेमें अर्थज्ञानको ही फल मानना उचित है], क्योंकि अधिकाररहितका विधान नहीं होता। अक्षरज्ञानको उद्देश्य करके स्वाध्यायका विधान करनेपर भी उसकी प्राप्तिकी इच्छावाला ही अधिकारी माना जायगा।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि अर्थज्ञानको उद्देश्य करके यदि शब्दात्मक वाक्यका उच्चारण न किया जाय, तो उस वाक्यका तात्पर्य ही सिद्ध न होगा, क्योंकि अर्थज्ञानको उद्देश्य करके उच्चारण किये गये शब्दोंमें ही तात्पर्य देखा जाता है। लोकमें जैसे विधि नहीं होती, वैसे ही स्वाध्यायके अध्ययनका विधान भी नहीं होगा, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि लौकिक शब्दोंके समान वैदिक शब्दोंके उच्चारणमें रागरूप हेतु नहीं है। [स्वाध्यायात्मक वेदवाक्योंके ईश्वरोक्त होनेसे उनमें रागादिहेतुकत्वका सम्भव ही नहीं है।]

भावात् । अथोच्येत विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गकामोऽधिकारी कल्प्यताम् । अथवा वाजसनेयिनां ब्रह्मचर्यमागामित्यादिनोपनयनस्य प्रकृतत्वादुपनीतोऽधिकारीति प्रकरणप्रमाणेन कल्प्यतामिति । तदसत्, अर्थाऽवबोधलक्षणदृष्टफलकामेऽधिकारिणि सत्यन्यकल्पनायोगात् । एवं चाऽर्थावबोधकामोऽध्ययनेनाऽर्थावबोधं भावयेदिति विधिः संपद्यते । विचारेणाऽर्थावबोधं भावयेदिति विधिस्त्वार्थिकः । विचारेणाऽपरिहृते विरोधेऽर्थनिश्चयानुदयादर्थावबोध एव फलमिति । नैतत्सारम्, तत्र किं विधिबलादक्षरग्रहणमात्रे निष्पन्ने सति श्रुतव्याकरणस्य पुरुषस्य लौकिकवाक्यार्थ इव वेदार्थोऽपि स्वतो बुध्यत इति कृत्वा तद्बोधस्य फलत्वमुच्यते किं वाऽर्थावबोधकाम-

---

शङ्का—विश्वजिन्न्यायसे स्वर्गार्थीको ही अधिकारी माननेकी कल्पना की जाय अथवा 'वाजसनेयी माध्यन्दिनीय शाखावाले ब्रह्मचर्यको पावें' इत्यादि वाक्योंसे जिसका उपनयन हो गया हो उस अधिकारीकी ही कल्पना की जाय, कारण कि उपनयन प्रकरणप्राप्त है । और प्रकरणरूप प्रमाणसे वैसी कल्पना युक्तियुक्त है । [अर्थात् विश्वजिन्न्यायसे स्वर्गार्थी या प्रकरणप्रमाणसे उपनीत अधिकारी माना जाय] ।

समाधान—ऐसा उचित नहीं है, कारण कि अर्थज्ञानरूप दृष्ट फलका अधिकारी जब मिल सकता है तब दूसरी कल्पना करनेका अवसर ही नहीं आता । अतः 'अर्थज्ञानका अर्थी अध्ययन द्वारा अर्थज्ञानरूप भाव्यकी—साध्यकी—भावना करे' इस प्रकार विधान सम्पन्न होता है । 'विचार द्वारा अर्थनिश्चयकी भावना करे' यह तो अर्थतः ही आ जाता है, क्योंकि विचार द्वारा विरोधका परिहार न होनेपर अर्थका निश्चय ही नहीं हो सकता, इसलिए अर्थज्ञानको ही फल मानना चाहिए ।

समाधान—उक्त कथन सारभूत नहीं है, कारण कि वह विकल्पसे नहीं बनता, [विकल्प दिखलाते हैं—] आपके पक्षमें विधानकी सामर्थ्यसे केवल अक्षरका ज्ञान होनेपर व्याकरणकी व्युत्पत्तिसे युक्त पुरुषको लौकिक वाक्यकी तरह वेदार्थज्ञान भी स्वयं ही हो जाता है, इसलिए क्या अध्ययनविधिका अर्थज्ञान फल कहा जा रहा है ? या अर्थज्ञानार्थीको उद्देश्य करके विधान किया है, इसलिए कहा जा रहा है ? इनमें प्रथम कल्पको हम

मुद्दिश्य विधानतः। तत्राऽऽद्यमङ्गीकुर्मः। द्वितीयोऽनुपपन्नः, अध्ययनात् प्राग्वेदार्थस्याऽप्रतिपन्नत्वेन तद्विशिष्टस्याऽवबोधस्याऽप्यप्रतिपन्नस्य कामनायोगात्। वेदोऽर्थवान् वाक्यप्रमाणत्वादाप्तवाक्यवदित्यनुमानेन प्रतिपन्नो वेदार्थ इति चेत्, तर्ह्यनुमानसिद्धत्वादेव न वेदार्थज्ञानं काम्येत। सामान्यतोऽनुमितोऽपि वेदार्थो नाऽग्निहोत्रादिविशेषाकारेण प्रतिपन्न इति चेत्, तर्ह्यग्निहोत्रादिगोचरबोधोऽप्यप्रतिपन्नः कथं काम्येत। पित्राद्युपदेशत एवाऽग्निहोत्राद्यवगमे कामनावैयर्थ्यं तदवस्थम्। अथौपदेशिकज्ञानस्याऽप्रमाणत्वात्तत्र निर्णयज्ञानं काम्यत इति चेत्, तत्र न तावदप्रामाण्ये निश्चिते निर्णयज्ञानकामना संभवति, अर्थस्य विभ्रममात्रत्वात्। अप्रामाण्यसंदेहे तु तद्विचारस्यैवाऽवसरो नाऽध्ययनस्य। अथ मन्यसे औपदेशिक-

---

मानते हैं। पर दूसरा पक्ष नहीं बनता, कारण कि अध्ययनसे पहले वेदका अर्थ तो ज्ञात हुआ ही नहीं है, इसलिए तद्विशिष्टका ज्ञान—वेदार्थका ज्ञान—भी नहीं बन सकता, अतः असिद्धकी कामना—इच्छा—ही नहीं होगी। 'वेद अर्थवाला है, वाक्यरूप प्रमाण होनेसे, आप्तवाक्यके तुल्य' इस अनुमानसे वेदार्थ सिद्ध ही है, ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण कि तब तो अनुमानसे ही सिद्ध हो गया, अतः वेदार्थज्ञानकी इच्छा ही नहीं हो सकती। यद्यपि अनुमान द्वारा सामान्यतः वेदका कुछ अर्थ अवश्य है, इतना ही ज्ञात होता है, तथापि वह वेदार्थ अग्निहोत्र आदि विशेष आकारसे नहीं जाना गया है, इसलिए [विशेषतः ज्ञान प्राप्त करनेके लिए] वेदार्थज्ञानकी कामना की जायगी, यदि ऐसा मानो, तो अग्निहोत्रादिका भी ज्ञान नहीं है अतः उसकी भी इच्छा कैसे हो सकती है ? यदि पिता आदि [आदिपदसे गुरु आदिका ग्रहण है] के उपदेशसे अग्निहोत्र आदिका ज्ञान हो गया, तो पुनः उसकी इच्छा ही व्यर्थ है। उपदेश द्वारा प्राप्त हुए ज्ञानके प्रमाण न होनेसे उसमें निश्चयात्मक ज्ञानकी अभिलाषा हो सकती है, यह भी नहीं कह सकते, कारण कि अप्रामाण्यके निश्चित होनेपर निर्णयात्मक ज्ञानकी इच्छा हो ही नहीं सकती है, [जैसे शुक्तिरजतज्ञानमें अप्रामाण्यका निश्चय होनेसे शुक्तिरजतमें निश्चय करनेकी इच्छा नहीं होती], क्योंकि वह अर्थ—विषय—विभ्रममात्र है। और अप्रामाण्यके सन्देहमें तो विचारका ही अवसर

ज्ञानं प्रामाण्यविचारायैव वेदाध्ययनं तदर्थविचारश्च वेदस्य तन्मूलप्रमाणत्वादिति । एवं तर्ह्यस्तु कथंचिदर्थावबोधोऽधिकारिविशेषणम्, तथापि तदुद्देशेन विधानमयुक्तम्। तत्र किं वेदार्थविशेषज्ञानानां विशेषाकारेणाऽध्ययनविधावुद्देश्यत्वमुत सामान्याकारेण। नाऽऽद्यः, युगपत्तदसम्भवात् । द्वितीयेऽर्थमात्रज्ञानमुद्दिश्योच्चरितस्य शब्दस्य तत्रैव तात्पर्यं स्यान्नाऽग्निहोत्रादिविशेषज्ञाने । अथ विधिसामर्थ्यादर्थमात्रे तात्पर्येऽपि वाक्यशक्त्यनुसारेण विशिष्टार्थे तात्पर्यं कल्प्येत तर्हि विधेस्तत्र तात्पर्यनिमित्तत्वं न स्यात्। किञ्च, कथञ्चिदुद्दिश्य विधानेऽपि नाऽध्ययनमात्राद् दृष्टफलतयाऽर्थावबोधसिद्धिः, अदर्शनात्। ननु वेदस्याऽर्थावबोधमुद्दिश्योच्चारणाभावे स्वार्थे तात्पर्यं न स्यात्, तात्पर्यहेतोरभावादिति चेद्, मैवम्; न

होता है, अध्ययनका नहीं। उपदेश द्वारा प्राप्त हुए ज्ञानमें प्रामाण्यके विचारके लिए ही वेदका पढ़ना और वेदार्थका विचार करना आवश्यक है, क्योंकि औपदेशिक ज्ञानका मूल प्रमाण वेद ही है, यदि यह माना जाय, तो इस प्रकार यद्यपि कथञ्चित् अर्थनिर्णय अधिकारीका विशेषण हो सकता है, तथापि अर्थावबोधको—अर्थनिश्चयको—उद्देश्य करके उसका विधान करना युक्तिसंगत नहीं है। [युक्तियोंका अभाव दिखलाते हैं—] इस मतमें क्या वेदार्थके विशेष ज्ञानोंके विशेषरूपसे अध्ययनविधिमें उद्देश्यत्व मानते हो अथवा सामान्यरूपसे ? इनमें प्रथम विकल्प नहीं बन सकता, क्योंकि एक साथ सम्पूर्ण वेदोंका विशेष ज्ञान होना सम्भव नहीं है। दूसरे विकल्पके माननेमें सामान्यतः अर्थज्ञानको उद्देश्य करके उच्चारण किए गए शब्दका उस सामान्य अर्थमें ही तात्पर्य निश्चित होगा, अग्निहोत्रादि विशेषज्ञानमें नहीं। यदि विधानकी सामर्थ्यसे अर्थमात्रमें सामान्यतः तात्पर्य रहनेपर भी वाक्यशक्तिके अनुसार विशिष्ट अर्थमें तात्पर्यकी कल्पना की जायगी, यह माना जाय, तो विशिष्ट अर्थमें तात्पर्यकी प्रतीति करानेमें विधिका निमित्त होना नहीं बन सकता। और भी सुनिए कि कथञ्चित् [अर्थावबोधको] उद्देश्य करके विधान माननेपर भी अध्ययनमात्रसे दृष्टफलके रूपमें अर्थावबोधकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा देखा नहीं गया है।

शङ्का—यदि वेदका उच्चारण अर्थज्ञानको उद्देश्य करके नहीं होगा, तो वेदका स्वार्थ ही नहीं बन सकेगा, कारण कि [अर्थज्ञानको उद्देश्य करके उच्चारण

तावच्छ्रोतुरुच्चारणं तात्पर्यनिमित्तम् , लोके तदभावात् । नाऽपि वक्तुरुच्चारणम् , अपौरुषेये वेदे तात्पर्याभावप्रसङ्गात् । नन्वेवमपि वेदस्याऽर्थप्रतिपादकत्वं न स्याद् उद्दिश्योच्चारणस्य प्रतिपादनहेतोरभावादिति चेद्, नः शब्दस्य प्रतिपादकत्वस्वाभाव्यात् । तर्ह्यर्थज्ञानमुद्दिश्य शब्दोच्चारणं लोके व्यर्थं स्यादिति चेद्, नः पुरुषसम्बन्धकृतदोषाख्यप्रतिबन्धपरिहारार्थत्वात् । ननु वेदस्याऽर्थप्रतिपादनसामर्थ्येऽपि न बोधकत्वं सम्भवति, बोधस्य तात्पर्याधीनत्वात् तात्पर्यस्य पुरुषधर्मस्याऽत्राऽसम्भवादिति चेद्, मैवम्; तात्पर्यं हि षड्विधलिङ्गगम्यतया शब्दधर्मो न पुरुषधर्म इति समन्वयसूत्रे वक्ष्यमाणत्वात् । तदेवमध्ययनविधेर्यावदर्थावबोधफलमव्यापारान्न विधितो विचार-

करनारूप] तात्पर्यका हेतु वहांपर नहीं है ।

समाधान—ऐसा नहीं माना जाता, कारण कि श्रोताका उच्चारण तो तात्पर्यका निमित्त नहीं होता, क्योंकि लोकमें ऐसा नहीं देखा जाता है । वक्ताका उच्चारण भी [तात्पर्यनिमित्त नहीं है ।] क्योंकि अपौरुषेय—जिसका कोई पुरुष वक्ता नहीं है, ऐसा वेद भी तात्पर्यरहित हो जायगा। यदि कहो कि उच्चारणको उद्देश्य न माना जाय, तो वेद अर्थका प्रतिपादक नहीं हो सकेगा, कारण कि अर्थप्रतिपादनका उद्देश्य उच्चारणरूप कारण वेदमें नहीं है, तो ऐसा कहना उचित नहीं हैं, क्योंकि अर्थप्रतिपादन करना शब्दका स्वभाव है। तब तो [यदि शब्दका अर्थ प्रतिपादन करना स्वभाव ही है तो] लोकमें अर्थज्ञानके उद्देश्यसे शब्दोंका उच्चारण करना ही व्यर्थ होगा, ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण कि पुरुषके सम्बन्धसे प्राप्त दोषरूप प्रतिबन्धकका परिहार करनेके लिए शब्दोच्चारण सार्थक होगा ।

शङ्का—वेदोंकी [शब्दात्मक वाक्य होनेके कारण] अर्थप्रतिपादन करनेमें सामर्थ्य रहते हुए भी वे बोधक नहीं होंगे, क्योंकि बोधका होना तात्पर्यज्ञानके अधीन है। तात्पर्य पुरुषका धर्म है, अतः वह अपौरुषेय वेदमें नहीं रह सकता ।

तात्पर्य * छः प्रकारके कारणोंसे निश्चित होता है, और वह शब्दधर्म है, पुरुषधर्म नहीं, इसका प्रतीपादन समन्वयसूत्रमें करेंगे। तब तो इस प्रकार

* १ उपक्रम-उपसंहार, २ अभ्यास, ३ अपूर्वता, ४ फल, ५ अर्थवाद और—६ उपपत्ति। इनका विशेष विवरण समन्वयसूत्रके प्रथम वर्णकमें किया जायगा ।

शास्त्रस्य सर्वाधिकारिता सिध्यति। नन्वध्ययनविधेरर्थावबोधकामाधिकारं नाऽङ्गीकरोपि अधिकारान्तरं च न श्रुतं ततोऽनध्ययनमेव प्रसज्येत।

अत्र प्राभाकरा आहुः—नाऽध्ययनविधिः स्वतन्त्रमधिकारिणमपेक्षते, अध्ययनविधिप्रयुक्त्या तद्विपयानुष्ठानसिद्धेः। न च वाच्यं विधिर्हि सर्वत्र स्वविपयं तदङ्गं वाऽनुष्ठापयति, न चाऽध्ययनमध्यापनविधेर्विपयोऽङ्गं वा तत्कथं तेनाऽनुष्ठाप्यत इति, अविपयस्याऽतदङ्गस्याऽप्याधानस्योत्तरकाम्यक्रतुविधिभिरनुष्ठापितत्वादिति। सोऽयं प्राभाकरोक्तः परिहारोऽनुपपन्नः।

अध्ययनविधानका अर्थज्ञानपर्यन्त व्यापार नहीं हो सकता। इसलिए विधिके बलसे विचारशास्त्रमें [शमदमादिसम्पन्न मुमुक्षुके अतिरिक्त] सबका अधिकार सिद्ध नहीं होता।

शङ्का—अध्ययनविधिमें अर्थज्ञानके अभिलाषीका अधिकार आप नहीं मानते और इससे अतिरिक्तका अधिकार श्रुतिमें कहा नहीं गया है, इसलिए अध्ययनके अभावका प्रसङ्ग हो जायगा [अर्थात् अधिकारशून्यविधिमें सबकी उपेक्षा होनेसे किसीकी भी प्रवृत्ति न होगी एवं अध्ययनका सर्वथा अभाव होगा] इस शङ्काका समाधान करनेके लिए प्रथम प्रभाकरानुयायी मीमांसक प्रवृत्त होते हैं—वे कहते हैं—अध्ययन स्वतन्त्र अधिकारीकी अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि अध्ययनविधिके प्रयोगसे अध्ययनका अनुष्ठान सिद्ध हो जायगा। [पहले ही मूलमें प्रतिपादित आचार्यकरण तथा 'अध्यापयेत्' इससे अध्यापनके विधानसे ही अध्ययनका प्रयोग प्राप्त होगा। अन्यथा—शिष्यके अध्यापनके बिना—आचार्यका स्वरूप एवं अध्यापन दोनों अनुपपन्न होंगे, इसलिए अध्ययनका अनुष्ठान अधिकारीकी कल्पनाके बिना भी सम्भव है]। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि विधान सर्वत्र अपने विपय तथा अङ्गका ही अनुष्ठान कराता है और अध्यापनका अध्ययन न तो विपय है और न अङ्ग ही है, इसलिए पाठन कर्म कैसे अध्ययनका अनुष्ठान करा सकता है? कारण कि उत्तरकालिक काम्य क्रतुओंके विधानसे आधान [आग्न्याधान] का अनुष्ठान कराया जाता है जो आधान उन काम्य यज्ञोंका न तो विपय है और न अङ्ग ही है। [इसलिए अविपय तथा अनङ्गका भी विधि द्वारा अनुष्ठान सिद्ध होता है] इतना प्रभाकरका सिद्धान्त है।

परन्तु यह प्रभाकरानुयायियोंका कहा हुआ समाधान युक्तिसङ्गत नहीं है।

तथाहि—अध्यापनविधिरप्यश्रूयमाणाधिकार एव। 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत' 'तमध्यापयीत' इत्यत्राऽऽचार्यकरणकाम इत्यश्रवणात्। तत्कथमध्ययनं तत्प्रयुक्तं यत् तत्राऽधिकारिणं परिकल्प्य तत्प्रयुक्तिरध्ययनस्योच्येत। तर्ह्यध्ययने स्वतन्त्रोऽधिकारी कल्प्यताम्, लाघवात्। लघीयसी हि स्वविधिप्रयुक्तिरन्यविधिप्रयुक्तेः। अथैकत्राऽधिकारिकल्पनमात्रेणेतरस्य तत्प्रयुक्तानुष्ठाने सम्भवत्युभयत्र तत्कल्पने गौरवमिति मन्यसे तर्ह्यध्ययन एवाऽधिकारिणं परिकल्प्य तत्प्रयुक्तिमन्यस्य किं न ब्रूषे ? यदि लिखितपाठादप्यध्ययनसिद्धेर्नाऽध्ययनविधिरध्यापनं प्रयोजयति, तर्ह्यविहिताऽध्ययनेन प्राङ्मुखत्वादिरहितेनाऽप्यध्यापनसिद्धेर्न वि-

[असङ्गति दिखलाते हैं—अध्ययनविधिमें भी अधिकारीका श्रवण ही नहीं है। कारण कि 'आठ वर्षके ब्राह्मणका उपनयन [यज्ञोपवीत संस्कार] करना चाहिए और उसको पढ़ाना चाहिए' इस विधिवाक्यमें 'आचार्यकरणकी इच्छासे' ऐसा श्रवण नहीं है, इसलिए अध्यापनसे अध्ययन कैसे प्रयुक्त होगा, जिससे उस अध्यापनमें अधिकारीकी कल्पना करके अध्ययनकी अध्यापनसे प्रयुक्ति कही जा सके। तब तो अध्ययनमें स्वतन्त्र अधिकारीकी कल्पना करनी चाहिए, क्योंकि उसमें ही लाघव है, कारण कि (अध्यापनरूप) अन्य विधिकी प्रयुक्ति माननेकी अपेक्षा (अध्ययनमें अधिकारीकी कल्पना करके) स्वयं अध्ययनविधिके बलसे ही अध्ययनमें प्रयुक्ति माननेमें लाघव है। यदि एक विधिमें अधिकारीकी कल्पना कर देनेसे ही दूसरे विधानके अनुष्ठानका सम्भव हो जानेके कारण दोनों विधियोंमें अधिकारी तथा प्रयुक्तिकी कल्पना करनेमें गौरव मानते हो, तो अध्ययनमें ही अधिकारीकी कल्पना करके उसीसे अध्यापनमें प्रयुक्ति होती है, ऐसा क्यों नहीं कहते ? [ऐसा ही क्यों कहते हैं कि अध्यापनसे अध्ययनमें प्रयुक्ति हो अध्ययनसे अध्यापनमें नहीं]।

यदि लिखे हुए ग्रन्थके पढ़नेसे अध्ययनकी भी सिद्धि होती है, अतः अध्ययन अध्यापनकी प्रयुक्ति नहीं कर सकता, यह माना जाय, तो प्राङ्मुखत्वादि रहित अविहित अध्ययनसे अध्यापनकी सिद्धि होनेके कारण विहित अध्ययनकी भी प्रयुक्ति अध्यापनविधि नहीं कर सकेगी। [तात्पर्य है कि जिसका कोई वैदिक विधिके समान विधायक वाक्य नहीं है, ऐसे नाटक, उपन्यास या समाचार पत्रादिका अध्ययन अध्यापनके विना हो सकता है, अतः अध्यापन अध्ययनका

हितमध्ययनमध्यापनविधिः प्रयोजयेत् । अथोच्येत प्रयतः प्राङ्मुखः पवित्रपाणिरधीयीतेति माणवकस्य प्राङ्मुखत्वाद्यध्ययनाङ्गं श्रुतं तथाऽध्यापनेऽपि प्राङ्मुखं पवित्रपाणिमध्यापयीतेति माणवकस्य प्राङ्मुखत्वादिविशेषणश्रवणाद्विहितमेवाऽध्ययनं प्रयुज्यत इति । तर्हि

'गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखितपाठकः ।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः ॥'

इति लिखितपाठस्य निन्दासद्भावादाचार्याधीनो वेदमधीष्वेत्यध्ययनस्याऽऽचार्यपूर्वकत्वनियमविधानादध्ययनविधिरध्यापनं किं न प्रयोजयेत् ।

प्रयोजक नहीं हो सकता । और अध्यापनका तो अध्ययनके विना सम्भव नहीं है अतः अध्ययन अध्यापनका प्रयोजक है । इससे वेदान्तीकी 'अध्यायन ही अध्यापनका प्रयोजक है, अध्यापन अध्ययनका क्यों नहीं' शङ्काका समाधान हो गया । परन्तु साथ-साथ शङ्का उत्पन्न होती है—हमने मान लिया कि अध्यपन अध्ययनका प्रयोजक है, परन्तु यह नियम कैसे होगा कि अध्यापन 'प्राङ्मुख होकर पढ़ना' इत्यादि विधिविहित ही अध्ययनकी प्रयुक्ति करेगा जब कि अध्यापन अविहित उक्त लौकिक रीतिके अनुसार अध्ययनसे भी चरितार्थ हो सकता है] यदि संयत होकर अर्थात् मनकी चञ्चल वृत्तियोंको रोककर 'पूर्वकी ओर मुख किये और पवित्रीधारण किये—शिष्यको पढ़ावे' इत्यादि वाक्योंमें माणवक—शिष्य—के पूर्वाभिमुख होकर बैठना आदि विशेषणोंका श्रवण होनेसे विहित ही अध्ययनका प्रयोग होगा, ऐसा मानो तो—'गीत गाकर तथा बहुत जल्दी एवं शिरको कँपाता हुआ अथवा गुरुके उपदेशके विना केवल लिखे हुए ग्रन्थके आधारपर पढ़नेवाला और विना अर्थ जाने पढ़ने एवं बहुत नीचे स्वर [अर्थात् जिसमें तत्तत्स्थानानुप्रदानादि परिचय न हो सके) से पढ़नेवाला—ये सब निकम्मे पढ़नेवाले माने गये हैं । इस प्रकार लिखितके बलपर पढ़नेवालेकी निन्दाके श्रवणसे तथा 'आचार्यत्वविशिष्ट गुरुके अधीन होकर पढ़ो' इस प्रकार आचार्य द्वारा पढ़नेके नियमके विधानसे अध्ययनविधि अध्यापनकी प्रयुक्ति क्यों न करे ? [यदि अध्यापनके विना भी लौकिक अध्ययनके तुल्य ही 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' अध्ययनका विधान होता, तो लिखितके ही बलपर पढ़नेकी निन्दा और अध्ययनमें आचार्यपूर्वकत्व आदि नियम न होता । इस

अथ मतम्—'आचार्याधीनोऽधीष्व' इत्यत्राऽऽचार्यकरणविधिप्रयुक्तोऽधीष्वेतिवाक्यार्थं आचार्यत्वस्याऽध्यापनादुत्तरकालभावित्वादिति, तदसत्; तद् द्वितीयं जन्म। तद् यस्मात्स आचार्य इत्युपनयनाख्यद्वितीयजन्महेतुत्वमात्रेणाऽऽचार्यश्रवणात्।

'आचिनोति हि शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यः स उदाहृतः॥'

इति स्मृतावाचारे शिष्यान् स्थापयतीति व्युत्पत्तिः प्रतीयत इति चेद्, एवमप्यध्यापनात् पूर्वमाचार्यत्वमविरुद्धम्। अध्यापनादाचार्यत्वस्योत्तरकाल-

प्रकार उक्त निन्दा तथा नियमसे मानना होगा कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इससे विहित अध्ययन अध्यापनकी प्रयुक्ति करता ही है]। यदि 'आचार्यके अधीन होकर पढ़ो, इसमें आचार्यकरणविधिके प्रमाणसे ही 'पढ़ो' ऐसा वाक्यार्थ है, कारण कि अध्यापनके ही अनन्तर आचार्य होना उपपन्न हो सकता है' ऐसा सिद्धान्त हो, तो वह भी उचित नहीं है, कारण कि 'उपनयन * संस्कार (द्विजातिका) दूसरा जन्म है। वह दूसरा जन्म जिसके द्वारा होता है, वह आचार्य कहलाता है। इस वचनसे उपनयननामक द्वितीय जन्मका कारण होनेसे आचार्य जाना श्रुतिसे सिद्ध हैं।

'जो शास्त्रार्थका आचयन—ज्ञानवृद्धि—कराता है तथा आचारमें स्थापित भी करता है [अर्थात् श्रुति तथा स्मृतिमें कहे गये नियमोंके अनुसार शिष्योंके व्यवहारकी व्यवस्था भी बांधता है] और स्वयं तदनुसार आचरण करता है, इससे वह आचार्य कहलाता है। इस स्मृतिमें 'शिष्योंको आचारमें लगाए रखना' ऐसी व्युत्पत्ति प्रतीत होती है। [उपनयन करानेसे आचार्य कहलाता है, ऐसा नहीं है।] ऐसा कहो तो भी अध्यापनसे पूर्व ही आचार्य होनेमें कोई विरोध नहीं। यदि आचार्यपदवीकी सिद्धि अध्यापनके अनन्तर मानी जाय, तो आचार्यकरणविधिप्रयुक्त—'पढ़ो' ऐसा अध्याहार सहित योजनाका प्रसङ्ग होगा। 'आचार्याधीनोऽधीष्व'

* यहांपर तत्पदसे उपनयन लिया जाता है। [अर्थात् आचार्य होना उपनयन संस्कारसे ही हो सकता है। अध्यापनके उत्तर कालमें ही नहीं]।

भावित्वे चाचार्यकरणविधिप्रयुक्तोऽधीष्वेति साध्याहारयोजना प्रसज्येत। तस्मादधिकारिकल्पनासाम्यादितरेतरप्रयुक्तिसाम्याच्च काम्यविधिप्रयुक्तिसम्भवेऽध्ययनस्य कथमध्यापनविधिप्रयुक्तिरिति। अत्रोच्यते— नाऽध्यापनविधेरधिकारी कल्पनीयः, श्रुतिस्मृत्योः प्रतीयमानत्वात्। तथाहि—'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत' इति श्रुतावात्मनेपदेनाऽऽचार्यकरणसाध्यता प्रतीयते, संमाननोत्सञ्जनाचार्यकरणेत्यादिना व्याकरसूत्रेणाऽऽचार्यकरणे साध्ये तद्विधानात्। न चाऽऽचार्यत्वम्, किञ्चिल्लोके प्रसिद्धमस्ति ततो यथाऽऽहवनीये जुहोतीत्यत्राऽऽहवनीये होमाधारत्वेन विनियुक्ते सत्यसंस्कृतस्य होमाधारत्वायोगात् संस्कृतस्य सम्भवाच्चाऽऽधानसंस्कृतोऽग्निराहवनीयत्वेन निश्चितः तथा

इस वाक्यमें अध्याहार करके 'आचार्याधीन' 'आचार्यकरणविधिप्रयुक्तोऽधीष्व' ऐसा करना होगा। इसकी अपेक्षा 'ओदनं पचति'—या 'गृहस्थः सदृशीं भार्यामुपेयात्' इत्यादि वाक्योंमें जैसे पाचक या गृहस्थ शब्दोंका प्रयोग भावी संज्ञाके आश्रयणसे होता है, वैसे ही आचार्यशब्दके प्रयोगको भावी संज्ञाके आश्रयणसे उपपन्न कर अध्यापनसे अध्ययनकी प्रयुक्ति मानना ही उचित है, इस आशयसे सिद्धान्ती प्राभाकरमतके दूषक प्रघट्टकका निर्णय करते हैं—इसलिए पूर्वोक्त युक्तियोंके बलसे अधिकारीकी कल्पना तथा एक दूसरेकी प्रयुक्ति करनेमें समानता होनेसे काम्यविधिकी प्रयुक्तिका सम्भव होनेमें अध्यापनविधिसे अध्ययनकी प्रयुक्ति कैसे होगी? प्रभाकरानुयायी द्वारा सिद्धान्तीकी उक्त शङ्कामें कहा जाता है। अध्यापनविधिके अधिकारीकी कल्पना नहीं करना है, कारण कि श्रुति तथा स्मृतिमें ही उसकी प्रतीति सिद्ध है। जैसे कि श्रुति है—'आठ वर्षके ब्राह्मणका उपनयन संस्कार करना चाहिए' इस श्रुतिमें आत्मनेपदसे आचार्यकरणमें भाव्यता—साध्य होना—प्रतीत होती है, कारण कि 'संमाननोत्सञ्जनाचार्यकरण—' इत्यादि व्याकरणसूत्रसे आचार्यकरणके साध्य होनेमें आत्मनेपदका विधान किया जाता है। घट, पट आदिके तुल्य आचार्यपदार्थ लोकमें कोई प्रसिद्ध है ही नहीं, इसलिए जैसे—'आहवनीयमें हवन किया जाता है' यहांपर आहवनीयका होमाधारके रूपमें विनियोग किये जानेपर संस्काररहित अग्निमें होमाधारताका सम्भव नहीं है, अतएव आधाननामक संस्कारसे संस्कृत अग्नि ही आहवनीय

'आचार्याय गां दद्यात्' इत्यत्राऽऽचार्ये दक्षिणां प्रति सम्प्रदानत्वेनाऽवगते सत्यनुपकारिणः सम्प्रदानत्वायोगादुपकारिणोऽत्र सम्भवाच्चोपनयननिष्पादनारूपेणोपकारेण माणवकं प्रत्युपकुर्वत आचार्यत्वं निश्चीयते। नन्वेवमप्युपनयनसाध्यमाचार्यत्वं भवेन्नाऽध्यापनसाध्यमिति चेद्, न; उपनयनस्याऽध्यापनाङ्गत्वात्। 'उपनयीत तमध्यापयीत' इत्येकप्रयोगतावगमात्, न च निरपेक्षविधिभेदान्न प्रयोगैक्यमिति वाच्यम्, उपनीयाऽध्यापयेदित्येवंप्रयोगैक्यकल्पनात्। तमिति प्रकृतपरामर्शिना तच्छब्देन कर्मैक्यप्रतीतेः। न चोपनयनस्याऽध्यापनाङ्गत्वेऽप्यध्ययनस्य न तत्प्रयुक्तिरिति वाच्यम्, माणवकविषयाध्यापनेनाऽऽचार्यत्वं भावयेदिति वाक्यार्थस्वीकरणेनाऽऽध्यापनक्रियानिर्वर्तकतया माणवकस्य क्रियां प्रति गुणभूतत्वाद् उपकारकत्वे वक्तव्ये दृष्टे सत्यदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वाद् उपगमनाध्ययनाभ्यामुपकरोतीति कल्प्यत्वात्।

रूपसे निश्चित माना गया, ऐसे ही आचार्यके लिए दक्षिणामें गाय देनी चाहिए 'यहांपर आचार्यको दक्षिणाके प्रति सम्प्रदानत्व—उद्देश्यत्व—प्रतीत हुआ, परन्तु अनुपकारी सम्प्रदान—उद्देश्य नहीं हो सकता, और यहांपर उपकारीका होना सम्भव है, इसलिए उपनयनसंस्कारके सम्पादनरूप उपकारके द्वारा माणवकका उपकार करनेवालेमें ही आचार्यत्व निश्चित होता है, ऐसा माननेपर भी उपनयनके द्वारा आचार्यत्वकी सिद्धि होगी, अध्यापन द्वारा नहीं; ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण कि उपनयन अध्यापनका ही अङ्ग है। 'उपनयन करे' और 'उस उपनीतको पढ़ावे' इन दोनों विधियोंमें एकप्रयोगत्व प्रतीत होता है। निरपेक्ष विधिके भेदसे एकप्रयोग होनेका निषेध नहीं कर सकते, कारण कि 'उपनयन संस्कार कराके अध्यापन करावे' इस प्रकार एक ही प्रयोगकी कल्पना होती है, क्योंकि तत्शब्दके प्रकृत परामर्शी होनेसे तत्शब्दसे दोनोंमें एककर्मत्वकी प्रतीति होती है। 'माणवकके अध्यापनसे आचार्यत्वकी भावना करे' इस प्रकार वाक्यार्थका स्वीकार करनेसे अध्यापनक्रियाके सम्पादक होनेसे गुणभूत माणवकमें अध्यापनक्रियाके प्रति उपकारकत्व कहना होगा, कारण कि दृष्ट फलके रहते अदृष्ट फलकी कल्पना करना अन्याययुक्त होता है। [माणवकका उपकारकत्व दिखलाते हैं—] माणवक उपगमन—गुरुके समीपमें नियमपूर्वक बैठने और अध्ययनसे [अध्यापन] क्रियामें उपकार करता है, ऐसी ही कल्पना करनी चाहिए।

ननूपनयनाध्ययनाभ्यां निष्पाद्यस्याऽध्यापनस्य यद्यप्याचार्यत्वं फलं तथापि श्रुतावधिकारी कल्पनीयः, एतत्काम इत्यश्रवणादिति चेद्, न; कामोपबन्धमात्रस्य कल्प्यत्वात्। ततश्च श्रुतावुपनीयाऽध्यापयेदाचार्यकरणकाम इत्येवमध्यापनविधिः साधिकारः सम्पद्यते, तथा स्मृतावपि।

'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥'

इत्युपनयनाध्यापनयोः प्रयोगैक्यादध्यापने विधिश्रवणादाचार्यत्वफलश्रवणाच्चाऽऽचार्यत्वकामो माणवकमुपनीयाध्यापयेदिति निष्पाद्यते। अध्ययने तु नाऽधिकारनिमित्तम्, किञ्चिच्छ्रुतमस्तीति विशेषः। न चाऽध्ययनस्य स्वतन्त्रविध्यन्तरविहितस्य कथं स्वतन्त्रविध्यन्तरप्रयुक्तानुष्ठानमिति शङ्कनीयम्, आधानदृष्टान्तेन प्रयुक्तत्वात्। आधाने हि ब्राह्मणोऽग्निमादधीतेति

शङ्का—उपनयन और अध्ययनसे सिद्ध होनेवाले अध्यापनका यद्यपि आचार्यपद पाना फल है, तथापि श्रुतिमें अधिकारीकी कल्पना करनी ही होगी, क्योंकि अमुक कामनावाला पुरुष [अध्यापन करे] ऐसा अधिकारीका श्रवण नहीं है।

समाधान—ऐसा नहीं, कारण कि केवल कामनाके सम्बन्धमात्रकी कल्पना होती है। इससे ही श्रुतिमें आचार्यकरणकी इच्छावाला शिष्यका उपनयन करके अध्यापन करे, इस प्रकार अध्यापनविधि साधिकार हो जाती है, ऐसा स्मृतिमें भी कहा है। जो ब्राह्मण शिष्यका उपनयनसंस्कार करके रहस्य तथा कल्पके सहित वेदका अध्यापन करे, उसको आचार्य कहते हैं। इस तरह श्रुति तथा स्मृतिसे उपनयन तथा अध्यापन दोनोंका एकप्रयोगत्व होता है। तथा अध्यापनमें श्रौतविधि है और आचार्यत्वरूप फल भी श्रुतिसिद्ध है, इसलिए आचार्यत्वकी इच्छासे 'माणवकका उपनयनसंस्कार करके अध्यापन करावे' इस प्रकार अधिकारकी निष्पत्ति की जाती है। अध्ययनमें तो अधिकारका निमित्त कोई सुननेमें नहीं आया है, इतना विशेष है। स्वतन्त्र दूसरी विधिसे विहित अध्ययनके अनुष्ठानकी प्रयुक्ति स्वतन्त्र दूसरी विधिके द्वारा न हो सकनेकी शङ्का नहीं करनी चाहिए, कारण कि आधानके दृष्टान्तसे ऐसी प्रयुक्ति देखी गई है। क्योंकि आधान—अग्न्याधान—

श्रूयते। तत्र किमाधानं स्वातन्त्र्येणाऽनुष्ठेयम् उताऽन्यप्रयुक्त्या। आद्येऽपि न तावत् पुरुषमुद्दिश्य नित्यतया स्वतन्त्रमाधानं विधातुं शक्यम्, प्रोक्षणादिवत्कर्मकारकसंस्काररूपस्याऽऽधानस्य द्रव्यपरतयाऽग्नेरुद्देश्यत्वात्। नाऽपि स्वतन्त्रकाम्यतया तद्विधेयं फलाश्रवणात्। न च सक्तुन्यायेन गुणप्रधानवैपरीत्यकल्पनया नित्याधिकारता कामाधिकारता वा शङ्कनीया। भस्मीभूतसक्तुना उपयोगासम्भवेन तत्र वैपरीत्यकल्पनेऽपि प्रकृते संस्कृताग्नेः क्रत्वन्तरे विनियोगयोग्यतया तदसम्भवात्। द्वितीयेऽपि किमाधानस्योत्तरनित्यक्रतुविधिप्रयुक्तिरुतोत्तरकाम्यक्रतुविधिप्रयुक्तिः? नाऽऽद्यः, उद्देश्यस्याऽनुपादेयस्याऽऽहवनीयस्य क्रतुविधिप्रयुक्तानुष्ठेयत्वायोगात्। उपादेयमेव हि

संस्कारमें 'ब्राह्मण अग्निका आधान करे' यही श्रुतिका अर्थ है। उसमें विकल्प होता है कि क्या आधानका स्वतन्त्र अनुष्ठान होता है? अथवा दूसरे विधानकी प्रयुक्तिके बलसे होता है? प्रथम पक्ष माननेपर भी पुरुषको उद्देश्य करके नित्यत्वरूपसे आधानका स्वतन्त्र अनुष्ठान नहीं हो सकता, कारण कि प्रोक्षण आदि संस्कारके सदृश कर्मकारकके संस्काररूप आधानका कर्मभूत द्रव्यके संस्कारमें तात्पर्य होनेसे अग्नि ही उद्देश्य है, काम्यरूपसे भी उसका विधान नहीं हो सकता, क्योंकि फलका श्रवण नहीं है। सक्तुन्यायसे गुण-प्रधानभावकी विपरीत कल्पना करके नित्य अधिकारका काम्य अधिकारमें परिवर्तन करनेकी आशङ्का नहीं की जा सकती, कारण कि भस्म किये गये सक्तुसे किसी कार्यका होना सम्भव नहीं है, इसलिए 'सक्तून् जुहोति' इस स्थलमें गुण-प्रधानभावमें विपरीत कल्पना करनेपर भी प्रकृतमें संस्कारसे युक्त अग्निकी दूसरे यज्ञमें उपयोगयोग्यता होती है, इसलिए सक्तुन्यायसे विपरीत कल्पनाका सम्भव नहीं है। दूसरे पक्षमें—दूसरे द्वारा प्रयुक्तिसे अनुष्ठेय माननेमें—भी क्या आधानकी अग्रिम नित्य यज्ञके विधान द्वारा प्रयुक्ति होती है? अथवा-अग्रिम-काम्यविधि द्वारा? इनमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, कारण कि उपादेयसे भिन्न उद्देश्यभूत आहवनीयका—होमाधारभूत अग्निका—नित्य अथवा काम्य दोमें से किसीके भी विधान द्वारा प्राप्त हुई प्रयुक्तिसे अनुष्ठान करनेका विषय होना सम्भव है नहीं, [उपादेय ही अनुष्ठेय होता है, और वह क्रियासे पूर्व असिद्ध होता है। अग्नि आधानसे पूर्व सिद्ध है और आधान उद्देश्य है, इसलिए वह अनुष्ठेय नहीं हो सकता।] इस तात्पर्यको स्पष्ट करते

विधिरनुष्ठापयति। अन्यथा स्वर्गकामादीनामप्यनुष्ठेयत्वप्रसङ्गात्। तस्मादुत्तरकाम्यक्रतुविधिप्रयुक्तिः परिशिष्यते। नहि विधिरिव कामोऽप्युपादेयमेवाऽनुष्ठापयति येनोक्तदोषः स्यात्। किन्तु यद्यदुद्देश्यमुपादेयं वा विना काम्यमानस्य न सिद्धिस्तत्सर्वं विधिसहकारितयाऽनुष्ठापयति। दृश्यते हि लोके विधिरागयोर्वैषम्यम्। 'सौवर्णपीठे समुपविशेत्' इति विधिस्तथाविधपीठाभावे पुरुषं न तत्रोपवेशयति रागस्तु तथाविधं पीठमुत्पाद्याऽपि तत्र निवेशयति। एवं च सति प्रकृतेऽप्याचार्यकरणकामनैवाऽऽचार्यप्रेरणद्वारेणाऽध्यापनसिद्ध्यर्थं माणवकेनाऽऽध्ययनं निर्वर्तयतीति स्थितम्।

तदेतत्प्राभाकरमतं वेदान्तिनो न बहु मन्यन्ते। तथा हि—किं 'तमध्यापयीत' इत्यत्राऽऽचार्यत्वं विधेयम् उत विधिरूपमथवा नैयोगिकं फलम्?

हैं—विधि उपादेयका ही अनुष्ठान कराती है। इसके विपरीत—यदि उद्देश्य भी अनुष्ठेय माना जाय, तो स्वर्गार्थी आदि अधिकारी भी अनुष्ठेय होने लगेंगे। इससे अगले काम्य क्रतुओंके कारण प्राप्त हुई प्रयुक्तिसे अनुष्ठेय मानना, यह दूसरा पक्ष ही अवशिष्ट रहता है। विधिवाक्यके सदृश कामना भी उपादेयका ही अनुष्ठान कराती है, ऐसा कोई नियम नहीं है, जिससे कि अनुपादेयका अनुष्ठेय होनेका असम्भवरूप उक्त दोषका प्रसङ्ग हो, किन्तु नियम यह है कि जिस-जिस उद्देश्य अथवा उपादेय—साध्य—के बिना कामनाविषयकी सिद्धि नहीं हो सकती है, उन सबका ही कामना प्रधानविधिके सहकारीरूपसे अनुष्ठान कराती है। लोकमें विधि और कामनामें वैषम्य—भेद—देखा गया है। जैसे विधि है 'सोनेके पीठ—आसन—पर बैठे'। परन्तु उक्त विधान सुवर्णनिर्मित आसनके न होनेपर पुरुषको ऐसे पीठपर नहीं बैठा सकता—[इसके विपरीत, राग—कामना—तो ऐसे सुवर्णपीठको बनवाकर भी उसमें पुरुषको बैठा सकता है, इस प्रकार दोनोंमें वैषम्य हो जानेसे आचार्यकरणकी कामना ही आचार्यकी प्रेरणा करके अध्यापनकी सिद्धिके लिए माणवक द्वारा अध्ययनका अनुष्ठान कराती है, ऐसा सिद्धान्त स्थिर हुआ अर्थात् अध्यापन द्वारा उत्पन्न हुई प्रयुक्ति अध्ययनका अनुष्ठान करा देगी, इसमें अधिकारके श्रवणकी आवश्यकता नहीं है।

इस पूर्वोक्त प्रभाकरके अनुयायियोंके मतको वेदान्ती अच्छा नहीं मानते हैं, क्योंकि 'उसको अध्ययन करावें' इस वाक्यमें क्या आचार्यत्व विधेय है? अथवा विधिका स्वरूप है? या लिङर्थ-नियोगका फल है? इनमें प्रथम विकल्प नहीं

नाऽऽद्यः, उपनयनाऽध्यपनभावार्थविषयत्वाद्विधेः। न द्वितीयः, आत्मनेपदमात्रमिधेयस्याऽऽचार्यत्वस्य विधिपदानभिधेयतया विधिरूपत्वायोगात्। न तृतीयः, 'अचारान् ग्राहयति' इति व्युत्पत्त्या हेतुकर्तृत्वनिबन्धनस्याऽऽचार्यत्वस्य लौकिकत्वात्, अलौकिकस्यैव नैयोगिकत्वात्। न चोपनयनसाध्यत्वादलौकिकमाचार्यत्वं स्यादिति वाच्यम्, द्वितीयं जन्म तद्यस्मात् स आचार्य इति स्मृतावुपनयनं प्रति हेतुकर्तृत्वस्यैव लौकिकस्याऽऽचार्यशब्दनिमित्तत्वावगमात्। यद्याचार्यत्वमलौकिकं स्यात् तदा व्याकरणसूत्रे संमाननादिभिर्लौकिकार्थैः सह कथं पठ्येत? ननु विधायकप्रत्ययश्रवणाद् नियोगः प्रतीयते, तस्य नियोज्यविशेषणाकाङ्क्षायां स्वर्गवन्नियोगसाध्यत्वेनैव नियोज्यविशेषणत्वमाचार्यस्याऽभ्युपेतव्यम्, कारकफलस्य तदनुपपत्तेः। न चाऽऽचार-

---

माना जा सकता, कारण कि विधिका उपनयन तथा अध्यापनरूप अर्थ विषय है, [आचार्यत्व विषय नहीं है] दूसरा पक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि केवल आत्मनेपदका ही अर्थ आचार्यत्व है, इसलिए आचार्यत्व विधिपद (लिङादि) का अर्थ न होनेसे विधिका स्वरूप नहीं हो सकता। तीसरा पक्ष भी नहीं कह सकते, क्योंकि आचार्यपदकी 'आचारोंका ग्रहण करानेवाला' ऐसी व्युत्पत्ति होनेसे हेतु और कर्ता होनेके कारण उत्पन्न हुआ आचार्यत्व लोकसिद्ध पदार्थ है। [अतः उसे नियोगफल नहीं मान सकते, कारण कि अलौकिक पदार्थ ही नियोगका फल माना गया है। उपनयनविधिका साध्य--विषय--होनेसे आचार्यत्व अलौकिक होगा, ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि जिसके कारण द्वितीय जन्म होता है अर्थात् जो द्विजन्मा-व्यपदेशका हेतु है, वह आचार्य कहलाता है, इस स्मृतिमें लोकसिद्ध हेतुकर्तृस्वरूप ही आचार्यशब्दका प्रवृत्तिनिमित्त प्रतीत होता है। यदि आचार्यत्व अलौकिक होता, तो व्याकरणसूत्रमें संमानन आदि लौकिक अर्थोंके साथ आचार्यकरणका पाठ कैसे होता है?

शङ्का—'अध्यापयीत' इत्यादि विधिबोधक प्रत्ययके श्रवणसे नियोगकी प्रतीति होती है। उस नियोगको नियोज्य-विशेषणकी आकाङ्क्षा होनेपर स्वर्गके तुल्य नियोगसाध्य होनेसे आचार्यको ही नियोज्यविशेषण मानना चाहिए, कारण कि फल नियोज्यका विशेषण नहीं हो सकता। उपनयनविधिमें आचारग्राहकत्वरूप हेतुकर्तृत्व आचार्यशब्दका प्रवृत्तिनिमित्त नहीं

ग्राहकत्वमुपनयने हेतुकर्तृत्वं चाऽऽचार्यशब्दप्रवृत्तिनिमित्तम्, विकल्पापत्तेः। अतो मन्त्राद्यलौकिकसाधनान्तरविधानादलौकिकमाचार्यत्वम्। सम्माननादीनां तु तदभावाद्भवतु लौकिकत्वम्। अतस्तैः सह पाठेऽप्यलौकिकमेवाऽऽचार्यत्वमिति चेद्, एवमप्युपनयननियोगफलं भविष्यति, तेनाऽध्यापनविधेः कुतः साधिकारता ?

अथ मतमुपनयने श्रुतमप्याचार्यत्वमध्यापनफलं भविष्यति, उपनयनस्य तदङ्गत्वादिति; तन्न, तथा सत्यङ्गेषु फलश्रुतिरर्थवाद इति न्यायेनाऽऽचार्यत्वस्य नियोज्यविशेषणत्वासंभवप्रसङ्गात्। नन्वेवं सत्यनधिकारमध्ययनं सर्वथा नाऽनुष्ठीयेतेति चेद्, न; उपनीतस्याऽध्ययनाधिकार-

---

हो सकता, कारण कि ऐसा माननेमें विकल्पकी आपत्ति होगी। इसलिए मन्त्रादि अलौकिक साधनोंसे भिन्न साधनों द्वारा सिद्ध किया गया आचार्यत्व लौकिक ही है। [यद्यपि आचारग्राहकत्वरूप आचार्यत्व लौकिक है, तथापि उपनयन संस्कार तथा साङ्गोपाङ्ग अध्यापनविशिष्ट आचारग्राहकत्वरूप आचार्यत्वके लोकसिद्ध न होनेसे उसे अलौकिक ही मानना चाहिए] सम्मानन आदि अलौकिक मन्त्रादि साधनोंसे सम्पन्न नहीं है, इसलिए वे लौकिक कहे जाते हैं, इस कारण उन लौकिक सम्मानन आदिके साथ पाठ होनेपर भी आचार्यत्व अलौकिक ही है।

समाधान—यद्यपि ऐसा मान भी लिया जाय अर्थात् उक्त प्रकारका विशिष्ट आचार्यत्व अलौकिक मान भी लिया जाय, तो भी वह उपनयनरूप नियोगका ही फल होगा, इससे अध्यापनविधिका अधिकारयुक्त होना कैसे हो सकता है ?

शङ्का—यद्यपि उपनयनविधिमें आचार्यत्वका श्रवण है, तथापि वह अध्यापनका फल माना जायगा, कारण कि उपनयन अध्यापनका अङ्ग—उपकारक—है।

समाधान—ऐसा नहीं है, कारण कि अध्यापनके अङ्गभूत उपनयनके फलरूपसे आचार्यत्वको अध्यापनका फल माननेमें 'अङ्गोंमें फलका श्रवण अर्थवाद है' इस न्यायसे आचार्यत्व नियोज्यका विशेषण नहीं हो सकेगा।

शङ्का—इस प्रकार तो अधिकाररहित अध्ययनका किसी भी दशामें अनुष्ठान प्राप्त नहीं होगा

त्वात्; वाजसनेयिशाखायामुपनयनं प्रक्रम्याऽध्ययनस्य विहितत्वात्। सर्वस्मृतिषु चोपनीतोऽधीयीतेत्यवगमात्। अतोऽध्ययनस्य स्वविधिप्रयुक्तानुष्ठानोपपत्तौ तदनुष्ठानसिद्ध्येऽध्यापनेऽधिकारिणं परिकल्प्य न मनः खेदनीयम्। ननु न तं कल्पयामि किन्त्वस्त्येव सः, श्रुतौ दुःसंपादत्वेऽपि 'उपनीय तु यः शिष्यम्' इत्यादिमनुवाक्येन तदवगमादिति चेद्, न; तद्वाक्यस्योपनयनाध्यापनानुवादेन कर्तुराचार्यसंज्ञाविधायकत्वाद्, वाक्यगतयत्तच्छब्दाभ्यामनुवादविध्योर्निश्चयात्। आचार्यसंज्ञायाश्च नमस्कारादिविधानेपूपयोगात्। नन्वेवमप्यप्रबुद्धस्य माणवकस्योपनीतस्य स्वाधिकारं प्रतिपद्याऽनुष्ठातुमशक्यत्वादध्यापनविधिरेव कथञ्चित्साधिकारोऽध्ययनमपि

समाधान—उपनयनसंस्कारसे संस्कृतका ही अधिकार प्राप्त है, कारण कि वाजसनेयिशाखामें उपनयनका उपक्रम करके अध्ययनका विधान किया गया है, तथा सब स्मृतियोंमें 'उपनीतको ही पढ़ाना चाहिये' ऐसा ही मिलता है। इस कारण अध्ययनके अनुष्ठानकी अपने ही विधानसे उपपत्ति हो जानेसे उसके अनुष्ठानकी सिद्धिके लिए अध्यापनविधिमें अधिकारीकी कल्पना करके मनको परिश्रम नहीं देना चाहिए।

शङ्का—हम अध्यापनविधिमें अधिकारीकी कल्पना नहीं करते हैं, किन्तु वह तो है ही। यद्यपि श्रुतिमें सुगमतासे अधिकारीका सम्पादन नहीं हो सकता, तथापि 'जो शिष्यका उपनयन संस्कार करके' इत्यादि मनुवचनसे उसकी प्रतीति होती है, [इसलिए उसकी कल्पना करनेकी आवश्यकता नहीं है।]

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते, मनु आदिका वह वचन उपनयन और अध्यापनका अनुवाद करके कर्ताकी आचार्यसंज्ञाका विधायक है, क्योंकि वाक्यमें आये हुए 'यत्' और 'तत्' शब्दसे अनुवाद और विधिका निश्चय होता है। नमस्कार आदिके विधानमें आचार्यसंज्ञाका उपयोग होता है [इससे आचार्यसंज्ञाको व्यर्थ होनेका प्रसङ्ग नहीं आता।]

शङ्का—अप्रबुद्ध तथा उपनीत शिष्य अपना अधिकार प्राप्त कर अध्ययनका अनुष्ठान नहीं कर सकता, इसलिए अध्यापनका विधान ही कथंचित् अधिकारयुक्त हो अध्ययनकी भी प्रयुक्ति करा ही देता है।

प्रयुङ्क्त एवेति वाच्यमिति चेत्, तत्र किमध्यापनविधिरविहितमध्ययनं प्रयुङ्क्ते उत विहितम्? नाऽऽद्यः, अध्ययनविध्यप्रेरितानां तत्र प्रयोजनशून्यानां पुरुषाणामाचार्यं प्रति गुणभावेन प्रवृत्त्ययोगात्। द्वितीये विधिस्वरूपसिद्धयेऽध्ययनेऽधिकार्यपि स्वीकार्यः। विषय एव विधिस्वरूपसाधको नाऽधिकारीति चेत्, तर्हि विहितस्याऽध्ययनस्याऽधिकारिविशेषाभावाद्यं कंचिदध्यापयेदिति प्राप्नुयात्। तस्मात् प्रकरणसमर्पितेनोपनीतेनाऽधिकारिणा साधिकारोऽध्ययनविधिः स्वयमेव स्वविषये पुरुषं प्रवर्त्तयति। अन्यथा स्वाधिकारविधिनैवाऽप्रवर्तितस्य प्रवृत्त्यसम्भवात्। न च बालकस्य स्वाधिकारप्रतिपत्त्य-

---

समाधान—ऐसी शङ्का नहीं करते, कारण कि ऐसा माननेमें विकल्प हो सकते हैं कि क्या अध्यापन अविहित अध्ययनकी प्रयुक्ति करता है अथवा विहितकी? प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता, कारण कि अध्ययन विधिसे अप्रेरित और उसमें प्रयोजन शून्य पुरुषोंकी आचार्यके प्रति गुणभावसे प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। [जिनका वेदके अध्ययनमें अधिकार नहीं है, ऐसे द्विजेतर वर्णों और अनुपनीतके लिए 'अध्येतव्यः' इस पदमें आये तव्यप्रत्ययके लिए नियोग प्रेरणा ही नहीं करता, अतएव उनको आचार्यका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता, इससे सिद्ध हुआ कि आचार्यकरणका विधान अविहित लौकिक अध्ययनकी प्रयुक्ति नहीं कर सकता।] विहित अध्ययनका अध्यापन प्रयोजक है, इस दूसरे विकल्पमें विधिके स्वरूपकी सिद्धिके लिए अध्ययनमें अधिकारी भी मानना ही होगा [अधिकारीके बिना विधिका स्वरूप ही नहीं बन सकता।] विषय ही विधिके स्वरूपका प्रतिपादक होता है, अधिकारी नहीं, ऐसा यदि कहो, तो विहित अध्ययनका अधिकारीविशेष निर्दिष्ट न होनेसे 'जिस किसी [अनधिकारी] को भी पढ़ावे, ऐसा 'अतिसङ्ग' प्राप्त हो जायगा। इसलिए प्रकरणप्राप्त उपनीत अधिकारीके द्वारा अधिकारयुक्त अध्ययनका विधान स्वयं अपनेमें पुरुषकी प्रवृत्ति करा लेगा [अध्ययनके अनुष्ठानकी प्रयुक्ति अध्ययन द्वारा माननेकी आवश्यकता नहीं है, अन्यथा स्वाधिकारविधिके द्वारा प्रवृत्त न किये गये पुरुषकी प्रवृत्तिका सम्भव नहीं है। [जिस विधानमें पुरुष अपना अधिकार नहीं समझता, उसे करनेके लिए उसकी प्रवृत्ति नहीं देखी गई है, इसलिए अपने अधिकारकी विधिसे प्रेरित होकर ही पुरुष प्रवृत्त होता है] बोधरहित बालकको

सम्भवः, विध्यर्थापरिज्ञानेऽपि संध्योपासनसमिदाहरणादिकर्त्तव्यताप्रतिपत्तिव-त्पित्राद्युपदेशसामर्थ्याद्ध्ययनकर्त्तव्यताप्रतिपत्तेः । नन्वध्ययनस्याऽध्यापन-विधिप्रयुक्तौ नाऽयं क्लेशः, आचार्यस्य प्रबुद्धस्य स्वाधिकारं प्रतिपत्तुंशक्यत्वात् । यद्यपि कश्चित् प्रेक्षावान् माणवको न स्वाधिकारमबुद्ध्वा प्रवर्त्तेत तथाप्यन्योऽप्र-बुद्ध आचार्यप्रेरितः प्रवर्त्तिष्यत एव । ततः प्रवाहरूपेणाऽध्यापनं न विच्छि-द्यत इति चेद्, एवमप्याचार्यः किमन्येनोपनीतान्माणवकानध्यापयेद् उत स्वेनैवोपनीतान्, नाऽऽद्यः, उपनयनस्याऽपि त्वन्मतेऽध्यापनाङ्गतया तद्वैकल्ये नियोगानिष्पत्तावाचार्यत्वफलासिद्धेः । तर्ह्यस्तु द्वितीयः, उक्तदोषाभावादिति

अपने अधिकारका ज्ञान होना सम्भव नहीं है, यह कहना भी उचित नहीं है, कारण कि विधिका अर्थपरिज्ञान न होनेपर भी 'सन्ध्योपासन', 'समिधाओंका लाना' इत्यादि ब्रह्मचारीके कर्तव्योंका जैसे पिता आदिके उपदेशके बलसे ज्ञान हो जाता है, वैसे ही उपदेशकी सामर्थ्यसे अध्ययनमें कर्तव्यताका ज्ञान होगा।

शङ्का—अध्ययनकी अध्यापन द्वारा प्रयुक्ति माननेमें यह क्लेश (उपदेश-सामर्थ्यका आश्रयण) नहीं करना होता, क्योंकि प्रबुद्ध—विद्वान्—आचार्यको अपने अधिकारका परिज्ञान होना सरल है। यद्यपि कभी-कभी चतुर बालक अपने अधिकारको जाने बिना अध्ययन आदि कार्यमें प्रवृत्त नहीं होते, तथापि दूसरा मन्दबुद्धि बालक आचार्यकी प्रेरणासे प्रवृत्त होगा ही। इस कारण प्रवाह-रूपसे प्राप्त अध्ययनका लोप नहीं होने पाता। अध्ययनविधिको स्वयं अधिकारशून्य माननेमें उसका अनुष्ठान सम्भव न होनेसे अध्यापनका उच्छेद होना सम्भव हो जाता है, इस आशङ्काका समाधान करते हैं कि यद्यपि चतुर बालक अधिकारके परिज्ञानके बिना अध्ययन नहीं करेंगे, तथापि भोले बालक गुरुकी प्रेरणा मानकर अधिकारकी जिज्ञासाके बिना प्रवृत्त हो ही जायँगे, और आचार्य तो प्रबुद्ध ही है, उसको अपने आचार्यत्वकी रक्षाके लिए बालकोंकी अध्य-यनमें प्रेरणा करना अभीष्ट ही है, अतः अध्यापनका लोप नहीं हो सकता।]

समाधान—ऐसी आशङ्का करनेपर भी विकल्प होंगे कि क्या आचार्य दूसरेके द्वारा उपनयनसंस्कृत बालकोंको पढ़ावे ? अथवा अपने ही द्वारा उपनीत बालकोंको ? प्रथम कल्प माननेमें तुम्हारे मतमें उपनयन भी अध्यापनका अङ्ग होगा, अतः उसके अभावमें नियोगकी पूर्ति नहीं होगी इसलिए आचार्यत्वरूप फल भी सिद्ध नहीं हो सकेगा। अच्छा तो—स्वयं

चेद्, नः एवमपि नित्यानित्यसंयोगविरोधस्य दुरपवादत्वात्। तथा हि—अध्यापनं तावदनित्यम्, द्रव्यार्जनार्थत्वात्। नह्याचार्यत्वमध्यापनफलं भवितुमर्हति, सुखप्राप्तिदुःखपरिहारसाधनरूपत्वाभावेनाऽपुमर्थत्वात्। न चाऽदृष्टं तत्फलत्वेन कल्प्यम्, दृष्टे सति तदयोगात्। अस्ति दृष्टम्—

'षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः॥'

इत्यध्यापनस्य द्रव्यार्जनोपायत्वेन स्मरणात्। ननु याजनस्य जीविकार्थत्वं युक्त ऋत्विग्भ्यो दक्षिणादिविधौ सति सर्वाङ्गानुष्ठापकस्य दक्षिणाद्यनुष्ठापकतया द्रव्यार्जनं निश्चित्य तदर्थिना याजने प्रवृत्तिसम्भवात्। अत्र

उपनयन कराकर अध्यापन करे—यह दूसरा पक्ष मानिये, क्योंकि इसमें प्रथम कल्पमें दिया गया दोष नहीं आता, ऐसा भी नहीं है, कारण कि ऐसा माननेपर भी नित्य तथा अनित्य पदार्थके संयोगका विरोध नहीं हटाया जा सकता। (विरोध दिखलाते हैं—) अध्यापन तो अनित्य है, कारण कि उसका प्रयोजन द्रव्य कामना है। [काम्यविधि सब अनित्य हैं, कामनारहितको उनका विधान प्राप्त नहीं होता है] अध्यापनका फल (प्रयोजन) आचार्यत्व नहीं हो सकता है, कारण कि (आचार्यत्व) सुख पाने एवं दुःखनिवारण करनेका उपाय न होनेसे पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता। अध्यापनकी अदृष्ट फलकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, कारण कि दृष्ट फलके रहते अदृष्टकी कल्पना नहीं की जाती। अध्यापनका दृष्ट फल है—ब्राह्मणके छः कर्मोंमेंसे तीन कर्म उसकी जीविका है (अर्थात् धन कमानेके साधन हैं)। इन तीन कर्मोंको दिखलाते हैं—पहला यज्ञ करना, दूसरा अध्यापन—पढ़ाना—और तीसरा शुद्ध परिग्रह—दान—लेना। इस प्रकार स्मृतियोंमें पढ़ाना द्रव्यु कमानेका उपाय कहा गया है।

शङ्का—यज्ञ कराना तो जीविकाके लिए ही मानना उचित है, कारण कि याजकोंके लिए दक्षिणादानका विधान है, अतः सर्वाङ्गपूर्ण यज्ञका अनुष्ठान करानेवाला ही दक्षिणा आदिका भाजन होता है, इसलिए द्रव्यार्जनका निश्चय करके द्रव्यकी इच्छासे यज्ञ करानेमें प्रवृत्तिका होना सम्भव है।

तु भृतकाध्यापरनिषेधात्। प्रकारान्तरेण द्रव्यार्जनाभावाद् न तादर्थ्यमध्यापनस्येति चेद्, मैवम्; माणवकस्याऽध्ययनाङ्गत्वेन गुरुदक्षिणादिविधानादङ्गिन्यध्ययनेऽनुष्ठापकस्याऽध्यापनविधेर्दक्षिणाशुश्रूषाद्यङ्गेष्वनुष्ठापकत्वात्। तस्माद् द्रव्यार्जनकामेनाऽनुष्ठेयत्वादध्यापनमनित्यम्। उपनयनाख्यस्तु संस्कारो नित्यः, अकरणे दोषश्रवणात्।

'आषोडशात्तु द्वाविंशाच्चतुर्विंशाच्च वत्सरात्।'

इति त्रैवर्णिकानामुपनयनस्याऽमुख्यं कालमभ्यनुज्ञाय पश्चात्स्मर्यते।

'अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः॥'
'नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि च कर्हिचित्।
ब्राह्मान्यौनांश्च सम्बन्धाचरेद् ब्राह्मणः क्वचित्॥' इति।

अध्यापनमें तो भृतकाध्यापनका (वेतन आदि लेकर अध्यापन करनेका) निषेध है और अध्यापनमें वेतन लेनेके अतिरिक्त दूसरे प्रकारसे द्रव्यार्जन होता नहीं, इसलिए अध्यापनको द्रव्यार्जनका निमित्त नहीं माना जाता।

समाधान—माणवक शिष्यके लिए अध्ययनके अङ्गभूत (उपकारक) दक्षिणादानका विधान होनेसे अङ्गी—प्रधानभूत—अध्ययनमें प्रवर्तक—अनुष्ठान करानेवाली—अध्यापनविधि ही दक्षिणा और शुश्रूषा—सेवा—आदि अङ्गोंमें भी अनुष्ठापक होती है। इस निष्कर्षसे द्रव्यार्जनकी इच्छासे किया जानेवाला अध्यापन अनित्य है। और उपनयनरूप संस्कार नित्य है, क्योंकि उपनयनसंस्कार न करनेसे दोषका श्रवण है—

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंका यथाक्रम सोलह, बाईस तथा चौबीस वर्ष तक उपनयनका गौण काल है। इस प्रकार तीन वर्णोंके लिए उपनयनके गौण कालकी प्रतिज्ञा करनेके अन्तर स्मृतिमें कहा गया है कि इस निर्दिष्ट अवधिके अनन्तर इन तीनों वर्णोंका यदि उचित समयपर संस्कार नहीं किया गया, तो ये सावित्री—गायत्री—व्रतसे पतित होते हुए व्रात्य दोषसे दूषित होते हैं और इनकी आर्यजन निन्दा करते हैं। तथा ब्राह्मणको इन अपवित्र पतित ब्राह्मणोंके साथ आपत्ति आ पड़नेपर भी ब्राह्म या यौन सम्बन्ध—विवाह आदि सम्बन्ध—नहीं करना चाहिए।

नन्वकरणे दोषश्रवणमात्रेणोपनयनस्य नित्यतायां प्रायश्चित्तस्याऽपि नित्यता प्रसज्येत ।

'अतीते चिरकाले तु द्विगुणं व्रतमर्हति ।'

इति प्रायश्चित्ताकरणनिमित्तदोषस्य निरासाय प्रायश्चित्तान्तरविधानात् । नहि प्रायश्चित्तं नित्यं दोषापनयकामिनाऽनुष्ठेयत्वात् । उच्यते, न प्रायश्चित्ताकरणनिमित्तदोषनिरासाय द्विगुणं व्रतमुच्यते किन्तु प्रायश्चित्तेन निराकर्त्तव्यस्य पूर्वदोषस्यैवाऽतीते चिरकाले द्विगुणव्रतापेक्षयैव निरास इत्युच्यते । अन्यथा प्रायश्चित्तानवस्थाप्रसङ्गात् । ततो नोपनयनस्य नित्यतायामतिप्रसङ्गः । तच्चोपनयनं नित्यभूतमध्ययनाङ्गत्वादङ्गिनोऽध्ययनस्याऽपि नित्यतां कल्पयति ।

ननूपनयनस्याऽध्ययनाङ्गत्वमयुक्तम्, अध्ययनमनारभ्याऽधीतत्वात् ।

शङ्का—उपनयनके न करनेमें दोषका श्रवण होनेसे ही उपनयन संस्कार यदि नित्य माना जाय, तो इसके प्रायश्चित्तको भी नित्य मानना होगा । 'अधिक समय वीतनेपर द्विगुण व्रत करना चाहिए ।' इस प्रकार प्रायश्चित्त न करनेसे उत्पन्न हुए दोषका निवारण करनेके लिए 'द्विगुण व्रतरूप' दूसरे प्रायश्चित्तका विधान किया गया है । इससे प्रायश्चित्त नित्य नहीं हो सकता, कारण कि दोष दूर करनेकी इच्छासे उसका अनुष्ठान किया जाता । [इससे काम्यविधान नित्य नहीं हो सकता] ।

समाधान—प्रायश्चित्त न करनेसे उत्पन्न हुए दोषको दूर करनेके लिए द्विगुण व्रतका अनुष्ठान नहीं है; किन्तु प्रायश्चित्तसे हटाये जानेवाले पूर्व दोषका अधिक समय वीतनेपर द्विगुणित व्रतकी अपेक्षासे निरास स्मृतिमें कहा गया है, प्रायश्चित्त न करनेसे उत्पन्न हुए नवीन दोषके निराकरणके लिए नहीं है । अन्यथा प्रायश्चित्तकी अनवस्थाका प्रसङ्ग हो जायगा । इससे उपनयन संस्कारको नित्य माननेपर भी अतिप्रसङ्ग नहीं हो सकता । और वह उपनयन नित्यविधिभूत अध्ययनका अंग होनेसे अंगीभूत अध्ययनमें भी नित्यताकी कल्पना करता है ।

शङ्का—उपनयनको अध्ययनका अङ्ग मानना उचित नहीं है, कारण कि अध्ययनका आरम्भ—उपक्रम—न करके ही उपनयनका विधान किया गया है ।

यद्यनङ्गत्वे संस्कारकर्मत्वं नोपपद्यते, तर्हि हिरण्यधारणवद् गत्यन्तरं कल्पनीयम्। 'हिरण्यं भार्यम्' इत्यत्र हि न तावद्धिरण्यधारणस्य प्रयाजादिवदर्थकर्मता घटते, कर्मकारकप्राधान्येन विधानात्। यदि संस्कारकर्मत्वं तदाऽपि संस्कार्यहिरण्यद्वारा क्रतुविशेषेण संबध्येत उत क्रतुमात्रेण। नाऽऽद्यः, विशेषसंबन्धयेवोधकश्रुत्यादीनामभावात्। न द्वितीयः, एकस्य संस्कारस्य सर्वक्रतूपकारित्वानुपपत्तेः। अतः संस्कारकर्मत्वं परित्यज्याऽभ्युदयफलः स्वतन्त्रो विधिरभ्युपगतः। एवमुपनयनविधिरपि स्वतन्त्र एवाऽभ्युदयफलः स्यात्। अत्रोच्यते, अनारभ्याऽधीतस्योपनयनस्याऽध्ययनाङ्गत्वबोधका[illegible]न्त्र-तन्त्रतृतीयाध्यायोक्तश्रुत्यादिप्रमाणानामभावेऽपि तत्रस्थचतुर्थाध्या[illegible]ध्याक्षेपरूपोपादानप्रमाणेनोपनयनस्याऽध्ययनाङ्गत्वं सिध्यति। [illegible]का आठ [illegible]का वाक्यके

यदि अङ्ग न माननेमें उपनयन संस्कारकर्म नहीं बन सकता, उपनयनसंस्कारसे दृष्टान्तसे दूसरी गतिकी कल्पना करनी चाहिए। [हिरत' इस वाक्यमें गतिकल्पना दिखलाते हैं]—'हिरण्य—सुवर्ण—धारण करना' हैं, संस्कारका परामर्श सुवर्णका धारण प्रयाज आदिके समान अर्थकर्म नहीं [illegible]लक लिया जाता और कर्मकारककी प्रधानतासे उसका विधान किया गया है। [illegible]ो सकता, परन्तु ऐसा प्रत्ययार्थ कर्मरूप अर्थ प्रधान है) यदि वह संस्कारकर्म मा[illegible]है] ऐसा कहना भी यह होगा कि क्या संस्कार्य हिरण्य द्वारा यज्ञविशेषसे वह स[illegible]है (और 'तत्' शब्द सामान्यसे ? प्रथम कल्प नहीं बन सकता; क्योंकि विशेष क[illegible]त अर्थका बोध कराना बोध करनेवाले श्रुति आदि कोई प्रमाण नहीं हैं। दूसरा प[illegible]ध्यनकी उपसचिके— क्योंकि एक संस्कार सब क्रतुओंका उपकारक नहीं बन सकता [illegible] पूर्वमें ही दिखला कर्म माननेका परित्याग करके उसे अभ्युदय देनेवाला स्वतन्त्र [illegible] गया है। इसी प्रकार उपनयनको भी अभ्युदय देनेवाली स्वतन्त्र विधि ही मानना चाहिए, अध्ययनका अङ्ग नहीं मानना चाहिए।

समाधान—इस आशङ्कामें कहा जाता है—किसीका उपक्रम न करके पढ़े गये उपनयनविधानमें अध्ययनकी अङ्गताके बोधक पूर्वमीमांसाके तीसरे अध्यायमें कहे गये श्रुति आदि प्रमाण न होते हुए भी उसी शास्त्रके चौथे अध्यायमें कहे गये विधिके आक्षेपरूप उपादान प्रमाणसे उपनयन अध्ययनका अङ्ग सिद्ध होता है और आचार्यके समीप गये बिना अध्ययन बन नहीं

स्वचार्योपसत्तिमन्तरेणाऽध्ययनम् , लिखितपाठादिप्रतिषेधेनाऽऽचार्याधीनश्चे-
दमधिप्वेत्युपसत्तौ नियमविधानात् । ततोऽध्ययनविधिरुपसत्तिं स्वाङ्गत्वेनाऽऽ-
क्षिपति । तथोपनयनाख्यसंस्कारविधिश्च प्रयोजनमपेक्षमाण उपसत्तिसमवेतमे-
वाऽदृष्टं कल्पयति, दृष्टसमवाय्यदृष्टसंभवे स्वतन्त्रादृष्टायोगात् । ततश्चोपनयना-
ध्ययनविधिद्वयोपादानसामर्थ्यादध्ययनाङ्गत्वमुपनयनस्याऽवगम्यते । न च वा-
च्यमङ्गत्वेऽपि न प्रोक्षणादिवत्संस्कारकर्मतयाऽङ्गता प्रयाजादिवत्फलोपकार्यङ्ग-
तैव किं न स्यादिति । अङ्गिस्वरूपनिष्पादकतया संनिपत्योपकारिणः संस्कार-
इत्युच्यते ...भ्यर्हितत्वात् । फलोपकार्यङ्गन्तु नाभ्यर्हितम् , अपूर्वद्वारेणाऽऽरादुपकारक-
यामतिप्रस अतो माणवकसंस्कारकर्मतयैवोपनयनमध्ययनस्वरूपोपकार्यङ्गम् । किं
नित्यतां क प्रमाणमच्छ्रुतिप्रकरणे अप्यध्ययनाङ्गत्वमुपनयनस्य गमयतः, अष्टवर्षो

ननूपनय... ते हुये वेदको स्वयं पढ़ लेनेका निषेध होनेसे आचार्यके अधीन ही
...रण कि आचार्यके पास जाकर 'यह पढ़ो' ऐसा पढ़नेके नियमका

शङ्का—उप... ...ध्ययनविधान उपसत्तिका (अर्थात् नियमपूर्वक आचार्यके पास
नित्य माना जाय, तो ...उपदेशानन्तर पढ़नेका) अपने अङ्गत्वरूपसे आक्षेप करता
समय बीतनेपर द्विगु... ...नयननामक संस्कारविधान प्रयोजनकी अपेक्षा करता हुआ
उत्पन्न हुए दोषका ...दृष्ट फलकी कल्पना करता है, कारण कि दृष्टगत अदृष्ट
विधान किया गया है ...रहनेपर स्वतन्त्र अदृष्टकी कल्पना नहीं होती, इस कारण
दोष दूर करनेकी ...ध्ययन दोनों विधियोंके उपादानके बलसे उपनयन ही
विधान नित्य नहीं हो... ...तीत होता है ।

समाधान—प्र... ...ध्ययनका अङ्ग होनेपर भी उपनयनको प्रोक्षण आदिके समान
द्विगुण व्रतका अन... ...रकर्मके रूपमें अङ्ग क्यों मानते हैं, अध्ययनका फलोपकारी ही अङ्ग क्यों
न माना जाय ?

समाधान—अङ्गी—प्रधानभूत—अध्ययनके स्वरूपका निष्पादक होनेसे उप-
नयन संनिपत्य उपकारी संस्कार ही अभ्यर्हित—उचित—है, फलका उपकारी अङ्ग
तो अभ्यर्हित नहीं है, कारण कि अपूर्वके द्वारा आरात् उपकारक है, इसलिए
माणवक—बालक—का संस्कार कर्म होनेसे ही उपनयन अध्ययनका स्वरूपो-
पकारी ही अङ्ग है । और भी हेतु है कि उपादान प्रमाणके तुल्य श्रुति तथा
प्रकरण ये दो प्रमाण भी उपनयन अध्ययनका अङ्ग है, ऐसा बोधन करते हैं ।

ब्राह्मण उपगच्छेत्सोऽधीयीतेति वाक्यविपरिमाणस्य विवक्षितत्वात् । तच्छ्रुतिरेवोपनयनसंस्कृतं माणवकमादायाऽध्ययने विनियुङ्क्ते । न च तच्छब्देनैव माणवकस्यैव परामर्शो न संस्कारस्येति वक्तुं युक्तम्, संस्कारस्याऽनन्तरप्रकृतत्वात् । न च श्रुतेरनाकाङ्क्षितस्य समर्पणप्रसङ्गः, उपनयनाध्ययनयोरुपसत्तिद्वारा परस्परसाकाङ्क्षत्वस्य दर्शितत्वात् । ननु सोऽधीयीतेत्यत्र संस्कृतो माणवकः प्रातिपदकार्थ एव न तु विभक्त्यर्थः । न च प्रातिपदिकमात्रमङ्गाङ्गिभावसंबन्धं बोधयितुमलम्, द्वितीयाश्रुत्यादेरेव तद्बोधकत्वादिति चेद्, मैवम्; प्रातिपदिकस्याऽप्यन्विताभिधायितया संबन्धप्रतिपादकत्वात् । अन्वि-

---

'आठ वर्षके ब्राह्मणका उपनयन होना चाहिए' इस श्रुतिवाक्यका आठ वर्षका ब्राह्मण आचार्यके समीप जाय और वह पढ़े, इस प्रकारका वाक्यके विपरिणाममें—परिवर्तनमें—तात्पर्य है । इसलिए श्रुति ही उपनयनसंस्कारसे संस्कृत बालकको लेकर अध्ययनमें प्रेरित करती है । 'सोऽधीयीत' इस वाक्यमें 'तद्' शब्दसे केवल बालकका ही परामर्श—बोध—होता है, संस्कारका परामर्श नहीं होता । [यदि संस्कार भी परामर्श होता तो संस्कृत बालक लिया जाता और उससे उपनयनरूप संस्कार अध्ययनके स्वरूपका उपपादक हो सकता, परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि तत् शब्द केवल माणवकका परामर्श करता है] ऐसा कहना भी युक्तियुक्त नहीं है, कारण कि संस्कार ही समीपमें प्रकरणप्राप्त है (और 'तत्' शब्द स्वभावतः समीपवर्तीका परामर्श करता है) । श्रुतिमें अनपेक्षित अर्थका बोध कराना दोष इससे नहीं आता, कारण कि उपनयन और अध्ययनकी उपसत्तिके—नियमपूर्वक आचार्यके पास बैठनेके—द्वारा परस्पर अपेक्षा पूर्वमें ही दिखला चुके हैं ।

शङ्का—'सोऽधीयीत—वह पढ़े' इस वाक्यमें संस्कारयुक्त बालक तो प्रतिपादिकका ही अर्थ है, विभक्तिका अर्थ नहीं है (विभक्त्यर्थ होनेसे ही उपनयन और अध्ययनमें अङ्गाङ्गिभावका बोध हो सकता है) केवल प्रातिपदिक अङ्गाङ्गिभावका बोध करनेमें समर्थ नहीं है, कारण कि द्वितीया विभक्तिका श्रवण आदि ही उक्त सम्बन्धका बोधक है ।

समाधान—अन्वित—सम्बद्ध—अर्थका वाचक होनेसे प्रतिपदिक भी सम्बन्धका बोधक हो सकता है । यदि अन्वित अर्थका वाचक न

ताभिधायित्वाभावे तत्प्रयोग एव न स्यात्। तस्मात्तच्छब्दश्रुतिरङ्गत्वं गमयति। तथा प्रकरणमपि तद्गमकं वाजसनेयिशाखायां सर्वस्मृत्यनुमितश्रुतिषु चोपनयनं प्रकृत्याऽध्ययनविधानात्। न चैवमुपनयनप्रकरणे पठितमध्ययनमेवाऽङ्गं प्रसज्येतेति वाच्यम्, अध्ययनस्य फलत्वात्। फलवत्संनिधावफलं तदङ्गमिति न्यायेनोपनयनस्यैवाऽङ्गत्वप्राप्तेः। अत उपादानश्रुतिप्रकरणैरुपनयनस्याऽङ्गत्वं सिद्धम्। तच्चोपनयनं स्वयं नित्यभूतमङ्गिनोऽध्ययनस्य कथं न नित्यतामापादयेत्। नह्यङ्ग्यभावे कदाचित्कुत्रचिदङ्गं संभवति। अस्ति ह्यध्ययनस्याऽप्युपनयनवदकरणे प्रत्यवायः।

'योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥'

माना जाय, तो उसका प्रयोग ही न होगा। ('सोऽधीयीत' यहांपर प्रधानविधिभूत अध्ययनसे अन्वित ही तच्छब्दका अर्थ है, अन्यथा उक्त प्रयोग न होगा) इस कारण 'तत्' शब्दका श्रवण ही उपनयनकी अङ्गता कहता है। एवं प्रकरण भी उसकी (अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्धकी) प्रतीति कराता है, कारण कि वाजसनेयिशाखामें और सम्पूर्ण स्मृतियोंमें एवं अनुमित श्रुतियोंमें भी उपनयनका प्रक्रम (उपक्रम) करके अध्ययनका विधान किया गया है। इस दशामें तो उपनयनके प्रकरणमें पढ़े गये अध्ययनके अङ्गत्वके प्रसङ्गकी आशङ्का भी नहीं करनी चाहिए, कारण कि अध्ययन फल है। फल अङ्ग नहीं हो सकता, [वह तो (प्रधान) अङ्गी होगा] और 'फलवान्‌के सन्निधानमें उसका अङ्ग फलशून्य होता है' इस न्यायसे उपनयनको ही अङ्ग होनेका अवसर है। इसलिए उपादान, श्रुति तथा प्रकरण—इन तीनों प्रमाणोंसे उपनयन अङ्ग ही सिद्ध होता है, और वह अङ्गस्वरूप उपनयन नित्य होता हुआ अपने अङ्गी अध्ययनकी नित्यताका प्रतिपादन कैसे नहीं करेगा? (अर्थात् नित्यभूत अङ्ग अपने अङ्गीकी नित्यताको भी सिद्ध करेगा)। यह निश्चित है कि अङ्गीके अभावमें अङ्गका रहना सम्भव नहीं हो सकता और उपनयनके न करनेमें जैसे प्रायश्चित्तका श्रवण है, वैसे ही अध्ययनके न करनेपर भी प्रायश्चित्तका श्रवण है—'जो ब्राह्मण वेदको न पढ़कर दूसरे शास्त्रोंमें परिश्रम करता है, वह इसी जीवनमें अपने वंशके सहित शूद्रतुल्य हो जाता है।' जो श्रोत्रिय नहीं तथा

अश्रोत्रिया अननुवाक्या अनग्नयः शूद्रसधर्माणो भवन्तीति स्मरणात्। तथा च नित्यमध्ययनं द्रव्यकामानुष्ठेयेनाऽनित्येनाऽध्यापननेन कथं प्रयुज्येत। न च वाच्यं काम्यमप्यध्यापनं नित्यसमीहितजीवनफलहेतुत्वान्नित्यमिति। तावताऽध्यापानस्य नित्यवदनुष्ठानासिद्धेः। शब्दप्रमाणाद्धि नित्यकर्त्तव्यताप्रमितौ संध्यावन्दनादाविवाऽकरणे प्रत्यवायभयान्नियमेन पुरुषः प्रवर्त्तते। अध्यापनस्य तु न शब्दान्नित्यकर्त्तव्यता प्रमीयते, किन्तु नित्यसमीहितस्य जीवनाख्यफलस्य हेतुत्वेन कल्प्यते। नहि तथा कल्पयितुं शक्यम्, अध्यापनमन्तरेण याजनप्रतिग्रहादिनाऽपि जीवननिष्पत्तेः।

अथ मन्यसे उपनयनाध्यापनयोर्नित्यपुत्रोत्पादनविधिशेषतया नित्यत्वं भविष्यति। नित्यश्च पुत्रोत्पादनविधिः, नाऽपुत्रस्य लोकोऽस्तीत्य-

---

अनुवाक नहीं जानते एवं अग्निधारण नहीं करते वे ब्राह्मण शूद्र जैसे होते हैं, ऐसा स्मृतिकारोंने कहा है। इसलिए द्रव्यकी कामनासे किये जानेवाले अनित्य (काम्य) अध्यापनसे नित्य अध्ययनकी प्रयुक्ति कैसे हो सकती है ?। अध्यापन काम्य होता हुआ भी नित्य हो सकता है, कारण कि अध्यापन नित्य तथा अभीष्ट जीवनरूप फलका कारण है, [जीवनकालको सुखमय बनानेवाला द्रव्योपार्जन सर्वदा अभीष्ट होनेसे जीविका नित्य है और उसका कारण अध्यापन है, अतः वह भी नित्य हो सकता है] ऐसा भी कहना नहीं बन सकता, कारण कि ऐसा माननेपर भी अध्यापनके, नित्य विधिके तुल्य, अनुष्ठानकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि शब्द प्रमाणसे नित्यविधिका निश्चय होनेपर सन्ध्यावन्दन आदिमें जैसे न करनेसे प्रायश्चित्तके डरसे नियमपूर्वक पुरुष प्रवृत्त होता है, इसलिए नित्य सन्ध्यावन्दन आदि विधिका अनुष्ठान शब्दतः नित्य प्राप्त होता है। अध्यापनकी नित्यता तो शब्द द्वारा निश्चित नहीं होती, किन्तु नित्य तथा अभीष्ट जीवन—जीविकारूप—फलका कारण होनेसे उसकी नित्यताकी कल्पना की जाती है, परन्तु ऐसी कल्पना करना सम्भव नहीं है, क्योंकि अध्यापनके बिना भी यज्ञ करने तथा शुद्ध परिग्रहसे भी जीवनकी सिद्धि हो सकती है।

शङ्का—वादी मानता है कि उपनयन और अध्यापन दोनोंकी नित्यता नित्यभूत पुत्रोत्पादन विधिके अङ्ग होनेसे सिद्ध होगी और पुत्रोत्पादन विधि नित्य

करणे प्रत्यवायश्रवणात्। तथा 'त्रिभिर्ऋणैर्वा जायते ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः' इति ऋणत्रयमुपन्यस्य पश्चात् 'एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारी चाऽस्ति' इति पुत्रिणः पितॄन्प्रत्यानृण्यं दर्शयति। तच्चाऽऽनृण्यं पुत्रस्य पिण्डपितृयज्ञाद्यनुष्ठानद्वारेण पितृतृप्तिहेतुत्वादुपपद्यते। तदनुष्ठानं चाऽनुपनीतस्याऽनधीतस्य वेदार्थमजानतो न संभवति। अतो नित्यस्य पुत्रोत्पादनविधेः फलपर्यन्ततापेक्षितमनुशासनं तच्छेषतया विधीयते। तस्मात्पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुः तस्मादेनमनुशासतीति। ततश्च पितुरेव नित्यपुत्रोत्पादनविधिसामर्थ्यादुपनयनाध्यापनविधीनां नित्यत्वं प्राप्तमिति।

है, कारण कि 'पुत्रहीनको कोई लोक (सद्गति) प्राप्त नहीं होता' इस प्रकार पुत्रोत्पादन न करनेमें प्रायश्चितका श्रवण है, और 'तीनों ऋणोंके साथ पुरुष उत्पन्न होता है' ऋषियोंके लिए ब्रह्मचर्य, देवताओंके लिए यज्ञ एवं पितरोंके लिए पुत्र-सन्तान, इस प्रकार तीन ऋणोंका उल्लेख करनेके अनन्तर—यह ऋण मुक्त हो जाता है, जो पुत्रवान् हो जाय और जो यज्ञ करे तथा जो ब्रह्मचारी हो, इस प्रकार पुत्रवान् पुरुष पितरोंके प्रति ऋणसे मुक्त होता है, यह दिखलाया गया है। वह ऋणमुक्तता पितरोंकी तृप्तिके कारणभूत पिण्डपितृयज्ञ आदिके अनुष्ठान द्वारा उपपन्न होती है। और उन पिण्डपितृ आदि यज्ञोंका अनुष्ठान ऐसे पुत्रसे नहीं हो सकता—जिसका उपनयन संस्कार न हुआ हो तथा जिसने वेद न पढ़ा हो एवं जो वेदके अर्थको न जानता हो। इसलिए नित्यभूत पुत्रकी उत्पादनविधिकी सफलताके लिए अपेक्षित अनुशासनका पुत्रोत्पादनविधिके अङ्गके रूपमें ही विधान किया जाता है, इस कारण 'शिक्षित पुत्र ही लोकोंकी प्राप्तिका साधन कहा गया है, इसलिए ही उसको आचार्य वेदादिका उपदेश देते हैं' (अर्थात् पुत्रके बिना पुण्यलोक नहीं मिल सकते और पुत्र होनेपर भी उसके उपनयन संस्कार और वेदाध्ययन कराये बिना फलकी प्राप्तिका सम्भव नहीं है, इसलिए उत्तम लोककी प्राप्तिरूप फलकी सिद्धिके लिए उपनयन तथा अध्यापन आवश्यक है एवं पुत्रोत्पादन विधिको सफल करनेवाले दोनों उसके अङ्ग हैं। इस निष्कर्षसे पिताको ही नित्य पुत्रोत्पादन विधिकी सामर्थ्यसे उपनयन तथा अध्यापनविधिका नित्य होना प्राप्त होता है। (इस प्रघट्टकसे वादीका आशय यह है कि दिया गया

नैतत्सारम्, संप्रतिपत्तिकर्मविधिशेषार्थवादरूपस्य 'तस्मात्पुत्रम्' इति वाक्यस्याऽनुशासनविधायकत्वायोगात्। यदा हि पिताऽरिष्टादिना स्वस्य मरणं निश्चिनुते तदा स्वानुष्ठेयानि वेदतदर्थतत्फलानि पुत्रे समर्पयेत् स च पुत्रस्तान्यनुष्ठेयतया स्वीकुर्यात् तदेतत्संप्रतिपत्तिकर्म। तथा च श्रूयते 'अथातः संप्रतिपत्तिर्यदा प्रैष्यन्मन्यते तदा पुत्रमाह त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं लोक इति। स पुत्रः प्रत्याहाहं ब्रह्माहं यज्ञोऽहं लोक इति।' तत्र च संप्रतिपत्तिकर्मणि पूर्वानुशासनमन्तरेणाऽकस्मादेव सकलकर्तव्यसंग्रहानुपपत्तेः फलपर्यन्तपुत्रोत्पादनविधिनाऽऽक्षिप्तमनुशासनं पूर्वनिर्वृत्तमेवाऽर्थवादतयाऽनेन वाक्येनाऽनूद्यते। ननु मा भूदेतद्वाक्येऽनुशासनविधानं तथाऽपि नित्य-

---

नित्यानित्यसंयोगविरोधरूप दोष अध्यापनके नित्य माननेपर भी नहीं आ सकता है)।

समाधान—अध्यापनमें उक्त प्रकारसे नित्यत्वका साधन करना सारभूत नहीं है, कारण कि अपना ही अनुष्ठेय समझकर पिताके द्वारा समर्पित कर्मोंका स्वीकार करना संप्रतिपत्तिकर्म कहलाता है। कर्मविधिका अङ्ग तथा अर्थवादस्वरूप 'तस्मात्पुत्रम्—' यह पूर्वकथित वाक्य उपदेशका विधायक हो नहीं सकता है। जब कि पिता अरिष्ट आदिसे अपना (आसन्न ही) मरण निश्चित कर ले तब अपने किये हुए वेदके अध्ययन तथा अर्थविचार एवं उसके फल सबको ही पुत्रके अधीन कर दे और वह पुत्र उन सबका अनुष्ठान अपना कर्तव्य समझ कर उन्हें स्वीकार करे' इसको संप्रतिपत्तिकर्म कहते हैं, ऐसा ही श्रुतिमें कहा गया है—जब पिता अपनेको मरणासन्न समझता है तब पुत्रसे कहता है कि तुम ब्रह्म हो, तुम यज्ञ हो, तुम लोक हो, तब वह पुत्र कहता है—मैं ब्रह्म, मैं यज्ञ, मैं लोक हूँ। उस सम्प्रतिपत्ति कर्ममें पहले दिये हुए उपदेशके बिना अकस्मात् ही सम्पूर्ण कर्तव्योंका सङ्ग्रह—स्वीकार कर अनुष्ठान करना—उपपन्न नहीं हो सकता, इसलिए पहले ही (मरणासन्न अवस्थाके उपदेशसे पूर्व ही) किये गये अनुशासनका (कर्तव्यके उपदेशका) ही फलपर्यन्त पुत्रकी उत्पादनविधिसे आक्षेप होता है, जिसका कि अर्थवादके रूपमें इस वाक्यसे अनुवाद किया जाता है, अतः 'तस्मात्पुत्रम्—' इत्यादि वाक्य विधायक नहीं है।

पुत्रोत्पादनविधिसामर्थ्यादेव पितुरुपनयनाद्यनुशासनविधिर्नित्य एव प्राप्त इति चेद्, मैवम्; पितुः पुत्रं प्रत्यनुष्ठापकत्वात्। अन्यथा स्तनन्धयस्येतरस्य वा मृतपितृकस्योपनयनाद्यभावप्रसङ्गात्। अनुशासनं तु कर्त्तव्यार्थोपदेशनमात्रमिति श्रौतलिङ्गादवगम्यते। तथा च श्रुतिः 'श्वेतकेतुर्हारुणेय आस तं ह पितोवाच श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यं न वै सोम्यास्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति'। न च वाच्यं पितरि कथञ्चिन्मृते माणवक एवाऽऽचार्यान्तरमाहूय नित्यमुपनयनादिकं सम्पादयिष्यति ततोऽनुष्ठापनमेवाऽ-

---

शङ्का—यद्यपि 'तस्मात् पुत्रम्'—इस वाक्यमें अनुशासनका विधान मान भी लिया जाय, तथापि नित्यभूत पुत्रोत्पादनविधिकी ही सामर्थ्यसे पिताके लिए उपनयन आदि अनुशासनका विधान नित्य ही प्राप्त होता है। [तात्पर्य यह है कि जबतक उपनयन आदि अनुशासन पिता न करें तबतक उस पुत्रका पिण्डपितृयज्ञादिमें अधिकार न होनेसे नित्यभूत पुत्रोत्पादनका विधान सफल न होगा, अतः पिताको अनुशासनविधान भी नित्य ही प्राप्त होता है।]

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि पुत्रके प्रति अनुष्ठानका प्रयोजक पिता नहीं है। नहीं तो (यदि पिताके ही कारण अनुशासनका सम्भव होता तो) जिस दुधमुँहे या कुछ वयस्क (उपनयनयोग्य) बालकका पिता मर गया होगा उसके उपनयन आदि अनुशासनका अभाव हो जायगा, [क्योंकि अनुष्ठानके कारण पिता तो उसके रहे ही नहीं] किन्तु अनुशासन तो कर्तव्यके पालनके लिए उपदेशमात्र है, इस प्रकार श्रुतिसिद्ध लिङ्गसे प्रतीत होता है। जैसे कि श्रुति है—'अरुणिके पुत्र श्वेतकेतुसे उसका पिता उपदेश करता है'—आरुणेय श्वेतकेतु कोई एक (ब्राह्मण) था, उससे उसके पिता कहते हैं कि 'हे श्वेतकेतु! ब्रह्मचर्य (वेदाध्ययनव्रत) धारण करो, हे सौम्य! अर्थात् हे सुशील उत्तम मतिवाले पुत्र! हमारे कुलका बालक कोई भी वेदका अध्ययन तथा मनन किये बिना ब्राह्मण जैसा नहीं हुआ है'। (अर्थात् संस्कार तथा वेदाध्ययनादि कर्महीन जातिमात्रसे ब्राह्मणब्रुव नहीं हुआ है)।

शङ्का—दुरदृष्टवश पिताके मर जानेपर भी बालक (माणवक) ही किसी अन्य आचार्यको बुलाकर उपनयन आदि संस्कारोंका सम्पादन कर लेगा, इससे उसके लिए अनुष्ठान ही अनुशासन होगा 'अर्थात् अनुशासनका विधान तो नित्य ही हुआ'।

नुशासनमस्त्विति । तत्र किं माणवकः स्वाधिकारसिद्ध्यर्थमाचार्यान्तरं करोति किं वाऽऽचार्यनियोगसिद्ध्यर्थम् ? नाऽऽद्यः, अध्यापनप्रयुक्तिमध्ययनस्य वदता भवता माणवकस्य पृथगधिकारानङ्गीकारात् । न द्वितीयः, नह्यन्यनियोगोऽन्यस्य कर्त्तव्यबुद्धिमुत्पादयति । न चाऽकर्त्तव्यानुष्ठानाय साधनसम्पादनं युक्तम् । अथ साधनान्तरप्रतिनिध्युपादानवदधिकारिणोऽपि प्रतिनिध्युपादानेन कर्त्तव्यं माणवकः संपादयेत् , तन्न, वैषम्यात् । सर्वत्र ह्यधिकारिणः कर्त्तव्यमनुष्ठातुं साधनान्तरप्रतिनिधिरादीयते । अधिकारिप्रतिनिधिस्तु कर्त्तव्यमनुष्ठातुमादीयेत । न तावन्मृतस्याऽऽचार्यस्य कर्त्तव्यं

समाधान—उक्त शङ्कामें प्रष्टव्य यह होता है कि क्या 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधिसे प्राप्त अपने अधिकारकी सिद्धिके लिए माणवक मृत पितासे अतिरिक्तको आचार्य बनाता है ? अथवा 'तमध्यापयीत' इस विधिसे प्राप्त आचार्यके नियोगकी सिद्धिके लिए ? इनमें प्रथम कल्प नहीं कह सकते, कारण कि 'अध्ययनकी प्रयुक्ति–अनुष्ठान–अध्यापनके द्वारा होती है, इस प्रकारके आपके मतमें माणवकका–बालकका—अलग कोई अधिकार ही नहीं माना गया है । दूसरा कल्प भी नहीं हो सकता, क्योंकि दूसरेका नियोग —अधिकार— दूसरेकी कर्तव्य बुद्धिको उत्पन्न नहीं कर सकता और जो कर्तव्य नहीं है उसके अनुष्ठानके लिए (आचार्यकरण आदि) उपायोंका सम्पादन करना युक्तिसङ्गत नहीं होता, इससे कर्तव्य समझे बिना ही आचार्यकरणका सम्पादन करेगा, इस शङ्काका अवकाश नहीं रह जाता ।

शङ्का—जैसे साधनान्तर प्रतिनिधिरूपसे लिये जाते हैं, वैसे ही अधिकारीके—आचार्यके—कर्तव्यका भी प्रतिनिधिके उपादानसे माणवक सम्पादन करेगा ।

समाधान—ऐसा नहीं हो सकता, कारण कि दृष्टान्तमें यहांपर विषमता है । [दृष्टान्तका स्वरूप दिखलाते हैं]—सर्वत्र ही अधिकारीके कर्तव्यका अनुष्ठान करनेके लिए दूसरे साधनभूत प्रतिनिधिका उपादान होता है । और अधिकारीका प्रतिनिधि तो कर्तव्यके अनुष्ठानके लिए लिया जाता है । [अधिकारीको अपना कर्तव्य करना है; परन्तु निरुक्त साधन नहीं मिलता है, ऐसी दशामें दूसरा साधन प्रतिनिधि लिया जाता है, एवं कर्तव्य करना आवश्यक है, परन्तु कारणवशात् अधिकारी समर्थ नहीं हुआ तब वह अन्य प्रतिनिधि करेगा, क्योंकि कर्तव्य करना आवश्यक है, अतः अधिकारि-

संभवति, विधिसंबन्धनिमित्तस्य निवृत्तत्वात् । नाऽपि प्रतिनिधित्वेनोपादेयस्याऽऽचार्यस्य तत्संभवः । तस्याऽऽचार्यस्य कर्त्तव्यत्वसिद्धयुत्तरकालीनत्वात् । अतो न माणवक आचार्यान्तरमादायाऽध्येतुमर्हति । अथ मृताचार्यशिक्षितं माणवकमन्य आचार्यः स्वीकृत्य स्वाधिकारं निर्वर्तयितुमध्यापयेत् , तदप्ययुक्तम् ; पूर्वोपनीतस्य माणवकस्याऽऽचार्यान्तरेण पुनरुपनयनासंभवे सत्युपनेतृत्वलक्षणस्याऽङ्गस्य वैकल्येऽङ्गिनोऽध्यापनस्य निष्पत्त्ययोगात् । न

वैकल्य या साधनवैकल्यमें प्रतिनिधिका ग्रहण होता है; परन्तु जहांपर कर्तव्य प्राप्त ही नहीं है, ऐसे स्थलमें प्रतिनिधिका ग्रहण प्राप्त नहीं होता, इस आशयसे दार्ष्टान्तिक—आचार्यकरण—में वैषम्य दिखलाकर प्रतिनिधिग्रहणका असम्भव दिखलाते हैं] मरे हुए आचार्यके कर्तव्यका तो सम्भव नहीं है, क्योंकि विधिके सम्बन्धका निमित्त तो वहांपर निवृत्त हो गया है, ['अध्यापयीत' इस विधिके अधिकारी आचार्यके मर जानेपर उक्त विधि किस नियोगका बोधन करेगी' इसलिए मरनेपर 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' इसके अधिकारके तुल्य किसी भी विधिका अधिकार नहीं रह जाता, अतः मृतका कुछ कर्तव्य ही नहीं है] और 'मृत पिताके' प्रतिनिधिस्वरूपसे लिये गये उस दूसरे आचार्यका ही वह कर्तव्य हो सकता है, कारण कि वह (प्रतिनिधिभूत) आचार्य तो कर्तव्यकी सिद्धिके अनन्तर कालमें ही किया गया है । [तात्पर्य यह है कि उपनयन, अध्यापन आदिको माणवकने कर्तव्य समझकर निर्द्धारित कर लिया, अब पिताके अभावमें उस कर्तव्यका पालन कैसे हो, तब उसने आचार्यकरण किया जिससे प्रतिनिधिभूत आचार्य उपनयन आदिको अपना कर्तव्य समझे ।] इस कारण माणवक (जिसका पिता मर गया हो) दूसरेको आचार्य बनाकर अध्ययन नहीं कर सकता ।

शङ्का—आचार्य–पिता–ने माणवकको शिक्षा अर्थात् उपनयन संस्कार आदि उपदेश दे दिये, परन्तु पढ़ाये बिना मर गया, ऐसे मरे हुए आचार्य द्वारा शिक्षित माणवकको दूसरा आचार्य शिष्य बनाकर अपने अधिकारकी सिद्धिके लिए पढ़ा लेगा ।

समाधान—यह भी कथन युक्त नहीं है, कारण कि पहले (मृत) आचार्य द्वारा उपनीत शिष्यका दूसरे आचार्य द्वारा दुबारे उपनयन संस्कारका सम्भव न होनेसे उपनयनरूप अङ्गके अभावमें अङ्गीभूत अध्यापनकी

चाऽनेनाऽऽचार्येणाऽङ्गभूतमुपनयनं माणवकान्तरेऽनुष्ठितमिति वाच्यम्, तथा सत्यङ्गिनोऽध्यापनस्याऽपि तत्राऽनुष्ठितत्वेन पुनरनुष्ठानायोगात्। अन्यथा स्वोपनीतस्याऽध्यापनात् प्रागेव मृतावङ्गिमात्रानुष्ठानाय माणवकान्तरस्वीकारः तर्ह्यनुपनीतमप्यध्यापयेत्। यदि स्वोपनीतानध्याप्य द्रव्यबाहुल्यायाऽन्यानप्यध्यापयतीत्युच्येत, तदा दरिद्रं नाऽध्यापयेत्। शुश्रूषायै दरिद्रमप्यध्यापयिष्यतीति चेद्, एवमपि त्वन्मते लौकिकवैदिकव्यवहारो दुर्वारः। लोके हि माणवककर्त्तव्यनिष्पत्तये एवाऽऽचार्योऽन्विष्यते नाऽऽचार्यकर्त्तव्यनिष्पत्तये माणवकः। वेदेऽपि सत्यकामो ह जाबालो ब्रह्मचर्यायाचार्यं स्वयमेवाऽन्विष्योपसन्नवानिति गम्यते। तथा च श्रुतिः 'स ह हारिद्रुमन्तं गौतममेत्योवाच ब्रह्मचर्यं भगवति वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति' तदेवमध्यापनस्य नित्यत्वे बहुदोपसद्भावादनित्येन च तेन नित्यस्याऽध्ययनस्य प्रयुक्तौ

सिद्धि नहीं हो सकती। इससे विपरीत [अङ्गवैकल्यसे भी अङ्गीकी सिद्धि हो सकती है तो] अपने द्वारा उपनीत शिष्यके पढ़ानेसे पूर्व ही मरण हो जानेपर केवल अङ्गीभूत अध्यापनकी (पढ़ानेकी) सिद्धिके लिए दूसरे माणवकका लेना स्वीकार हो तो, जिसका उपनयन न किया गया हो, उसको भी पढ़ा दिया जा सकता है। यदि अपने द्वारा उपनीत शिष्योंको पढ़ाकर अधिक द्रव्यकी अभिलाषासे दूसरोंको भी पढ़ा लिया जायगा, ऐसा कहो तो धनहीन बालकको पढ़ाना प्राप्त न होगा। यदि शुश्रूषा—सेवा—के लिए धनहीनका भी पढ़ाना प्राप्त होगा, तो ऐसा माननेपर लौकिक वैदिकव्यवहार तुम्हारे मतमें दुर्वार हो जायगा।

लोकमें बालकके कर्तव्यकी निष्पत्तिके लिए ही आचार्यकी अन्वेषणा होती है, आचार्यके कर्तव्यकी सिद्धिके लिए माणवककी खोज नहीं की जाती। एवं वेदमें भी सत्यकाम जाबाल ब्रह्मचर्य (वेदाध्ययन) के लिए स्वयं आचार्यकी खोजके लिए गुरुकुलमें पहुँचा था। जैसे कि श्रुति है—'स ह' इत्यादि। अर्थात् वह गौतमके पास जाकर कहने लगा भगवन्! मैं नियमपूर्वक वेद पढ़ना चाहता हूँ, इसलिए आपका शिष्य बनूं। इस प्रकार अध्यापनविधिको नित्य माननेमें बहुत दोषोंके आ जानेसे उसे अनित्य ही मानना चाहिए, तब उस अनित्य अध्यापनसे

नित्यानित्यसंयोगविरोधात् स्वविधिप्रयुक्तमेवाऽध्ययनमङ्गीकार्यम् ।

ननूपनयनाध्ययनयोः स्वविधिप्रयुक्तत्वे सति तत्प्रयुक्ततयैवोपनयनाध्यापनसिद्धेरुपनयीत तमध्यापयीतेति तद्विधानमनर्थकमिति चेद्, मैवम् , नाऽत्राऽऽचार्यव्यापारयोरुपनयनाध्यापनयोर्विधिः, किन्तु माणवकव्यापारयोरुपगमनाध्ययनयोः । ननु वाक्ये प्रयोजककर्तुराचार्यस्य व्यापारौ प्रतीयेते, तत्र साक्षात्कर्तुर्माणवकस्य व्यापारयोः स्वीकारे विरोधाज्जीवनार्थतया प्राप्तावाचार्यव्यापारावनूद्याऽप्राप्तयोर्माणवकव्यापारयोर्विधानस्य न्याय्यत्वात् । नाऽपि शब्दविरोधः, 'एतया ग्रामकामं याजयेत्' इत्यत्र प्रयोजकव्यापारमन्तरेण स्वार्थेऽपि णिच्प्रत्ययप्रयोगदर्शनात् । याजनस्य वृत्त्यर्थतया प्राप्तस्याऽनुवादेनाऽप्राप्तं यजनमेव विधीयते । एवम् 'अध्यापयीत' इत्यत्र किं न स्यात् ।

नित्यभूत अध्ययनकी प्रयुक्ति माननेमें नित्यानित्यसंयोगका विरोध होनेसे अध्ययनको अपनी विधि द्वारा ही प्रयुक्त हुआ मानना चाहिए ।

शङ्का—यदि उपनयन और अध्ययन स्वविधिप्रयुक्त माने जायँ, तो उसीसे उपनयन और अध्यापनकी सिद्धि हो जायगी, फिर 'उपनयीत' 'अध्यापयीत' इन वाक्योंसे उनका विधान करना व्यर्थ ही है ।

समाधान—नहीं, वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि यहाँ आचार्यके व्यापारभूत उपनयन और अध्यापनकी विधि नहीं है, किन्तु माणवकके व्यापारभूत उपगमन और अध्ययनकी विधि है । यदि शङ्का हो कि वाक्यमें प्रयोजकभूत कर्ता आचार्यके उक्त दो व्यापार प्रतीत होते हैं, माणवकके नहीं होते, तो यह शङ्का भी युक्त नहीं है, कारण कि वहाँ प्रयोजक कर्ताको छोड़कर साक्षात् कर्ताके व्यापारका अङ्गीकार करने पर विरोध होता है, इससे जीवनके लिए प्राप्त आचार्यके व्यापारोंका अनुवाद करके अप्राप्त माणवकके व्यापारका विधान करना ही उचित प्रतीत होता है । शब्दके साथ भी विरोध नहीं है, क्योंकि 'एतया' इस वाक्यमें प्रयोजक व्यापारके बिना स्वार्थमें भी 'णिच्' प्रत्ययका प्रयोग देखा जाता है । वृत्तिके लिए प्राप्त याजनके अनुवादसे जैसे अप्राप्त यजनका विधान किया जाता है, वैसे ही 'अध्यापयीत' इत्यादि स्थलमें भी क्यों नहीं होगा ?

ननु याजयेदध्यापयेदित्यत्र कर्तृव्यापारस्य णिच्प्रत्ययार्थतयाऽवगमादेकतरस्य प्रसिद्धस्याऽनुवादेनेतरस्य विधिरस्तु। 'उपनयीत' इत्यत्र तु धात्वर्थस्यैव प्रयोजकव्यापारत्वादनभिधीयमानः कर्तृव्यापारः कथं विधीयते। न च वाच्यमुपनयने मा भून्माणवकव्यापारविधिः, अध्यापने तु भविष्यतीति, वाक्ययोः सारूप्यात्, उच्यते; प्रयोजकव्यापाराभिधायिनाऽपि नयतिधातुना माणवकव्यापारस्याऽनभिधीयमानस्याऽपि गम्यमानताया वक्ष्यमाणत्वात् स एव धातुना लक्षणयोपादाय विधीयते, न प्रयोजकव्यापारः। तस्य स्वयमेव प्राप्तत्वात्। ननु तत्प्राप्तिर्दुःसंपादा, इतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गात्। दक्षिणाशुश्रूषाद्यङ्गसहिते ह्यध्ययने माणवकस्य विहिते तस्य च स्वविधिप्रयुक्तौ सत्यां वृत्त्यर्थतयाऽऽचार्यप्रवृत्तिः प्राप्नोति।

शङ्का—'यज्ञ करावे' 'अध्ययन करावे' इन वाक्योंमें प्रेरकरूप कर्ताके व्यापारकी 'णिच्' प्रत्ययके अर्थके रूपमें प्रतीति होती है (वह धात्वर्थ याजन, तथा अध्ययनकी प्रयुक्ति करा सकता है) इनमेंसे एक अर्थ जो प्रसिद्ध है उसका अनुवाद करके दूसरेका विधान मानना चाहिए। 'उपनयीत' (उपनयन संस्कार करावे) इस वाक्यमें धातुका अर्थ ही प्रेरणारूप प्रयोजक—प्रेरक—व्यापार है, इसलिए अभिधा द्वारा प्रतीत न होनेवाले कर्त्ताके व्यापारका विधान कैसे किया जा सकता है? ऐसा भी नहीं कह सकते कि उपनयनमें माणवकके व्यापारका विधान न हो, परन्तु अध्यापनमें तो होगा, कारण कि दोनों वाक्योंमें समानता है।

समाधान—उत्तर कहा जाता है, प्रयोजक व्यापारका बोधन करनेवाले 'नी' धातुसे भी अभिधावृत्ति द्वारा बोधित न होनेवाला माणवकका व्यापार प्रतीत हो जाता है, ऐसा हमको आगे प्रतिपादन करना है। और उसी 'नी' धातुसे लक्षणा वृत्ति द्वारा प्राप्त हुए उस माणवकके व्यापारका ही विधान किया जाता है 'प्रयोजक व्यापारका विधान नहीं किया जाता, कारण कि प्रयोजक व्यापार तो स्वयं प्राप्त है।

शङ्का—उस माणवकके व्यापारके विधानकी प्राप्ति नहीं सिद्ध की जा सकती, कारण कि इसमें इतरेतराश्रय दोषका प्रसङ्ग आ जाता है। [इतरेतराश्रय दोष दिखलाते हैं]—दक्षिणा या सेवा आदि अङ्ग सहित अध्ययनका माणवकके लिए विधान करनेपर उस साङ्ग अध्ययनकी अपनी ही विधिसे प्रयुक्ति

वृत्त्यर्थप्रवृत्तौ प्राप्तायां तदनुवादेन माणवकव्यापारोऽध्ययनादिर्विधातुं शक्यत इति, मैवम्; ग्रामकामं याजयेदित्यत्र याजनप्राप्तेरपि दुःसंपादत्वप्रसङ्गात्। दक्षिणाद्यङ्गसहिते कर्तृव्यापारे विहिते सति वृत्त्यर्थत्वेन प्रयोजकव्यापारप्राप्तिस्तत्प्राप्तौ च तदनुवादेन कर्तृव्यापारविधिरिति परस्पराश्रयत्वात्। अथ स्वविधिप्रयुक्तेषु यागान्तरेषु सामान्येन वृत्त्यर्थतया प्राप्तं प्रयोजकव्यापारमनूद्य ग्रामकामस्य यागविशेषो विधीयेत तर्हीहाऽपि विध्यन्तरेषु सामान्यप्राप्तप्रयोजकव्यापारानुवादेनोपगमनाध्ययनादिमाणवकव्यापारो विधीयताम्। ननु याजनात्मक एव प्रयोजकव्यापारो यागान्तरेषु प्राप्तोऽस्ति। उपनयनाध्यापनात्मकस्तु तथा न विध्यन्तरेषु प्राप्त इति चेत्, तर्हि भाविनी प्राप्तिरस्तु। माणवकव्यापारविधिसामर्थ्यादेव

होनेपर जीविकाके निमित्त आचार्यकी प्रवृत्ति प्राप्त होती है, और आचार्यकी आजीविकाके लिए प्रवृत्ति प्राप्त होनेपर उसका अनुवाद करके माणवकके अध्ययन आदि व्यापारका विधान किया जा सकता है, [इसलिए प्रयोजकव्यापारको प्राप्त नहीं कह सकते]।

समाधान—ऐसा नहीं है, कारण कि उक्त प्रकारसे प्राप्तिके दोष देनेसे तो 'ग्रामकी इच्छावालेको यज्ञ कराना चाहिए' इस वाक्यमें यज्ञ करानेकी प्राप्तिका भी सम्पादन नहीं कर सकते। दक्षिणा आदि अङ्गके सहित कर्त्ताके व्यापारका विधान होनेपर आजीविकाके लिए प्रयोजक व्यापारकी प्राप्ति होती है, और प्रयोजक व्यापारकी प्राप्ति होनेपर उसका अनुवाद करके कर्ताके व्यापारका विधान होगा, इस रीतिसे इतरेतराश्रय हो जाता है। यदि कहो कि अपने ही विधानसे प्रयुक्त दूसरे दूसरे यागोंमें सामान्यरूपसे प्राप्त हुए प्रयोजक व्यापारका अनुवाद करके ग्रामकी कामनावालेके लिए यागविशेषका विधान किया जाता है। (इससे अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता), तो प्रकृतमें भी दूसरे दूसरे विधानोंके स्थलमें सामान्यतः प्राप्त प्रयोजक व्यापारके अनुवादसे समीपगमन तथा अध्ययन आदि माणवक व्यापारका विधान किया जाना चाहिए।

शङ्का—यज्ञ कराना, ऐसा प्रयोजक व्यापार अन्य यागोंमें प्राप्त है। उपनयन, (समीपप्रापण) तथा अध्यापनरूप व्यापार, तो वैसा दूसरे विधानोंमें प्राप्त नहीं है।

प्रयोजकव्यापारः प्राप्स्यते, तत्पूर्वकत्वात् माणवकव्यापारस्य। न च वैपरीत्येन प्राप्तिः शङ्क्या; नह्यनित्येन नित्यप्राप्तिः संभवतीत्युक्तत्वात्। ननु प्राप्तस्योत्पत्तिविध्यसंभवेऽपि तदनुवादेनाऽधिकारविधिः स्यादिति चेद्, न; वाक्ये जीवनादिनित्यकाम्याधिकारयोरश्रवणात्।

तर्ह्यरुणया पिङ्गाक्ष्या क्रीणातीतिवद् गुणविशेषविधिरस्तु, स च गुणोऽष्टवर्षब्राह्मणाख्य इति चेद्, न; ब्राह्मणत्वाष्टवर्षत्वाख्ययोर्गुणयोरुभयोरपि विशेषतया परस्परसम्बन्धरहितयोर्विशिष्टविध्ययोगात्, पृथग् विधाने वाक्यभेदप्रसङ्गात्। अरुणवाक्ये तु विशेष्यस्य यागसाधनक्रयणस्याऽप्य-

समाधान—तो भाविनी—होने वाली—प्राप्तिको ले लीजिये। माणवकके (उपगमन या अध्ययनरूप) व्यापारके विधानकी सामर्थ्यसे ही प्रेरणारूप प्रयोजक व्यापार प्राप्त हो जायगा, कारण कि प्रयोजकव्यापारपूर्वक ही माणवकका व्यापार होता है अर्थात् आचार्यकी प्रेरणाके अनन्तर ही माणवकका उपगमन या अध्ययन होता है। इससे विपरीत अन्य किसी प्रकारसे प्राप्तिकी आशङ्का नहीं करनी चाहिए अर्थात् अध्यापनरूप प्रयोजकव्यापारसे अध्ययनकी प्राप्ति नहीं कहनी चाहिए, कारण कि अनित्य अध्यापनसे नित्य अध्ययनकी प्राप्ति नहीं हो सकती, यह पूर्वमें ही कह आये हैं।

शङ्का—यद्यपि प्राप्तकी उत्पत्तिविधि नहीं हो सकती है, तथापि उसके 'प्राप्तके' अनुवादसे अधिकार विधि तो हो सकती है?

समाधान—नहीं, नहीं हो सकती, कारण कि वाक्यमें जीवन आदि नित्य और काम्य अधिकारोंका श्रवण नहीं है। वाक्य तो 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत' केवल इतना ही है। [इसमें 'जीविकाकामः' इत्यादि नित्य या काम्य किसी प्रकारके अधिकारका श्रवण नहीं है।]

शङ्का—अच्छा तो 'लाल पिङ्गाक्षीसे क्रयण करता है' इस वाक्यके समान गुणविशेषका विधान मानो? वह विधीयमान गुण अष्टवर्षात्मक ब्राह्मणरूप होगा।

समाधान—नहीं, गुणविधान भी नहीं हो सकता है, कारण कि ब्राह्मणत्व और अष्टवर्षत्व दोनों गुण, विशेष होनेसे, परस्पर सम्बन्धरहित हैं, इससे विशिष्ट विधिका सम्बन्ध नहीं हो सकता, अलग अलग विधान करनेमें वाक्यभेदका

न्यतोऽप्राप्तस्य विधेयतयाऽरुणादीनामनेकेषामपि विशेषणानां तदन्वये सति विशिष्टविधानं युक्तम्, न तथेह प्रयोजकव्यापारो विधेयः; प्राप्तत्वात्। अतो नाऽनेकेषु गुणविधिः, तदुक्तम्—

'प्राप्ते कर्मणि नाऽनेको विधातुं शक्यते गुणः।
अप्राप्ते तु विधीयन्ते बहवोऽप्येकयत्नतः॥' इति।

ननु प्रयोजकव्यापारस्य प्राप्तत्वाद्यथा विधिर्निराक्रियते तथा माणवकव्यापारस्याऽपि स निराकर्तुं शक्यः, 'माणवकमुपनयीत' इत्यत्र कर्मभूतस्य माणवकस्य व्यापाराप्रतीतेः। नहि 'ग्रामं गच्छेत्' इत्यत्र ग्रामस्य व्यापारः प्रतीयते, मैवम्; शब्दतो न्यायतश्चाऽत्र माणवकस्य गमनव्यापारप्रतीतेः।

प्रसङ्ग होगा। उक्त अरुण वाक्यमें तो विशेष्यभूत यागके साधनभूत क्रयणकी अन्य प्रकारसे प्राप्ति न होनेसे वह विधेय है, इसलिए अनेक विशेषणोंका भी उसके साथ अन्वय होनेसे विशिष्टका विधान युक्तिसङ्गत है। प्रकृतमें वैसा प्रयोजक व्यापार विधेय नहीं है, क्योंकि वह तो प्राप्त ही है, (इससे विशेष्यभूत प्रेरणात्मक व्यापारके विधेय न होनेसे अष्टवर्षत्व तथा ब्राह्मणत्व आदि विशेषणविशिष्टका विधान भी सम्भव नहीं हो सकता] इसलिए अनेक विशेषणोंमें गुणविधि नहीं हो सकती। कहा भी है—

अन्य प्रमाणसे प्राप्त कर्ममें अनेक गुणका विधान नहीं किया जा सकता। अप्राप्त कर्ममें तो एक ही यत्नसे बहुत गुणोंका भी विधान हो सकता है। अर्थात् अनेक गुणोंका भी विधेयविशेषणरूप एक यत्नसे विधान हो सकता है।

शङ्का—प्रयोजक व्यापारके प्राप्त होनेसे उसके विधानका जैसे निषेध किया जाता है, वैसे ही माणवकव्यापारके विधानका भी निषेध किया जा सकता है, कारण कि 'माणवकका उपनयन करे' इस वाक्यमें कर्मकारक माणवकके व्यापारकी प्रतीति नहीं होती है, जैसे 'ग्रामको जाना चाहिए' इस वाक्यमें ग्रामके व्यापारकी प्रतीति नहीं होती। [अर्थात् इससे जिस व्यापारकी प्रतीति ही नहीं होती उसका विधान कैसे हो सकता है, यह भाव है ?]

समाधान—ऐसा नहीं, कारण कि शब्द द्वारा और न्यायसे भी मावणकका गमनरूप व्यापार प्रतीत होता है। [शब्द द्वारा गमनकी प्रतीति दिखलाते हैं—]

लोके हि नयत्यर्थवाचिशब्दप्रयोगेषु नीयमानस्य गमनं दृष्टमिति शब्दत-स्तत्प्रतीतिः तथा बालानामक्षरशिक्षायै शिक्षकगृहं प्रति गमनं दृष्टं ततो न्यायोऽपि माणवकव्यापारं प्रत्याययति। नहि प्रेक्षावान् माणवको विधि-मन्तरेणाऽध्ययनादौ प्रवर्त्तते। अर्थावबोधादिदृष्टफलार्थत्वनिराकरणे रागतः प्रवृत्त्ययोगात्। ततो वाक्यविपरिणामेन माणवकव्यापारोऽत्र विधातव्यः। यथा 'ग्रामकामं याजयेत्' इत्यत्र 'ग्रामकामो यजेत्' इति विपरिणामस्तथा 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत' इत्यत्रापि 'अष्टवर्षो ब्राह्मण उपगच्छेत् सोऽधीयीत' इति विपरिणामः स्यात्।

नन्वेवमपि नाऽत्र विधिः सङ्गच्छते, निरधिकारत्वात्। न तावदत्राऽ-ष्टवर्षत्वमात्रमधिकारनिमित्तम्, शूद्रस्याऽप्युपनयनादिप्रसङ्गात्। नाऽपि ब्राह्म-ण्यमात्रम्, जातमात्रस्य तत्प्रसङ्गात्। नाऽप्युभयम्, तयोः परस्परान्वयाभावात्,

---

क्योंकि लोकमें नीधातुके अर्थके वाचक शब्दोंके प्रयोगोंमें नीयमानका गमन देखा गया है, इसलिए शब्दसे उसकी प्रतीति सिद्ध ही है। [न्यायसे भी उसकी प्रतीति दिखलाते हैं]—अक्षर सीखनेके लिए अध्यापकके घर बालकोंका जाना देखा गया है, इससे न्याय भी माणवकके व्यापारकी प्रतीति कराता है। विधानके बिना कोई भी बुद्धिमान् माणवक अध्ययनादिमें प्रवृत्त नहीं होता। अध्ययनका अर्थावबोध—अर्थनिश्चय—आदि दृष्ट फल न माननेपर रागसे अध्ययनमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। [कार्यमें दृष्ट फलके लिए ही राग द्वारा प्रवृत्ति देखी जाती है] इसलिए वाक्यका विपरिणाम करके माणवकके अध्ययन आदि व्यापारको ही प्रकृतमें विधेय मानना चाहिए जैसे 'ग्रामकी कामनावाले याजक यज्ञ करावें' इस वाक्यमें 'ग्रामकी इच्छावाला यज्ञ करे' ऐसा वाक्य बदला जाता है, वैसे ही 'आठ वर्षके ब्राह्मणबालकका उपनयन करे' इस प्रकृत वाक्यमें भी 'आठ वर्षका ब्राह्मण बालक गुरुके समीपमें जावे और वह पढ़े' इस प्रकार वाक्य बदलना होगा।

शङ्का—इस प्रकार माननेपर भी प्रकृतमें विधिका मानना सङ्गत नहीं है, कारण कि अधिकारकी सम्पत्ति ही नहीं है, क्योंकि केवल आठ वर्षकी अवस्था अधिकारकी हेतु नहीं मानी जा सकती, क्योंकि ऐसी अवस्थामें आठ वर्षके शूद्रको भी उपनयन संस्कारका प्रसङ्ग हो जायगा, एवं ब्राह्मण जाति ही अधिकारकी कारण

गुणानां च परार्थत्वादिति न्यायात्। अथ मन्यसे तयोरपि पार्ष्णिकः परस्परान्वयो भविष्यति। यथाऽरुणावाक्ये 'अरुणया क्रीणाति' इति प्रत्येकं शाब्दे क्रियान्वये पश्चादेकप्रयोजनत्वसामर्थ्यात् परस्परान्वयस्तद्वदिति, तन्न; तथा सत्यधिकारहेतोरशाब्दत्वप्रसङ्गात्। अतो निरधिकारो विधिरयुक्तः; नैष दोषः; शाब्दमेव सर्वत्राऽधिकारनिमित्तमिति नियमाभावात्। साङ्गकर्मानुष्ठानसामर्थ्यस्याऽशाब्दस्याऽप्यधिकारहेतुत्वात् कथंचिच्छाब्दत्वनियमेऽपि क्रियासंबन्धाभिधानमुखेन विशिष्टसमर्पणे शब्दद्वयस्य तात्पर्यकल्पनात् तत्सिद्धिः।

नन्वेवमपि विशिष्टस्य नाऽधिकारनिमित्तत्वमुपादेयविशेषणत्वात्। तथा

नहीं हो सकती, क्योंकि ब्राह्मण बालकके उत्पन्न होते ही उसका उपनयन प्राप्त होगा। दोनोंको भी नहीं मान सकते, क्योंकि दोनोंका परस्पर अन्वय ही नहीं है, कारण कि 'गुणपदार्थ दूसरेके उपकारक होते हैं' (परस्पर अन्वित नहीं होते) ऐसा न्याय है। यदि मानो कि उनका भी पीछे (दोनोंका पृथक् पृथक् विधिके साथ अन्वय होनेके अनन्तर) परस्पर अन्वय हो जायगा। जैसे अरुणाशब्दघटित वाक्यमें 'अरुणा—लाल—वर्णवाली—से क्रयण करता है' इस प्रकार प्रत्येकके साथ शाब्द क्रियान्वय करनेके अनन्तर सबका एक प्रयोजन होनेके कारण परस्पर अन्वय होता है, वैसे ही प्रकृतमें भी होगा, तो ऐसा भी नहीं मान सकते, कारण कि ऐसा माननेसे अधिकारके कारणमें शाब्दप्रतीतिविषयताका अभाव हो जायगा। अधिकार-कारण तो विशिष्ट है, परन्तु दोनोंका परस्पर शाब्द अन्वय हुआ ही नहीं है, वह तो एकप्रयोजनगम्य होनेसे पार्ष्णिक है, इसलिए अधिकारशून्य विधि युक्त नहीं है।

समाधान—उक्त दोष नहीं आता, कारण कि सर्वत्र अधिकारका कारण शाब्द—शब्द द्वारा अभिधासे प्रतीयमान—ही होना चाहिये, ऐसा नियम नहीं है। प्रकृतमें अङ्गविशिष्ट कर्मका अनुष्ठानसामर्थ्य शाब्द न होता हुआ भी अधिकारका हेतु होता है, इसलिए यदि आग्रहसे कथंचित् यही मानो कि अधिकारका निमित्त शाब्द ही होना चाहिए, तो क्रियासम्बन्धके बोधन द्वारा विशिष्टकी प्रतीति करानेमें दोनोंका 'अष्टवर्ष और ब्राह्मण' शब्दोंका—तात्पर्य कल्पन करनेसे विशिष्टको शाब्द मानना सिद्ध हो सकता है।

शङ्का—विशिष्टके शाब्द होनेपर भी वह अधिकारका निमित्त

हि—'तमध्यापयीत' इत्यत्र प्रयोजकव्यापारं प्रति माणवकस्य कर्मताभिधायिनी द्वितीयाविभक्तिः स्वव्यापारं प्रति माणवकस्य कर्तृत्वं गमयति, 'कुर्वन्तं प्रयुङ्क्ते' इति न्यायेन प्रयोजकव्यापारस्य कर्तृविषयत्वात्। न च वाच्यम् 'अध्यापयीत' इति वाक्ये विपरिणामस्योक्तत्वान्माणवकस्याऽधिकारित्वम्, न तु कर्तृत्वमिति। तत्र हि प्राप्तप्रयोजकव्यापारानुवादेन कर्तृव्यापारे विधिसम्बन्धमात्रं परिणम्यते, न तु शब्दप्राप्तं माणवकस्य कर्तृत्वं पराक्रियते। अत उपादेयो माणवकः, तल्लक्षणवत्त्वात्। साक्षाद्वा परम्परया वा विधिविषयतयाऽनुष्ठेयमिति तल्लक्षणम्, कर्त्रादयश्चाऽनुष्ठेयं प्रति कारकत्वात् परम्परयाऽनुष्ठेयाः। अतः कर्त्तुरुपादेयस्य माणवकस्य यद्विशेषणं जातिविशिष्टं वयः न तदधिकारनिमित्तम्। 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः

नहीं हो सकता, क्योंकि वह उपादेयका (कर्मकारकभूत माणवकका) विशेषण है, क्योंकि 'उसको अध्यापन करे' इस वाक्यमें प्रयोजकके—आचार्यके—व्यापारके—प्रेरणाके—प्रति माणवकको कर्म कहनेवाली द्वितीया विभक्ति अपने व्यापारके प्रति माणवकके कर्तृत्वकी प्रतीति कराती है, कारण कि 'करते हुये पुरुषको प्रेरित करता है' इस न्यायसे प्रयोजकका व्यापार (प्रेरणा) कर्ताको ही विषय करता है। यह कहना उचित नहीं कि 'अध्यापन करे' इस वाक्यमें पूर्व कहे हुए 'माणवक पढ़े' ऐसे वाक्यपरिणामसे माणवकका अधिकारी होना प्रतीत होता है, प्रेरणाविषयीभूत कर्ता होना प्रतीत नहीं होता।' कारण कि उस पूर्वकथित वाक्यविपरिणाममें (णिच् प्रत्ययसे) प्राप्त हुए प्रयोजकव्यापारके अनुवादसे कर्ताके व्यापारमें विधिका संबन्धमात्र परिणत किया जाता है, शब्दप्राप्त माणवकके कर्तृत्वका निषेध नहीं किया जाता है। इस कारण माणवक उपादेय है, क्योंकि उसमें उपादेयका लक्षण विद्यमान है। [उपादेयका लक्षण दिखलाते हैं]—'साक्षात् अथवा परम्परासे विधिका विषय होकर अनुष्ठानके योग्य होना उपादेयका लक्षण है और कर्ता आदि अनुष्ठेयविधिके प्रति कारक होनेसे परम्परासे अनुष्ठेय होते हैं, इसलिए कर्तृभूत उपादेय माणवकका जो जातिविशिष्ट अवस्थारूप विशेषण है, वह

प्रचरन्ति' इत्यादौ कर्तृविशेषणस्य लोहितोष्णीषत्वादेरधिकारनिमित्तत्वादर्शनात्। न च कर्त्तैवाऽधिकारी, कर्त्तुरनुष्ठेयकारकतया विधिं प्रति गुणभूतत्वाद् अधिकारिणश्च विधिं प्रति स्वामितया प्राधान्येनाऽन्वयात्। न चैवमधिकारहेतोरेवाऽसम्भवः, अनुपादेयविशेषणस्य तद्धेतुत्वात्। विधिप्रयुक्तानुष्ठेयतद्विशेषणव्यतिरेकेण विधिसंबन्ध्यनुपादेयं तादृशविशेषणं च जीवनगृहदाहस्वर्गकामनादि। अत्र त्वष्टवर्षत्वाद्युपादेयविशेषणं तत्कथमधिकारहेतुः स्यात्। अत्रोच्यते; किं भावनाया वाक्यार्थत्वमाश्रित्येदं ब्रवीषि उत नियोगस्य अथवा इष्टसाधनस्य? नाऽऽद्यः; तत्राऽधिकारान्वयस्य कर्त्रन्वयपूर्वकतया कर्तृविशेषणस्यैवाऽधिकारहेतुत्वात्। पुरुषप्रवृत्तिर्हि भावना, सा च क्रियात्मिका सती स्वरूपनिष्पादकानि कारकाणि प्रथममपेक्षते।

अधिकारका निमित्त नहीं हो सकता। [उपादेयविशेषण अधिकारका निमित्त नहीं हो सकता, उसका दृष्टान्त द्वारा समर्थन करते हैं—'लाल पगड़ी बांधे याज्ञिक लोग प्रचरण करते हैं' इस वाक्यमें कर्ताके विशेषणीभूत लाल पगड़ी अधिकारकी निमित्त नहीं देखी गयी है। कर्ताको ही अधिकारी नहीं मान सकते, कारण कि कर्ता अनुष्ठेय–विधि–का कारक होनेसे विधिके प्रति गौण (अप्रधान) हो जाता है। और विधिके प्रति अधिकारीका तो प्रभुत्व होनेसे प्रधानरूपसे अन्वय होना चाहिए। इस युक्तिसे अधिकार हेतुके अभावकी शङ्का नहीं हो सकती, कारण कि अनुपादेयके विशेषणोंमें अधिकारकी हेतुताका होना सम्भव है। जैसे विधिप्रयुक्त अनुष्ठेय तथा उसके विशेषणसे अतिरिक्त विधिका सम्बन्धी अनुपादेय था वैसे जीवनगृहदाह स्वर्गकामना आदि विशेषण हैं। प्रकृतमें तो 'आठ वर्षका होना' इत्यादि उपादेयके विशेषण अधिकारके कारण कैसे हो सकते हैं?

समाधान—इस आशङ्काके उत्तरमें कहा जाता है—क्या भावनाको वाक्यका अर्थ मान कर उक्त आशङ्का करते हो? अथवा नियोगको? या इष्टसाधनको? इनमें प्रथम कल्प नहीं बन सकता, कारण कि उसमें (भावनामें) अधिकारका अन्वय कर्ताके साथ अन्वय होकर ही होता है, इसलिए कर्ताका विशेषण ही अधिकारका कारण हो सकता है, कारण कि पुरुषकी प्रवृत्ति ही तो भावना कहलाती है। वह भावना क्रियाकलापरूप होती हुई अपने सारूप्यको

तत्र पुरुषार्थधात्वर्थयोर्भाव्यत्वेन तत्करणत्वेन चाऽन्वये सति परिशेषात् स्वर्गकामादयः कर्तृत्वेनाऽन्वीयन्ते । तस्य च कर्तुर्व्यावर्त्तकानि जीवनगृहदाहकामनादीनि । ततः कर्तुरेव फलनियमात् स एव कर्त्ता फलभोक्तृत्वोपाधिना स्वामित्वादधिकारं प्रतिपद्यते । अतश्चोपादेयकर्तृविशेषणान्येवाऽधिकारिणोऽपि व्यावर्त्तकानि सम्पद्यन्ते ।

नन्वस्तु तर्हि द्वितीयः, नियोगो हि स्वरूपोपाधित्वेनैव नियोज्यविषयावपेक्षते, विना ताभ्यां कस्य कस्मिन्नियोग इत्याकाङ्क्षाया अनिवृत्तेः । ततो वाक्यगतस्वर्गकामादिर्नियोज्यत्वेन धात्वर्थश्च विषयत्वेनाऽन्वेति । न चाऽत्राऽधिकारान्वयः पृथगपेक्ष्यते । 'ममाऽयं नियोगः' इति प्रतिपत्तुर्नियोज्यस्यैव तत्स्वामितयाऽधिकारित्वात् । स चाऽधिकारी विषयानुष्ठानमन्तरेण

बनानेवाले कारकोंकी सर्व प्रथम अपेक्षा करती है, कर्तृ, कर्म आदि कारकोंके बिना क्रियास्वरूपकी सिद्धि नहीं हो सकती, उसमें से पुरुषार्थका भाव्य—साध्य—रूपसे और धात्वर्थका उस पुरुषार्थके कारणरूपसे अन्वय होनेपर स्वर्ग कामादि पद परिशेषन्याय द्वारा कर्तारूपसे अन्वित होते हैं । और जीवन, गृहदाह (स्वर्ग) कामना आदि उक्त कर्ताके विशेषण हैं । इस कारणसे कर्तामें फलसम्बन्धका नियम होनेसे वही कर्ता, फलका भोग पानेवाला होनेसे, स्वामी है, अतः वह अधिकार प्राप्त करता है, इससे उपादेयभूत कर्ताके विशेषण ही अधिकारीके भी विशेषण हो जाते हैं ।

[उस प्रकारसे भावनाको वाक्यार्थ माननेवाले भाट्ट सिद्धान्तसे भी उक्त आशङ्काका निराकरण किया गया । अब नियोगको वाक्यार्थ माननेवाले प्रभाकरके मतसे भी उक्त आशङ्काका निराकरण करनेके लिए प्राभाकर मतका अनुवाद करते हैं]—अच्छा तो द्वितीय पक्ष (नियोगको वाक्यार्थ मानना) ही रहे, कारण कि नियोग अपनी स्वरूपभूत उपाधिसे ही नियोज्य और विषयकी अपेक्षा करता है, क्योंकि नियोज्य तथा विषयके बिना 'किसका और किस कार्यमें नियोग है ?' इस आशङ्काकी निवृत्ति नहीं होती, इसलिए (स्वर्गकामो यजेत) इत्यादि वाक्यमें पढ़े गये स्वर्गकाम आदिका नियोज्यरूपसे और धात्वर्थका विषयरूपसे अन्वय होता है । यहाँपर अधिकारका अन्वय पृथक् अपेक्षित नहीं है, कारण कि 'यह मेरा नियोग है' इस प्रकारकी धारणावाला नियोज्य ही, स्वामी होनेसे, अधिकारी है, और वह अधिकारी विषयके

नियोगनिष्पत्तिमपश्यंस्तदनुष्ठाने कर्तृतयाऽन्वयं गच्छतिं। तथा चाऽस्मिन्पक्षेऽधिकारान्वयदशायां स्वर्गादीनामनुपादेयविशेषणत्वं व्यवस्थितमिति, तदेतदसारम् ; प्रकृताप्रतिपक्षत्वात्। नियोगवादिनो ह्यनुपादेयविशेषणमेवाऽधिकारहेतुरिति वदन्तोऽपि क्वचित्कर्तृविशेषणेनाऽधिकारिणं व्यावर्त्तयन्ति। 'राजा स्वाराज्यकामो राजसूयेन यजेत'इत्यत्र कर्तृविशेषणेन राजत्वेन स्वाराज्यकामस्याऽधिकारिणो विशेषणीयत्वात्। अन्यथा स्वाराज्यकामस्य वैश्यादेरपि तदधिकारप्रसङ्गात्। न चैवमनुपादेयमेवाऽधिकारहेतुरिति नियमस्य भङ्गः, राजत्वस्य वैश्यादिभिरनुष्ठानेनाऽनिष्पाद्यस्याऽनुपादेयत्वात्। एवं च प्रकृतेऽप्यन्येनाऽनुष्ठानादसम्पाद्यस्याऽष्टवर्षोपेतब्राह्मणस्य कर्तृविशेषणत्वेऽप्यधिकारहेतुता किं न स्यात् ?

(यज्ञ आदिके) अनुष्ठानके विना नियोगकी सिद्धिको न देखकर उसका अनुष्ठान करनेमें कर्तारूपसे अन्वित होता है, इसलिए इस पक्षमें अधिकारके अन्वयके अवसरमें स्वर्ग आदिमें अनुपादेयविशेषणत्व व्यवस्थित ही होता है। इससे उपादेय विशेषण अधिकार हेतु नहीं हो सकता, इत्यादि आपत्ति नहीं हो सकती।]

इस प्रकार द्वितीय पक्ष सारभूत नहीं है, अर्थात् तुच्छ है। कारण कि उक्त समर्थन प्रकृतके—कर्ताके विशेषणको अधिकारनिमित्त होनेके—प्रतिकूल नहीं है, क्योंकि अनुपादेय विशेषण ही अधिकारका कारण होता है, ऐसा माननेवाले नियोगवादी (प्राभाकर) भी किसी स्थलमें कर्ताके विशेषणसे भी अधिकारीकी व्यावृत्ति करते हैं। जैसे 'राजा स्वराज्यकी—स्वर्गके आधिपत्यकी—इच्छा करता हुआ राजसूय यज्ञ करे, इस वाक्यमें कर्ताके विशेषणीभूत राजत्वसे स्वराज्यकाम अधिकारीको विशिष्ट करना ही है, नहीं तो स्वराज्य चाहनेवाले वैश्य आदिका भी राजसूय यज्ञमें अधिकार प्रसक्त हो जायगा। 'इस प्रकार अनुपादेय ही अधिकारका हेतु है' इस नियमके भङ्ग होनेका भय भी नहीं है, कारण कि राजत्वकी वैश्य आदि क्षत्रियेतर वर्णोंसे अनुष्ठान द्वारा उत्पत्ति न होनेके कारण वह अनुपादेय है। इस प्रकार 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत' इस प्रकृत वाक्यमें भी ब्राह्मणेतरसे अनुष्ठानद्वारा निष्पादनके अयोग्य आठ वर्षकी अवस्थासे युक्त ब्राह्मणत्व, कर्ताका विशेषण होनेपर भी, अधिकारका हेतु क्यों नहीं होगा ? अर्थात् अवश्य होगा।

नन्वेवं तर्हि तृतीयः पक्षोऽस्तु । तत्र श्रेयःसाधनरूपे वाक्यार्थे श्रेयसो भोक्तव्यरूपस्य भोक्त्राकाङ्क्षायाः प्राथम्यात्तत्साधनस्याऽपि भोक्त्रन्वयः प्रथमभावी । न च साधनस्य कृतियोग्यतया कर्त्राकाङ्क्षस्य कर्त्रन्वय एव प्राथमिक इति शङ्कनीयम् ; कृतियोग्यताया अनियमात् । श्रेयःसाधनेऽपि चन्द्रोदयादौ तददर्शनात् । यत्राऽपि तद्योग्यताऽस्ति तत्राऽपि श्रेयसः प्रधानत्वात्तदनुसारेणाऽन्वयो वाच्यः । अथ साधनस्य वाक्यार्थत्वात् तत्प्राधान्यम्, तथापि तत्स्वरूपोपाधिभूतं हि श्रेयः कस्य साधनमित्येवं तन्निरूपकत्वात् । साधकापेक्षा तु विशिष्टसाधनप्रतीत्युत्तरकालीना । ततः प्रथमप्रतीतश्रेयोऽनुसारेण भोक्त्रन्वये सति पश्चादभिलषितसाधनत्वस्याऽत्र कृतियोग्येष्टसाधनत्वार्थनिष्ठतया विधिना चोदितत्वात् कृतेश्च कर्त्रपेक्षत्वात् स एव भोक्ताऽ-

---

[इस प्रकार गुरुमतमें उपादेय विशेषणको भी उनके मतके ही अनुसार अनुपादेय बनाकर अधिकारका निमित्त सिद्ध करके इष्टसाधनत्ववादी एकदेशीके मतसे भी उसे सिद्ध करनेके लिए उनके मतका अनुवाद करते हैं—] तब तो तीसरा (इष्टसाधनत्वको वाक्यका तात्पर्यार्थ मानना) पक्ष ही मानो, उस मतके अनुसार श्रेयःसाधनरूप वाक्यार्थमें भोक्तव्यरूप इष्टको भोक्ताकी आकाङ्क्षा ही सर्व प्रथम होती है, इसलिए उसके साधन—उपायभूत—यज्ञादिका भी पहले ही भोक्ताके साथ अन्वय होगा । और यह भी शङ्का नहीं हो सकती कि साधनके कृतियोग्य होनेसे उसे कर्ताकी आकांक्षा है, इससे सर्व प्रथम उसका ही अन्वय कर्ताके साथ करना चाहिये, कारण कि साधनमें कृतियोग्यताका नियम नहीं है, क्योंकि अपने इष्टके साधन चन्द्रोदयादिमें कृतियोग्यता नहीं देखी जाती । जिस साधनमें क्रियायोग्यता है, उसमें भी इष्टके ही प्रधान होनेसे उसके ही अनुसार अन्वय करना उचित है । यद्यपि वाक्यार्थ होनेसे साधनमें प्राधान्य प्राप्त है तथापि साधनका स्वरूपोपाधि—(जिसके कारण उसमें साधनता है, ऐसी वस्तु) भूत इष्ट ही है, क्योंकि 'किसका साधन है', इस प्रकार इष्ट साधनका निरूपक है । क्योंकि साधककी अपेक्षा तो विशिष्ट साधनकी प्रतीति होनेके अनन्तर ही होती है । इसलिए प्रथम प्रतीत हुए इष्टके अनुसार भोक्ताके साथ अन्वय हो जाता है, पीछे इष्टसाधनत्वके साथ अन्वय होगा । प्रकृतमें कृतियोग्य इष्टसाधनत्व अर्थगत है, अतः विधिके द्वारा प्रेरणाका विषय होनेसे और कृतिको कर्ताकी

धिकारी कर्तृतां प्रतिपद्यते। ततोऽस्मिन् पक्षेऽनुपादेयस्यैवाऽधिकारिविशेषणतेति। एवमपि प्रकृते नाऽस्ति विरोधः; उपगमनरूपेऽभिलषितसाधने प्रथमं भोक्तृतयाऽधिकारान्वयं प्राप्तस्य माणवकस्य पश्चात् कर्त्रन्वयं प्राप्स्यतोऽपि यद्विशेषणं ब्राह्मण्यादि तस्याऽनुपादेयविशेषणत्वात्। अतोऽङ्गभूतस्योपगमनस्य साधिकारित्वे सति अङ्गिनोऽध्ययनस्याऽपि तत्सिध्यति। अङ्गाङ्गिनोः सर्वत्रैकाधिकारित्वात्।

नन्वेवं तर्हि ब्राह्मण्यवदष्टवर्षत्वस्याऽप्युगमनाधिकारहेतोरध्ययनेऽप्यन्वयान्नवमवर्षादर्वागेवाऽध्ययनसमाप्तिः प्राप्ता सा च दुःशकेति चेद्, न; अङ्गाङ्गिनोः कालैक्यानियमात्। अन्यथाऽङ्गमन्वाधानं पर्वण्यनुष्ठायाऽङ्गिभूताया इष्टेः प्रतिपद्यनुष्ठानं न सम्भवेत्। अतो नाऽङ्गाधिकारहेतुः कालोऽ-

---

अपेक्षा होनेसे वही भोक्ता अधिकारी कर्ता भी हो जाता है। इस प्रकार इस पक्षमें अनुपादेय ही अधिकारीका विशेषण होता है। [अर्थात् उपादेय माणवकका विशेषण अष्टवर्षत्वविशिष्ट ब्राह्मणत्व अधिकारका हेतु नहीं हो सकता। खण्डन करते हैं]—इस मतके अनुसार भी प्रकृतमें कोई विरोध नहीं आता, कारण कि उपगमनरूप इष्टसाधनमें पहले भोक्तारूपसे अधिकारके अन्वयको प्राप्त और पीछे कर्ताके साथ अन्वय पानेवाले माणवकका भी जो ब्राह्मणत्व आदि विशेषण है, वह अनुपादेय विशेषण ही है। इसलिए अङ्गभूत उपगमनकी साधिकारिता सिद्ध होनेसे अङ्गीभूत अध्ययनकी भी साधकारिता सिद्ध हो जाती है, क्योंकि यह नियम है कि अङ्ग तथा अङ्गीका सर्वत्र एक ही अधिकारी होता है।

शङ्का—वैसा माननेसे ब्राह्मणत्वके समान उपगमनाधिकारकी हेतु आठ वर्षकी अवस्थाका भी है अङ्गीभूत अध्ययनमें अन्वय होगा; इससे नवम वर्षके प्रारम्भके पूर्व ही अध्ययनकी समाप्ति होनी चाहिए परन्तु ऐसा होना अत्यन्त कठिन है।

समाधान—अङ्ग और अङ्गी दोनों एक ही कालमें होते हैं यह कोई नियम नहीं है। यदि यह नियम माना जाय, तो अङ्गभूत अन्वाधानके पर्व (पूर्णिमा या अमा) में अनुष्ठान करके अङ्गीभूत इष्टिका प्रतिपद्में अनुष्ठान करना सम्भव न होगा, इससे अङ्गके अधिकारका कारणीभूत समय अङ्गीके अधिकारका कारण नहीं है, यह प्राप्त होता है, अतः पूर्वोक्त प्रतिपादनके

ङ्ग्यधिकारहेतुः । तदेवं नित्याधिकारसम्भवादध्ययनविधौ न काऽप्यनुपपत्तिः ।

ननु 'सकृत्कृते कृतः शास्त्रार्थः' इति न्यायेन सकृदध्ययनादेव नित्याध्ययनविधिसिद्धेरावृत्तिर्न लभ्येतेति चेद्, न; अक्षरावाप्तिलक्षणदृष्टफलानुपपत्त्या तल्लाभात्, त्वयाऽप्यर्थावबोधफलानुपपत्त्यैव तत्कल्पनात्। तर्ह्यक्षरावाप्तिपूर्वकार्थावबोध एवाऽऽवृत्तिहेतुरिति चेद्, न; शाखान्तरीयेभ्यः पौरुषेयेभ्यो वा वाक्येभ्योऽस्वीकृतेभ्योऽनावृत्तेभ्योऽप्यर्थावबोधदर्शनात्। न च तर्हि मा भूतामक्षरावाप्त्यावृत्ती इति वाच्यम्; जपस्वाध्यायविध्यध्ययनविध्योरसम्भवप्रसङ्गात्। नह्यनवाप्तेष्वक्षरेषु ब्रह्मयज्ञस्वाध्यायो जपितुं शक्यः। नाऽप्यावृत्तिमन्तरेणाऽध्ययनं घटते। अक्षरावाप्तिपर्यन्तव्यापारस्याऽध्ययनशब्दवाच्यत्वात्। तस्मादक्षरग्रहणान्तो अध्ययनविधिः। यदि विधेरदृष्टं फलम-

---

अनुसार अध्ययनविधिमें नित्याधिकारका सम्भव होनेके कारण किसी भी प्रकारकी अनुपपत्ति नहीं हो सकती है।

शङ्का—एकबार विधिका अनुष्ठान कर देनेसे शास्त्रार्थ चरितार्थ हो जाता है, इस न्यायके अनुसार एकबार अध्ययनसे ही नित्य अध्ययनका विधान चरितार्थ हो जायगा, इस परिस्थितिमें उसकी आवृत्ति प्राप्त न होगी।

समाधान—अक्षरग्रहणरूप दृष्ट फलकी अनुपपत्तिसे अध्ययनकी आवृत्तिका लाभ हो जायगा। तुमको भी तो अर्थावबोधरूप फलकी अनुपपत्तिसे ही अध्ययनकी आवृत्तिकी कल्पना करनी पड़ती है। तब तो अक्षरग्रहणपूर्वक अर्थनिश्चयको ही आवृत्तिका कारण मानना होगा? नहीं, क्योंकि नियमपूर्वक स्वीकृत नहीं किये गये अथवा बार बार आवृत्ति कर अभ्यस्त नहीं किये गये दूसरी शाखाओंके तथा लौकिक वाक्योंसे भी अर्थका निश्चय देखा गया है। और यह भी नहीं कह सकते कि अक्षरग्रहण और आवृत्ति दोनों न हों तो मत हों, कारण कि जप-स्वाध्यायविधि और अध्ययनविधि दोनोंका सम्भव न होनेका प्रसङ्ग आ जायगा, कारण कि अक्षरग्रहण किये बिना ब्रह्मरूप स्वाध्यायका जप करना नहीं बन सकता और आवृत्तिके बिना अध्ययन भी नहीं बन सकता, क्योंकि अक्षरग्रहणपर्यन्त व्यापार ही अध्ययन शब्दका अर्थ है, इसलिए अक्षरग्रहणपर्यन्त अध्ययनका विधान है। यदि विधिका अदृष्ट फल

पेक्षितम्, तर्ह्यक्षरप्राप्तिसमवेतमेव तत्कल्पनीयं दृष्टसमवेतादृष्टे सति स्वतन्त्रादृष्टायोगात्। एवं चाऽध्ययनविधेरक्षरग्रहणमात्रपर्यवसानाद्विचारः क्रतुविधिप्रयुक्तो भविष्यति।

यत्तु शाबरभाष्ये वेदस्याऽन्यनिरपेक्षतया विचारहेतुत्वं वदन् भाष्यकारोऽध्ययनविधेर्विचारहेतुतामङ्गीचकार, तत्र परम्परया हेतुत्वमवगन्तव्यम्। विधीयमानाध्ययनप्राप्तो हि स्वाध्यायः क्रतुविधीनुपस्थापयति। ते च विधयः स्वाध्यायादापातप्रतिपन्ना अनुष्ठेयनिर्णयज्ञानमन्तरेणाऽनुष्ठापयितुमशक्नुवन्तस्तन्निर्णयाय विचारं प्रयोजयन्ति। न चाऽनुष्ठानमेव मा भूदिति वाच्यम्, नित्यविधिष्वकरणे प्रत्यवायस्याऽप्यापाततः प्रतिपन्नत्वात्। काम्यविधिषु तु फलकामनैवाऽऽधानमिव विचारं प्रयुङ्क्ते। नन्वनेकविधिप्रयुक्तिकल्पनाद्वरमध्ययनविधिप्रयुक्तिकल्पनं विचा-

---

मानना ही जरूरी हो, तो अक्षरप्राप्तिमें नित्य रहनेवाला ही अदृष्ट मानना चाहिए, क्योंकि दृष्टगत अदृष्टका सम्भव होनेपर स्वतन्त्र (दृष्टनिरपेक्ष) अदृष्टकी कल्पना करना उचित नहीं है। इस प्रकार अध्ययनविधिका केवल अक्षरग्रहणमें तात्पर्य होनेसे यज्ञविधिके द्वारा ही विचार होगा।

शाबरभाष्यमें विचारके प्रति वेदको स्वतन्त्र कारण कहते हुए भाष्यकारने अध्ययनविधिको भी जो विचारका कारण माना है, उसका परम्परया कारण माननेमें तात्पर्य समझना चाहिए। विहित अध्ययनसे प्राप्त स्वाध्याय-स्वशाखीय वेद यज्ञविधियोंकी उपस्थिति कराता है। और स्वाध्यायसे आपाततः ज्ञात वे उपस्थित विधियां साध्यके निर्णयात्मक ज्ञानके बिना अपने अनुष्ठानमें अधिकारीको प्रवृत्त करानेके लिए समर्थ न होकर अनुष्ठेयके निर्णयके लिए विचारकी प्रयुक्ति करती हैं। यदि कहा जाय कि अनुष्ठान ही मत हो, क्या हानि है? नहीं, हानि है, क्योंकि नित्यविधिका अनुष्ठान न करनेसे प्रायश्चित्त होता है, यह आपाततः (विचारसे पूर्व ही) निश्चित हो जाता है। और काम्यविधिस्थलोंमें तो फलकी अभिलाषा ही आधानके समान विचारकी भी प्रयुक्ति करा देती है।

[उक्त प्रकारसे प्रत्येक क्रतुविधान विचारकी प्रयुक्ति करेंगे, इससे विचारके अनेक प्रयोजकोंकी कल्पनामें गौरव है, इस आशयसे आशङ्का करते हैं—] अनेक

रस्येति चेद्, न; विधिर्हि सर्वत्र स्वविधेयस्य वा तदुपकारिणो वा प्रयोजको नाऽन्यस्य। विचारस्तु नाऽध्ययनविधेयो नाऽपि तदुपकारी। न चैवमुत्तरक्रतुविधिप्रयुक्तिर्विचारस्य निराकर्तुं शक्या, तद्विधिविधेयं प्रत्युपकारित्वात्। न चैकस्य विचारस्याऽनेकविधिप्रयोज्यत्वानुपपत्तिः, प्रतिवाक्यं विचारसाध्यनिर्णयज्ञानभेदेन तदुपपत्तेः। आधानस्य चैकस्याऽप्यनेकविधिप्रयोज्यत्वदर्शनात्। यद्यनेकविधिप्रयोज्यत्वे गौरवाद्भीतोऽध्ययनविधिप्रयोज्यत्वमेव विचारस्य ब्रूषे, तदा यागाद्यनुष्ठानस्याऽपि तत्प्रयोज्यत्वं वक्तव्यं स्याद्, लाघवात्। त्वत्पक्षे चाऽध्ययनविधिफलस्य स्वर्गादिसिद्धिपर्यन्ततया यागानुष्ठानस्य विधेयोपकारित्वात्। ततः क्रतुविधिवैयर्थ्यमा-

---

विधियोंके कारण (विचारकी) प्रयुक्तिकल्पनाकी अपेक्षा एक अध्ययनविधिसे ही विचारकी प्रयुक्ति मानना औचित्यपूर्ण है।

खण्डन करते हैं—ऐसा नहीं, कारण कि विधि केवल अपने विधेय तथा उसके उपकारीकी ही प्रयोजक हो सकती है, दूसरेकी नहीं और विचार तो अध्ययनविधिका न साध्य है और न उसका 'विचारका' अध्ययन उपकारी ही है। इस रीतिसे उत्तर—अध्ययनविधिके अनन्तर विहित—यज्ञविधिके द्वारा विचारकी प्रयुक्तिका निषेध नहीं किया जा सकता; कारण कि उन यज्ञविधियोंके विधेयके प्रति विचार उपकारी है। [जैसे अभी कह आये हैं कि विधेयके निर्णयके विना अनुष्ठानमें प्रवृत्तिका सम्भव नहीं है, अतः निर्णायक होनेसे विधेयके प्रति विचार उपकारी है]। विचाररूप फलकी अनेक विधियोंसे प्रयुक्ति करना युक्तियुक्त नहीं है, यह भी नहीं कह सकते, कारण कि प्रत्येक वाक्यके विचारसे उत्पन्न होनेवाले निर्णयात्मक ज्ञानके भेदसे उसका होना युक्तियुक्त है। एक ही आधानकी अनेक विधि द्वारा प्रयुक्ति देखी गई है। यदि अनेकविधियोंकी प्रयुक्ति माननेमें गौरव दोषसे डर कर एक अध्ययनविधि द्वारा ही विचारकी प्रयुक्ति मानते हो, तो लाघवका स्वीकार करके यागादिके अनुष्ठानकी प्रयुक्ति भी अध्ययनविधिके द्वारा ही क्यों नहीं कहते? तुम्हारे मतमें अध्ययनविधिका फल स्वर्गादिकी सिद्धि तक है, अतः यागका अनुष्ठान [अध्ययनविधिसे तुम्हारे अभिमत स्वर्गादि] विधेयका ही उपकारी है, इससे पृथक् यज्ञका विधान

पद्येत । ननु सिद्धान्तेऽप्यतिप्रसङ्गः समानः, विमतमध्ययनं क्रतुविधिप्रयुक्तम्, क्रत्वनुष्ठापकत्वात्, अर्थविचारनिर्णयवत्, अध्ययनात् प्रागप्रतिपन्नानां क्रतुविधीनामध्ययनप्रयोजकत्वायोगात् । अध्ययनविधिरप्यध्ययनात् प्रागप्रतिपन्न इति चेत्, सत्यम्, तथापि संध्योपासनादिविधिवत् पित्रादिभ्यः श्रूयमाणोऽध्ययनविधिरध्ययनं प्रयोजयति। न च क्रतुविधयोऽध्ययनात्प्राक्पित्रादिभ्यः श्रोतुं शक्याः, येन तत्प्रयोज्यत्वमध्ययनस्याऽऽपाद्येत । अतोऽध्ययनविधिप्रयुक्तमध्ययनं क्रतुविधिप्रयुक्तश्च धर्मविचार इत्यङ्गीकर्त्तव्यम् ।

अस्तु तर्हि ब्रह्मविचारस्याऽपि धर्मविचारवत् सकलत्रैवर्णिकाधिकृतोत्तरनित्यविधिप्रयुक्तिरिति चेत्, तत्र किं श्रवणविधिप्रयुक्तिर्ब्रह्मविचारस्य किं वा क्रतुविधिप्रयुक्तिः ? नाऽऽद्यः; सर्वत्रैवर्णिकानां श्रवणाद्यननुष्ठाने प्रत्यवायाभा-

करना व्यर्थ हो जायगा। उक्त अतिप्रसङ्ग दोष, तो तुम्हारे सिद्धान्तमें भी समानरूपसे बना है, क्योंकि अनुमान करेंगे—विमत विवादग्रस्त अध्ययनकी यज्ञविधिके द्वारा प्रयुक्ति होती है, कारण कि अध्ययन क्रतुका अनुष्ठान करानेवाला है, जैसे अर्थका विचार द्वारा निर्णय करना। [उक्त अनुमानमें अनुकूल तर्क दिखलाते हैं] अध्ययनसे पूर्व ज्ञात नहीं हुई क्रतुविधियां अध्ययनकी प्रयोजक नहीं हो सकतीं। यद्यपि अध्ययनविधि भी अध्ययनसे पूर्व ज्ञात नहीं है यह सच है तथापि सन्धोपासन आदि विधिके सदृश अपने पिता आदिके उपदेश द्वारा ज्ञात अध्ययनविधि अध्ययनकी प्रयुक्ति करा सकती है और उस प्रकारकी क्रतुविधियां तो अध्ययनसे पूर्व पिता आदिके उपदेश द्वारा ज्ञात नहीं हो सकती हैं। जिससे उन क्रतुविधियों द्वारा अध्ययनकी प्रयुक्तिकी आपत्ति दी जा सके; इसलिए ऐसा ही मानना उचित है कि अध्ययनविधिके द्वारा ही अध्ययन है और क्रतुविधि द्वारा धर्मविचारकी प्रयुक्ति है ।

शङ्का—जैसे धर्मविचारकी प्रयुक्ति तीनों वर्णोंके अधिकारसे प्राप्त अध्ययनके अनन्तर विहित यज्ञविधि द्वारा होती है, वैसे ही ब्रह्मविचारकी प्रयुक्ति भी उक्त नित्य विधियोंसे ही क्यों न मान ली जाय ? [अतः ब्रह्मविचारके लिए पृथक् शास्त्रके आरम्भकी आवश्यकता नहीं है ।]

समाधान—इस आशङ्काका उत्तर देते हुए यह प्रश्न होता है कि 'श्रोतव्यः' क्या इस श्रवणविधिसे ब्रह्मविचारकी प्रयुक्ति प्राप्त है ? अथवा 'सोमेन यजेत' इत्यादि क्रतुविधिसे ? इनमें प्रथम कल्प नहीं बनता, कारण

चात् तान् प्रति नित्यविधित्वानुपपत्तेः। परमहंसस्यैव श्रवणाद्यकरणे प्रत्यवायात्। नाऽपि द्वितीयः, ब्रह्मविचारस्य क्रत्वनुपकारित्वात्। नन्वग्निहोत्रादिकमनुतिष्ठद्भिरनुष्ठेयमङ्गजातादिकं वेदान्तेषु नाऽस्तीत्येवं निश्चेतुं वेदान्ता विचारयितव्या इति चेद्, न; अध्ययनजन्यापातदर्शनेनैव तावन्मात्र-

---

कि श्रवणका अनुष्ठान न करनेसे सम्पूर्ण त्रैवर्णिक पापभागी होते हैं, श्रवण नहीं है, इसलिए सकल त्रैवर्णिकोंके प्रति श्रवण आदिको नित्यविधि नहीं कह सकते, क्योंकि परमहंसोंके लिए ही श्रवण आदिका अनुष्ठान न करनेसे प्रायश्चित्त शास्त्रसिद्ध है। दूसरा विकल्प भी नहीं टिकता, क्योंकि ब्रह्मविचार सोमादि यागका उपकारी नहीं है।

शङ्का—अग्निहोत्रका अनुष्ठान करनेवाले अधिकारी पुरुषोंको निश्चय करना है कि वेदान्तवाक्योंमें अनुष्ठेय अग्निहोत्र आदि तथा उसके अङ्ग नहीं हैं, इसलिए वेदान्तोंका विचार करना प्राप्त है।

समाधान—नहीं, उसके लिए पृथक् शास्त्रारम्भकी आवश्यकता नहीं है, कारण कि अध्ययनसे ही आपाततः ज्ञान हो जानेसे इतने ही प्रयोजनके लिए

---

(१) परमहंस यतिभेदोंमें—

'कुटीचको बहूदको हंसश्चैव तृतीयकः।
चतुर्थः परमो हंसो यो यः पश्चात् स उत्तमः।'

इस प्रकार चार तरहका संन्यास दिखलाया गया है। कुटी बनवा कर उसमें ही सांसारिक विषयोंसे विरक्त होकर काषाय वस्त्र एवं शिखा, उपवीत, त्रिदण्ड धारण करता हुआ ब्रह्मज्ञानका अभ्यास करनेवाला कुटीचक कहलाता है। और घर छोड़कर केवल सात घरोंमें भिक्षा करनेवाला बहूदक कहा जाता है। एवं वही बहूदक एक ही दण्ड धारण करता है, तो हंस कहलाता है। तथा सर्वपरिग्रहत्यागी परमहंस होता है, जैसे पुराणोंमें कहा है—

'कौपीनाच्छादनं वस्त्रं कन्थां शीतनिवारिणीम्।
अक्षमालां च गृह्णीयाद्वैणवं दण्डमव्रणम्।
माधूकरमथैकान्तं परमहंसः समाचरेत्।'

उक्त लक्षणोंसे युक्त यति यदि ब्रह्मचिन्तन या ब्रह्मज्ञानसे रहित हो जाय, तो

'काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः।
स याति नरकान् घोरान्महारौरवसंज्ञितान्॥'

स्मृतिके अनुसार प्रायश्चित्त भागी होता है। तथा 'न दण्डं न शिखां नाच्छादनं चरति परमहंसः' इस प्रकार श्रुतिने परमहंसका लक्षण करके कहा कि 'ज्ञानमेवाऽस्य दण्डः' ज्ञान ही उसका दण्ड है। यदि ज्ञान नहीं तो सुतरां प्रायश्चित्ती होगा।

निश्चयात् । तदेवं ब्रह्मविचारे धर्मविचारवदधीतस्वाध्यायस्य त्रैवर्णिकमात्रस्याऽनधिकाराच्छ्रवणादिविधिप्रकरणपठितसाधनचतुष्टयसम्पन्नत्वलक्षणमधिकारिविशेषणं न्यायतः प्रापयितुमानन्तर्यवाचकोऽथशब्दः सूत्रकारेण प्रयुक्तो नाऽऽरम्भार्थविवक्षयेति स्थितम् ।

ननु शास्त्रारम्भे शिष्टाचारपरिपालनाय विघ्नोपशान्तये च मङ्गलाचरणं कर्त्तव्यम् , ततोऽथशब्दो मङ्गलार्थोऽस्तु, सम्भवति हि तस्य मङ्गलार्थत्वम् ।

'ॐकारश्चाऽथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणो मुखात् ।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥'

इति स्मृतेरिति चेत्? तत्र किं माङ्गल्यं वैयधिकरण्येन ब्रह्मजिज्ञासां प्रति

उसकी आवश्यकता नहीं है। [जैसे घट, पट आदि शब्दोंके पढ़नेमात्रसे विचार करनेके पूर्व सामान्य घट, पटका बोध हो जाता, इसके लिए विशेष उपायका अवलम्बन नहीं किया जाता, वैसे ही वेदान्तवाक्योंके पढ़नेमें अग्निहोत्रादि शब्दोंके न आनेसे ही ज्ञात हो जायगा कि यहांपर अग्निहोत्र आदि नहीं हैं] ।

इस प्रकार मीमांसा करनेपर धर्मविचारमें जैसे वेद पढ़े हुए त्रैवर्णिकमात्रका अधिकार है, वैसे ब्रह्मविचारमें न होनेसे श्रवण आदिकी विधिके प्रकरणमें पढ़े गये शम, दम आदि साधनचतुष्टयसम्पन्नत्व अधिकारीका विशेषण है, इस सिद्धान्तका न्यायतः बोध करानेके लिए आनन्तर्यस्वरूप अर्थके वाचक 'अथ' शब्दका सूत्रकारने प्रयोग किया है। अधिकाररूप अर्थकी विवक्षासे नहीं किया, ऐसा निर्णय होता है ।

शङ्का—'शिष्टाचारकी रक्षा करने तथा विघ्नोंकी शान्तिके लिए मङ्गलाचरण करना चाहिए' इस नियमके अनुसार मङ्गलका वाचक 'अथ' शब्द यहांपर माना जाय, क्योंकि 'अथ' शब्दका मङ्गलरूप अर्थ होना सम्भव है, स्मृतिमें कहा भी है—

ॐकार और अथ शब्द दोनों ब्रह्माजीके मुखसे कण्ठको भेदन करके बाहर प्रकट हुए हैं, इसलिए दोनों मङ्गलके वाचक हैं ।

समाधान—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रमें पढ़े गये मङ्गलार्थक अथशब्दकी वाक्यार्थके साथ सङ्गति नहीं है, यह विकल्प द्वारा दिखाते हैं—क्या (अथ शब्दार्थ) मङ्गल ब्रह्मजिज्ञासाके प्रति वैयधिकरण्यसे (कर्त्ता या

कारकत्वमापद्याऽन्वेति किं वा सामानाधिकरण्येन विशेषणत्वमापद्य ? नाऽऽद्यः, माङ्गल्यस्य कर्त्राद्यन्यतमकारकतायां प्रमाणाभावात् । न च जिज्ञासानुपपत्तिर्मानम्, कारकान्तरैरेव तदुपपत्तेः । जीवः कर्त्ता, चित्तैकाग्र्यसहकृतं वेदान्तवाक्यं करणम् इत्यादीनि कारकान्तराणि । नाऽपि द्वितीयः, 'जिज्ञासा मङ्गलम्' इत्युक्ते प्रशंसापरतयाऽर्थवादत्वप्रसङ्गात् । शिष्टाचाराद्यर्थं तु मङ्गलाचरणमानन्तर्यवाचिनाऽप्यथशब्देन सम्पादयितुं शक्यम्, अथकारपरोङ्कारादिध्वनेर्मृदङ्गादिध्वनिवत् मङ्गलात्मकत्वात् ।

एवमपि 'अथैवं मन्यसे' इत्यादाविवाऽथशब्दः प्रकृतादर्थादर्थान्तरमभिद-

---

कर्म आदिरूप) कारकत्वका आपादन कर अन्वित होता है ? [अर्थात् मङ्गलके द्वारा या मङ्गलकी ही तथा स्वयं मङ्गलभूत जिज्ञासा करनी चाहिए, ऐसा वाक्यार्थ होता है क्या ?] अथवा सामानाधिकरण्यसे विशेषण होकर अन्वित होता है ? [अर्थात् जिज्ञासा ही मङ्गल है, ऐसा वाक्यार्थ होता है] । प्रथम विकल्प नहीं माना जा सकता, कारण कि कर्ता आदिमें से मङ्गल कोई भी कारक है, ऐसा माननेमें प्रमाण नहीं है । कारकके विना इस जिज्ञासाकी अनुपपत्ति भी प्रमाण नहीं मानी जा सकती, कारण कि मङ्गलसे अतिरिक्त दूसरे कारकोंसे भी उसकी उपपत्ति हो सकती है । [कारकान्तरोंको दिखलाते हैं]—जीव कर्ता है और चित्तकी एकाग्रतासे युक्त वेदान्तवाक्य करण हैं, इत्यादि दूसरे कारक विद्यमान हैं, [जिनसे कि जिज्ञासाकी उपपत्ति हो सकती है] । दूसरा विकल्प भी नहीं बनता, कारण कि जिज्ञासा मङ्गलरूप है, ऐसा सामानाधिकरण्य माननेसे 'अथ जिज्ञासा' इस वाक्यका स्तुतिमें ही तात्पर्य हो जानेके कारण अर्थवादका प्रसङ्ग हो जायगा [इसका स्वार्थमें तात्पर्य न होगा] । शिष्टाचारका पालन करनेके लिए मङ्गल करना तो आनन्तर्यवाची अथशब्दके प्रयोगसे भी हो सकता है । अथशब्द और ओंकार आदिकी ध्वनि मृदङ्ग आदि ध्वनिके समान मङ्गलस्वरूप ही है । [अथकार शब्दका प्रयोग एवकारके समान 'कार' शब्दके साथ समस्त समझना चाहिए, या अकार थकारपरक अथकारशब्दको समझना चाहिए अथवा 'ॐकारश्चाऽथशब्दश्च' इस श्लोकसे इन दोनोंको आदि शब्द माननेसे ॐकारके सहचार्यसे अथ शब्दमें भी वर्णसमष्टिव्यपदेश माना गया है]।

शङ्का—इस प्रकार अथशब्दको आनन्तर्यार्थक माननेपर भी 'अथैवम्' अर्थात् 'अब तुम ऐसा मानते हो' इस वाक्यमें जैसे अथशब्द प्रकृत अर्थसे

धात्विति चेद्, न; हेतुफलभावेनाऽऽनन्तर्याभिधाने प्रकृतादर्थादर्थान्तरत्वस्याऽन्तर्णीततया सिद्धेः। न च वैपरीत्येनाऽऽनन्तर्यमेवाऽन्तर्णीततया सिध्यत्विति वाच्यम्, तत्र किं नियमेन पूर्ववृत्ततया हेतुभूतो वस्तुविशेषो द्योत्यते किं वा यत्किञ्चिद्वस्तु पूर्ववृत्तमपेक्ष्यते ? नाऽऽद्यः; आनन्तर्याभिधानमन्तरेण हेतुतया पूर्ववृत्तवस्तुविशेषनियमासिद्धेः। न द्वितीयः, लोके सर्वव्यापारेष्वपि यत्किञ्चित्पूर्ववृत्तादर्थान्तरस्य सिद्धत्वादथशब्दप्रयोगस्याऽनुवादादृष्टार्थत्वयोरन्यतरत्वप्रसङ्गात्। अतो नियतपूर्ववृत्तपुष्कलकारणद्योतनायाऽऽनन्तर्यमेवाऽथशब्देनाऽभिधातव्यम्। यद्यप्यानन्तर्यमात्राभिधाने तन्न सिध्यति, तथापि मुख्यानन्तर्यस्वीकारे सिद्ध्येदेव पुष्कल-

---

अन्य अर्थका अभिधान करता है, वैसे ही जिज्ञासासूत्रमें प्रयुक्त अथशब्द भी उसी अर्थका वाचक माना जाय ? क्या हानि है ?

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि हेतु और फल भावसे आनन्तर्यका अभिधान करनेसे ही अथशब्दार्थमें प्रकृत अर्थसे भिन्न अर्थके अन्तर्गत हो जानेसे वह सिद्ध ही हो जाता है [अर्थात् आनन्तर्य कहनेसे यह नियमतः प्रतीत होता है अब दूसरा विषय चलता है, इसलिए उक्त अर्थान्तरका पृथक् अभिधान करनेकी आवश्यकता नहीं है] यदि शङ्का हो कि वैपरीत्यसे याने अथशब्दका प्रकृत अर्थसे अर्थान्तर माननेसे ही आनन्तर्यका ही अन्तर्णीतरूपसे अभिधान हो जायगा ? तो यह भी युक्त नहीं है, कारण कि क्या उसमें नियमतः पूर्ववृत्त होनेसे कारणस्वरूप वस्तुविशेषका द्योतन—ज्ञापन—होता है ? या पूर्ववृत्त यत्किञ्चित् वस्तुकी अपेक्षा होती है ? इनमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि आनन्तर्यके अभिधानके बिना कारणरूपसे पूर्वसम्पन्न वस्तुविशेषके रहनेका नियम सिद्ध नहीं हो सकता। दूसरा विकल्प भी नहीं हो सकता, क्योंकि लोकमें सभी व्यापारोंमें कुछ-न-कुछ पूर्व वस्तुसे अन्य अर्थ सिद्ध ही है, इससे अथशब्दका प्रयोग अनुवाद या अदृष्ट—इनमें से किसी एक प्रकारके ही अर्थका बोधक हो जायगा। इसलिए नियमतः (व्यभिचारके बिना) पहलेके पर्याप्त कारणोंका बोधन करनेके लिए आनन्तर्यरूप ही अथशब्दका अर्थ मानना चाहिए। यद्यपि आनन्तर्यमात्रके अभिधानसे उक्त अर्थकी सिद्धि नहीं हो सकती, तथापि मुख्य आनन्तर्य अर्थका स्वीकार करनेसे तो सिद्धि हो ही जाती है [मुख्य आनन्तर्य दिखलाते हैं]—पुष्कल—

कारणात् फलस्य यदानन्तर्यं तदेव मुख्यम्, अव्यवधानादव्यभिचाराच्च । यत्तु हेतुफलयोरानन्तर्यं तत्कदाचिद्व्यभिचरति कदाचिद्व्यवधीयते चेति गौणमेव स्यात् । न च वाच्यं कार्यं चेद्, दृश्यते किं पुष्कलकारणावगमेनेति ? पुष्कलकारणस्याऽधिकारिविशेषणत्वेन फलपर्यन्तेच्छाविचारादिप्रवृत्तौ प्रतिपत्त्यपेक्षत्वात् ।

ननूक्तमेवाऽधिकारिविशेषणम् 'अथाऽतो धर्मजिज्ञासा' इत्यत्रत्येनाऽथशब्देनेति चेद्, न; तत्र ह्यध्ययनानन्तर्यमथशब्देनोक्तम्' न च तस्याऽत्राऽधिकारिविशेषणत्वं सम्भवति, केवलव्यतिरेकाभावेनाऽहेतुत्वात् । नहि शमदमादिकारण-

---

पर्याप्त—कारणोंसे जो फलका आनन्तर्य है, वही मुख्य आनन्तर्य है; क्योंकि पुष्कल कारण और फलके बीचमें कोई व्यवधान या व्यभिचार होता नहीं है [अर्थात् पुष्कल कारणके अनन्तर ही फलकी उत्पत्ति अवश्य होती ही है] और साधारण कारण और फलका जो आनन्तर्य है, वह तो कदाचित् व्यभिचरित भी होता है और कदाचित् व्यवहित भी हो जाता है, इसलिए वह आनन्तर्य गौण ही होगा। यदि कहो कि कार्य ही जब दृष्टिगोचर हो रहा है, तब कारणज्ञान करनेकी आवश्यकता ही क्या है ? तो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, कारण कि पुष्कल कारण अधिकारीका विशेषण है, अतः फलपर्यन्त इच्छासे विचारादिकी प्रवृत्तिमें ज्ञानकी अवश्य अपेक्षा है। [मोक्षकी इच्छासे विचार किया जाता है और विचारका अधिकारी शम, दम आदिसे सम्पन्न ही है, इसलिए विचारप्रवृत्ति शम, दम आदि पुष्कल कारणोंके ज्ञानकी अपेक्षा रखती है, यह भाव है]।

शङ्का—'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्रमें कहे गये अथशब्दसे अधिकारीका विशेषण स्पष्ट कहा ही गया है [फिर उसकी प्रतीति करानेकी आवश्यकता क्या है ?]

समाधान—उस सूत्रमें अथशब्दसे जो अध्ययनका आनन्तर्य कहा गया है, वह यहांपर (ब्रह्मजिज्ञासामें) अधिकारीका विशेषण नहीं हो सकता, क्योंकि केवलव्यतिरेकव्याप्तिका अभाव होनेसे वह हेतु ही नहीं है, [जिस तरह वेदाध्ययन धर्मजिज्ञासामें कारण है, उस तरह ब्रह्मजिज्ञासामें वह कारण नहीं है। ब्रह्मजिज्ञासामें तो शम, दम आदि साधनचतुष्टय सम्पत्ति ही पुष्कल कारण है, अतः वेदाध्ययनका होना न होना समान ही है, इसलिए वह पुष्कल

पौष्कल्ये अध्ययनाभावापराधे ब्रह्मजिज्ञासाया अप्रवृत्तिर्दृष्टा। यद्यपि वेदान्तानामनध्ययने तद्विचाराभावादध्ययनमपि पुष्कलकारणेऽन्तर्भवेत्, एवमपि धर्मब्रह्मविचारयोः साधारणहेतोरध्ययनस्य ब्रह्मविचारं प्रत्यपुष्कलकारणतया तद्विचाराविचारयोः साधारणत्वाद्यदनन्तरं नियमेन ब्रह्मविचारप्रवृत्तिस्तादृशं पुष्कलकारणमन्वेष्टव्यम्। धर्मब्रह्मविचारयोरन्योन्योपकार्योपकारकभावेनैकफलशेषत्वादुपकारकधर्मविचारानन्तर्यमुपकार्यब्रह्मविचारस्य पुष्कलकारणेऽन्तर्भवतीत्यथशब्दार्थः स्यादिति चेद्, न; तयोरुपकार्योपकारकभावासिद्धेः। उपकारकत्वे हि वेदान्ताध्ययनवद्धर्मविचारस्याऽपि व्यतिरेको वक्तव्यः, न च वक्तुं शक्यः, धर्मजिज्ञासाया अभावेऽप्यधीतवे-

---

कारण नहीं हो सकता, इस अभिप्रायसे कहते हैं]—शम, दम आदि पुष्कल कारणके रहते यदि वेदाध्ययन न किया हो, तो भी ब्रह्मजिज्ञासामें प्रवृत्तिका अभाव नहीं देखा जाता। यद्यपि वेदान्त वाक्योंके पढ़े बिना उनका विचार करना सम्भव नहीं हैं, इसलिए अध्ययन भी पुष्कल कारणोंके ही अन्तर्गत हो जाता है, तथापि इस प्रकार अध्ययन धर्म तथा ब्रह्म दोनोंके विचारके प्रति साधारण कारण है, इसलिए ब्रह्मविचारमें वह पुष्कल कारण (असाधारण कारण) नहीं हो सकता, कारण कि धर्मविचार अथवा ब्रह्मविचारके करने या न करनेमें अध्ययन साधारण है, [अध्ययनके अनन्तर विचारमें प्रवृत्ति अवश्य होती है, ऐसा नियम नहीं है] अतः जिसके अनन्तर नियमसे (व्यभिचारके बिना) ब्रह्मविचारमें प्रवृत्ति हो, ऐसे ही पुष्कल कारणका अन्वेषण करना चाहिये। धर्मविचार और ब्रह्मविचारका परस्पर उपकार्योपकारभाव है, अतः एक ही फलका अङ्ग होनेसे उपकारक धर्मविचारका आनन्तर्य ब्रह्मविचारके पुष्कल कारणमें आ जाता है; इसलिए अथशब्दका अर्थ मान लिया जायगा, ऐसा भी सम्भव नहीं है, कारण कि उनमें परस्पर उपकार्योपकारकभावकी सिद्धि ही नहीं है, यदि ब्रह्मविचारका धर्मविचार उपकारक होता, तो वेदान्तवाक्योंके अध्ययनके समान धर्मविचारका भी व्यतिरेक कहना होगा [जैसे अध्ययनके न होनेपर विचारका अभाव प्राप्त होता है, वैसे ही धर्मविचारके अभावमें ब्रह्मविचारका भी अभाव होगा, इस प्रकार व्यतिरेक व्याप्ति माननी होगी] परन्तु उक्त व्यतिरेक कहना सम्भव नहीं है, क्योंकि धर्मविचारके अभावमें भी वेदान्त-

दान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपलम्भात् ।

अथ व्युत्पत्त्यादिसिद्धये पूर्वतन्त्रापेक्षा, तदाऽपि वक्तव्यम्—किं तत्रत्यो न्यायोऽपेक्ष्यते किं वाक्यार्थनिर्णय उताऽग्निहोत्रादिकर्म ? आद्ये किं प्रथमपादोक्तवेदप्रामाण्यापेक्षितसाधकन्यायस्याऽपेक्षा उत न्यायान्तरस्य ? नाऽऽद्यः; उत्तरतन्त्रेऽपि 'शास्त्रयोनित्वात्', 'अत एव च नित्यत्वम्' इत्यादिसूत्रेषु वेदान्तापेक्षितन्यायस्योक्तत्वात्, अस्तु वा दार्ढ्याय प्रथमपादापेक्षा, नैतावता धर्मजिज्ञासानन्तर्यप्रसङ्गः। प्रथमपादस्य धर्मब्रह्म-

---

वाक्योंको पढ़े हुए पुरुषकी ब्रह्मविचारमें प्रवृत्ति होती है ।

शङ्का—व्युत्पत्ति आदिकी सिद्धिके लिए पूर्वमीमांसाकी—धर्मविचारशास्त्रकी—अपेक्षा रहती है [कारण कि व्युत्पत्तिमें पद-पदार्थ, वाक्य-वाक्यार्थ तथा शाब्दबोधके कारणभूत प्रकृतिप्रत्यार्थ-प्राधान्य आदि अनेकों न्याय अपेक्षित होते हैं, उनका विस्तृत विवेचन पूर्वमीमांसामें किया गया है, इसलिए उसकी अपेक्षा सर्वथा उचित है ।]

समाधान—नहीं, उसकी आवश्यकता नहीं है, कारण कि हम प्रश्न करते हैं कि व्युत्पत्ति आदिके लिए क्या पूर्वमीमांसामें वर्णित न्याय अपेक्षित हैं ? अथवा वाक्यार्थका निर्णय अपेक्षित है ? अथवा अग्निहोत्रादि कर्म अपेक्षित हैं ? प्रथम विकल्पमें प्रश्न होता है कि क्या प्रथम पादमें कहे गये वेदप्रामाण्यमें अपेक्षित साधक—प्रामाण्यके पोषक—न्यायकी अपेक्षा है ? अथवा उससे भिन्न अन्य न्यायोंकी ? इसमें साधक न्यायोंकी अपेक्षा नहीं है, कारण कि उत्तरमीमांसामें भी 'शास्त्रयोनित्वात्' (शास्त्रमूलक होनेसे अथवा शास्त्रका मूल होनेसे) तथा 'अत एव च नित्यत्वम् (इसीलिए तो नित्य है) इत्यादि सूत्रोंसे वेदान्तमें अपेक्षित वेदान्तके प्रामाण्यके साधक न्यायोंका विवेचन आया ही है । उन वाक्योंको दृढ़ करनेके लिए पूर्वमीमांसाके प्रथमपाद—तर्कपाद—मात्रकी अपेक्षा मानो, तो उतनेसे ही ब्रह्ममीमांसामें धर्ममीमांसाका

---

(१) वेद यदि मनुष्य द्वारा प्रणीत होता, तो उसमें मनुष्यकी अनवधानतासे अप्रामाण्य आता, किन्तु मनुष्य उसका प्रणेता नहीं है एवं वेदके ऋषि भी प्रणेता नहीं हैं, किन्तु द्रष्टा हैं, श्रुति भी कहती है—'यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्' । महाभारतमें भी व्यासजी कहते हैं कि युगान्तमें छिपे हुए वेदोंको ही अपने तपोबलसे ऋषियोंने प्राप्त किया, जैसे—

'युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा ॥'

जिज्ञासयोः साधारणत्वात्। प्रथमपादगतवेदान्तप्रामाण्यविचारानन्तर्यमथशब्दार्थोऽस्त्विति चेद्, न; तस्याऽप्यध्ययनवदपुष्कलकारणत्वात्। द्वितीयेऽपि तन्न्यायान्तरं ब्रह्मप्रतिपादनेऽपेक्ष्यते उत गुणोपसंहारे? नाऽऽद्यः; उत्पत्त्यादिविधिचतुष्टयनिर्णायकस्य न्यायान्तरस्याऽननुष्ठेयभूतवस्तुप्रतिपादनेऽनुपयोगात्। 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इत्यादिसूत्रैः श्रुतिलिङ्गादय उप-

---

आनन्तर्य नहीं माना जा सकता, कारण कि तर्कपाद धर्म तथा ब्रह्म दोनोंकी जिज्ञासामें सामान्यरूपसे उपयोगी है। यदि कहो कि तर्क-पादमें प्रतिपादित वेदान्तप्रामाण्यका आनन्तर्य 'अथ' शब्दका अर्थ मान लिया जायगा, यह कहना भी संगत नहीं है, कारण कि इस आनन्तर्यको भी, अध्ययनके समान (उभयसाधारण होनेसे), पुष्कल कारण नहीं मान सकते। द्वितीय कल्पमें भी यह प्रश्न होता है कि क्या अतिरिक्त न्यायोंकी अपेक्षा ब्रह्मका प्रतिपादन करनेमें है? या गुणोपसंहारमें? प्रथम कल्प युक्त नहीं है, कारण कि उत्पत्ति आदि चार प्रकारकी विधियोंका निर्णय करनेमें समर्थ अन्य न्यायोंका अनुष्ठानके अविषय तथा सिद्धभूत पदार्थके प्रतिपादनमें कोई उपयोग नहीं हो सकता। यदि कहो कि 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इत्यादि सूत्रोंसे श्रुति,

---

(१) निर्गुणब्रह्ममें ही सगुण ब्रह्मके गुणोंका उपसंहार करना चाहिए, जैसा कि अभियुक्तोंका वचन है—

'निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः।
ये मन्दा तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः॥'

अर्थात् जो मन्द पुरुष निर्गुण ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं कर सकते, उनके लिए दयालु महर्षियोंने सगुण ब्रह्मका निरूपण किया है। इससे महर्षियोंने बेचारे मन्दबुद्धियोंके साथ वञ्चना की, ऐसा भी आरोप नहीं हो सकता; क्योंकि कहा है—

'वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात्।
तदेवाऽविर्भवेत्साक्षादपेतोपाधिकल्पनम्॥'

सगुण ब्रह्मकी उपासनासे मनके निर्गुण ब्रह्मकी उपासनाके योग्य हो जानेपर पहले सगुणरूपसे उपासित ब्रह्मका निर्गुणरूपसे साक्षात्कार होता है।

(२) छान्दोग्यमें लोकगतिके प्रश्नके अवसरपर कहा गया है—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति' अर्थात् ये सब भूतजात आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं और आकाशको ही प्राप्त होते हैं। और 'आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्' सबसे उत्कृष्ट आकाश ही है और आकाश ही अन्तिम गति है। इस वाक्यमें आकाशपदसे भूताकाशका ग्रहण प्राप्त होनेके सन्देहमें 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते' इस श्रुतिमें आकाशके द्वारा सबकी उत्पत्ति दिखला कर आकाशपदसे परब्रह्मका बोध श्रुतिके बलसे दिखलाते हुए ज्यायस्त्वरूप

जीव्यन्त इति चेद्; न; तत्र लोकसिद्धश्रुत्यादीनामेवोपजीवनात् । न द्वितीयः; सगुणविद्यानां मानसक्रियारूपाणां धर्मान्तःपातितया गुणोपसंहारे तदपेक्षायामप्यविरोधात् । ब्रह्मजिज्ञासायां तूपासनानां प्रासङ्गिकी सङ्गतिः ।

लिङ्ग आदि (तर्कपादमें प्रतिपादित न्यायान्तरों) का आश्रयण किया ही गया है, तो यह मानना भी उचित नहीं है, कारण कि उक्त सूत्रोंमें लोकसिद्ध श्रुति आदि न्यायोंका आश्रयण है [अर्थात् पूर्वमीमांसामें जैसे अनादि वृद्धव्यवहारसे सिद्ध श्रुति, लिङ्ग आदिका ग्रहण है, वैसे ही उत्तरमीमांसामें उनका ही ग्रहण है, इसलिए तर्कपादकी अपेक्षा नहीं है, यह भाव है]। दूसरा कल्प गुणोपसंहारमें उपयोग मानना भी, नहीं बन सकता, कारण कि मानसिक क्रियाओंके—उपासनारूप—होनेसे धर्मके ही अन्तर्गत सगुण विद्याएँ मानी जाती हैं, इसलिए गुणोपसंहारमें—सगुणोपासनाबोधक वाक्योंमें—उन न्यायोंकी अपेक्षा रहनेपर भी (प्रथमतः निर्गुण ब्रह्मविचारमें) कोई विरोध नहीं आ सकता, कारण कि ब्रह्मविचारके प्रकरणमें उपासनाओंकी प्रासङ्गिक सङ्गति है। दूसरे विकल्पमें (वाक्यार्थनिर्णयकी

तथा परायणस्वरूप लिङ्गकी सिद्धि भी परब्रह्मका बोध करानेवाली श्रुति द्वारा दिखलाई गई है—'आकाशो ह्येवेभ्यो ज्यायान्, इत्यादि और 'ज्यायान् पृथिव्या—' इत्यादि, तथा 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' रातेर्दातुः परायणम् ।' इत्यादि ।

(१) सगुण विद्या और निर्गुण विद्या—इन दोनोंमें यद्यपि विद्याके नाते कोई विशेष नहीं है, तथापि सगुणविद्या मानसिक क्रियारूप है, यह स्पष्ट ही है। गुलाबको गुलाब समझना मनके अधीन नहीं है, किन्तु इन्द्रियविकलता न हो, तो गुलाब वस्तु ही स्वयं अपना प्रकाश करायेगी, इसमें मनोव्यापारकी अपेक्षा नहीं है। यदि इन्द्रियवैकल्य है, तो मनके हजार व्यापार करनेपर भी गुलाबका अनुभव नहीं हो सकता; किन्तु सगुण उपासनारूप सगुण विद्या सर्वथा मनोव्यापाररूप है। भगवान् भी कहते हैं—'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः' अर्थात् उपासनाके लिए मनकी स्थिरता, देशशुद्धि तथा आसन, ध्यान आदिकी आवश्यकता है एवम् मूलाधारसे कुण्डलिनी, सुषुम्ना आदि नाड़ियों द्वारा ब्रह्मरन्ध्र तक चढ़ना और वहाँपर स्थिर होकर अपने इष्टका निरन्तर एक-सा ध्यान करना चाहिए। भाष्यकार कहते हैं—'उपासनं नाम समानप्रत्ययकरणम्, न च तद्गच्छतो धावतो वा संभवति'। अथ च उद्गीथमें ब्रह्मदृष्टि इत्यादि सब मनोव्यापार ही हैं और शुद्ध ज्ञान उसके ही अधीन है, इसके विपरीत चलने फिरनेसे चित्तके विक्षिप्त हो जानेके कारण वह नहीं होता है।

(२) किसके अनन्तर किसका अभिधान करना चाहिए, इस जिज्ञासाको उत्पन्न करनेवाली सङ्गति छः प्रकारकी होती है, जैसे कि कहा भी है—

द्वितीयेऽपि न तावत् पूर्वतन्त्रवाक्यार्थनिर्णयो ब्रह्मविचारप्रवृत्तावुपयुज्यते, क्वाऽप्यन्यविषयज्ञानस्याऽन्यत्र प्रवृत्तिहेतुत्वादर्शनात्। नाऽपि ब्रह्मप्रमितौ तदुपयोगः, धर्मज्ञानस्य ब्रह्मप्रमापकत्वायोगात्। यदि धर्मज्ञानस्य ब्रह्मकार्यत्वात् कार्येण कारणानुमानमित्युच्यते, तदा प्रपञ्चेनाऽपि कार्येण ब्रह्मणोऽनुमातुं शक्यत्वात् किं धर्मज्ञानेन। तृतीयपक्षेऽपि ब्रह्मविचारे कथमग्निहोत्रादिकर्म-

---

अपेक्षा मानने में) भी पूर्वमीमांसामें किये गये वाक्यार्थनिर्णयका ब्रह्मविचारकी प्रवृत्तिमें कोई उपयोग नहीं है, कारण कि ऐसा कहीं भी नहीं देखा गया है कि दूसरे विषयका ज्ञान दूसरे विषयमें प्रवृत्ति करानेका कारण हो (घटविषयक ज्ञान घटमें ही प्रवृत्ति करा सकता है, पटमें नहीं) और ब्रह्मकी प्रमितिमें याने अबाधित निश्चयात्मक ज्ञानमें भी उसका (धर्ममीमांसाशास्त्रके वाक्यार्थ निर्णयका) उपयोग नहीं है, कारण कि धर्मका निश्चयात्मक ज्ञान ब्रह्मका निश्चयात्मक ज्ञान नहीं करा सकता। यदि धर्मज्ञान ब्रह्मका कार्य होनेसे कार्यसे कारणका अनुमान करानेवाला होगा (इससे धर्मज्ञान ब्रह्मप्रमापक है) ऐसा मानो, तो प्रपञ्चरूप कार्यसे भी ब्रह्मका अनुमान किया जा सकता है, इसमें धर्मज्ञानकी क्या आवश्यकता है ? ['ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यादि श्रुतिकी सामर्थ्यसे ब्रह्ममें सबके प्रति कारणत्व सिद्ध ही है, इसलिए आपामरप्रसिद्ध घट, पटादि प्रपञ्चज्ञान ही प्रेक्षावान्‌के प्रति अपने कारणका अनुमानप्रमापक हो जायगा। इस साधारण बातके लिए इतने बड़े आडम्बरके साथ बारह अध्यायके पूर्व मीमांसाशास्त्रसे धर्मज्ञान करनेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है, इससे मुमुक्षुको पूर्वमीमांसाशास्त्र पढ़नेका आनन्तर्य सिद्ध नहीं हो सकता]। तृतीय

'सप्रसङ्ग उपोद्घातो हेतुताऽवसरस्तथा।
निर्वाहकैककार्यत्वे षोढा सङ्गतिरिष्यते॥'

अर्थात् प्रसङ्ग, उपोद्घात, हेतुता, अवसर, निर्वाहक और एककार्यता ये छः सङ्गतियाँ हैं। सादृश्यादिरूप अथवा कारणान्तरसे स्मरणमें आये हुए विषयकी उपेक्षा न करना प्रसङ्ग सङ्गति है। प्रकृत विषयके वर्णनकी चिन्ताके कालमें प्रकृतके अनुकूल विषयका उपस्थित करना उपोद्घात सङ्गति कहलाती है। प्रकृतके कारणका प्रतिपादन करना हेतुता सङ्गति होती है। प्रकृतके विपरीत शिष्यजिज्ञासाकी निवृत्तिके लिए कुछ कहनेकी आवश्यकता—अवसर सङ्गति है। प्रकृत एक ही कार्यका साक्षात् या परम्परया जनक (प्रयोजकमात्र) का कहना निर्वाहक कहलाता है। एककार्यत्व सङ्गति एक ही कार्य होना है। इस प्रकार प्रसङ्गसङ्गतिमें वर्णन किये हुए विषयका पूर्वापरके साथ सम्बन्ध ढूँढ़नेकी आवश्यकता नहीं होती।

णामुपयोगः । किं यथा सोपानपरम्परया प्रासादमारोहति तथा संध्योपासनमारभ्य पूर्वपूर्वाल्पतरकर्मप्रहाणेनोत्तरोत्तरमहत्तरकर्मोपादानात् सहस्रसंवत्सरे निरतिशये कर्मण्यवस्थितः परिशेषाद् ब्रह्मज्ञानेऽवतरतीत्युच्यते किं वा क्रमेण कृत्स्नकर्मफलावाप्तौ ब्रह्मलोकान्तगोचराणां सर्वेषां कामानामनुभवेन प्रविलये तत्र निवृत्तकामः परमानन्दकामनया ब्रह्मविचारेऽवतरतीति ? नाऽऽद्यः, प्रमाणाभावात् । द्वितीये ब्रह्मविचारो मनुष्याधिकारो न स्यात् , ब्रह्मलोकप्राप्त्यनन्तरभावित्वात् । अथापि सकामस्य ब्रह्मविचारानधिकाराद् कामः प्रविलापनीय एव । तत्र यथा वह्निरुपस्थितं दाह्यमखिलं दग्ध्वा प्रशाम्यति तथा कामोऽपि सर्वभोगेन प्रविलीयत इति चेद् , नः हैरण्यगर्भा-

---

विकल्पके—अग्निहोत्र आदिकी अपेक्षाके—माननेमें भी यह प्रश्न होता है कि ब्रह्मविचारमें अग्निहोत्र आदि कर्मोंका उपयोग कैसे होगा ? क्या जैसे सीढ़ियोंसे महलकी छतपर चढ़ा जाता है, वैसे सन्ध्योपासनसे लेकर पूर्व-पूर्वके छोटे-छोटे कर्मोंके त्यागसे आगे-आगेके बड़े-बड़े कर्मोंके उपादानसे हजार वर्ष तक चलनेवाले निरतिशय कर्ममें अवस्थित पुरुष परिशेषसे ब्रह्मज्ञानमें पहुँचता है, इस प्रकार कर्मोंका उपयोग कहते हो ? अथवा सम्पूर्ण कर्मोंके क्रमशः फल पानेके अनन्तर ब्रह्मलोक तककी सब कामनाओंका उनके अनुभवसे नाश हो जायगा, फिर उन सब कामनाओंसे रहित पुरुष परम आनन्दकी कामनासे ब्रह्मविचारमें लगता है ? (इस प्रकार क्या कर्मोंका उपयोग है ?) । इनमें प्रथम पक्ष नहीं बन सकता, क्योंकि सोपानपरम्पराके समान ब्रह्मविचारमें पहुँचानेके लिए कर्म साधन है, ऐसा माननेमें कोई प्रमाण नहीं है । दूसरा विकल्प भी युक्त नहीं है, क्योंकि ब्रह्मका विचार करना मनुष्यके अधिकारसे बाहर हो जायगा, कारण कि वह तो ब्रह्मलोककी प्राप्तिके अनन्तर होनेवाला है। [और ब्रह्मलोककी प्राप्तिके समय वह मनुष्यव्यपदेशभागी रहता ही नहीं, क्योंकि मनुष्यव्यवहार तो भूलोकमें ही है, अन्य भिन्न भिन्न लोकोंमें तो देव आदि भिन्न संज्ञाएँ प्राप्त हो जाती हैं, यह भाव है ।]

शङ्का—कामनाविशिष्ट पुरुषका ब्रह्मविचारमें अधिकार न होनेसे कामनाका विलय करना ही चाहिए। जैसे अग्नि इन्धन आदि सम्पूर्ण दाह्य वस्तुओंको जलाकर स्वयं शान्त हो जाती है, वैसे ही सब भोगोंके भोगनेपर कामना भी स्वयं विलीन हो जाती है ।

दिभोगानां प्रतिक्षणं क्षीयमाणत्वादनागतभोगविषयकामनोपपत्तेः । अग्नेरपि दाह्यान्तरोपस्थाने पुनः प्रज्वलनदर्शनात् । अत एवोक्तम्—

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते ॥' इति ।

ननु कामावाप्त्या स्वच्छहृदयः पुमान् कार्यान्तरक्षमो दृष्ट इति चेत् , सत्यम् ; तत्रौत्सुक्यनिवृत्तिर्हृदयस्वास्थ्ये हेतुर्न कामप्राप्तिः, अनुपभुक्तविषयस्यौत्सुक्यरहितस्य पुरुषस्य चित्तस्वास्थ्यदर्शनात् । औत्सुक्यं च न भोगादेकान्ततो निवर्त्तते, किन्तु विषयदोषदर्शनात् । न च भोगात् कामोपशम इत्येवंविध आगमोऽस्ति ।

समाधान—हिरण्यगर्भ आदि अवस्थाओंमें प्राप्त होनेवाले भोगोंका प्रतिक्षण विनाश होनेसे आगे आनेवाले अर्थात् जो अबतक प्राप्त नहीं हुए हैं, ऐसे भोगोंकी कामना बनी ही रहती है, अतः कामनाका क्षय नहीं हो सकता । दूसरी जलने योग्य सामग्रीके आ जानेपर दृष्टान्तभूत अग्निका भी पुनः प्रज्वलन दिखलाई देता है, इसीलिए तो कहा गया है—

विषयोंका उपभोग करनेसे अभिलाषाएँ कभी शान्त नहीं होतीं, किन्तु घृत आदि हविस् पदार्थके छोड़नेसे जैसे अग्नि अधिक बढ़ती ही जाती है, वैसे ही विषयभोगसे अभिलाएँ बढ़ती ही जातीं हैं ।

शङ्का—अभिलाषाओंकी पूर्ति हो जानेसे पुरुष प्रसन्नचित्त होकर दूसरे कार्यको करनेमें समर्थ देखा जाता है [यदि अभिलाषाओंके पूर्ण हो जानेपर भी अभिलाषा बनी ही रहती, तो पुरुषको प्रसन्नचित्त नहीं होना चाहिए, अतः इस प्रसन्नतासे मालूम पड़ता है कि अभिलाषाओंकी समाप्ति होती है, यह शङ्काका तात्पर्य है ।]

समाधान—यद्यपि आपकी शङ्का ठीक है, तथापि उत्सुकताकी निवृत्ति ही हृदय-प्रसन्नताकी कारण है, अभिलाषाकी पूर्ति कारण नहीं है, कारण कि जिसने विषयोंका भोग नहीं किया है और विषयभोगकी इच्छा भी नहीं है, ऐसे पुरुषका चित्त प्रसन्न देखा जाता है । और विषयभोगसे तो उत्सुकताकी सर्वथा निवृत्ति नहीं होती, किन्तु विषयमें दोषके परिज्ञानसे होती है, क्योंकि 'भोगसे इच्छाकी शान्ति हो जाती है', इस प्रकार बतलानेवाला कोई आगम प्रमाण नहीं है ।

यस्तु मन्यते वैदिकशब्दा सर्वे संहत्य प्रपञ्चविलयप्रमितिपराः, ज्योतिष्टोमादिवाक्यानामपि देहातिरिक्तात्मानमुपजीव्य प्रवृत्तानां देहात्मत्वप्रविलापकत्वादिति; तं प्रतीतिविरोध एव निराकरिष्यति। तस्मान्न केनापि प्रकारेण पूर्वतन्त्रापेक्षा सुलभा।

ननु कर्मद्वारा तदपेक्षा स्याद् ब्रह्मविचारस्य। तथा हि--नित्यकर्माण्यनुष्ठीयमानानि पुरुषे धर्माख्यं गुणमादधति, स च धर्मः पापाख्यं मलमपकर्षति ततो गुणाधानमलापकर्षणसंस्काराभ्यां संस्कृतः पुमान् ब्रह्मविचारेऽधिक्रियते। तदाह गौतमः--यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत्संस्काराः स

सभी वेदवाक्य आपसमें मिलकर प्रपञ्चके विलयका निश्चय कराते हैं, क्योंकि ज्योतिष्टोमादिके प्रतिपादक वाक्य भी देहसे अतिरिक्त आत्माका आश्रयण करके ही प्रवृत्त होते हैं, इसलिए उन वाक्योंका तात्पर्य भी देहात्मवादका विलय करनेमें ही है, ऐसा जो वादी मानता है, उसका खण्डन तो प्रतीतिविरोध ही कर देगा। ['स्वर्गकी कामनासे याग करे' इत्यादि वाक्योंसे स्वर्ग और यागोंका साध्य-साधनभाव ही शब्दतः प्रतीत होता है, प्रपञ्चका विलय प्रतीत नहीं होता। अन्यथा स्वर्गादि प्रपञ्चके विलयका बोध करनेसे यागमें किसीकी प्रवृत्ति ही नहीं होगी, यह भाव है] इसलिए किसी भी कारणसे (ब्रह्मविचारमें) पूर्वमीमांसाकी अपेक्षा नहीं हो सकती।

ब्रह्मविचारको कर्म द्वारा पूर्वमीमांसाकी अपेक्षा होगी; क्योंकि अनुष्ठीयमान अग्निहोत्रादि नित्य कर्म पुरुषमें धर्मनामक गुणकी उत्पत्ति करते हैं, [जिससे कर्म करनेवाले धर्मात्मा कहलाते हैं] और वह धर्म पापरूपी मलका निराकरण करता है, उसके अनन्तर गुणाधान और मलापकर्षरूप दोनों संस्कारोंसे संस्कृत पुरुष ब्रह्मविचारमें अधिकार प्राप्त करता है, यही सिद्धान्त गौतम मुनिने भी कहा है—'जिस पुरुषके ये अड़तालीस संस्कार हो जाते हैं, वह

---

(१) अड़तालीस संस्कार इस प्रकार गिनाये गये हैं—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूडा (मुण्डन), उपनयन, चार वेदव्रत, समावर्तन, विवाह, ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, (इस प्रकार पांच महायज्ञ) अष्टका श्राद्ध, पार्वण श्राद्ध, श्रावणी, आग्रहायणी, प्रौष्ठपदी, चैत्री, आश्वयुजी (इस प्रकार सात पाकयज्ञ) अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य, निरूढपशुबन्ध,

ब्रह्मणः सायुज्यं सालोक्यं च गच्छतीति। अत्रैतच्छब्देन गर्भाधानादीनि सप्तसोमसंस्थान्तानि कर्माणि परामृश्यन्ते। न च वाच्यं कर्मणां संस्कारकत्वे स्वतन्त्रफलता न स्याद्, व्रीहिप्रोक्षणादौ स्वतन्त्रफलाभावात्; तत आश्रमकर्मानुष्ठायिनां स्वतन्त्रफलाभिधायिनी सर्व एते पुण्यलोका भवन्तीति श्रुतिः पीड्येतेति। प्रोक्षणादिवत् कर्मणामन्याङ्गतानङ्गीकारेण स्वतन्त्रफलताऽविरोधात्। यथा द्रव्यार्जनस्य स्वतन्त्रपुरुषार्थतया निर्णीतस्य क्रत्वनङ्गस्याऽपि क्रतूपकारिता तथाऽनङ्गानामपि कर्मणां ब्रह्मविचारोपकारिता

ब्रह्मके सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त होता है' इस गौतम मुनिके वचनमें 'एतत्' शब्दसे गर्भाधानादिसे लेकर सात सोमसंस्थानान्त कर्मोंका परामर्श होता है। यदि कहो कि कर्मोंको संस्कारजनक माननेमें उनका कोई स्वतन्त्र ही फल नहीं होगा, क्योंकि संस्कारजनक प्रोक्षणादि कर्मोंका कोई स्वतन्त्र फल नहीं देखा जाता है। इस परिस्थितिमें अपने-अपने आश्रमविहित कर्मोंके अनुष्ठापक पुरुषोंके लिए स्वतन्त्र फलका अभिधान करनेवाली 'आश्रम कर्मोंको करनेवाले पुरुष पुण्य लोकोंकी प्राप्ति करते हैं' इत्यादि अर्थवाली 'सर्व एते' इत्यादि श्रुतिसे विरोध होगा, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि वे प्रोक्षणादिके समान अन्य किसी भी विधानके अङ्ग नहीं हैं, अतः उनका स्वतन्त्र फल होनेमें कोई विरोध नहीं है। [यदि कर्म किसीके अङ्ग नहीं हैं, तो ब्रह्मविचारके भी उपकारी कैसे होंगे? इस आशङ्काका दृष्टान्त द्वारा समाधान करते हैं]—जैसे स्वतन्त्र पुरुषार्थस्वरूप द्रव्यार्जन स्वयं क्रतुका अङ्ग नहीं है, तो भी क्रतुका उपकारी होता है, वैसे ही अङ्ग न होते हुए भी कर्म ब्रह्मविचारके उपकारी हो सकते हैं, अन्यथा कर्मोंको संस्कारजनक कहनेवाली उक्त

और सौत्रामणी उक्त सात हविर्यज्ञ संस्कार अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम, (इस प्रकार सात सोमसाध्य यज्ञ) इन चालीस संस्कारोंके अतिरिक्त दया, तितिक्षा, अनसूया, शौच, अनायास, मङ्गल, कृपणताका अभाव एवम् लोलुपताका अभाव ये आत्माके आठ गुण। इनका विशद वर्णन ग्रन्थगौरवसे यहांपर नहीं किया गया है, धर्मशास्त्रोंसे जानना चाहिये।

(२) सायुज्य—सयुजो भावः—अर्थात् विद्याके द्वारा अविद्याकी निवृत्ति होनेसे ब्रह्मके साथ एकताकी प्राप्ति।

(३) सालोक्यम्—समानलोकस्य भावः प्राप्तिः—अर्थात् श्रवण, मनन आदिके बिना केवल उपासना द्वारा समान लोककी प्राप्ति।

स्यात्। अन्यथा कर्मणां संस्कारत्वस्मृत्यनुपपत्तेः। एवं च कर्माणि केवलान्यभ्युदयफलानि, श्रवणमननादिसहकृतानि तु ब्रह्मज्ञानजनकानीति श्रुतिस्मृत्योरविरोधः। न च गौतमस्मृतौ सालोक्यलिङ्गाद्धिरण्यगर्भप्राप्तिरेव संस्कारकर्मणां फलमिति वाच्यम्, तत्र सायुज्यशब्देन मोक्षस्याऽभिहितत्वात्। 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः' इत्यादिस्मृतिषु स्पष्टमेव पापक्षयलक्षणसंस्कारद्वारा ज्ञानोत्पत्तौ कर्मणां विनियोगात्। यथा प्रोक्षणा-

---

गौतमस्मृतिकी उपपत्ति नहीं होगी, केवल कर्म स्वर्गादि अभ्युदयको देनेवाले हैं और वे ही कर्म श्रवण, मननादिसे युक्त होकर ब्रह्मज्ञानके उत्पादक होते हैं, इस प्रकार निष्कर्ष करनेसे श्रुति तथा स्मृतिमें कोई विरोध नहीं रह जाता। 'सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति' यह श्रुति केवल कर्मोंके फलका बोधन करती है और 'यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत् संस्काराः' इत्यादि गौतमस्मृति श्रवण, मननके सहकारसे कर्मोंका ब्रह्मज्ञानमें उपयोग कह रही है, इस प्रकार विषयका भेद होनेसे विरोध नहीं आता]। यदि शङ्का हो कि गौतमस्मृतिमें सालोक्यरूप हेतुसे संस्कार कर्मोंका हिरण्यगर्भप्राप्तिरूप फल मानना चाहिये, ब्रह्मज्ञान नहीं। तो यह भी युक्त नहीं है, कारण कि उसी स्मृतिमें सायुज्यशब्दसे मोक्षका अभिधान * है। 'पाप कर्मोंका नाश होनेसे पुरुषोंको ज्ञान होता है।' इत्यादि स्मृतियोंमें पापक्षयरूप संस्कार द्वारा ज्ञानकी उत्पत्तिमें कर्मोंका† विनियोग स्पष्ट ही है जैसे प्रोक्षण आदि संस्कार

---

* ब्रह्मके साथ एक—अभेद—को ही सायुज्य कहते हैं, और ब्रह्मैक्य ही मोक्ष माना गया है।

† कर्मोंका संस्कार द्वारा ज्ञानसिद्धिका अङ्ग होना भगवानने भी श्रीमुखसे श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः" अपने अपने कर्मोंमें तत्पर पुरुष सिद्धि पाता है। यहाँपर स्वपदसे अन्तकालीय संस्कारोंमें से नित्य कर्म लिए जाते हैं। और सिद्धिपदसे अन्तःकरणकी शुद्धि अभीष्ट है। आगे चलकर भगवान् कहते हैं—"सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे" सिद्धि—चित्तशुद्धि—को पाकर ब्रह्म पानेका प्रकार मुझसे सुनो" कहकर कहते हैं—

"बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥"

विशुद्ध बुद्धि—अन्तःकरण—से युक्त हो और धृतिसे अपना नियमन करके ध्यानयोगमें

दीनि संस्कारकर्माणि दर्शपूर्णमासस्वरूपोत्पत्तिहेतुतया स्वर्गे समुच्चीयन्ते तथा नित्यनैमित्तिककर्माणि ज्ञानोत्पत्तिहेतुतया मोक्षे समुच्चीयन्ते। ननु तर्हि प्रोक्षणादिवदेव गुणकर्मत्वं प्राप्तं ततो न कदाचिदपि स्वतन्त्रफलत्वसिद्धिरिति चेद्, न; व्रीहिवदत्र संस्क्रियमाणस्याऽऽत्मनो विधेयगुणत्वाभावेन तत्प्राप्तेः। नहि प्रमाणतन्त्रं ब्रह्मज्ञानं विधातुं शक्यम्, येनाऽऽत्मनो विधेयगुणता स्यात्। नन्वेवं सति संस्कारकर्मता नित्यनैमित्तिकयोर्न स्याद्, विहिताङ्गद्रव्यसंस्कारकर्मण्येव तत्प्रसिद्धेरिति चेद्, मैवम्; अविहितभोजनाङ्गदधिसंस्कारेऽपि प्रसिद्धेः।

कर्म दर्शपूर्णमास यागकी स्वरूपोत्पत्तिमें कारण होते हुए स्वर्गरूप साध्यकी कारणसामग्रीमें जुट जाते हैं, वैसे ही नित्य, नैमित्तिक—सन्ध्योपासना, राहूपरागादिमें (ग्रहणमें) स्नान, दानादि—कर्म ज्ञानोत्पत्तिके कारण होकर मोक्षरूप पुरुषार्थकी कारणसामग्रीमें भी सम्मिलित हो जाते हैं। यदि शङ्का हो कि तब तो प्रोक्षणादिके समान वे कर्म भी गुण कर्म ही हुए और गुणकर्मोंसे स्वतन्त्र फलकी सिद्धि कभी भी नहीं हो सकती, तो ऐसी शङ्का भी नहीं हो सकती, कारण कि व्रीहिके समान संस्कारको प्राप्त होनेवाला आत्मा विधेयका गुण नहीं है, अतः उसमें स्वतन्त्र फलकी प्राप्ति हो सकती है, कारण कि ब्रह्मज्ञान प्रमाणाधीन है, अतः उसका विधान नहीं किया जा सकता, जिससे कि आत्मा 'व्रीहिके समान' विधेयका गुण हो। यदि शङ्का हो कि ऐसा होनेपर नित्य नैमित्तिक कर्मोंका संस्कार कर्म होना सिद्ध नहीं होगा, कारण कि विहित–प्रधानभूत विधेय–के अङ्गभूत (व्रीह्यादि) द्रव्यके संस्कारक कर्ममें संस्कारकर्मता प्रसिद्ध है, तो वैसी शङ्का करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिसका किसी 'भोक्तव्यम्' इत्यादि विधायक वाक्यसे विधान नहीं किया जाता, ऐसे अविधेयभूत भोजनके अङ्ग दधि आदि द्रव्यके संस्कारमें भी वैसा (संस्कारका कर्म होना) प्रसिद्ध है।

तत्पर हो वैराग्यको प्राप्त "ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्"—'यथार्थतः मुझको जानकर अनन्तर मेरे साथ ऐक्यको प्राप्त हो जाता है' इस प्रकार श्रीभगवान्‌की दिखलाई हुई प्रक्रियासे नित्य कर्मोंके द्वारा चित्तकी शुद्धिको पाकर ध्यान योग आदि सहकारीकी सम्पत्ति मिलनेसे तत्त्वज्ञानका उदय होनेसे मोक्षप्राप्तिमें कर्मोंका उपयोग स्पष्ट ही है।

ननु यदि नित्यकर्मणां ब्रह्मज्ञानेतिकर्त्तव्यता, तथा सति विधिवाक्यनिर्दिष्टं करणत्वं न सिध्येत्, प्रधानोपसर्जनरूपयोः करणेतिकर्त्तव्यतयोरेकत्राऽसंभवात्। यदि च नेतिकर्त्तव्यता तदा दध्यादिसंस्कारवदन्यार्थद्रव्यसंस्काररूपता न सिध्येदिति चेद्, नैष दोषः; उभयथाऽप्यविरोधात्। न तावदेकस्य करणत्वमितिकर्त्तव्यत्वं च न संभवति, 'अग्निं चित्वा सौत्रामण्या यजेत', 'वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत' इत्यत्र सौत्रामणीबृहस्पतिसवयोरन्यत्र करणतया स्वतन्त्रविध्यन्तरविहितयोरप्यग्निचयनवाजपेयेतिकर्त्तव्यतादर्शनात्। तत्र करणेतिकर्त्तव्यविधिवाक्यप्रमाणभेदाद्युक्तं सौत्रामण्यादेरुभयार्थत्वमिति चेत्, तर्ह्यत्राऽपि नित्यविधिसामर्थ्यात् संस्कारस्मृत्यनुमितश्रुतिसामर्थ्याच्चोभयार्थत्वं कल्प्यताम्। नाऽप्यनितिकर्त्तव्यस्य

यदि शङ्का हो कि नित्य कर्मोंमें ब्रह्मज्ञानकी इतिकर्तव्यता मानी जायगी, तो विधिवाक्यसे दिखलाई गई करणता सिद्ध न हो सकेगी, क्योंकि प्रधान और उपसर्जन स्वरूप करण और इतिकर्तव्यता इन दोनोंका एकमें रहना सम्भव नहीं है। यदि उनमें इतिकर्तव्यता न मानी जाय, तो दधि आदिके संस्कारकी भाँति अन्यार्थद्रव्य (भोजनादि निमित्त दध्यादि द्रव्य) की संस्काररूपता सिद्ध न होगी, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त दोष नहीं आता। दोनों प्रकारोंमें (इति कर्तव्यता मानने या न माननेमें) भी कोई विरोध नहीं है, कारण कि एकमें करणत्व और इतिकर्तव्यत्व दोनों सम्भव नहीं हैं, ऐसा तो है नहीं, [अर्थात् दोनोंका होना सम्भव है—इसमें दृष्टान्त देते हैं]—अत्यन्त स्वतन्त्र दूसरे विधिवाक्योंमें करणरूपसे विधान किये गये सौत्रामणी और बृहस्पतिसव यागोंमें भी 'अग्निचयन करके सौत्रामणी याग करे' और 'वाजपेय याग करके बृहस्पतिसव यज्ञसे याग करे' ऐसे स्थलोंमें अग्निचयन और वाजपेयके अङ्ग होनेसे इतिकर्तव्यता देखी जाती है। उक्त स्थलोंमें करण तथा इतिकर्तव्यविधिके वाक्यरूप प्रमाणके भेदसे सौत्रामणी आदिमें करण तथा इतिकर्तव्यतारूप यदि उभयार्थत्व सम्भव है, तो प्रकृतमें भी नित्यविधिकी सामर्थ्यसे और उक्त संस्कारबोधक स्मृति और अनुमित श्रुतिकी सामर्थ्यसे उभयार्थकी कल्पना कीजिये। [इससे इतिकर्तव्य माननेमें कोई दोष नहीं आ सकता]। इतिकर्तव्य न माननेसे भी संस्कार-

संस्काररूपत्वासिद्धिः। आधानस्याऽनितिकर्त्तव्यस्यैव संस्कारत्वात्।

ननु कर्मणां ज्ञानसाधनत्वे यावज्ज्ञानोदयं तदनुष्ठानाद्विविदिपासंन्यासो न सिध्येदिति चेद्, न; चित्तस्य शुद्धिद्वारा प्रत्यक्प्रवणतायां सम्पन्नायां तदनुष्ठानोपरमाङ्गीकाराविरोधात्। तदुक्तम्—

'प्रत्यक्प्रवणतां बुद्धेः कर्माण्युत्पाद्य शुद्धितः।
कृतार्थान्यस्तमायान्ति प्रावृडन्ते घना इव॥' इति।

तदेवं संस्कारपक्षे कर्मणां ब्रह्मज्ञानोपयोगः सिद्धः।

अथ विविदिपापक्षेऽपि सोऽभिधीयते। 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिपन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति श्रूयते। तत्राऽऽत्मतत्त्वापरोक्षा-

---

रूप होनेकी प्रसिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि इतिकर्तव्य न होता हुआ ही आधान संस्कार कर्म होता है।

शङ्का—कर्मोंको ज्ञानके प्रति साधन माननेमें जबतक ज्ञानका उदय होगा, तब तक उनका अनुष्ठान करना पड़ेगा, इससे विवदिपासंन्यासकी सिद्धि नहीं होगी। [ज्ञानेच्छासे कर्मोंका त्याग नहीं बन सकता, कारण कि 'विविदिपन्ति यज्ञेन' इत्यादि श्रुति यज्ञ आदि कर्मोंको ज्ञानसाधन कहती है]।

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि चित्तकी विशुद्धिके द्वारा परमात्माकी ओर तत्परता सम्पन्न होनेके अन्तर कर्मोंके अनुष्ठानसे विराम माना जाता है, इससे कोई विरोध नहीं आता। कहा भी गया है—

वर्षाकालकी समाप्तिमें जैसे मेघ बिलीन हो जाते हैं, वैसे ही यज्ञ आदि कर्म बुद्धिकी—अन्तःकरणकी—शुद्धि—विपयाभिलापा निवृत्ति—के द्वारा परमात्माकी लगन उत्पन्न कराकर कृतार्थ होकर अस्त हो जाते हैं—इस प्रकार 'कर्मोंको' संस्कारक माननेके पक्षमें कर्मोंका ब्रह्मज्ञानमें उपयोग सिद्ध हुआ।

कर्मोंको संस्कारार्थ माननेसे 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविपेच्छतं समाः' इत्यादि शास्त्र रागी पुरुषोंको उद्देश्य करके प्रवृत्त होते हैं। विविदिपासंन्यासादि विधि विरक्तके लिए है (इससे शास्त्रोंमें परस्पर विरोध नहीं आता)। 'तमेतं वेदानुवचनेन—' इत्यादि आगे प्रदर्शित किये जानेवाले श्रुतिवाक्योंसे नित्य कर्मोंका संस्कारार्थ होना सिद्ध नहीं होता, किन्तु विविदिपा—ब्रह्मतत्त्वज्ञानकी इच्छा—के लिए होना प्रतीत होता है, इस आशयसे पक्षान्तर कहते हैं—

नुभवस्तावदिष्यमाणतया स्वर्गादिवद्भावनासाध्योऽवगम्यते, पुरुषार्थत्वात्। न च शाब्दज्ञानस्येष्यमाणत्वं शङ्कनीयम् , संजाते शाब्दज्ञाने तत्र कामनानुदयात्। असंजाते तु विषयानवगमादेव तत्र सुतरां कामनाऽसम्भवात्। अपरोक्षानुभवे तु संभवत्येव कामना। शाब्दज्ञानोत्पत्तौ विषयस्य सामान्यतः प्रसिद्धत्वात्। यदा तु शब्द एवाऽपरोक्षज्ञानस्य जनकस्तदाऽपि तस्य चञ्चलत्वान्निश्चलं ज्ञानं कामयितव्यमेव। तत्र यज्ञादीनामाख्याताभिहितभावनाकरणतयाऽवगतानामिष्यमाणेन साध्येनैवाऽन्वयाद्यज्ञादीनि ब्रह्मानुभवसाधनतयाऽवगतानि। न चेच्छामात्रेणाऽन्वयः, तस्या असा-

अथवा (कर्मोंका फल) विविदिषा मानना चाहिए, क्योंकि 'हमें ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान हो, ऐसी इच्छा होना भी उत्कृष्ट पुण्योंका फल है' वह विविदिषा पक्ष इस प्रकार कहा जा सकता है—उस परमात्माको ब्राह्मण वेदानुवचन, यज्ञ, दान, तप और हित, परिमित तथा पथ्य भोजनसे जानना चाहते हैं, इत्यादि अर्थवाली श्रुति है, उस श्रुतिमें आत्मतत्त्वका अपरोक्षानुभव ही इच्छाविषय (अभीष्ट) होता हुआ स्वर्गादिके तुल्य भावनासाध्य प्रतीत होता है, क्योंकि वह पुरुषार्थरूप है। शब्दज्ञान अभीष्ट है, ऐसी शङ्का नहीं की जा सकती, [अर्थात् उक्त श्रुतिमें शब्दज्ञानका भावनाके साध्यस्वरूपसे बोध नहीं किया गया है।] कारण कि शब्दज्ञानके उत्पन्न होनेपर उसकी कामना नहीं हो सकती, [अतः शब्दज्ञानको अभीष्ट नहीं माना जा सकता] और शाब्द ज्ञान यदि नहीं हो पाया तो विषयज्ञान न होनेसे उसमें कामनाका होना बिलकुल ही सम्भव नहीं है, इससे भी वही दोष आता है। अपरोक्षानुभव—साक्षात्कार—की कामनाका तो सम्भव है ही। [इसलिए तत्त्वसाक्षात्कार अभीष्ट पुरुषार्थ माना जा सकता है] कारण कि शब्दजनित ज्ञान होनेपर विषयकी सामान्यतः प्रसिद्धि—प्रतीति—हो जाती है [अतः ज्ञान पदार्थ इच्छाविषय हो सकता है] जिस पक्षमें शब्दको ही अपरोक्ष ज्ञान—साक्षात्कार—का कारण माना जाता है, उस पक्षमें भी उस—शब्दज्ञानके चञ्चल होनेसे निश्चल—स्थिर—ज्ञानको अभीष्ट—कामनाविषय—होना ही चाहिए। उस स्थलमें आख्यातार्थ भावनाके करणरूपसे प्रतीयमान यज्ञादिका इच्छाविषय—अभीष्ट—साध्य (ब्रह्मज्ञान) के ही साथ अन्वय होनेसे यज्ञादि ब्रह्मज्ञानके उपायस्वरूप प्रतीत होते हैं। केवल इच्छासे अन्वय

ध्यत्वात् । ततश्चाऽऽत्मानुभवकामो यज्ञादीन्यनुतिष्ठेदिति विधिः परिणम्यते। न च 'विविदपन्ति' इति वर्तमानताविरोधः, लेट्परिग्रहेण विध्यधिगमात्। न च नित्यस्य यज्ञादेर्ब्रह्मानुभवकामेन कथं संबन्ध इति वाच्यम्, स्वर्गकामसंबन्धादुपपत्तेः। ननु विमता ज्ञानहेतवो यज्ञादिभ्यो भिन्नाः, प्रकरणान्तरविहितत्वाद्, यथा कुण्डपायिनामयने मासमग्निहोत्रम्; कुण्डपायिनामयनं नाम संवत्सरसत्रम्। तत्र हि 'मासमग्निहोत्रं जुहोति' इति विहितस्य प्रकरणान्तरविहितात् प्रसिद्धाग्निहोत्राद्भेदो निर्णीतस्तथाऽ-

---

नहीं किया जा सकता, कारण कि इच्छा साध्य नहीं है, [इच्छाविषय ब्रह्मज्ञान साध्य है, करणका अन्वय साध्यमें ही करना चाहिए, यह न्यायप्राप्त है]। इससे 'आत्मानुभव—ब्रह्मसाक्षात्कार—की इच्छा रखनेवालेको यज्ञादिका अनुष्ठान करना चाहिए' ऐसा विधिका परिणाम हो जाता है अर्थात् यज्ञादि स्वर्गादिकामके अतिरिक्त ब्रह्मज्ञानके अधिकारसे परिणत हुए विधिवाक्यका विधेय माना जायगा। 'विविदिपन्ति' इस वर्तमानार्थक लट् लकारके प्रयोगका विरोध नहीं आता, कारण कि यहांपर (लिङर्थमें) लेट् लकार होनेसे विधिरूप अर्थ लिया जाता है। नित्यभूत यज्ञादिका ब्रह्मानुभवकाम अधिकारीसे सम्बन्ध कैसे होगा? ऐसी शङ्का नहीं हो सकती, क्योंकि स्वर्गकाम अधिकारीसे सम्बन्ध होनेके कारण उपपत्ति हो सकती है। [जैसे नित्य अग्निहोत्र संयोगभेदसे काम्य भी हो सकता है, वैसे ही नित्य यज्ञ भी संयोगभेदसे काम्य हो सकता है अर्थात् एक कर्मका अनेकाधिकारविधिसे सम्बन्ध हो सकता है। [प्रकरणमें पठित अधिकारान्तरविधिके साथ अधिकारान्तरविधिका संयोगभेदसे सम्बन्ध हो सकता है, परन्तु प्रकरणान्तरस्थसे सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है, इस आशयसे शङ्का करते हैं—]

विमत ज्ञानके कारण ('यज्ञेन विविदिपन्ति' इत्यादि श्रुतिवाक्यमें प्रतिपादित यज्ञादि) 'प्रसिद्ध अग्निहोत्रादिरूप' यज्ञादिसे भिन्न—अतिरिक्त—हैं, कारण कि (ब्रह्मज्ञानसे) भिन्न प्रकरणमें पढ़े गये हैं। जैसे 'कुण्डपायियोंके अयनमें एक मास तक अग्निहोत्र' कुण्डपायियोंका अयन नाम संवत्सरसाध्य—एकवर्षसाध्य—यज्ञका है। उसमें 'मासभर अग्निहोत्र करें' इस वाक्यसे विहित अग्निहोत्रका दूसरे प्रकरणमें विहित प्रसिद्ध अग्निहोत्रसे भेदका निर्णय

त्रापि। नैतद्युक्तम्, वैषम्यात्। दृष्टान्ते हि न तावदग्निहोत्रशब्दः प्रसिद्धाग्निहोत्रपरामर्शसमर्थस्तस्याऽलौकिकाभिधानस्याऽऽख्यातपरतन्त्रतयाऽऽख्यातोक्तार्थाभिधायित्वात्। नाऽप्याख्यातशब्दस्तत्र समर्थः, स्वप्रकरणपठितोपसद्धिर्मासगुणेन च विशिष्टे कर्मविशेषे सति तं विहाय प्रकरणान्तरस्य परामर्शायोगात्। दार्ष्टान्तिके त्वध्ययनयज्ञदानतपोनाशकशब्दानां लौकिकाभिधानतया स्वातन्त्र्यात् प्रदेशान्तरविहिताग्निहोत्रादिपरामर्शोपपत्तौ तान्येव कर्माणि संयोगभेदेन विधीयन्त इत्युपपद्यते। नन्वेवमपि ब्रह्मज्ञानस्य दृष्टप्रमाणसामग्रीजन्यस्य नाऽदृष्टापेक्षा, सति प्रमाकरणे यज्ञादिजन्यादृष्टाभा-

किया गया है। इसी तरह प्रकृतमें भी भेद समझना उचित है।

समाधान—दृष्टान्त दार्ष्टान्तिकमें वैषम्य होनेसे उक्त शङ्काके कहनेमें तत्त्व नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त 'कुण्डपायिनामयने मासमग्निहोत्रम्' इस वाक्यमें आया हुआ अग्निहोत्रशब्द प्रसिद्ध अग्निहोत्रका परामर्श करनेमें समर्थ नहीं है, कारण कि वह अलौकिक अभिधान आख्यातपरतन्त्र है, अतः आख्यात ही उक्त अर्थका अभिधायी हो सकता है। [प्रमाणान्तरसे अग्निहोत्रकी सिद्धि नहीं है, इससे यह अग्निहोत्र-पदार्थ अलौकिक है और जुहोतिका अर्थ है इसलिए आख्यातपरतन्त्र कहा गया] आख्यातशब्द भी प्रसिद्ध अग्निहोत्रके कहनेमें समर्थ नहीं है, अपने प्रकरणमें पढ़े हुए उपसद्—कारक आदिसे तथा मासरूप गुणसे विशिष्ट कर्मविशेषकी प्रतीति होनेपर उसका त्यागकर दूसरे प्रकरणस्थके परामर्श करनेका योग नहीं हो सकता, दार्ष्टान्तिक ('तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति—' इत्यादि वाक्य) में तो अध्ययन, यज्ञ, दान, तप, तथा अनाशक शब्दोंका लौकिक अर्थ होनेसे स्वातन्त्र्य है, अतः उनसे प्रकरणान्तरमें भी विहित अग्निहोत्र आदि प्रसिद्ध यज्ञोंके परामर्शकी उपपत्ति हो सकती है, इसलिए उनका प्रसिद्ध ही अग्निहोत्र आदि कर्मोंका—संयोग भेदसे विधान किया जाता है। इस प्रकार नित्य अग्निहोत्र आदि काम्य कर्मोंका ब्रह्मज्ञानके साथ सम्बन्ध उपपन्न हो सकता है।

शङ्का—ऐसा माननेपर भी दृष्ट प्रमाणसामग्रीसे उत्पन्न होनेवाले ब्रह्मज्ञानको अदृष्ट (प्रमाण) की आवश्यकता नहीं है। प्रमा—निश्चयात्मक ज्ञान—के करणके उपस्थित रहते यज्ञ आदिसे उत्पन्न अदृष्टके

चापराधेन ज्ञानानुदयादर्शनादिति चेद्, नः शास्त्रैकसमधिगम्येऽर्थे केवलव्यतिरेकाभावस्याऽदोषत्वात्।

यत्त्वात्र समुच्चयवादिनो मन्यन्ते—न कर्माणि ज्ञानसाधनानि, प्रमाणरूपत्वाभावात्, किन्तु मोक्षसाधनानीति, तदसत्; 'यज्ञेन विविदिषन्ति' इति श्रुतज्ञानकरणत्वविरोधात्। यदि साक्षात् करणत्वं न संभवेत्, तदाऽन्तःकरणशुद्धिद्वारा तत्कल्पनीयम्। लोके 'काष्ठैः पचति' इत्यादौ परम्परया साधनेऽपि

न होनेपर भी ज्ञानका उदय देखा जाता है। [विषयेन्द्रिय सन्निधान होते ही ज्ञान हो ही जाता है, इसमें पुण्य पापरूप अदृष्टकी अपेक्षा नहीं होती, इसलिए पुण्योत्पादक नित्य कर्मोंमें ज्ञानकारणता सिद्ध नहीं हो सकती]।

समाधान—केवल शास्त्र द्वारा ही ज्ञात होनेवाले विषयमें केवल व्यतिरेकका अभाव दोष नहीं होता। [जैसे कपालोंको अग्निमें तपानेके लिए मन्त्र पढ़े जाते हैं, यहांपर शङ्का हो सकती है कि अग्नि तो बिना मन्त्र पढ़े भी तपा देगा, फिर मन्त्रपाठ क्यों? परन्तु मन्त्रपाठपूर्वक तपानेमें ही अभ्युदय होता है, इसलिए ताप देनेमें यद्यपि मन्त्रपाठके व्यतिरेकका अभाव होते हुए भी मन्त्रपाठ करना शास्त्र होनेसे छोड़ा नहीं जाता, एवं ज्ञानोदयमें भी यज्ञादिका केवलव्यतिरेकाभाव रहते भी 'तमेतम्—' इत्यादि श्रुतिके बलसे यज्ञ आदिको ज्ञानसाधन मानना दोषपूर्ण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शास्त्र कहता है और जो शास्त्र कहे वही अभ्युदयकारी होता है]।

[ज्ञानकर्मसमुच्चयसे मोक्षरूप पुरुषार्थकी सिद्धि माननेवाले वादीका खण्डन करते हैं—] जो कि इस विषयमें समुच्चयवादी मानते हैं कि कर्म ज्ञानके साधन नहीं हो सकते, कारण कि कर्म प्रमाणस्वरूप नहीं है। (ज्ञानके साधन इन्द्रिय आदि प्रमाण ही होते हैं)। किन्तु मोक्षरूप पुरुषार्थके साधन हैं, यह कहना उचित नहीं है, 'यज्ञेन विविदिषन्ति—' इत्यादि श्रुतिसिद्ध ज्ञानकरणत्वसे विरोध होगा। (अर्थात् यज्ञ आदिको करण कहनेवाली श्रुतिका विरोध उनके मतमें आ जायगा)। यदि कर्मोंमें (ज्ञानके प्रति) साक्षात्करण सम्भव न हो, तो अन्तःकरणकी शुद्धि द्वारा उसकी (करणत्व) की कल्पना करनी चाहिए (अर्थात् परम्परया करण मानिये), क्योंकि लोकमें

करणविभक्तिदर्शनात्। वेदेऽपि स्वर्गं प्रति करणत्वेन श्रुतस्य यागादेरपूर्वद्वारा करणत्वकल्पनात्। न त्वेवमत्र वाक्ये मोक्षसाधनता प्रतीयते, प्रत्युत 'न कर्मणा न प्रजया' इत्यादिवाक्यान्तरे कर्मणां मोक्षसाधनता प्रतिषिध्यते। अतस्तेषां ज्ञानहेतुत्वैव।

ननु विशुद्धिद्वारेण ज्ञानहेतुत्वे संस्कारविविदिषापक्षयोः को भेदः? उच्यते—श्रवणमननिदिध्यासनाभ्यासादिसहकारिकारणसंपत्तावेव संस्कारो विज्ञानं साधयति, तदभावे सत्यभ्युदयमेव। विविदिषायां तु विज्ञानस्य कर्मफलत्वात् फलपर्यन्तसाधनानि संपाद्याऽपि विज्ञानं जनयतीति विशेषः।

'इन्धनसे पाक करता है' इस वाक्यमें परम्परासे कारणभूत इन्धनके आगे भी करणकारक विभक्तिका ('काष्ठैः' तृतीयाका) चिन्ह 'से' आता हुआ देखा गया है। वेदमें भी श्रुति द्वारा करणकारकरूपसे प्रतिपादित याग आदिमें अपूर्व द्वारा ही करणकारकत्वकी कल्पना की गई है। इस प्रकार प्रकृत वाक्यमें (यज्ञादिका परम्परया भी) मोक्षका साधन—करणकारक—होना प्रतीत नहीं होता, इसके विपरीत 'कर्मसे नहीं, सन्ततिसे नहीं—' इत्यादि दूसरे श्रुतिवाक्योंमें कर्मोंकी मोक्षसाधनताका निषेध किया गया है, इसलिए कर्मोंको ज्ञानका कारण ही मानना उचित है।

शङ्का—यदि विशुद्धि—चित्तकी विषयविमुखता—द्वारा कर्मोंको ज्ञानसाधन मानते हो, तो संस्कार और विविदिषा पक्षोंमें परस्पर क्या भेद होगा? [संस्कारपक्षमें भी 'प्रत्यक्प्रवणतां बुद्धेः कर्माण्युत्पाद्य शुद्धितः' इत्यादि प्रतिपादित रीतिके अनुसार चित्तविशुद्धि ही अपेक्षित है। और विविदिषापक्षमें भी इसीका प्रतिपादन किया गया है]।

समाधान—संस्कार पक्षमें—श्रवण, मनन, निदिध्यासन, अभ्यास, (पुनः पुनः परिशीलन) आदि सहकारी कारणोंके जुटनेपर ही संस्कार विज्ञानकी—ब्रह्मतत्त्व साक्षात्कारकी—सिद्धि कर सकता है और सहकारियोंके न जुटनेपर संस्कार केवल स्वर्गादि अभ्युदयकी ही सिद्धि करता है। और विविदिषापक्षमें तो विज्ञान कर्मफल है, अतः विविदिषा फलपर्यन्त साधनोंका सम्पादन करके भी विज्ञानको उत्पन्न करती है, इतना विशेष है। [संस्कारमें सामर्थ्य नहीं है कि श्रवणादि सहकारियोंकी सम्पत्ति कर सके, केवल सहकारीकी सम्पत्ति पानेपर ही वह ज्ञानोत्पादक

तदेवं पक्षद्वयेऽपि कर्मद्वारा पूर्वतन्त्रस्याऽपेक्षितत्वात्तदानन्तर्यमथशब्दार्थ इति, नैतत् सारम् , जन्मान्तरानुष्ठितैरपि कर्मभिरन्तःकरणशुद्धौ ज्ञानोदयसंभवात् ।

अथ मतम्—ऋणापाकरणायेह जन्मनि कर्माऽनुष्ठातव्यम् ।

'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥'

इति स्मृतेरिति, तदसत् ; 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' इति प्रत्यक्षश्रुत्या बाधितत्वात् । तदुक्तम्—

'प्रत्यक्षवेदवचनप्रामाण्यापाश्रयादतः ।
आदौ संन्याससंसिद्धेर्ऋणानीति ह्यपस्मृतिः ॥' इति ।

होता है और विविदिषा सकल अपेक्षित श्रवणादि सहकारियोंको सम्पन्न करनेमें समर्थ होती हुई ज्ञानरूपी फलको भी उत्पन्न करती है, इस प्रकार दोनोंमें भेद है, यह भाव है । 'ननु कर्मद्वारा तदपेक्षा स्यात्'–इत्यादिसे लेकर यहांतकके प्रघट्टकसे वर्णित युक्तियोंके आधार पर) संस्कार या विविदिषा दोनों पक्षोंमें कर्म द्वारा पूर्वतन्त्रके अपेक्षित होनेसे पूर्वमीमांसाका या कर्मोंका आनन्तर्य 'अथ' शब्दका अर्थ मानना चाहिए, इस लम्बी शङ्काका समाधान करते हैं]—ऐसा कहना सारभूत नहीं है, क्योंकि दूसरे-दूसरे पूर्वजन्मोंमें किये गये कर्मोंके द्वारा चित्त शुद्ध होनेसे भी ज्ञानका उदय हो सकता है । [श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा है कि 'अनेकजन्मसंसिद्धः' अनेक जन्मोंके सुकृतोंसे सिद्धि प्राप्त होती है ।]

यदि माना जाय कि ऋणके शोधनके लिए इस जन्ममें कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिए, जैसा कि स्मृतियोंमें कहा गया है—'तीन ऋणोंका शोधन करमनको मोक्षमें लगाना चाहिए । ऋण चुकाए बिना मोक्षमें मन लगानेवाला अधोगामी अर्थात् नरकमें जाता है ।' तो यह मानना भी अच्छा नहीं है, कारण कि 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्'—अथवा वैराग्यका उदय होनेपर ब्रह्मचर्याश्रमसे ही गृहस्थाश्रमधर्मका पालन किये बिना भी संन्यास ले ले (मोक्षसाधनमें लग जाय), इस प्रत्यक्ष श्रुतिसे विरोध आता है । कहा भी है—संन्याससिद्धिसे पूर्व ऋणोंके दूर करनेके लिए कही गई 'ऋणानि' इत्यादि स्मृति प्रत्यक्ष प्रमाणभूत वेदवचनोंके आधारसे अपस्मृति है अर्थात् सिद्धान्तभूत स्मृति नहीं है ।

'जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते' इति श्रुतिरप्यस्तीति चेद्, न; तस्या हृदयाद्यवदानशेषार्थवादत्वात् । न चाऽसौ भूतार्थवादः, न्यायविरोधात्। ऋणशब्देनाऽत्र किं पुत्रयज्ञब्रह्मचर्याण्येवोच्यन्ते किं वा तद्विधयः ? तत्र न तावज्जायमानस्य पुत्रादिसंबन्धो युज्यते, योग्यानुपलब्धिविरोधात् । नाऽपि तद्विधिसंबन्धः, विधिप्रतिपत्तिसामर्थ्यविकलस्याऽधिकाराभावात् । सामर्थ्यस्य चाऽधिकारिविशेषणत्वात् । अथ 'गृहस्थो जायमानस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते' इति व्याख्यायेत, एवमपि 'गृहात्प्रव्रजेत्' इति विधिविरोधः पूर्वोक्तन्यायविरोधश्च दुर्वारः । नहि विवाहदिने एव पुत्रसंबन्धस्तदुत्पादनसामर्थ्यं वोपलभ्यते । न च जन्मारभ्य पुत्राद्यधिकारसंपत्तेः प्राग्वि-

---

'उत्पन्न होनेवाला ब्राह्मण उक्त तीन ऋणोंके ही साथ उत्पन्न होता है' इस प्रकार प्रत्यक्ष श्रुति मिलती है, ऐसा कहना भी नहीं बनता, कारण कि वह श्रुति हृदयादि अवदानका अङ्गभूत अर्थवाद है। [हृदयावदानमें हृदय, जिह्वा और वक्षःस्थल इन तीनका अवदान कहा गया है; इन तीनोंके अवदानके विधानका शेष होनेसे अर्थवाद श्रुति उक्त प्रव्रजनविधायक श्रुतिकी अपेक्षा दुर्बल है] उस श्रुतिको भूतार्थवाद नहीं कह सकते; कारण कि इसमें न्यायविरोध आता है। क्या उक्त श्रुतिमें ऋणशब्दसे पुत्र, यज्ञ, या ब्रह्मचर्य ही लिये जाते हैं ? या उनका विधान लिया जाता है ? उत्पन्न होनेवालेका पुत्रादिके साथ सम्बन्ध होना युक्ति-सङ्गत नहीं है, क्योंकि योग्यानुपलब्धिसे विरोध आता है। [सम्बन्धयोग्य गृहस्थकी जन्मकालमें उपलब्धि ही नहीं है और न सम्बन्ध होनेवाले पुत्रकी ही उपलब्धि है] और उनका विधान भी ऋणशब्दसे नहीं लिया जाता, कारण कि ऋणविमोचन विधिसे प्राप्त नियोगके अनुष्ठानमें सामर्थ्यहीनका अधिकार नहीं है; कारण कि सामर्थ्य अधिकारीका विशेषण माना गया है। यदि गृहस्थ होता हुआ (अर्थात् सामर्थ्यसम्पन्न होता हुआ विवाहसमयमें ही) तीन ऋणोंसे युक्त होता है, ऐसा व्याख्यान किया जाय, तो ऐसा माननेपर भी 'गृहस्थाश्रमसे ही संन्यास ले ले' इस श्रुतिप्रतिपादित अर्थसे विरोध आता है और पूर्वोक्त न्यायविरोध, तो हटाया नहीं जा सकता। विवाहके ही दिन पुत्रके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता और न उसके उत्पादनका सामर्थ्य ही उपलब्ध होती है। ऐसा भी नहीं

रोधिविध्यन्तरसंबन्धपरिहारार्थमिदं वचनमिति वक्तुं शक्यम् , पूर्वोक्त-संन्यासविरोधात् । 'तस्मादेष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचर्यवासी यदवदानैरेवावदयते तदवदानानामवदानत्वम्' इत्येतदन्तमिदं वचन-मभूतार्थवादमात्रम् ।

ननु 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्' इति विधिना विरोधे कथं ब्रह्म-चर्यादेव संन्यासो विधीयते । मैवम् , संन्यासगार्हस्थ्ययोर्विरक्ताऽविरक्त-विषयभेदेन व्यवस्थितत्वात् ।

यस्तु संन्यासस्य कर्मानधिकृतान्धपङ्ग्वादिविषयतया व्यवस्थां मन्यते, स वक्तव्यः किं विधिपर्यालोचनया इदमवगम्यते उत कल्प्यते ? नाद्यः, 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' इति वचनस्य कर्माधिकृतानधिकृतसाधारण्येन

कहा जा सकता है कि जन्मसे लेकर पुत्रादि अधिकार-सम्पत्ति पानेके पूर्व (मध्य-कालिक जीवनमें) विरोधी दूसरी विधियोंके सम्बन्धका परिहार करनेके लिए उक्त वचन है; कारण कि पूर्वोक्त संन्यासविधिसे विरोध आता है, अथवा वह ऋण मुक्त हो जाता है—जो पुत्रवान्, यज्ञादिका अनुष्ठाता, नियमपूर्वक वेदाध्ययन करनेवाला और पूर्वोक्त तीन अवदानोंके द्वारा पुण्य कर्मशाली होता है, वही अवदानकी अवदानता—पुण्यकर्मता—है ।' यहां तक उक्त वचन अभूत अर्थवादस्वरूप है, भूतार्थवाद नहीं, जिससे कि स्वतन्त्र प्रमाण हो और 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' संन्यासविधानका विरोध कर सके ।

शङ्का—ब्रह्मचर्यव्रत समाप्त कर नियमपूर्वक वेदाध्ययनके अनन्तर गार्हस्थ्यव्रत धारण करे । इस विधिके साथ विरोध आनेसे ब्रह्मचर्यके अनन्तर ही संन्यासका विधान कैसे संगत हो सकता है ?

समाधान—संन्यास और गार्हस्थ्यकी विरक्त रागीके लिए पृथक् पृथक् व्यवस्था की गई है । [रागीके लिए गार्हस्थ्य और विरक्तके लिए ब्रह्मचर्यान्तर ही संन्यास—इस व्यवस्थासे कोई विरोध नहीं रह जाता ।]

संन्यास कर्माधिकारसे बहिष्कृत अन्धे, लंगड़े आदिके लिए है (और सम्पन्नेन्द्रियसमर्थके—लिए गार्हस्थ्य है) इस प्रकार जो व्यवस्था मानता है, उससे पूछना चाहिए कि विधिवाक्योंका विचार करनेसे ऐसा ज्ञान हुआ ? या ऐसी कल्पना ही की जाती है ? प्रथम पक्ष नहीं मान सकते, क्योंकि ब्रह्मचर्यके

प्रतीतेः । अधिकृतानां गार्हस्थ्यविधानादनधिकृतेष्वेव तद्वचनं पर्यवस्यतीति चेद् न, 'अथ पुनर्व्रती वाऽव्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वा उत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' इत्युत्तरवाक्ये कर्मस्वधिकृतानामनधिकृतानां च मुखत एव संन्यासाधिकारित्वेनोपादानात् । न चैवं संन्यासस्य सर्वाधिकारप्रसङ्गः, विरक्तेर्नियामकत्वात् । अविरक्तस्य त्वन्धादेरपि संन्यासे पातित्यपर्यवसानात् । 'यस्तु प्रव्रजितो भूत्वा' इत्यादिना विषयसेवाया निषेधात् । नाऽपि द्वितीयः, कल्पकाभावात् ।

अथ मन्यसे--इन्द्रियाणि विद्यमानान्यपि संन्यासिना निरोद्धव्यानि, ततो वरमिन्द्रियविकलस्यैव तदधिकार इति, तत्र किमङ्गभूते संन्यासेऽनुपयोगादिन्द्रियाणां निरोधः किं वाऽङ्गिन्यात्मज्ञानेऽनुपयोगाद् उत

अनन्तर ही संन्यास ले लेना चाहिए, इस वचनकी प्रतीति कर्माधिकारी (समर्थ) और अनधिकारी (असमर्थ) दोनोंके लिए साधारणरूपसे होती है । अधिकारप्राप्त पुरुषोंके लिए गृहस्थ जीवनका विधान होनेसे 'परिशेषात्' अनधिकारियोंके ही लिए उक्त वचनोंका संन्यासके विधानमें तात्पर्य माना जाय' यह भी नहीं कहा जा सकता, कारण कि 'अथ—व्रती हो या व्रती न हो, स्नातक—विद्या समाप्तिके अनन्तर दीक्षाप्राप्त हो, अथवा अस्नातक, निरग्नि हो अथवा साग्निक, जैसा भी हो जिस दिन ही उसको वैराग्य प्राप्त हो जाय, उसी दिन संन्यास ग्रहण कर ले—इस अर्थवाले अगले वाक्यमें कर्मोंमें अधिकृत अथवा अधिकारशून्य दोनोंका ही संन्यासविधिमें अधिकारी होना मुखसे—साक्षात् वाचक शब्दोंसे—ही कहा गया है । इस प्रकार अधिकारी, अनधिकारी दोनोंका संन्यासमें अधिकार होनेसे सभीका संन्यासमें अधिकार प्राप्त हो जायगा, ऐसी शङ्का करना उचित नहीं, कारण कि वैराग्य इसका नियमन करेगा । वैराग्य न होनेसे तो अन्धादिका भी संन्यासग्रहण करनेमें पतित होना ही निश्चित रहता है । 'जो पुरुष संन्यासी होकर भी'—इत्यादि वचनोंसे विषयसेवाका निषेध किया गया है । 'अन्यार्थकी कल्पना करना' दूसरा पक्ष भी नहीं हो सकता; कारण कि उसका कोई कल्पक नहीं है ।

यदि कहो कि संन्यासीको विद्यमान इन्द्रियोंका निरोध भी करना होता है, इससे तो यही अच्छा है कि इन्द्रियसामर्थ्यहीनका ही संन्यासमें अधिकार माना जाय, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि वैसा माननेपर प्रश्न यह होता है कि क्या वहाँ अङ्गभूत संन्यासमें इन्द्रियोंका उपयोग न होनेसे उनका निरोध है ? या प्रधानभूत

विपरीतप्रवृत्तीनामपि जनकत्वात् ? नाऽऽद्यः, 'दृष्टिपूतं न्यसेत्पादम्' 'पर्यटेत्कीटवद् भूमौ' इत्यादिसंन्यासधर्मनिर्वाहायेन्द्रियाणामुपयुक्तत्वात्। न द्वितीयः; 'शरीरं मे विचर्षणं जिह्वा मे' इत्यादिनाऽऽत्मज्ञानाय शरीरेन्द्रियादिपाटवस्य प्रार्थ्यमानत्वात्। तृतीये तु विपरीतप्रवृत्तिमात्रं परित्याज्यम्, नेन्द्रियस्वरूपम्। का तर्ह्यविरक्तानामन्धपङ्ग्वादीनामाज्यावेक्षणविष्णुक्रमाद्युपेतकर्मस्वनधिकृतानां गतिरिति चेत्, पुत्रोत्पादनब्रह्मयज्ञादिकर्मान्तराधिकार इति ब्रूमः; अत आत्मज्ञानप्रकरणपठिते तदङ्गभूते संन्यासे शरीरादिपाटवेऽपि तस्य

आत्मज्ञानमें उपयोग न होनेसे ? या इन्द्रियां आत्मज्ञानके विपरीत—घातक—प्रवृत्तियोंको उत्पन्न करती हैं, इसलिए उनका निरोध करना है ? प्रथम विकल्पको नहीं मान सकते, कारण कि 'भूमिपर पैर खूब देख भाल कर रखना चाहिए, कीड़ोंकी भांति जमीन पर चले अर्थात् धीरे-धीरे रेंगता जाय' इत्यादि संन्यासधर्मोंका निर्वाह करनेके लिए इन्द्रियोंका उपयोग (अङ्गभूत संन्यासमें) है ही। दूसरा पक्ष मानना नहीं बनता, क्योंकि 'मेरा शरीर विचर्पण—समर्थ, एवं मेरी जिह्वा—इत्याद्यर्थक श्रुतिवाक्य * द्वारा आत्मज्ञानके उपयोगी शरीर तथा इन्द्रियोंकी पटुता पानेकी प्रार्थना करना संन्यासीको भी प्राप्त है। तीसरे पक्षमें, तो विपरीत प्रवृत्तिका त्याग ही प्राप्त होता है, इन्द्रियोंके स्वरूपका नहीं।

[वेदान्तीका सिद्धान्त है कि वैराग्यहीन अन्ध, पङ्गु आदिका ब्रह्मज्ञानमें भी अधिकार नहीं है और कर्मोंकी उनमें योग्यता नहीं है, इसलिए, उनमें उनका अधिकार नहीं है, इससे ये बेचारे वैदिक मार्गसे—ज्ञानकाण्ड अथवा कर्मकाण्ड दोनोंसे—वञ्चित रह जायँगे, इस आशयसे शङ्का-समाधान करते हैं]—

शङ्का—तब तो घृतका अवलोकन तथा विष्णुकी परिक्रमा आदि कर्मोंसे युक्त यज्ञोंके अनधिकारी (वैराग्यरहित) अन्धों या लँगड़ोंकी क्या गति होगी ? 'अर्थात् वे कैसे वैदिक मार्गका अनुसरण कर सकेंगे ?

समाधान—पुत्रोत्पादन, वेदाध्ययन इत्यादि दूसरे, जिनमें अवेक्षण, परिक्रमण आदि नहीं करना होता है, कर्मोंमें उनका अधिकार है, ऐसा कहते हैं।

इसलिए आत्मज्ञान प्रकरणमें पढ़े हुए उसके अङ्गभूत संन्यासमें शरीरादिके

---

* अर्थात् 'शरीरं मे विचर्षणं जिह्वा मे मधुमत्तमा कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम् अन्नं प्राणः चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचम्' इत्यादि श्रुति द्वारा।

विरक्तस्यैव मुख्याधिकारः ।

नतु पूर्वं संस्कारविविदिषापक्षावुक्तौ, तत्र नित्यकर्मणामात्मज्ञानाङ्गत्वमुक्तमिदानीं तत्त्यागस्याऽङ्गत्वमिति पूर्वापरविरोध इति चेद्, न; उभयोरप्यङ्गत्वात् । न चोभयोर्विरुद्धयोरेकेनाऽनुष्ठानासंभवः, कालभेदेन तदुपपत्तेः । आ चित्तशुद्धि कर्माण्यनुष्ठेयानि तत उपरि तानि संन्यसितव्यानि । एकफलत्वं च कर्मतत्संन्यासयोर्द्वारभेदादुपपद्यते । कर्माणि हि चित्तशुद्धिद्वाराऽऽत्मज्ञानं प्रत्यारादुपकारकाणि । संन्यासस्त्वनन्यव्यापारतया श्रवणादिनिष्पादनद्वारेण संनिपत्योपकरोति ।

यस्तु भास्करः संध्यावन्दनादिनित्यकर्मणस्तदङ्गभूतोपवीतस्य च त्यागं

पाटव—क्षमता—के होनेपर भी पाटवशाली विरक्तका—वैराग्य सम्पन्नका—ही मुख्य अधिकार है ।

शङ्का—इससे पूर्व कर्मोंके लिए संस्कार और विविदिषा—ब्रह्मज्ञान-कामना—दो पक्ष कहे गये हैं, उनमें निर्णय किया गया है कि नित्यकर्म आत्मज्ञानके अङ्ग हैं । अब कहा जा रहा है कि वे त्यागके—संन्यासके—अङ्ग हैं, इस प्रकार अगले पिछले ग्रन्थोंमें परस्पर विरोध आता है ।

समाधान—संन्यास तथा कर्म दोनों भी (ब्रह्मज्ञानके) अङ्ग ही हैं । यदि शङ्का हो कि परस्पर विरुद्धका (कर्म करने तथा त्याग करनेका) एक ही पुरुषसे अनुष्ठान नहीं हो सकता है' तो यह शङ्का भी उचित नहीं है, कारण कि समयके भेद—हेर फेर—से दोनोंकी उपपत्ति हो सकती है । [समयका भेद दिखलाते हैं]—चित्तशुद्धि—वैराग्योदय—पर्यन्त नित्य कर्मोंका अनुष्ठान करना आवश्यक है, और वैराग्योदयके अनन्तर उनका त्याग—संन्यास लेना—उचित है । कर्म और उनका संन्यास दोनोंका एक ही (ब्रह्मज्ञानरूप फल) होना द्वारभेदसे सम्भव है । [द्वारभेद दिखलाते हैं]—नित्यकर्म तो चित्तशुद्धिके द्वारा ब्रह्मज्ञानके प्रति आरात् उपकारक (व्यवधानसे परम्परया उपकारक) हैं और उनका संन्यास (सकल विरोधिवृत्तियोंका नाश होनेके कारण) केवल आत्मचिन्तन व्यापारके अवशिष्ट रहनेसे श्रवण आदिकी सम्पत्तिके द्वारा—सन्निपत्य—साक्षात् (व्यवधानके बिना) उपकारक है ।

जो कि भास्कर सन्ध्यावन्दन आदि नित्य कर्मका तथा उसके अङ्गभूत यज्ञो-

नेच्छति, सोऽपरिचितशास्त्रवृत्तान्तत्वादुपेक्षणीयः। 'यज्ञं यज्ञोपवीतं च त्यक्त्वा गूढश्चरेन्मुनिः' इति यज्ञोपवीतादित्यागस्य साक्षाद्विहितत्वात्। न च पूर्वोपवीतत्यागेऽप्यन्यस्वीकारः शङ्कनीयः; जाबालश्रुतावपि 'अयज्ञोपवीती कथं ब्राह्मणः' इति प्रश्नपूर्वकम् 'इदमेवाऽस्य तद्यज्ञोपवीतं य आत्मा' इत्येवकारेण बाह्ययज्ञोपवीतं व्यावर्त्याऽऽत्मन एव यज्ञोपवीतत्वसंपादनात्। तदेवमात्मज्ञानाधिकारिणः संन्यासस्य विहितत्वात्तद्विरोधिन्याः ऋणत्रयश्रुतेरभूतार्थवादत्वात् कर्मद्वाराऽपि पूर्वतन्त्रापेक्षाया असिद्धौ न धर्मविचारानन्तर्यमप्यथशब्दार्थतामर्हति।

पवीतका त्याग नहीं होना चाहिए, ऐसा मानता है, वह शास्त्रीय सिद्धान्तसे अभिज्ञ न होनेके कारण उपेक्षणीय है [अर्थात् उसके सिद्धान्तका आदर नहीं करना चाहिए] कारण कि स्मृतिकारोंने 'यज्ञका (नित्य, काम्य और नैमित्तिक सब प्रकारके कर्मका) और यज्ञोपवीतका त्यागकर निर्जनमें छिपकर (एकान्त वाससे) अपनी दिनचर्या बितावे' इत्यादि वचनोंसे यज्ञोपवीत आदिका त्याग साक्षात् कहा है। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि पूर्वाश्रममें धारण किये गये यज्ञोपवीतका त्याग करके दूसरे नूतन यज्ञोपवीतका धारण करना चाहिए, कारण कि जाबाल श्रुतिमें भी 'यज्ञोपवीत धारण किये बिना ब्राह्मण कैसे' ? इस प्रकार प्रश्न उठानेके अनन्तर कहा कि 'यही उसका यज्ञोपवीत है, जो आत्मा है' इस वाक्यमें 'इदमेवास्य' यहाँ 'एव' पद दिया है [जो अन्यके सम्बन्धका अभावबोधन करता है] इस एवकारसे बाहरी सूत्रनिर्मित यज्ञोपवीतका निषेध करके आत्मा ही यज्ञोपवीत कहा गया है। इस प्रकार आत्मज्ञानके अधिकारीके लिए संन्यासका विधान किया गया है, इसलिए उसके विरोधमें उपस्थित तीन ऋणोंकी प्रतिपादिका श्रुति अभूतार्थवाद हो जाती है, जिसके कारण कर्म द्वारा भी पूर्वमीमांसाकी (ब्रह्मज्ञानमें) अपेक्षा सिद्ध नहीं होती, इसलिए धर्मविचारका आनन्तर्यरूप 'अथ' शब्दका अर्थ नहीं माना जा सकता। ['नैतत्सारम्' ग्रन्थसे धर्मविचारानन्तर्यका खण्डन कर सिद्ध किया कि ब्रह्मज्ञानके अधिकारीका विशेषण धर्मविचारानन्तर्य नहीं हो सकता, अर्थात् कोई नियम न रहा कि धर्मविचार करनेवाला ही ब्रह्मविचार कर सकता है।

अब धर्मविचार और ब्रह्मविचारमें कार्यकारणभाव न होनेपर भी

ननु यदि धर्मब्रह्मविचारयोर्हेतुहेतुमद्भावेनाऽऽनन्तर्यं न सम्भवति, तर्हि तयोरानन्तर्यमात्रोपलक्षितक्रममथशब्दः प्रतिपादयतु। 'हृदयस्याऽग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वाया अथ वक्षसः' इत्यत्राऽथशब्दस्य क्रमप्रतिपादकत्वदर्शनादिति चेत्, तत्र वक्तव्यम्—किमथशब्दः स्वयमेव क्रमं प्रतिपादयति आहोस्वित् प्रमाणान्तरप्रतिपन्नक्रमापेक्षितन्यायं सूचयति? नाऽऽद्यः; स्वयं न्यायसूत्रान्तःपातित्वात्। न द्वितीयः; क्रमबोधकप्रमाणासम्भवात्। क्रमो ह्येककर्तृकाणां बहूनां युगपदनुष्ठानासम्भवेऽपेक्ष्यते। एककर्तृकत्वं चाऽङ्गाङ्गिनोर्वा बहूनामङ्गानामेकाङ्गिसम्बन्धिनां वाऽधिकारान्तरप्रयुक्त्युपजीविनां वा भवति।

पौर्वापर्यरूप क्रमका बोध आनन्तर्यार्थक 'अथ'से करना चाहिए, इस प्रकार कहनेवाले वादीका खण्डन करनेके लिए शङ्का करते हैं]—यदि धर्म और ब्रह्मके विचारोंमें परस्पर कार्यकारणभावसे आनन्तर्यका सम्भव नहीं है, तो उन दोनोंके आनन्तर्यमात्रसे उपलक्षित क्रमका प्रतिपादन 'अथ' शब्दसे ही होगा। [हेतुहेतुमद्भावके अभावमें क्रमबोधक 'अथ' शब्दका प्रयोग दृष्टान्त द्वारा दिखलाते हैं], क्योंकि 'पहले हृदयका अवदान—खण्डन—करे, अनन्तर जिह्वाका, अनन्तर वक्षःस्थलका, इत्याद्यर्थक वाक्यमें 'अथ' शब्द क्रमका प्रतिपादन करता है, यह देखा गया है।

समाधान—क्या 'अथ' शब्द स्वतः ही क्रमका प्रतिपादन करता है? अर्थात् क्या अथशब्द क्रमका वाचक है? अथवा दूसरे प्रमाण द्वारा सिद्ध क्रमसे अपेक्षित न्यायका सूचन करता है? इसमें प्रथम विकल्प नहीं हो सकता, कारण कि स्वयं 'अथ' शब्द न्यायसूत्रमें आया है। [यदि 'अथ' शब्द ही स्वयं क्रमका बोधक होता, तो न्यायसूत्रमें अपेक्षित क्रमनियमका अभिधान 'अथ' शब्दसे होना चाहिए, परन्तु वहांपर क्रमरूप अर्थ नहीं लिया गया है।] द्वितीय विकल्प नहीं हो सकता, कारण कि क्रमका बोधक कोई प्रमाण नहीं है। एक ही कर्ताको अनेक कार्य प्राप्त होनेपर एक साथ सबका अनुष्ठान सम्भव न होनेसे क्रमकी अपेक्षा होती है। या अङ्ग और अङ्गियोंमें तथा एक ही अङ्गीके साथ सम्बन्ध रखनेवाले अनेक अङ्गोंमें अथवा अधिकारान्तरसे प्राप्त हुई प्रयुक्ति द्वारा अनुभवको प्राप्त हुए

---

(१) जैसे प्रयाज और दर्शपूर्णमास एक ही कर्ताके कर्तव्य हैं।

(२) परम अपूर्वके साधक आग्नेयादि छः यागोंमें।

(३) दर्शपूर्णमासके अधिकार प्राप्त प्रयुक्तिका आश्रयण करनेवाले गोदोहन आदि।

न चाऽत्र तेषामन्यतमत्वे श्रुत्यादि प्रमाणमस्ति। यद्यपि ज्योतिष्टोमादावधिकृतस्यैवाऽङ्गावबद्धोपासनेष्वधिकारस्तथापि न नः काचिद्धानिः, उपासनानां धर्मविशेषाणामेवाऽस्मिन् शास्त्रे प्रासङ्गिकी सङ्गतिरित्युक्तत्वात् शास्त्रतात्पर्यविषयब्रह्मज्ञानस्याऽधिकारत्वाभावात्।

ननु यथाऽऽग्नेयादीनां षण्णां यागानामङ्गाङ्गित्वादिपूर्वोक्तत्रैविध्याभावेऽपि फलैक्यात् कर्त्रैक्यं क्रमश्च तथा धर्मब्रह्मविचारयोः स्यादिति चेद्, न; तयोः फलैक्ये मानाभावात्। 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह' इति समुच्चयविधिरेव मानमिति चेद्, न; 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽ-

---

अङ्गोंमें ही एककर्तृकत्व प्राप्त होता है।

प्रकृत (धर्म-ब्रह्मविचारका) क्रम माननेमें पूर्वोक्त अङ्गाङ्गिभाव आदिमें से एकके भी होनेमें श्रुति आदि प्रमाण नहीं हैं। यद्यपि ज्योतिष्टोमादिके अधिकारीका ही (उद्गीथ आदि) अङ्गभूत उपासनाओंमें अधिकार है; [श्रुति भी कहती है—'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' अर्थात् ज्ञान, श्रद्धा तथा उपासनासे किया हुआ कर्म ही सफल होता है, अतः इस श्रुतिके वाक्यसे कर्माधिकृतका ज्ञानमें भी अधिकार प्रतीत होता है,] तथापि इसमें हमारी कोई हानि नहीं है, कारण कि उपासनास्वरूप धर्मविशेषोंकी ही [ज्योतिष्टोमादिका नहीं] इस वेदान्तशास्त्रमें प्रासङ्गिकी सङ्गति है, ऐसा पहले ही कह आये हैं; इससे शास्त्रके तात्पर्यविषयीभूत ब्रह्मज्ञानमें कर्ममें अधिकृतका अधिकार नहीं है, अतः एक विधिके द्वारा अनुष्ठान होनेसे क्रमापेक्षित न्यायका अनुसन्धान नहीं किया जा सकता।

शङ्का—जैसे आग्नेय आदि छः यागोंमें पूर्वोक्त अङ्गाङ्गिभावादि प्रकारोंके न होनेपर भी सबका एक ही फल होनेसे एककर्तृकत्व (एक ही कर्ताका होना) तथा क्रम माना गया है, वैसे ही धर्म तथा ब्रह्म के विचारमें भी क्रम माना जायगा।

समाधान—ऐसा नहीं मान सकते; कारण कि इन दोनोंका (धर्म और ब्रह्मविचारका) एक ही फल होता है, इसमें प्रमाण नहीं है। 'विद्या और अविद्या—इन दोनोंको जो साथ-साथ जानता है' इत्याद्यर्थक श्रुतिसे समुच्चयविधानको भी प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'अविद्यासे मृत्युको पारकर विद्यासे अमृत प्राप्त करता है।'

मृतमश्नुते' इत्यविद्याख्यस्य कर्मणो विद्यायाश्च वाक्यशेषे फलभेदावगमात् । 'तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च' इति वचनं समुच्चयविधायकमिति चेद् , मैवम् ; नाऽत्र ज्ञानकर्मणोरेकस्मिन् पुरुषे समुच्चयविधिः, किन्तु ब्रह्मवित्पुण्यकृतोरुभयोः पुरुषयोर्योगे (मार्गे) समुच्चयविधिः । अन्वाचयार्थेन चकारेण प्रत्येकं निरपेक्षमार्गान्वयोपपत्तेः । ब्रह्मविच्छब्देनाऽत्र सगुण-

---

इत्याद्यर्थक श्रुतिसे अविद्यारूप कर्मोंका और विद्याका वाक्यशेषमें फलभेद प्रतीत होता है। 'उसी (देवयान) मार्गसे ब्रह्मज्ञानी और पुण्यकर्मा दोनों जाते हैं' इत्यादि अर्थवाले श्रुतिवचनको भी समुच्चयविधायक मानना नहीं बनता, कारण कि इस वाक्यमें ज्ञान और कर्मका एक ही पुरुषमें समुच्चयका विधान नहीं है, किन्तु ब्रह्मज्ञानी और पुण्यकर्मा पुरुषोंका दोनों मार्गोंमें योग होनेमें समुच्चयका विधान है। [ज्ञान और कर्म एक ही पुरुषमें आश्रित होकर एक फलके साधन हैं।' इस अर्थमें श्रुतिका तात्पर्य नहीं है, किन्तु जो ब्रह्मज्ञानी तथा जो पुरुष उद्गीथोपासना आदि पुण्यकर्म करनेवाले हैं, वे दोनों भी इसी देवमार्गसे जाते हैं अर्थात् मार्गमें दोनोंका साथ हो जाता है, इस प्रकार मार्गमें साथ हो जानेमें तात्पर्य है]। कारण कि अन्वाचयार्थक चकारसे निरपेक्ष एक मार्गके साथ प्रत्येकके अन्वयकी उपपत्ति हो सकती है। [अन्वाचयार्थक चकारसे परामृष्ट अर्थोंका परस्पर अपेक्षित होना आवश्यक नहीं है, जैसे 'भिक्षामट गां चानय' इस वाक्यमें यद्यपि—'भिक्षाटन' तथा 'गवानयन' दोनोंका एक ही देवदत्तादिमें कर्तृत्वका सम्बन्ध है, तथापि दोनों कार्य परस्पर निरपेक्ष हैं, वैसे ही प्रकृत 'तेनैति' इत्यादि श्रुतिमें परस्परनिरपेक्ष दोनोंका एकमार्गगामित्व होना उपपन्न है। [निर्गुण-ब्रह्मज्ञानीके गतागतका निषेध होनेसे तथा कर्मकाण्डप्रधान पुरुषोंका धूम्रयानसे जाना प्रतिपादित होनेसे प्रकृत श्रुतिमें श्रुत्यन्तरसे विरोध-परिहारके ब्रह्मवित् और पुण्यकृत् शब्दोंका अर्थ दिखलाते हैं—] 'तेनैति' इत्यादि श्रुतिमें ब्रह्मवित् पदसे सगुण

---

१. यह भारतमें कहा है—'सर्वभूतात्मभूतस्य सम्यक् भूतानि पश्यतः। देवा अपि मार्गे मुह्यन्त्यपदस्य पदैषिणः' 'पदवीकी गवेषणा करनेवाले देवता भी पदवीहीन सर्वात्मभावको प्राप्त हुए ब्रह्मज्ञानीके मार्गमें मोहित होते हैं अर्थात् उसको देख नहीं पाते—इससे ब्रह्मज्ञानीका देवमार्गसे भी जाना निषिद्ध है।

ब्रह्मोपासकोऽभिधीयते, निर्गुणब्रह्मविद् उत्तरमार्गेण गमनाभावात्। पुण्यकृच्छब्देन च प्रतीकोपासकोऽभिप्रेतः; केवलकर्मिणां धूमादिमार्गश्रवणात्। ततो ब्रह्मवित्पुण्यकृतोराविद्युल्लोकमुत्तरमार्गे गमनसमुच्चयपरं वचनम्। न च 'तान्याचरथ नियतं सत्यकामाः' इत्यत्र ज्ञानकर्मसमुच्चयविधिः सुसम्पादः, केवलकर्मणामेव श्रवणात्। न च सत्यशब्दो ब्रह्मपरः, 'एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः' इति वाक्यशेषे सत्यलोकाभिधानात्। न च 'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन' इत्ययं समुच्चयविधिः। नह्यत्र तपःशब्दोऽग्निहोत्रादिकमाचष्टे, किन्तु ध्यानम्; 'मनसश्चेन्द्रियाणां चैकाग्र्यं परमं तपः' इति इति स्मृतेः। तस्मान्न ज्ञानकर्मसमुच्चये मानमस्ति।

ब्रह्मका उपासक लिया जाता है, कारण कि निर्गुण-ब्रह्म-ज्ञानीका उत्तर मार्ग याने देवयानसे गमन नहीं होता है। और पुण्यकृत् शब्दसे प्रतीकोपासक लेनेमें तात्पर्य है, क्योंकि केवल कर्म करनेवालोंके लिए धूममार्गसे जानेका श्रुतिमें विधान है। इससे ब्रह्मज्ञानी और पुण्यकर्मा दोनोंका विद्युल्लोककी प्राप्ति तक उत्तरमार्गमें साथ-साथ गमनमें तात्पर्य रखनेवाला उक्त वचन है।

शङ्का—'सत्यकाम पुरुष उन कर्मोंका अवश्य आचरण करे' इत्याद्यर्थक श्रुतिसे ज्ञान और कर्मके समुच्चयका विधान किया जा सकता है। [अर्थात् सत्यशब्दका अर्थ परब्रह्मरूप प्रसिद्ध ही है, उसकी कामनासे कर्मोंका अनुष्ठान कहा गया है, इससे समुच्चयकी प्रतीति होती है]।

समाधान—ऐसा नहीं, कारण कि श्रुति केवल कर्मवालोंके लिए कहती है। सत्यशब्दका ब्रह्मरूप अर्थ नहीं लेना चाहिए, कारण कि 'यह पुण्य ब्रह्मलोक सुकृतशाली तुम पुण्यकर्माओंके लिए है,] इत्याद्यर्थक वाक्यशेषमें सत्यलोक कहा गया है, ['एष' यह सर्वनाम पूर्व कथित सत्यका परामर्श करता है। इसलिए ब्रह्मका वाचक भी सत्यपद वाक्यशेषके बलसे प्रकृतमें ब्रह्मलोकका ही वाचक है]। 'यह सत्यसे लभ्य है तथा तपसे लभ्य है और सम्यक् ज्ञानसे लभ्य है' इत्याद्यर्थक श्रुति (कर्मवाचक तपके बलसे) समुच्चयविधायक होगी, ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण कि उक्त श्रुतिमें तपःशब्द अग्निहोत्रादि कर्मका अभिधान नहीं करता, किन्तु ध्यानको कहता है। 'मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता उत्कृष्ट तप है', ऐसा स्मृतियोंमें कहा गया है। इसलिए ज्ञान और कर्मोंका समुच्चय माननेमें कोई

प्रत्युत 'नास्त्यकृतः कृतेन' 'न कर्मणा न प्रजया' इत्यादिना कर्मणः साक्षान्मोक्षसाधनता निषिध्यते। न च केवलकर्मण एव प्रतिषेध इति वाच्यम्, समुच्चयविधायिप्रमाणाभावे सर्वकर्मणां प्रतिषेधोपपत्तेः; अन्यथा ज्ञानाङ्गतया सर्वकर्मसंन्यासविधानं नोपपद्येत। संन्यासाश्रमधर्मैः समुच्चयोऽस्त्विति चेद्, नः तद्धर्माणां ध्यानादीनां ज्ञानस्वरूपोपकारित्वात् फलसमुच्चयानुपपत्तेः। नित्यकर्मविधानानुपपत्तिरेव ज्ञानसहकारितया नित्यकर्मणां मोक्षफलत्वं कल्पयतीति चेद्, नः प्राभाकरमते तेषां फलनिरपेक्षत्वात्। भाट्टपक्षे विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गकल्पनात्। वेदान्तिपक्षे संस्कारविविदिषयोरुक्तत्वात्। ब्रह्मज्ञानमेवेतिकर्त्तव्यतया कर्मणां मोक्षसाधनत्वं कल्प-

---

प्रमाण नहीं है। बल्कि इसके विपरीत 'अकृत—मोक्ष— कृत द्वारा—कर्म द्वारा—प्राप्य नहीं है। (क्योंकि वह तो अकृत है) और 'न प्रजया' (अर्थात् पुत्रोत्पादन आदिसे भी लभ्य नहीं है) इत्यादि वचनोंसे कर्म साक्षात् मोक्षका उपाय नहीं है, इस प्रकार निषेध किया जाता है। केवल (उपासनासे रहित) कर्मका ही निषेध है, यह भी कहना उचित नहीं है, कारण कि समुच्चयका विधायक प्रमाण न होनेसे (अविशेषसे) सभी कर्मोंका निषेध उपपन्न होता है। अन्यथा ज्ञानके अङ्गभूत सकल कर्मोंके संन्यासका (त्यागका) विधान उपपन्न न होगा।

यदि कहो कि संन्यासाश्रमके धर्मोंके साथ समुच्चय मानो, तो वह भी नहीं बनता, कारण कि संन्यासाश्रमके धर्मरूप ध्यान आदि ज्ञानके स्वरूपके साधक हैं, अतः फलके साथ समुच्चयकी उपपत्ति नहीं हो सकती।

शङ्का—नित्य कर्मोंके विधानकी अनुपपत्ति ही ज्ञानकी सहकारिता द्वारा नित्य कर्मोंसे मोक्षरूप फल होता है, यह कल्पना करती है।

समाधान—ऐसा नहीं, क्योंकि प्रभाकरके मतमें नित्य कर्मोंको फलकी अपेक्षा नहीं रहती और भट्टके मतमें विश्वजिन्न्यायसे उनके स्वर्गरूप फलकी कल्पना की जाती है। और वेदान्तियोंके मतमें नित्य कर्मोंका फल संस्कार और विविदिषा है, यह कह ही आये हैं।

शङ्का—ब्रह्मज्ञान ही इतिकर्तव्यस्वरूप होनेके कारण कर्मोंमें मोक्षसाधनताकी कल्पना करेगा।

यतीति चेद्, न; शमादिरूपेतिकर्त्तव्यतान्तरस्य सद्भावाद् । 'यज्ञेन विविदिषन्ति' इति विध्युद्देशे करणतया प्रसिद्धानां कर्मणामितिकर्त्तव्यतायां विधिविरोधाच्च । कथञ्चित्तेषां मोक्षसाधनत्वकल्पनेऽप्युदितानुदितहोमवद् ज्ञानकर्मणोर्विकल्प एव किं न स्यात् ? तथा च न समुच्चयसिद्धिः ।

न च समुच्चयवादिना मोक्षे कर्मणोऽध्यासः सुनिरूपः, न तावद् ब्रह्मात्मैकत्वं तत्साध्यम्, तस्य सिद्धस्वभावत्वात् । नाऽप्यविद्यातत्कार्यनिवृत्तिस्तत्साध्या, 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादौ तन्निवृत्तेर्ज्ञानसाध्यत्वश्रवणात् । किं च समुच्चयवादिमते विज्ञानसाध्यमपि फलं न भवति । किं कर्मोपाधिनिवृत्तिर्ज्ञानफलम्, किं वा मिथ्याध्यासनिवृत्तिः, उत तत्प्रवाहनिवृत्तिः, अथवा मिथ्याज्ञानसंस्कारनिवृत्तिः, आहोस्विद् ब्रह्मस्वरूपप्रकाशनम् ? नाऽऽद्यः; कर्मोपाधीनां सत्यवस्तुतया ज्ञानानिवर्त्यत्वात् । न द्वितीयः; मिथ्याध्यासस्य

समाधान—नहीं, कल्पना नहीं करेगा, कारण कि कर्मोंसे अतिरिक्त शम, दम आदिरूप इतिकर्तव्यता विद्यमान है । 'यज्ञ द्वारा ज्ञानेच्छा करनी चाहिए' इत्यादि विधिके उद्देशमें करणकारकरूपसे प्रसिद्ध कर्मोंको इतिकर्तव्य माननेसे विधिके साथ विरोध भी आता है । उनको किसी प्रकार मोक्षका साधन माननेपर भी उदितानुदित होमके समान ज्ञान और कर्मोंका विकल्प—पाक्षिकप्राप्ति—क्यों न मानी जाय ? इससे समुच्चयकी सिद्धि नहीं हो सकती । और समुच्चयवादीके लिए मोक्षमें कर्मोंके अध्यासका—सम्बन्धका—निरूपण करना सरल नहीं है, क्योंकि उन कर्मोंका फल ब्रह्म और जीवका ऐक्य भी नहीं हो सकता, कारण कि वह तो स्वभावसे ही सिद्ध है । अविद्या या उसके कार्योंकी निवृत्ति भी उनका फल नहीं माना जा सकता, कारण कि 'आत्मज्ञानी शोकसे पार हो जाता है—' इत्यादि अर्थवाले श्रुतिवाक्यमें अविद्या या उसके कार्यकी निवृत्ति ज्ञानका फल कहा गया है । और भी दोष आता है कि समुच्चयवादीके मतमें विज्ञानसे साध्य फल भी नहीं हो सकता । क्या कर्मरूप उपाधिकी निवृत्ति ज्ञानका फल है ? अथवा मिथ्या अध्यासकी निवृत्ति ? या उसके प्रवाहकी निवृत्ति ? अथवा मिथ्या अज्ञानके संस्कारकी निवृत्ति ? किं वा ब्रह्मस्वरूपका प्रकाश ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि सत्यवस्तु होनेसे ज्ञान द्वारा कर्मरूप उपाधिकी निवृत्तिका सम्भव नहीं है । दूसरा पक्ष भी नहीं बनता, क्योंकि मिथ्या अध्यास क्षणिक होता है,

क्षणिकत्वात्स्वयमेव निवृत्तेः। न तृतीयः, प्रवाहस्य प्रवाहिनिवृत्तिमन्तरेण पृथगुच्छेदाभावात्। न चतुर्थः, रजतादिसंस्कारस्य शुक्त्यादिज्ञाननिवर्त्यत्वादर्शनात्। ज्ञानाभ्याससंस्काराद् निवृत्तौ संस्कार एव मुक्तिहेतुः स्यात्। ततो 'ज्ञानादेव कैवल्यम्' इति शास्त्रं विरुध्येत। न पञ्चमः, ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वात्।

यत्तु भास्करेण प्रलपितं समुच्चयसामर्थ्यादेव धर्मावबोधानन्तरं ब्रह्मावबोध इति, तत्समुच्चयनिराकरणादेव निराकृतम्। सत्यपि वा समुच्चये तत्कथं सिध्येत्, वैपरीत्यप्रसङ्गस्य तव दुर्वारत्वात्। तथा हि—ज्ञानवतैवाऽनुष्ठितानि कर्माणि मोक्षं साधयन्तीति प्रथमं ब्रह्मावबोधमुत्पाद्य तद्बोधवतैव ब्रह्मचारिणा धर्मविचारिणा धर्मविचारादि सर्वं कर्त्तुं युक्तमिति विपरीत एव क्रमः स्यात्। कर्मानुष्ठानस्य ब्रह्मावबोधोत्तरकालभावित्वेऽपि धर्मविचारः पूर्वमेव क्रियतामिति चेद्, नः तथा-

इसलिए स्वयं निवृत्त हो जाता है। तीसरा पक्ष भी युक्त है नहीं, क्योंकि प्रवाहका प्रवाहीकी निवृत्तिके अतिरिक्त पृथक् कोई उच्छेद—विनाश—नहीं है। चौथा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि रजतादिका संस्कार शुक्ति आदिके ज्ञानसे निवृत्त होते नहीं देखा गया है। ज्ञानके अभ्यास द्वारा उत्पन्न संस्कारसे निवृत्ति माननेमें संस्कारको ही मुक्तिका कारण मानना होगा। इससे 'ज्ञानके द्वारा ही मुक्ति होती है' इस शास्त्रसे विरोध आ जायगा। पांचवां पक्ष भी युक्त नहीं है, कारण कि ब्रह्म स्वयंप्रकाश है।

'समुच्चयकी सामर्थ्यसे ही धर्मनिर्णयके अनन्तर ब्रह्मज्ञान होता है' यह भास्करका प्रलाप समुच्चयका निराकरण करनेसे ही खण्डित हो गया, अथवा समुच्चय सिद्ध होनेपर भी यह—क्रम—कैसे सिद्ध हो सकता है? कारण कि विपरीत क्रमका (ब्रह्मज्ञानके अनन्तर धर्मज्ञानका) वारण तुमसे (भास्करसे) करते नहीं बनेगा। क्योंकि ज्ञानी पुरुष द्वारा ही किये गये कर्म मोक्षके उपायभूत हैं, यह समझ कर पहले ब्रह्मज्ञान उत्पन्न कर ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मचारीको ही (धर्मविचारकी कामनासे) धर्मविचार आदि सब कुछ करना उचित है, इस प्रकार उलटा ही क्रम प्राप्त हो जायगा।

शङ्का—यदि कहो कि यद्यपि कर्मोंका अनुष्ठान ब्रह्मज्ञानके उत्तरकालमें होता है, तथापि धर्मका विचार तो (ब्रह्मज्ञानसे) पूर्व ही करना चाहिए। [इससे विचारमें विपरीत क्रमकी आशङ्का नहीं हो सकती]।

सत्यादावेव मुमुक्षोराधर्मविचारपरिसमाप्तेरनुष्ठीयमानाश्रमकर्मणामानर्थक्यप्रसङ्गात्। न तावत् तेषां भोगः फलम्, पुरुषस्य भोगाद्विरक्तत्वात्। नाऽपि मुक्तिः, ज्ञानाभावेन तस्यामवस्थायां समुच्चयाभावात्। अपूर्वद्वारेणोपकारकत्वे जन्मान्तरानुष्ठितकर्मभिरेव तत्सिद्धौ कृतमिह जन्मनि कर्मानुष्ठानेन। न च धर्मविचारात् पूर्वं मुमुक्षुत्वमेव नाऽस्ति, दृश्यन्ते हि बाल्यमारभ्य मुमुक्षवः। न च मुमुक्ष्वमुमुक्षुसाधारणत्वाद्धर्मविचार एव प्रथमं कर्त्तव्य इति वाच्यम्, त्वन्मते काम्यमानमोक्षहेतुत्वेन साधारणत्वासिद्धेः। अथ नित्याध्ययनविधिप्रयोज्यत्वाद्धर्मविचारः साधारणः, तदापि न तस्य प्राथम्यनियमः; काम्यमानब्रह्मविचारानन्तरमपि नित्यकर्मविचारोपपत्तेः। यद्यध्ययनानन्तरमेव कर्मविचाराननुष्ठाने प्रत्यवायस्तदाऽपि

समाधान—ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण कि उपर्युक्त सिद्धान्त (ब्रह्मज्ञानीका धर्मानुष्ठानमें अधिकार) माननेसे मुमुक्षु यतिके धर्मविचारकी परिसमाप्ति तक (ब्रह्मज्ञानके पूर्व तक) किये गये आश्रम कर्म सब व्यर्थ हो जायंगे, क्योंकि उनका भोगरूप फल तो हो नहीं सकता, क्योंकि मुमुक्षु पुरुषको भोगसे विरक्ति रहती है। मुक्ति भी फल नहीं है, कारण कि उस दशामें ज्ञान न होनेसे समुच्चय नहीं है [और आपके मतमें समुच्चय ही मुक्तिका साधन है]। यदि अपूर्व द्वारा उपकारक माने जायँ, तो जन्मान्तरमें किये गये कर्मोंके द्वारा ही अपूर्वकी सिद्धि हो जानेसे इस जन्ममें कर्मोंके अनुष्ठानकी आवश्यकता नहीं रह जाती। धर्मविचारसे पूर्व मुमुक्षत्व नहीं बन सकता, ऐसा भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि बहुत लोग बाल्यावस्थासे ही मुमुक्षु होते देखे गये हैं। यह भी कहना उचित नहीं कि 'मुमुक्षु—विरागी— तथा अमुमुक्षु—रागी— दोनोंके लिए साधारण होनेसे धर्मविचार करना ही प्रथम प्राप्त होता है, कारण कि तुम्हारे मतमें धर्मविचार कामनाविषयीभूत मोक्षका साधन है, अतः उसे साधारण नहीं कह सकते, [अतः कामनारहित पुरुषके लिए उक्त साधन नहीं हुआ]।

यदि यह कहो कि नित्यभूत अध्ययनविधिसे प्रयोज्य होनेके कारण धर्मविचार साधारण हो सकता है, तो भी धर्मविचारके प्राथम्यका नियम नहीं बन सकता; कारण कि कामनाविषयीभूत ब्रह्मविचारके अनन्तर भी नित्यभूत कर्मविचारकी उपपत्ति हो सकती है। यदि कहो कि अध्ययनके अनन्तर ही कर्मोंका

तत्परिहारायैकं कर्मवाक्यं ब्रह्मबोधात् प्राग्विचारयितव्यम्, अन्यत्तु पश्चात्। तथा सति विदुषाऽनुष्ठीयमानानां ब्रह्मचारिधर्माणामपि मोक्ष-साधनत्वलाभात्। अग्निहोत्रादिधर्माणामेव मोक्षसाधनत्वं न ब्रह्मचारि-धर्माणामिति चेद्, वेदानुवचनादिषु प्रत्येकं निरपेक्षकरणविभक्तिश्रवणाद् ब्रह्मचारिणोऽध्ययनस्याऽपि मोक्षसाधनत्वोपपत्तेः। अत एव श्रुतिर्ब्रह्म-चर्यादेव संन्यासं विधत्ते। तेन ब्रह्मचारिधर्माणां संन्यासधर्माणां वा ज्ञाने समुच्चयोपपत्तौ त्वन्मतेऽग्निहोत्रादीनामननुष्ठानमेव प्रसज्येत। किं च क्रतुविधय एव धर्मविचारप्रयोजकाः, न त्वध्ययनविधिः। अन्यथा ब्रह्म-विचारस्याऽप्यध्ययनविधिप्रयोज्यत्वप्रसङ्गात्। 'श्रोतव्यः' इति विध्यन्तरं तत्प्रयोजकमस्तीति चेद्, न; धर्मविचारे क्लृप्तप्रवर्त्तकभावेनाऽध्ययनविधिनैव ब्रह्मविचारस्याऽपि प्रयोगसम्भवे 'श्रोतव्यः' इति विधेरपि प्रवर्त्तकत्वकल्पने

(धर्मका) विचार न करनेसे प्रायश्चित्त होता है, तो भी उस प्रत्यवायके परिहारके लिए किसी भी एक कर्मबोधक वाक्यका ब्रह्मज्ञानसे पूर्व विचार कर लेना चाहिए और दूसरे वाक्योंका (ब्रह्मज्ञानके) पश्चात् विचार करना चाहिए। ऐसा माननेसे तो विद्वान्‌के द्वारा किये जानेवाले ब्रह्मचारीके भैक्षचर्यादि धर्म मोक्षके साधन हो सकते हैं। यदि मानो कि अग्निहोत्र आदि धर्म ही मोक्षके साधन हो सकते हैं, ब्रह्मचारीके धर्म मोक्षके साधन नहीं हो सकते, तो वेदानुवचन आदि प्रत्येकमें परस्पर निरपेक्ष करणकारकार्थ तृतीयाविभक्तिके श्रवणसे ब्रह्मचारीके (वेदानुवचनरूप) वेदाध्ययनमें भी मोक्षसाधनत्वकी उपपत्ति हो सकती है। इसीलिए श्रुति ब्रह्मचर्याश्रमसे ही संन्यासका विधान करती है। इससे ब्रह्मचारीके धर्म और संन्यास-धर्म दोनोंके ज्ञानमें समुच्चयकी उपपत्ति हो जानेसे तुम्हारे मतमें अग्निहोत्रादिका अनुष्ठान न करना ही प्राप्त हो जायगा। और यज्ञविधान ही धर्मविचारके प्रयोजक हैं, अध्ययनका विधान प्रयोजक नहीं है। नहीं तो ब्रह्मविचारकी भी प्रयुक्ति अध्ययनविधिसे प्राप्त होगी।

शङ्का—ब्रह्मविचारका प्रयोजक 'श्रोतव्यः' यह दूसरा विधान है [इसलिए अध्ययनविधिसे उसकी प्रयुक्ति नहीं मानते]।

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि धर्मविचारमें माने गये प्रयोजक रूप अध्ययनविधिसे ही ब्रह्मविचारकी भी प्रयुक्तिका सम्भव है, अतः 'श्रोतव्यः' इसको

गौरवात्। ब्रह्मविचारस्य काम्यत्वान्न नित्याध्ययनविधिप्रयोज्यतेति चेद्, न; काम्यक्रतुविचारस्य तत्प्रयोज्यताङ्गीकारात्। न च वाच्यं धर्मविचारादपि ब्रह्मविचारे शमदमोपसदनाद्यङ्गाधिक्याद्विध्यन्तरप्रयोज्यतेति, एकस्यैवाऽध्ययनविधेर्न्यूनाधिकाङ्गौ धर्मब्रह्मविचारौ प्रति प्रयोजकत्वसंभवात्। एक एव हि दर्शपूर्णमासविधिः पुरोडाशहविष्कावाग्नेयाग्नीषोमीययागावयघाताद्यङ्गसहितं [तौ ?] तद्रहितं चाऽऽज्यहविष्कमुपांशुयाजं प्रवर्त्तयति। ननु विधिर्हि सर्वत्रोपादेयस्यैवाऽनुष्ठापकः, शमदमादयस्त्वनुपादेयाः, ब्रह्मविचाराधिकारिविशेषणत्वात्, ततो नाऽध्ययनविधिस्तदनुष्ठापक इति चेद्, न; अध्ययनविध्यधिकारिण उपनीतस्यैव तत्प्रयुक्ते ब्रह्मविचारेऽप्यधिकारितया

पृथक् प्रयोजक माननेमें गौरव है। यह भी नहीं कह सकते कि ब्रह्मविचारके काम्य होनेसे नित्यभूत अध्ययनविधिसे उसकी प्रयुक्ति नहीं हो सकती है, कारण कि काम्य यज्ञोंके विचारकी प्रयुक्ति नित्यभूत अध्ययन विधि द्वारा मानी गयी है।

शङ्का—धर्मविचारकी अपेक्षा ब्रह्मविचारमें शम, दम, उपसदन आदि अङ्गोंके अधिक होनेसे अध्ययनसे अतिरिक्त दूसरी विधिसे प्रयुक्ति मानी जानी चाहिए।

समाधान—उक्त कल्पना नहीं हो सकती, कारण कि एक ही अध्ययनविधान अल्प और अधिक अङ्गवाले धर्मविचार तथा ब्रह्मविचारके प्रति प्रयोजक हो सकता है। दृष्टान्त द्वारा समर्थन करते हैं—एक ही दर्शपूर्णमासका विधान अवघात आदि अङ्गोंके सहित पुरोडाशहविस्वाले आग्नेय और आग्नीषोमीय याग तथा उक्त अङ्गोंसे रहित घृतहविष्क उपांशुयागकी प्रयुक्ति करता है।

शङ्का—विधान सर्वत्र उपादेयका ही अनुष्ठान कराता है। शम, दम आदि तो अनुपादेय हैं, क्योंकि वे ब्रह्मविचारके अधिकारीके विशेषण हैं। इससे अध्ययनविधिको उसका (शमदमादि अङ्गोंका) अनुष्ठापक नहीं मान सकते।

समाधान—ऐसा नहीं, कारण कि अध्ययनविधिका अधिकारी उपनीत पुरुष है, उसी उपनीत पुरुषका ही अध्ययनविधिसे प्रयुक्त ब्रह्मविचारमें भी

शमादीनामतद्विशेषणत्वात् । अन्यथा श्रवणविधेरपि तदनुष्ठापकता न स्यात् । तदेवं भास्करादिसमुच्चयवादिमतानामनेकधा दुष्टत्वाद् धर्मब्रह्मविचारयोः फलैक्यायोगान्न कर्त्रैक्यमिति न तत्प्रयुक्तक्रमार्थोऽथशब्दः ।

नन्वेवमपि पूर्वतन्त्रे द्वादशभिरपि लक्षणैर्धर्म एको जिज्ञास्यस्तत्र यथा लक्षणानां क्रमनियमस्तथा पूर्वोत्तरतन्त्रयोरपि जिज्ञास्यैक्ये क्रमनियमार्थोऽथशब्दः स्यादिति चेद्, नः फलवज्जिज्ञास्यस्याऽपि भिन्नत्वात् । यथा पूर्वतन्त्रेऽनुष्ठानापेक्षोऽभ्युदयः फलम्, तथोत्तरतन्त्रे चाऽनुष्ठानानपेक्षं निःश्रेयसमिति फलभेदः । तथा पूर्वतन्त्रे पुरुषव्यापारतन्त्रो ज्ञानदशायामविद्यमानो धर्मो जिज्ञास्यः, उत्तरतन्त्रे पुरुषव्यापारानपेक्षं ज्ञानकालेऽपि विद्यमानं ब्रह्म जिज्ञास्यम्, अतो वेदार्थत्वाकारेणैक्येऽपि जिज्ञास्यभेदो न वारयितुं शक्यः । प्रमाणैक्ये प्रमेयभेदो न युक्त इति चेद्, नः प्रमा-

---

अधिकार होनेसे शम आदि ब्रह्मविचारके अधिकारीके विशेषण नहीं हैं । इसके विपरीत माननेसे तो श्रवणादि विधिमें भी उसकी अनुष्ठापकता नहीं प्राप्त होगी । इस प्रकार भास्कर आदि समुच्चयवादियोंके मत अनेक प्रकारके दोषोंसे पूर्ण हैं, और धर्म तथा ब्रह्म दोनोंके विचारोंका एक फलसे सम्बन्ध नहीं है, अतः दोनोंका एक ही कर्ता नहीं हो सकता, इसलिए उसके द्वारा प्राप्त होनेवाले क्रमरूप अर्थका वाचक अथशब्द नहीं हो सकता ।

शङ्का—ऐसा माननेपर भी पूर्वमीमांसा शास्त्रमें बारहों लक्षणोंसे एक ही धर्म जिज्ञास्य है, उसमें जैसे लक्षणोंका क्रमनियम है, उसी प्रकार पूर्वोत्तरमीमांसा शास्त्रोंमें भी जिज्ञास्य एक होनेसे क्रमनियमार्थक 'अथ' शब्द लिया जायगा ।

समाधान—ऐसा नहीं, कारण कि फलके समान जिज्ञास्य भी भिन्न-भिन्न हैं । जैसे पूर्वमीमांसामें अनुष्ठानकी अपेक्षा रखनेवाला अभ्युदय फल है, वैसे ही उत्तरमीमांसामें अनुष्ठानकी अपेक्षा न रखनेवाला निःश्रेयस फल है, इस प्रकार फलभेद है । एवं पूर्वमीमांसामें पुरुषव्यापारके अधीन ज्ञानावस्थामें अविद्यमान धर्म जिज्ञास्य है और उत्तरमीमांसामें पुरुषव्यापारकी अपेक्षा न रखता हुआ ज्ञानावस्थामें भी विद्यमान ब्रह्म जिज्ञास्य है । इसलिए वेदार्थ होनेके कारण ऐक्य होनेपर भी जिज्ञास्यभेदका वारण नहीं किया जा सकता । और यह भी नहीं कह सकते कि प्रमाणके एक होनेपर प्रमेयका भेद मानना उचित नहीं है, कारण कि प्रमाणका

णैक्यासिद्धेः। नहि धर्मे ब्रह्मणि वा वेदो वेदाकारेणैव प्रमाणम्, किन्तु चोदनाकारेण धर्मं बोधयति वेदान्तवाक्यरूपेण च ब्रह्मस्वरूपम्। तत्र चोदनेति शब्दभावनां कुर्वाणः शब्दोऽभिधीयते। सा च चोदना अंशत्रयविशिष्टामर्थभावनां कुर्वती तदनवबोधे पुरुषप्रवृत्त्ययोगात् पुरुषप्रेरणार्थमेवाऽर्थभावनां प्रतिपादयति। वेदान्तवाक्यं पुनर्बोधयत्येव, न तु ब्रह्मणि तद्बोधे वा पुरुषं प्रेरयति, ब्रह्मणोऽकार्यस्याऽपुरुषतन्त्रत्वाद् बोधस्य च प्रमाणप्रमेयतन्त्रस्य पुरुषेच्छाप्रयत्नानधीनत्वात्। अनिच्छतोऽप्रयतमानस्यापि दुर्गन्धादिज्ञानदर्शनात्। तदेवं धर्मब्रह्मणोस्तत्प्रमाणयोश्चाऽत्यन्तविलक्षणत्वान्नाऽत्र जिज्ञास्यैक्यप्रयुक्तमपि क्रममथशब्दो वक्तुमर्हति। तस्मादानन्तर्याभिधानमुखेन पुष्कलकारणरूपस्य शास्त्रीयस्याऽधिकारिविशेषणस्य सूचनायैवाऽथशब्दः।

तच्चाऽधिकारिविशेषणं चतुर्धा शास्त्रे प्रसिद्धं नित्याऽनित्यवस्तुविवेक

एक होना सिद्ध ही नहीं है। धर्म और ब्रह्म दोनोंमें वेद वेदरूपसे ही प्रमाण नहीं है, चोदनाके आकारसे वेद धर्मका बोध कराता है और वेदान्तवाक्यरूपसे ब्रह्मस्वरूपका बोध कराता है। उसमें 'चोदना' शब्दसे भावनाको करनेवाला शब्द कहलाता है और वह चोदना अंशत्रयविशिष्ट अर्थभावनाको करती हुई उसका बोध न होनेमें पुरुषकी प्रवृत्तिका सम्बन्ध न होनेसे पुरुषकी प्रेरणाके ही लिए अर्थभावनाका प्रतिपादन करती है। और वेदान्तवाक्य तो बोध ही कराता है। ब्रह्म तथा उसके बोधमें पुरुषकी प्रेरणा नहीं करता, कारण कि ब्रह्म कार्यरूप न होनेसे पुरुषव्यापारके अधीन नहीं हैं, क्योंकि प्रमाण और प्रमेयके द्वारा उत्पन्न होनेवाला बोध पुरुषकी इच्छा तथा उसके प्रयत्नके अधीन नहीं है। इच्छा न रखने तथा प्रयत्न न करते हुए भी पुरुषको दुर्गन्धादिका ज्ञान होते देखा गया है। इस प्रकार धर्म तथा ब्रह्मका एवं उनके प्रमाणोंका परस्पर अत्यन्त भेद होनेसे प्रकृतमें एक जिज्ञास्य होनेके कारण प्राप्त हुए क्रमरूप अर्थको अथशब्द नहीं कह सकता। इससे आनन्तर्यरूप अर्थका अभिधान करता हुआ पुष्कल कारणरूप (साधनचतुष्टय) अधिकारीके शास्त्रीय विशेषणको सूचन करनेके लिए ही अथशब्दका प्रयोग किया गया है।

और वह अधिकारीका विशेषण शास्त्रमें चार प्रकारका प्रसिद्ध है १ नित्यानित्यवस्तुविवेक, २ ऐहिक या पारलौकिक विषय भोगोंसे विरक्ति,

इहाऽमुत्रार्थफलभोगविरागः, शमदमादिसाधनसंपद्, मुमुक्षुत्वं चेति । तत्र 'सोऽन्वेष्टव्यः' इति विधिप्रकरणे 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते' इत्यादिना नित्यानित्यवस्तुविवेको दर्शितः । श्रवणविधिप्रकरणे च 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' इतीहामुत्रार्थफलभोगविरागो दर्शितः । 'आत्मन्येवात्मानं पश्येत्' इति दर्शनविधिप्रकरणे 'शान्तो दान्तः' इत्यादिना शमादयो दर्शिताः । 'तद्विजिज्ञासस्व' इति विचारविधिप्रकरणे 'वरुणं पितरमुपससार' इति गुरूपसदनं दर्शितम् । न च मुमुक्षुत्वप्रापकप्रमाणाभावः, सर्वत्र हि फलश्रुतयः कामनोत्पादनद्वारेण मुमुक्षोरधिकारप्रदर्शनार्थाः; अन्यथा साधनानुष्ठानादेव फलसिद्धेस्तत्संकीर्तनवैफल्यात् । यद्यपि शमादयो ज्ञानविधिप्रकरणे पठितास्तथापि तेषां विचाराधिकारिविशेषणत्वमविरुद्धम् । ज्ञानस्य विधातुमशक्यतया तत्साधनस्य विचारस्यैव तत्र विधेयत्वात् । एवमपि प्रतिशाखं विचारविधेर्भिन्नत्वात्तत्र च तान्यधिकारिविशेषणान्यपि व्यवतिष्ठन्ते,

---

३ शम, दम आदि साधनोंकी सम्पत्ति और ४ मुमुक्षुता । उनमें से 'उस ब्रह्मका अन्वेषण करना चाहिए' इस विधिके प्रकरणमें पढ़े गये—'जैसे कर्मोंपार्जित स्वर्गादिलोक क्षीण हो जाते हैं'—इत्यादि वाक्य द्वारा नित्यानित्य वस्तुका विवेक दिखलाया गया है । और श्रवणविधिके पकरणमें—'आत्माकी कामनासे सब कुछ प्रिय लगता है' इस वाक्यसे ऐहिक और पारलौकिक विषयोंसे वैराग्य दिखलाया गया है, 'आत्मा ही में आत्माका दर्शन करे' (अर्थात् अनात्मामें आत्मदृष्टि न करें) इस दर्शनविधिके प्रकरणमें 'शमयुक्त तथा दमयुक्त हो' इत्यादि वाक्यसे शम, दम आदि दिखलाये गये हैं । 'उसका विचार करो' इस विचारविधिके प्रकरणमें 'अपने पिता वरुणके पास गया' इस वाक्यसे गुरुके समीपमें गमनरूप उपसदन दिखालाया गया है । मुमुक्षुताके प्रापक प्रमाणका अभाव भी नहीं है, कारण कि सर्वत्र कामनाके उत्पादन द्वारा फलश्रुतियां मुमुक्षुका अधिकार दिखलाती हैं । अन्यथा साधनके अनुष्ठानसे ही फलकी सिद्धि हो जायगी, फिर उसका सङ्कीर्तन करना व्यर्थ हो जायगा । यद्यपि ज्ञानविधि-प्रकरणमें शम आदि पढ़े गये हैं, तथापि उनको विचारके अधिकारीके विशेषण माननेमें कोई विरोध नहीं है, कारण कि ज्ञानका विधान करना सम्भव नहीं है, इसलिए उसका साधनभूत विचार ही उस ज्ञानविधिमें विधेय है, ऐसा मानना उचित है ।

शङ्का—इस प्रकार माननेपर भी प्रत्येक शाखामें विचार-विधियाँ भिन्न-

न तु समुचीयन्त इति चेद्, न; सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेन विचारविधेरेकत्वात्। नानाशाखासु श्रूयमाणस्य ज्योतिष्टोमादिकर्मणः शाखाभेदेन भेदावाप्तौ 'एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात्' इति सूत्रेण सिद्धान्तितम्। तत्र यथा फलसंयोगस्य द्रव्यदेवतालक्षणरूपस्य 'यजेत' इत्यादिचोदनाया ज्योतिष्टोमादिसंज्ञायाश्च सर्वत्राऽविशेषेण कर्मैक्यं तथा विचारोऽपि सर्वत्रैक एव। स चैको विचारविधिरधिकारमीक्षमाणः प्रकरणसामर्थ्यात् फलसङ्कीर्त्तनवैफल्यपरिहाराच्च वर्णितधर्मकलापमधिकारनिमित्तत्वेन स्वीकरोति। निरधिकारस्य विधेः प्रवृत्तिपर्यन्तत्वायोगात्। नन्वेषु वाक्येषु विचारपदाभावाद्विचारोऽभिधीयत इति कथमवगम्यते? उच्यते—'स विजिज्ञा-

---

भिन्न हैं, अतः उनमें वे सभी अधिकारीके विशेषण व्यवस्थित हैं, उनका समुच्चय नहीं है।

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि सर्वशाखाप्रत्ययन्यायसे विचारविधि एक ही है। अनेक शाखाओंमें पढ़े गये ज्योतिष्टोम आदि यज्ञोंका शाखाओंके भेदसे भेद प्राप्त होनेपर 'एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात्' (जै० सू० २ अ० ४ पा० १९) (संयोगरूप चोदनामें कोई विशेष न होनेसे) इस सूत्रसे एक होना ही सिद्धान्त किया गया है। उसमें जैसे द्रव्य-देवता-सम्बन्धस्वरूप फलसंयोगका 'यजेत' इत्यादि लिङर्थभूत चोदनासे और ज्योतिष्टोम आदि संज्ञामें सर्वत्र विशेष न होनेसे एक कर्म माना जाता है, वैसे ही विचार भी सब शाखाओंमें एक ही है। वह एक ही विचारविधि अधिकारकी अपेक्षा करती हुई प्रकरणकी सामर्थ्यसे और फलके वर्णनका वैफल्यपरिहार करनेसे वर्णित धर्मसमूहको अधिकारके निमित्तत्वरूपसे स्वीकार करती है। अधिकारशून्य विधानका प्रवृत्तिपर्यन्त सम्बन्ध नहीं हो सकता [अर्थात् निरधिकार विधि केवल पुस्तकोंमें लिखी ही रह जाती है, इससे अधिकारी न होनेसे कोई उसका अनुष्ठान करना अपना कर्तव्य ही नहीं समझता।]

शङ्का—उक्त वाक्योंमें विचार-पदके न होनेसे विचारका अभिधान होता है, यह कैसे समझा जा सकता है?

समाधान—सुनिये, कहते हैं—'स विजिज्ञासितव्यः', 'तद् विजिज्ञासस्व' अर्थात् उसकी जिज्ञासा करो इस अर्थवाले उक्त दोनों वाक्योंके अन्तर्गत

सितव्यः' 'तद्विजिज्ञासस्व' इत्यत्राऽन्तर्णीतो विचारो विधीयते, इष्यमाणज्ञानस्येच्छायाश्च विधेयत्वायोगात्। 'श्रोतव्यः' इत्यत्र स्वयमेव विचारो विहितः। 'पश्येत्' इत्यत्र तु पूर्वमेवोक्तम्। तस्मात् सर्वत्र मनननिदिध्यासनाभ्यामङ्गाभ्यां श्रवणं नामाऽङ्गि विधीयते इति सिद्धम्।

ननु सर्वत्र फलसाधनविधौ फलकामनैव पुष्कलाधिकारनिमित्तमित्यत्राऽपि मुमुक्षुत्वमेवाऽधिकारिविशेषणं शमदमादिकं त्वनुष्ठेयतया प्रयाजादिवत् फलोपकार्य्यङ्गं भविष्यतीति चेत्, सत्यम्; अङ्गस्याऽप्यधिकारिविशेषणत्वं

विचाररूप अर्थका ही विधान किया जाता है, कारण कि इच्छाके विषयभूत ज्ञान तथा इच्छा दोनों विधेय नहीं हो सकते। 'श्रोतव्यः' इस पदसे स्वयं विचारका विधान किया गया है और 'पश्येत्' इस पदमें तो पहले ही कह आये हैं। ['जिज्ञासितव्यः' या 'विजिज्ञासस्व' इन पदोंमें सन्-प्रकृतिभूत धातुका अर्थ ज्ञान है और सन्का अर्थ इच्छा है, 'तव्य' या 'लोट्' प्रत्यय विधिके बोधक हैं। यद्यपि समभिव्याहृत प्रकृतिके अर्थका भी विधान करना न्यायप्राप्त है, परन्तु दोनोंके विधानका सम्भव न होनेसे उसके उपायभूत विचारमें विधिका संक्रमण किया जाता है, इस प्रकार 'विजिज्ञासस्व' आदि पद विचारके अर्थतः वाचक हुए, परन्तु श्रवण तो विचाररूप अर्थमें रूढ़ है, अतः वह स्वतः वाचक पद होनेसे मुख्यतः विचाररूप अर्थको कहता है] इस उक्त निर्णयके बलसे मनन, निदिध्यासन रूप अङ्गोंके द्वारा श्रवण—विचार—रूप अङ्गीका विधान किया जाना सिद्ध होता है।

शङ्का—अन्यत्र सभी स्थलोंमें फलकामना ही पुष्कल—पर्याप्त—अधिकारकी निमित्त—उत्पादक—मानी जाती हैं एवं प्रकृतमें मुमुक्षुता ही अधिकारीकी विशेषण रहे और शम, दम आदि तो अनुष्ठानके विषय-योग्य होनेसे प्रयाजादि यागोंके सदृश फलके उपकारी अङ्ग होंगे, [पुष्कल कारण नहीं होंगे]।

समाधान—यह सच है[1] कि अङ्गको भी अधिकारीका विशेषण मानना विरुद्ध

---

१ 'पूर्वपक्षे दृढीभूते सत्यमित्युच्यते बुधैः' अर्थात् जहां पूर्वपक्ष कुछ युक्त-सा जंचता है वहां पर समाधान देनेके पूर्व अभियुक्त 'सत्य है' ऐसा कहते हैं, परन्तु इस सत्यपदका यथार्थत्व या अबाधित रूप अर्थ नहीं है'।

न विरुध्यते, शमादिगुणको भूत्वा पश्येदित्यादिलिङ्गात्। शास्त्रैकगम्यस्य युक्त्याऽपलापायोगात्। अङ्गभूताया अपि दीक्षाया उत्तरक्रत्वधिकारनिमित्ततादर्शनात्। यद्यपि मुमुक्षुत्वे सत्यन्यधर्माभावापराधेन प्रवृत्त्यभावो न दृष्टचरस्तथापि मुमुक्षुत्वस्वरूपोपाधित्वादन्येषामधिकारनिमित्तत्वमनिवार्यम्। नहि नित्यानित्यवस्तुविवेकाभावे सतीहाऽमुत्रार्थफलभोगविराग उपपद्यते। नाऽपि तस्मिन्नसति शमादियुक्तत्वेन मुमुक्षुत्वं संभवति। अतः पूर्वपूर्व उत्तरोत्तरस्य स्वरूपोपाधिः।

नन्वेवं सति न कस्याऽपि स्वरूपं सिध्येद्, मूलकारणस्य नित्यानित्यवस्तुविवेकस्याऽसंभवात्। नहि नित्यं नाम किंचिदस्ति यस्याऽ-

---

नहीं है; कारण कि इस अर्थके परिचायक 'शमादि गुणोंसे युक्त होता हुआ दर्शन—विचार—करे' इत्याद्यर्थक वाक्य मिलते हैं, अतः केवल शास्त्रसे ही प्रतीत होनेवाले अर्थका युक्तियोंसे खण्डन नहीं किया जा सकता। [जैसे आंखके सामने छोटी अंगुलीकी आड़ आनेसे ही चन्द्रमाके शास्त्रगम्य परिमाणका निषेध नहीं किया जा सकता]। दृष्टान्त द्वारा उक्तार्थका समर्थन करते हैं—अङ्गभूत दीक्षा भी उत्तर क्रतुओंमें अधिकारकी निमित्त देखी गई है। यद्यपि मुमुक्षुताके प्राप्त हो जानेपर दूसरे 'नित्याऽनित्य वस्तुके विवेक' आदि धर्मोंके न होनेके कारण 'ब्रह्मविचारमें' प्रवृत्ति—अनुष्ठान—का अभाव कभी नहीं देखा जाता तथापि मुमुक्षुत्वस्वरूप उपाधिके—विशेषण—होनेसे अर्थात् अन्य अधिकारि निमित्त आ ही जाते हैं, क्योंकि नित्याऽनित्य वस्तु-विवेकादि अन्य धर्मोंके अभावसे मुमुक्षुता ही नहीं हो सकती, अतः अन्य उक्त तीनों धर्मोंमें अधिकार-निमित्तत्व नहीं हटाया जा सकता। नित्याऽनित्यवस्तुविवेकके अभावके रहते इस लोक और परलोकके विषयोंके भोगसे विरक्ति नहीं हो सकती और उसके न होनेसे शम, दम आदिसे सम्पन्न होकर मोक्षकी इच्छारूप मुमुक्षुता भी नहीं हो सकती। इसलिए पूर्व पूर्व उत्तर उत्तरकी स्वरूपोत्पादकरूप उपाधि है। [अर्थात् नित्याऽनित्यवस्तुविवेकसे सर्वथा विषयविरक्ति और विषयविरक्तिसे शम, दमादि सम्पत्ति और शम, दमादि सम्पत्तिके अनन्तर मुमुक्षुता होती है, यह भाव है]।

शङ्का—अब तो किसीका भी स्वरूप नहीं बन सकेगा, कारण कि सबके मूलकारणभूत नित्याऽनित्यवस्तुविवेकका सम्भव नहीं है, क्योंकि नित्य

नित्याद्विवेकः स्यात् । न च सर्वानित्यत्वे मानाभावः, विमतं सर्वमनित्यम्, सत्त्वाद्, घटादिवत्, इति चेद्, मैवम्; कार्यजातस्योत्पत्तिविनाशाभ्यामेवोपादानस्यैकस्याऽनादेः कूटस्थस्याऽवधिभूतस्य नित्यत्वसिद्धेः। तथाहि न तावत् कार्यं निरुपादानमुपपद्यते, अनुभवविरोधात्। अत उपादानमङ्गीकार्यम्। उपादानत्वं च कार्यान्तरस्य न संभवति। तथा सति कार्यानुगतस्यैवोपादानत्वनियमात् पूर्वपूर्वकार्यानुवेधस्योत्तरोत्तरकार्येऽभ्युपगन्तव्यत्वाच्चरमे कार्येऽनन्तपूर्वकार्याणामनुगतिः प्रसज्येत। न चैवमुपलभ्यते, अतोऽनाद्येव तदुपादानम्। तस्य चैकस्यैव सर्वकार्योत्पादकत्वसंभवेऽनेकत्वकल्पने गौरवादेकत्वमभ्युपेयम्, कूटस्थत्वं चाऽविकारित्वाद्,

पदार्थ कोई है ही नहीं, जिसका अनित्यसे विवेक—पार्थक्यज्ञान—किया जाय और सबको ही अनित्य माननेमें प्रमाणका अभाव भी नहीं है, कारण कि 'विमत सब-कुछ (ब्रह्म आदि) अनित्य है, सत् होनेसे, घट, पट आदिके समान, यह अनुमान प्रमाण है। [घट, पट आदि सभी पदार्थ 'सन् घटः', 'सन् पटः' इत्यादि प्रतीतिके बलसे सत् हैं और विनाशी होनेसे अनित्य हैं, इस व्याप्तिसे सत्-पदार्थभूत ब्रह्म भी अनित्य होगा, यह भाव है।]

समाधान—ऐसा नहीं, कारण कि सम्पूर्ण कार्योंकी उत्पत्ति और विनाशसे ही कूटस्थ (अविकारी और अपरिणामी) तथा अवधिभूत एक उपादान कारणका नित्य होना सिद्ध होता है। [उपादान कारणकी नित्यता सिद्ध करते हैं]—उपादानरहित कार्यकी तो उत्पत्ति हो ही नहीं सकती, क्योंकि (कार्यको उपादान-रहित माननेमें) अनुभव विरोध आता है; इसलिए उपादानका अङ्गीकार अवश्य करना चाहिए। कार्यान्तर भी उपादान नहीं माना जा सकता 'अर्थात् एक कार्यका दूसरा कार्य उपादान नहीं हो सकता। यदि कार्यान्तर ही कारण माना जाय, तो कार्यानुगत—कार्यमें विद्यमान—को ही उपादान माननेका [जैसे घटमें मिट्टीकी अनुवृत्तिसे मिट्टी उसकी उपादान है] नियम होनेसे पूर्व-पूर्व कार्यका अनुवेध (अनुवृत्तिरूप सम्बन्ध) अग्रिम-अग्रिम कार्यमें मानना ही चाहिए, इस परम्परासे अन्तिम कार्यमें अनन्त पूर्व कार्योंकी अनुवृत्ति आनेका प्रसङ्ग हो जायगा। पर ऐसा अनुभवमें आता नहीं, इस हेतुसे अनादि ही वह उपादान है। अकेले एक उसमें ही सब कार्योंकी उपादानताका सम्भव होनेपर उसकी (उपादानकी) अनेकताकी कल्पना करनेमें गौरव होनेसे एकत्वकी ही

विकारित्वे च कार्यत्वप्रसङ्गात्। तच्च कूटस्थवस्तु विनश्यतो विकारजातस्याऽवधिः। अन्यथा निरवधिकविनाशे सत्युपादानासंभवाद्वर्त्तमानसृष्टिरेव न सिध्येत्। अतः कूटस्थं वस्तु नित्यमिति नित्यानित्यवस्तुविवेकसिद्धौ तत्कार्यो मुमुक्षुत्वान्तो धर्मकलापोऽपि सिध्यन्नाऽधिकारिणं ब्रह्मविचारे प्रवर्त्तयति। यस्तूक्तसाधनसम्पद्विरहेऽपि दैववशात् कुतूहलाद्वा बहुश्रुतत्वबुद्ध्या वा तत्र प्रवर्त्तते, स प्रवृत्तोऽप्यनन्तर्मुखचेता बहिरेवाऽभिनिविशमानो निर्विचिकित्सं ब्रह्मात्मत्वेनाऽवगन्तुं न शक्नोति। तस्माद्वर्णितवस्तुकलापानन्तर्यमथशब्दार्थः।

अत्र भास्करः प्रललाप, विचारकर्त्तव्यतां प्रतिपद्यमानस्य किल सूत्रकारस्य शमादयो न बुद्धिसमारूढाः। न चाऽबुद्धिसमारूढमर्थमधिकारिविशेषणतयोपादातुमर्हति; धर्मविचारस्तु बुद्ध्यारूढोऽधिकारिविशेषण-

---

कल्पना करना युक्तिसङ्गत है और विकारी न होनेसे ब्रह्म कूटस्थ माना जाता है विकारी होनेसे, तो वह भी कार्य ही हो जायगा। और वही कूटस्थ वस्तु विनाशित्वस्वभाववाले कार्यमात्रकी अवधि है, अन्यथा ध्रुव—केन्द्र—भूत वस्तु न माननेसे निरवधिक विनाशकी प्राप्ति होनेसे (अर्थात् सब-कुछ-का नाश हो जानेसे, उपादानका रहना भी सम्भव नहीं हो सकता, इससे (उपादानके न रहनेसे) वर्तमान सृष्टिका होना ही सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए कूटस्थ वस्तु नित्य है, इससे नित्य वस्तुका सम्भव होनेसे उसका कार्य (नित्यानित्यवस्तुविवेकसे उत्पन्न होनेवाला) मुमुक्षुतापर्यन्त धर्मसमूह (ऐहिक पारलौकिक विषयभोगविराग, शम, दमादिसम्पत्ति तथा मुमुक्षुता) सिद्ध होता हुआ अधिकारीको ब्रह्मविचारमें प्रवृत्त कराता है। जो कोई पुरुष उक्त साधनसम्पत्तिके विना भी दैववश अथवा उत्सुकतासे या बहुत शास्त्र जाननेकी बुद्धि होनेसे ब्रह्मविचारमें प्रवृत्त होता है, वह बहिर्मुखचित्तप्रवृत्तिवाला होनेसे बाहर ही बाहरका ज्ञान प्राप्त करता है और अन्तःप्रवेश न पाता हुआ ब्रह्मको निर्विचिकित्स—सन्देहशून्य—होकर आत्मरूपसे नहीं जान सकता। इसलिए पूर्वमें जिसका वर्णन किया गया है, ऐसे वस्तुसमूहका आनन्तर्य ही अथशब्दका अर्थ है।

इस विषयमें भास्करने प्रलाप किया है कि विचारका कर्तव्यरूपसे प्रतिपादन करनेवाले सूत्रकारकी बुद्धिमें शम, दम आदि नहीं आये थे और बुद्धिमें न आया हुआ अर्थ अधिकारीका विशेषण होनेकी योग्यता नहीं रख सकता। और

तयोपादीयत इति। नैतद्युक्तम्; शमादीनां विचारविधिप्रकरणपठिततया संनिहिततराणामबुद्ध्यारोहायोगात्। न च तेषामत्राऽनुपयोगः; विधिप्रयुक्ताधिकार्यनुबन्धान्तःपातित्वात्। दर्शितश्चाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां तेषां विचारोपयोगः। न च तथा धर्मविचारः संनिहिततरः। भिन्नप्रकरणोपात्तधर्मविषयत्वात्। नाऽप्यसावत्रोपयुज्यत इति पूर्वमेव समर्थितम्। तस्मादस्मदुक्त एवाऽथशब्दार्थ इति सिद्धम्।

अतःशब्दो हेत्वर्थः। नन्वथशब्द एवाऽऽनन्तर्याभिधानमुखेन हेतुतया पूर्ववृत्तमर्थं गमयतीत्युक्तं तेन पुनरुक्तिः। न च वाच्यं हेतुत्वं नाऽथशब्देनाऽभिधीयते किन्त्वर्थात् प्रतीयते। अत्र त्वतःशब्देनाऽभिधीयते तेन न पुन-

---

धर्मका विचार तो 'सूत्रकारकी' बुद्धिमें विद्यमान था उसको अधिकारीके विशेषणके रूपमें ले सकते हैं। परन्तु भास्करका उक्त प्रलाप युक्तिपूर्ण नहीं है, क्योंकि विचारविधिके प्रकरणमें पठित होनेसे अत्यन्त संनिहित शम आदि सूत्रकारकी बुद्धिमें नहीं हैं, ऐसा कहनेका अवसर नहीं आ सकता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उनका प्रकृतमें उपयोग नहीं है; कारण कि विधिके कारण प्राप्त हुए अधिकारीके अनुबन्धके अन्तःपाती ही शमादि हैं, 'शमादिके बिना अधिकारसम्पत्ति ही नहीं मिल सकती और अधिकारीके बिना विधि व्यर्थ होती है, इसलिए अधिकारीकी सम्पत्तिमें शम, दम आदि आ जाते हैं, और अन्वय-व्यतिरेक द्वारा शम, दम आदिका विचारमें उपयोग दिखा आये हैं। इस प्रकार (शमादिके तुल्य) धर्मविचार अत्यन्त सन्निहित है भी नहीं। कारण कि वह भिन्न-प्रकरणमें पठित धर्मको विषय करता है और धर्मका प्रकृतमें—ब्रह्मज्ञानमें—उपयोग नहीं है, इसका सर्थन कर आये हैं। इसलिए अथ-शब्दका हमारा अभिमत अर्थ मानना ही उचित है, यह सिद्ध हुआ।

अतःशब्द हेतुका वाची है,

शङ्का—'आनन्तर्य अर्थका अभिधान करनेसे अथशब्द ही कारणभूत पूर्ववर्त्ती पदार्थका बोध करा ही देता है' ऐसा कहा है, इससे पुनः अतः-शब्दके प्रयोगसे पुनरुक्ति दोष होगा। अथ शब्दसे हेतुस्वरूपका अभिधान नहीं होता, किन्तु अर्थात् प्रतीत होता है और सूत्रमें अतःशब्दके देनेसे हेतुका अभिधान होता है, इससे पुनरुक्ति नहीं है, यह भी नहीं कह सकते, कारण कि

रुक्तिरिति । अर्थात्प्रतीतस्याऽपि तात्पर्यविषयतयाऽथशब्दार्थत्वाद् 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति न्यायात् । न चाऽथशब्दस्याऽऽनन्तर्यमात्रे विधेये तात्पर्यं सम्भवति, वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । तस्मादार्थिकेऽपि हेतुत्वेऽथशब्दस्य तात्पर्ये सत्यथातःशब्दयोः पुनरुक्तिर्दुष्परिहरा । नैष दोषः; अथशब्देन साधनचतुष्टयस्य विचारहेतुत्वे परिगृहीते तस्याऽनिर्वाहाशङ्कायां तन्निराकरणेन हेतुत्वनिर्वाहायाऽतः शब्दोपादानात् । तथाहि-स्वर्गादीनां कृतकत्वपरिच्छिन्नत्वादिहेतुभिरनित्यत्वमनुमाय तस्माद-

अर्थात् प्रतीत होनेवाला अर्थ भी तात्पर्यका विषय माना जाता है, इससे (हेतुरूप अर्थ) अथशब्दका अर्थ ही हो गया, क्योंकि न्याय है कि 'जिस अर्थमें जिस शब्दका तात्पर्य होता है, उस शब्दका वही अर्थ माना जाता है। और केवल आनन्तर्यरूप अर्थके विधानमें अथशब्दका तात्पर्य मानना सम्भव भी नहीं, कारण कि ऐसा माननेसे अथशब्दका देना ही व्यर्थ हो जायगा। इसलिए अर्थात् प्रतीयमान भी हेतुरूप अर्थमें अथशब्दका तात्पर्य सिद्ध होनेसे 'अथ' और 'अतः' इन दोनों शब्दोंके प्रयोगसे प्राप्त हुई पुनरुक्ति नहीं हटाई जा सकती।

समाधान—उक्त (पुनरुक्त) दोष नहीं आ सकता, कारण कि अथशब्दसे साधनचतुष्टयमें विचारके प्रति कारणता प्रतीत हुई। अनन्तर शङ्का हो सकती है कि साधनचतुष्टयमें अथशब्द द्वारा प्रतीत हुई कारणताका निर्वाह नहीं हो सकता (अर्थात् साधनचतुष्टय विचारके कारण नहीं हो सकते) इस आशङ्काके निराकरण द्वारा कारणताका निर्वाह करनेके लिए अतःशब्दका ग्रहण किया गया है। (अतःशब्दके साधन प्रयोगचतुष्टयमें कारणताका निर्वाहप्रकार दिखलाते हैं)—स्वर्गादिमें कृतकत्व[1] और परिच्छिन्नत्व[2] रूप हेतुओंके द्वारा (कार्य और परिच्छिन्न होनेसे) अनित्यताका अनुमान करके उस स्वर्गादिरूप अनित्य पदार्थसे नित्य पदार्थका विवेक

१ जो उत्पाद्य अर्थात् क्रियाकलापसे साध्य है, वह कृतक-कार्य है। जैसे घट, पट आदि।

२ परिच्छेद—किसी भी वस्तुके साथ देश, काल या परिमाण, संख्या आदि विशेषण लगाकर उसके देश-काल आदि या इयत्ताका परिचय देना परिच्छेद कहाता है। और जिसका उक्त प्रकारोंमें से किसी भी प्रकारसे परिचय दिया जाता है वह परिच्छिन्न कहाता है। जैसे इस

नित्यान्नित्यं विवेक्तव्यम्। न चाऽयं विवेकः सुलभः, उक्तहेतूनां प्रध्वंस-परमाण्वादावनैकान्तिकत्वात्। नित्यत्वं च कर्मफलस्य श्रूयते—'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' इत्यादौ। अतः कथं पुरुषार्थात् कर्मफलात् विरज्याऽपुरुषार्थे ब्रह्मज्ञाने पुरुषाः प्रवर्त्तेरन्। यद्यपि ब्रह्मण्यानन्दोऽस्ति तथापि नाऽसौ जीवेनोपभोक्तुं शक्यः, स्वाश्रयसुखोपलब्धेरेवोपभोगत्वात्। न च ब्रह्मधर्मस्य सुखस्य जीवाश्रयतयोपलब्धिः संभवति, लोकेऽन्यसुख-स्याऽन्याश्रयत्वादर्शनात्।

अथ सुखापरोक्ष्यमात्रस्योपभोगत्वे व्यभिचाराभावात् स्वाश्रयविशेषणं व्यर्थमिति मन्यसे, एवमपि जीवब्रह्मणोर्भेदे ब्रह्मानन्दापरोक्ष्यमनुपपन्नम्, पुरुषा-

---

(पार्थक्यज्ञान) करना चाहिए। और यह विवेक सुलभ—सुगम—नहीं है। कारण कि उक्त हेतु (कार्यत्व और परिच्छिन्नत्व आदि) प्रध्वंस तथा परमाणु आदिमें व्यभिचरित हैं [न्यायपक्षमें प्रध्वंस कार्य होता हुआ भी नित्य है और परमाणु परिच्छिन्न होता हुआ भी नित्य है]। और कर्म द्वारा प्राप्त फलोंकी नित्यता भी 'चातुर्मास्य याग करनेवालेको अक्षय पुण्य होता है' इत्याद्यर्थक श्रुतिमें सुनी जाती है। इसलिए पुरुषार्थभूत स्वर्गादिस्वरूप कर्मोंके फलोंसे विरक्त होकर पुरुषार्थसे बहिष्कृत ब्रह्मज्ञानमें पुरुष कैसे प्रवृत्त हो सकेंगे? यद्यपि ब्रह्ममें आनन्द है, परन्तु जीव उसका (ब्रह्मानन्दका) भोग नहीं कर सकता, कारण कि अपनेमें सुखकी उपलब्धि होना ही उपभोगपदार्थ है। और ब्रह्ममें विद्यमान सुखरूप धर्मकी जीवाश्रित होकर उपलब्धि नहीं हो सकती है अर्थात् जीव ब्रह्मके सुखका अपनेमें अनुभव नहीं कर सकता है, कारण कि लोकमें दूसरेका सुख दूसरेमें नहीं देखा जाता।

यदि सुखके आपरोक्ष्य—साक्षात्कार—को ही उपभोग माननेमें व्यभिचार न होनेसे स्वाश्रय (अपनेमें) विशेषण देना व्यर्थ मानते हो, तो भी जीव और ब्रह्ममें भेद होनेसे ब्रह्मानन्दका साक्षात्कार नहीं हो सकता, कारण कि दूसरे पुरुषके सुखका साक्षात्कार दूसरेको होते नहीं

देशमें विद्यमान दस सेर वजनी एक घड़ा इत्यादि। (स्वर्गादि एकदेशविशेष माने जाते हैं, इसलिए उनमें देशपरिच्छेद है और 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' इस प्रकार अभियुक्त वचनोंके तथा 'तद्यथेह कर्मचितः' इत्यादि श्रुतिके बलसे पुण्यतारतम्यके अनुसार उनमें कालपरिमाणादिपरिच्छेद भी विद्यमान है और 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वचनोंसे वह कार्य भी है)।

न्तरानन्दस्याऽऽपरोक्ष्यादर्शनात् । जीवब्रह्मणोरभेदस्त्वनुभवविरुद्धः, अतो मोक्षान्निरानन्दाद्विरज्याऽल्पदुःखमिश्रितेऽपि विषयानन्दे पुरुषः प्रवर्त्तते, 'नह्यजीर्णभयादाहारपरित्यागः, किन्तु प्रतिविधातव्यम्' इति न्यायादित्यथशब्दपरिगृहीतोऽर्थो न निर्वहतीत्याशङ्क्येत; सेयमाशङ्का न कर्त्तव्या, यस्माद्वेद एव ब्रह्मव्यतिरिक्तपुरुषार्थजातस्याऽनित्यतां दर्शयति—'तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते' इत्यादिः । न चेयं सामान्यश्रुतिश्चातुर्मास्यादिविशेषश्रुतिविषयादन्यत्रैव व्यवतिष्ठतामिति वाच्यम् , तत्र तावच्चातुर्मास्यश्रुतिः सुकृतस्यैवाऽक्षयत्वं ब्रूते न तत्फलस्य । न च सुकृताक्षयकथनमुखेन तत्फलाक्षयत्वे वाक्यतात्पर्यमिति कल्पयितुं

देखा जाता । और भी जीव तथा ब्रह्मका अभेद तो अनुभवसे विरुद्ध है, इसलिए आनन्द—सुख—शून्य मोक्षसे विरक्त होकर पुरुष थोड़ेसे दुःखसे मिश्रित विषयानन्दमें भी प्रवृत्त होता है। [अल्प दुःखके सम्बन्धसे विषयानन्दसे भी विरक्ति हो जानेकी आशङ्काके निवारणके लिए लोकन्याय दिखलाते हैं—] 'अजीर्ण रोगके भयसे भोजन करना नहीं छोड़ा जाता, किन्तु रोगसे बचे रहनेके उपाय किये जाते हैं' इस न्यायसे अथशब्द द्वारा प्रतीत हुए (साधनचतुष्टयमें विचारहेतुतारूप) अर्थका निर्वाह (शङ्का रहित समर्थन) नहीं हो सकता, ऐसी आशङ्का हो सकती है, पर वह नहीं करनी चाहिए, क्योंकि भगवान् वेद ही ब्रह्मसे अतिरिक्त सकल पुरुषार्थकी अनित्यता दिखला रहे हैं—'जैसे इस लोकमें कर्मोंके द्वारा उपार्जित लोक (ग्रामादि धनसम्पत्ति) क्षीण हो जाते हैं वैसे ही परलोकमें पुण्योंके द्वारा प्राप्त किये स्वर्गादि लोक नष्ट हो जाते हैं, इत्यादि । ऐसी व्यवस्था भी नहीं की जा सकती कि उक्त (अनित्यताप्रदर्शक) सामान्य श्रुति चातुर्मास्यादिविषयक विशेष श्रुतिके विषयकी अपेक्षा दूसरे कर्मों द्वारा प्राप्त फलोंकी अनित्यता दिखलाती है (सामान्यतः कर्मफलमात्रकी नहीं), कारण कि वह चातुर्मास्यविषयक विशेष श्रुति सुकृत–पुण्य–को ही अक्षय—नित्य—कहती है, उसके फलको नहीं। सुकृत—पुण्य—के नित्य कथनके द्वारा उसके फलको नित्य कहनेमें तात्पर्य माननेकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, कारण कि इस कल्पनामें प्रमाणसे

शक्यम्, प्रमाणविरोधात्। परिच्छिन्नत्वादिहेतुभिः फलानित्यत्वानुमानात्। न च तेषामनैकान्तिकत्वम्, परमाण्वादावपि नित्यत्वासंप्रतिपत्तेः। न चाऽक्षये सुकृते सति तत्फलस्य क्षयानुपपत्तिः, अनुपभोगवदुपपत्तेः। सत्येव हि सुकृते क्वचित् फलं नोपभुज्यते, 'कदाचित् सुकृतं कर्म कूटस्थमिव तिष्ठति' इति स्मृतेः। तथा फलस्य क्षयोऽपि किं न स्यात्? नापि 'हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते' इत्यादिश्रुत्यन्तरेषु फलनित्यत्वं सुसंपादम्। अत्राऽप्यनुमानानुगृहीतया सामान्यश्रुत्या विरोधस्य तादवस्थ्यात्। तस्मान्नित्यानित्यवस्तुविवेकपूर्वमनित्येभ्यो ब्रह्मव्यतिरिक्तपुरुषार्थेभ्यो वैराग्यमुपपन्नम्।

न च ब्रह्मज्ञानं न पुरुषार्थः; आनन्दसाक्षात्कारत्वात्। जीवब्रह्मणोरभेदस्य प्रथमवर्णके प्रतिबिम्बदृष्टान्तेन साधितत्वात् संभवत्येव

विरोध आता है। [अनुमानरूप प्रमाणसे विरोध दिखलाते हैं—] परिच्छिन्नत्व आदि 'पूर्वोक्त' हेतुओंसे फलमात्रकी अनित्यताका अनुमान किया गया है। यह कहना भी नहीं बनता कि उन हेतुओंमें व्यभिचार आता है, कारण कि परमाणु आदिमें (न्यायमतसिद्ध) नित्यता सर्ववादिसम्मत नहीं है। सुकृत—पुण्य—के अक्षय रहते उसके फलका क्षय होना उपपत्तिशून्य भी नहीं है, कारण कि अनुपभोगके समान क्षय हो सकता है। [जैसे पुण्य रहते भी उसका उपभोग नहीं होता अर्थात् उपभोगका विनाश हो जाता है, वैसे ही सुकृत रहते भी उसके फलका विनाश होनेमें कोई अनुपपत्ति नहीं आ सकती। [सुकृत रहते भी उपभोगके विनाशका शास्त्र द्वारा समर्थन करते हैं]—स्मृति कहती है कि कर्म कूटस्थ—विकारशून्य नित्य—की भाँति (उदासीन) स्थित रहता है—अर्थात् उपभोगात्मक विकारको प्राप्त नहीं होता ऐसे (उपभोगाभावके तुल्य) फलका विनाश भी क्यों न हो जाय? 'हिरण्य—सुवर्ण—देनेवाले अमर (विनाशरहित फलको प्राप्त) हो जाते हैं' इत्यर्थक दूसरी श्रुतियोंमें फलके नित्यत्वका समर्थन करना भी सरल नहीं है, कारण कि इन श्रुतियोंमें भी अनुमान द्वारा अनुगृहीत सामान्यश्रुतिसे विरोध, ज्यों-का-त्यों बना है, इसलिए नित्याऽनित्य-वस्तु-विवेकपूर्वक ब्रह्मसे अतिरिक्त अनित्यभूत पुरुषार्थोंसे विरक्ति होना युक्तियुक्त है।

ब्रह्मज्ञानमें पुरुषार्थत्वका अभाव भी नहीं मान सकते, कारण कि ब्रह्मज्ञान आनन्दका साक्षात्काररूप है। प्रथम वर्णकमें जीव और ब्रह्मके अभेदका प्रतिबिम्ब-दृष्टान्तसे समर्थन कर चुके हैं, अतः उसका साक्षात्कार होना सम्भव ही

तत्साक्षात्कारः। न च नित्ये जीवस्वरूपभूते ब्रह्मानन्दे विवदितव्यम्, जीवे परप्रेमास्पदत्वस्य कदाचिदप्यनपायात्। सुखसाधनानां तदभिव्यक्तिमात्रोपक्षयात्। अन्यथा साधनानां सुखं प्रति जनकत्वमभिव्यञ्जकत्वं चेति गौरवात्। एवं च सकलविषयसुखानां ब्रह्मानन्दलेशतया परमानन्दरूपे ब्रह्मणि दुःखसागरात् संसारे उद्विग्नाः प्रवर्त्तन्ते। तदेवमुक्तशङ्कानिराकरणेनाऽथशब्दार्थनिर्वाहायाऽतःशब्द इत्यनवद्यम्।

ब्रह्मजिज्ञासेति पदेन 'ब्रह्मणो जिज्ञासा' इति षष्ठीसमासोऽवगन्तव्यो न तु धर्माय जिज्ञासा धर्मजिज्ञासेतिवच्चतुर्थीसमासः। तत्र ह्यन्तर्णीतविचारार्थप्राधान्यमाश्रित्य प्रयोजनविवक्षया धर्मायेति चतुर्थीसमास आश्रितः। नहि विचारस्य यत्प्रयोजनं तदेव कर्म, येन धर्मस्येति कर्मणि षष्ठी

है। [इससे पुरुषान्तरके सुखका साक्षात्कार पुरुषान्तर द्वारा न हो सकनेकी आशङ्काका खण्डन हो गया] और नित्य जीव-स्वरूपभूत ब्रह्मानन्दमें विवाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि जीवका परम प्रेमास्पदत्व कभी भी विनष्ट नहीं होता। सुखके उपायभूत ऐहिक या पारलौकिक विषय तो सुखकी अभिव्यक्तिमात्र करा देनेमें उपरत होते हैं। [अर्थात् साधनोंकी नित्यता या अनित्यता सुखकी नित्यता या अनित्यतासे सम्बन्ध नहीं रखती, उनका तो सुखकी अभिव्यक्तिमात्रसे उपक्षय होता है।] यदि सुखाभिव्यक्तिके अनन्तर साधनभूत विषय बने रहें, तो साधनोंका सुखके प्रति जनकत्व और अभिव्यञ्जकत्व दोनोंका प्रसङ्गरूप गौरव होगा। इस निर्णयके अनुसार सम्पूर्ण विषयसुख ब्रह्मानन्दके ही लेश हैं, अतः संसारमें दुःखरूपी समुद्रसे घबड़ाये हुए पुरुष परमानन्दरूप ब्रह्ममें प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार उक्त शङ्काका निराकरण करनेसे अथशब्दसे प्राप्त (साधनचतुष्टयकी विचारहेतुतारूप) अर्थका निर्वाह करनेके लिए अतःशब्द दिया गया है। इससे कोई दोष नहीं आता।

अब ब्रह्मजिज्ञासा इस समस्त पदका व्याख्यान करते हैं—'ब्रह्मजिज्ञासा' पदमें ब्रह्मकी जिज्ञासा, ऐसा षष्ठीसमास करना चाहिए। धर्मके लिए जिज्ञासा इस प्रकार धर्मजिज्ञासापदमें जैसा चतुर्थी समास है, वैसा यहां नहीं है। धर्मजिज्ञासापदमें तो अन्तर्भूत विचाररूप अर्थका प्राधान्य लेकर प्रयोजनकी विवक्षासे धर्मके लिए ऐसा चतुर्थी समासका आश्रयण किया गया है, कारण कि जो विचारका प्रयोजन है, वही कर्म नहीं हो सकता, जिससे 'धर्मका'

प्राप्नुयात्। अत्र तु शब्दोपात्तं ज्ञानेच्छाप्राधान्यमाश्रीयते, इच्छायाश्च यदेव कर्म तदेव प्रयोजनम्, तेन कर्मणि षष्ठी तादर्थ्ये चतुर्थी च प्राप्ता। तत्र स्वरूपसिद्धहेतुतया प्राधान्यात् कर्मणि षष्ठीमेवाऽऽश्रित्य समासो दर्शितः।

अत्र वृत्तिकाराः--ब्रह्मशब्देन जातिजीवकमलासनशब्दराशीनामभिधेयतामाशङ्क्येत्थं निराकुर्वन्ति। न खलु जात्यादीनामत्र कर्तव्यतया कर्तृतया वाऽन्वयः संभवति। न तावद् ब्राह्मणजातेः कर्मत्वम्, प्रत्यक्षसिद्धतया जिज्ञास्यत्वायोगात्। नाऽपि कर्तृत्वम्, जिज्ञासायास्त्रैवर्णिकाधिकारत्वात्। नाऽपि जीवो जिज्ञास्यः, अहंप्रत्ययसिद्धत्वात्। यद्यपि तस्य कर्तृत्वमस्ति तथापि तदुपादानं व्यर्थम्, अन्यस्य कर्तृत्वप्रसङ्गाभावात्। न च शब्दराशेर्वेदस्याऽचेतनस्य कर्तृत्वं संभवति, नाऽपि तस्य कर्मत्वम्, धर्मजिज्ञासौत्पत्तिकसूत्राभ्यां तस्याऽर्थवत्त्वप्रमाणत्वयोर्निरूपितत्वात्। हिरण्य-

---

इस प्रकार कर्ममें षष्ठी प्राप्त हो सके। और धर्मजिज्ञासापदमें तो शब्दसे कही गई ज्ञानकी इच्छाके प्राधान्यका आश्रयण किया जाता है। और इच्छाका जो कर्म है, वही विचारका प्रयोजन भी है, इसलिए कर्म होनेसे कर्ममें षष्ठी और प्रयोजन होनेसे तादर्थ्यमें चतुर्थी प्राप्त हुई। उनमें स्वरूपसिद्धिका कारण होनेसे प्राधनतया कर्ममें षष्ठीका ही आश्रयण करके समास दिखाया गया है।

इस सूत्रमें ब्रह्मपदसे ब्राह्मणजाति, जीव, कमलासन, चतुर्मुख, ब्रह्मा, या शब्दराशिस्वरूप वेदके बोधकी आशङ्का करके वृत्तिकारने समाधान किया है कि इस शास्त्रमें जाति आदिका कर्तव्य कर्म या कर्तृरूपसे अन्वय होना सम्भव नहीं है, कारण कि ब्राह्मणजातिका कर्म होना सम्भव नहीं, क्योंकि वह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है; इसलिए जिज्ञास्य (कर्म) नहीं हो सकती और न ब्राह्मणजातिका कर्ता होना ही सम्भव है, क्योंकि जिज्ञासामें तीनों वर्णोंका अधिकार है। जीव भी जिज्ञासाका कर्म नहीं है, क्योंकि जीव भी अहंप्रतीतिसे सिद्ध ही है। यद्यपि जीवमें कर्तृत्वका सम्भव है, तथापि उसका उपादान व्यर्थ है, कारण कि दूसरेके कर्तृत्वका प्रसङ्ग नहीं है। और शब्दसमूहात्मक वेद अचेतन होनेसे, कर्ता नहीं हो सकता है और उसके (वेदके) कर्मत्वका भी सम्भव नहीं है, कारण कि धर्मजिज्ञासा और औत्पत्तिक सूत्रोंसे वेदके अर्थवत्त्व और प्रमाणत्व-

गर्भस्याऽपि न जिज्ञास्यत्वं तत्पदादपि विरक्तस्य जिज्ञासोपदेशात्। न च तस्य कर्तृत्वम्, ज्ञानवैराग्ययोः सहसिद्धत्वादिति। सोऽयं वृत्तिकारप्रयासो व्यर्थः, 'जन्माद्यस्य यतः' इति वक्ष्यमाणलक्षणस्य ब्रह्मणो जात्यादिशङ्काया अनुदयात्।

नन्वेवमपि ब्रह्मण इति नेयं कर्मणि षष्ठी भवितुमर्हति, तथात्वे ब्रह्मस्वरूपमात्रस्य विचार्यत्वेन प्रतिज्ञासिद्धावप्यन्यस्य तदसिद्धेः। यदा तु सम्बन्धसामान्ये षष्ठी परिगृह्यते तदा ब्रह्मसंबन्धिनां स्वरूपप्रमाणयुक्तिसाधनफलानां सर्वेषां विचारप्रतिज्ञा सिध्यति।

अथ मतम्—कर्मणि षष्ठ्यां सत्यां जिज्ञासापेक्षितं जिज्ञास्यं निर्दिष्टं भवति नाऽन्यथा, न च तदन्तरेण जिज्ञासा सुनिरूपेति, तन्न; संबन्धसामान्य-

---

का निरूपण किया गया है। हिरण्यगर्भ भी जिज्ञास्य नहीं हो सकता, हिरण्यगर्भपदसे भी विरक्त हुए ब्रह्माके लिए जिज्ञासाका उपदेश है [अर्थात् हिरण्यगर्भको भी ब्रह्मविचार करनेका अधिकार है। ऐसी अवस्थामें वह स्वयं कैसे जिज्ञासाका कर्म होगा ?] उसका कर्ता होना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि ज्ञान और वैराग्य उसको हिरण्यगर्भपदप्राप्तिके साथ-साथ ही प्राप्त हो जाते हैं। [इसलिए 'ब्राह्मणजाति आदि ब्रह्मपदसे नहीं लिये जा सकते' इस वृत्तिकारके मतका खण्डन करते हैं—] इस प्रकारका वृत्तिकारका प्रयास व्यर्थ ही है, कारण कि 'जन्माद्यस्य यतः'—(जिससे इस प्रपञ्चजातका प्रादुर्भाव हुआ है) इस प्रकार वक्ष्यमाण लक्षणवाले ब्रह्मके जात्यादि होनेकी शङ्काका उदय ही नहीं हो सकता।

शङ्का—ऐसा माननेपर भी 'ब्रह्मणः' यह कर्ममें षष्ठी नहीं हो सकती, कारण कि कर्ममें षष्ठी माननेसे ब्रह्मस्वरूपमात्रके विचारविषय होनेकी प्रतिज्ञा तो सिद्ध हो भी सकती है, परन्तु दूसरेके विचारविषय होनेकी प्रतिज्ञाकी सिद्धि नहीं हो सकती। और जब कि सम्बन्धसामान्यमें षष्ठी मानते हैं, तब ब्रह्मके सम्बन्धी—स्वरूप, प्रमाण, युक्ति (कर्म), साधन (उपाय), फल (परमानन्द) सबके ही विचार करनेकी प्रतिज्ञा सिद्ध होती है।

यदि कहो कि कर्ममें षष्ठी माननेमें जिज्ञासासे अपेक्षित जिज्ञास्यका (कर्मका) निर्देश हो जाता है। अन्यथा (सम्बन्धसामान्यमें षष्ठी माननेसे) नहीं होता। कारण कि कर्मका निर्देश किये बिना जिज्ञासाका निरूपण नहीं किया जा सकता।

षष्ठीपक्षेऽपि ब्रह्मणः कर्मत्वलाभात्। नहि सामान्यं विशेषपर्यवसानमन्तरेण व्यवहारमालम्बते। तत्र कोऽसौ विशेष इति वीक्षायां सकर्मिकायां जिज्ञासाक्रियायां कर्मकारकस्याऽभ्यर्हिततया कर्मत्वं पर्यवस्यति। तस्मात्सर्वसंग्रहाय संबन्धसामान्ये षष्ठी ग्राह्या न कर्मणीति चेद्, नाऽयं दोषः; कर्मणि षष्ठ्या प्रधाने जिज्ञासाकर्मभूते ब्रह्मणि निर्दिष्टे तदपेक्षितानां प्रमाणादीनामर्थसिद्धतया पृथगवक्तव्यत्वात्। नहि राजा गच्छतीत्युक्ते तदपेक्षितपरिवारस्य गमनं पृथग्वक्तव्यं भवति। एवं चाऽस्मत्पक्षे मुखतः प्रधानविचारः प्रतिज्ञायतेऽर्थतोऽन्यः। त्वत्पक्षे तु वैपरीत्येन। ततोऽ-

तो यह भी उचित नहीं है, सम्बन्धसामान्यपक्षमें भी ब्रह्ममें (ब्रह्मस्वरूपमें) कर्मत्व हो सकता है, कारण कि विशेषमें तात्पर्यबोधन किये बिना सामान्यसे व्यवहार ही नहीं हो सकता। उसमें वह विशेष कौन है ? यह विचार करनेपर सकर्मक जिज्ञासाक्रियामें कर्मकारकके अभ्यर्हित होनेसे कर्मत्वमें तात्पर्य माना जाता है। [ब्रह्मणः इस पदमें सम्बन्धसामान्यार्थक षष्ठी माननेमें भी सकर्मक जिज्ञासापदको कर्मकी अपेक्षा होनेके कारण सम्बन्धसामान्यार्थक षष्ठीमें भी व्यवहार प्राप्त करनेके लिए सर्वप्रथम कर्मकारकरूप सम्बन्ध ही उपस्थित होगा। अभियुक्तोंका वचन है 'निर्विशेषं न सामान्यम्'।] इसलिए सबका ही संग्रह करनेके लिए सम्बन्धमें षष्ठी माननी चाहिए, कर्ममें नहीं।

समाधान—यह दोष (अन्यका असंग्रहरूप) नहीं आता, कर्ममें षष्ठी माननेसे जिज्ञासाके कर्मभूत प्रधान ब्रह्मका निर्देश हो जानेसे उससे अपेक्षित प्रमाणादिका निर्देश भी अर्थात् हो जायगा, अतः पृथक् कहनेकी आवश्यकता नहीं है। 'राजा जाता है' कहनेसे उसके अपेक्षित अङ्गरक्षक आदि परिवारका गमन पृथक् नहीं कहा जाता। इस प्रकार हमारे मतमें साक्षात् शब्द द्वारा प्रधानभूत ब्रह्मविचारकी प्रतिज्ञा की जाती है। और प्रमाणादि अन्यकी प्रतिज्ञा अर्थात् हो जाती है। तुम्हारे पक्षमें तो इसके विपरीत प्रकारसे होती है 'अर्थात् शब्द द्वारा सम्बन्धसामान्यका बोध करानेसे प्रमाणादि विचारकी प्रतिज्ञा शब्दतः सिद्ध हुई और [निर्विशेषं न सामान्यम्' न्याय द्वारा और सकर्मक धातु द्वारा अपेक्षित होनेसे कर्मभूतब्रह्मविचारकी प्रतिज्ञा अर्थात् सिद्ध होती है' इससे हमारा पक्ष ही उत्तम है। 'प्रधानका ही शब्दतः परामर्श करना उचित है।] और भी हेतु है (कर्ममें ही षष्ठी

समत्पक्ष एव श्रेयान्। किं च साधिकारस्य विचारविधेः प्रतिपादके 'तद्विजिज्ञासस्व' इति श्रुतिवाक्ये ब्रह्मणः कर्मकारकत्वनिर्देशात् सूत्रस्य च तदेकार्थतया सूत्रेऽपि ब्रह्मणः कर्मत्वमेव ग्राह्यम्, जिज्ञासापदेन ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासेत्यवयवार्थ उपादेयः। तथा चेच्छायाः फलविषयत्वान्निश्चलापरोक्षावगतिफलपर्यन्तता सूत्रिता भवति। न च वाच्यं ब्रह्मण्यवगतेऽनवगते वा न ज्ञानेच्छा प्रसज्यत इति, परोक्षत्वेनाऽप्रतिष्ठितापरोक्षत्वेन वाऽवगते निश्चलापरोक्षावगतये तदिच्छोपपत्तेः।

ननु ज्ञानं नाम प्रमाणफलं संवेदनमिति सुगतप्राभाकरवैशेषिकनैयायिकाः। संविज्जनकप्रमातृव्यापार इति वार्त्तिककारीयाः। आत्मचैतन्यमेवेति क्षपणकलौकायतिकाः। ज्ञायतेऽनेनेति करणव्युत्पत्त्या बुद्धिवृत्तिर्ज्ञानम्,

---

माननी चाहिए) कि अधिकारविशिष्ट विचारविधिके प्रतिपादक 'उसके विज्ञानकी इच्छा करनी चाहिए' इत्याद्यर्थक श्रुतिवाक्यमें ब्रह्मका कर्मकारकरूपसे निर्देश किया गया है, इसलिए 'ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्रका भी उक्त श्रुतिवाक्यके ही समान अर्थ होनेसे ब्रह्मको कर्मकारक ही मानना उचित है। और जिज्ञासापदसे 'जाननेकी इच्छा' ऐसा यौगिक अर्थ लेना चाहिए। इस प्रकार इच्छाके फलविषयिणी होनेसे स्थिर साक्षात्काररूप फलपर्यन्त इच्छाका सूत्रमें उपन्यास हो जाता है। ऐसी शङ्का करना भी ठीक नहीं है कि ब्रह्मके ज्ञात होनेपर या न होनेपर भी ब्रह्मज्ञानकी इच्छाका प्रसङ्ग नहीं आ सकता। (ज्ञात होनेपर इच्छा करना व्यर्थ होता है और अज्ञातकी इच्छा हो नहीं सकती) कारण कि 'ब्रह्म है' ऐसा शब्द द्वारा परोक्षज्ञान अथवा अस्थिर प्रत्यक्ष ज्ञान होनेपर भी स्थिर प्रत्यक्ष ज्ञान (साक्षात्कार) होनेके लिए ब्रह्मज्ञानकी उपपत्ति हो सकती है।

शङ्का—सुगत—बौद्धोंके एकदेशी—, प्रभाकरमतानुयायी मीमांसक, वैशेषिक—कणादमत माननेवाले--तथा गौतमानुयायी नैयायिक प्रमाणके—इन्द्रियादिके फलभूत संवेदनको—ज्ञान कहते हैं। और वार्तिककारका मत है कि संवित्—ज्ञान—जनक प्रमाताका व्यापार ज्ञान कहलाता है। आत्मचैतन्य ही ज्ञान है ऐसा क्षणिक—विज्ञानवादी बौद्ध और चार्वाक आदि कहते हैं। 'जिसके द्वारा जाना जाय' इस करणव्युत्पत्तिसे ज्ञानपद बुद्धिकी वृत्तिको कहता है तथा

भावव्युत्पत्त्या तु संवेदनमेवेति सांख्यवेदान्तिनः। तत्र कीदृशं ज्ञानमिष्यत इति चेद्, उच्यते—

न तावत्सुगतादिचतुष्टयस्य लोकायतस्य च पक्ष उपपन्नः, तैर्जन्यस्याऽपि फलभूतसंवेदनस्य कर्तृव्यापारपूर्वकत्वानभ्युपगमात्; विमतं कर्तृव्यापारपूर्वकम्, फलत्वाद्, ग्रामप्राप्तिवदित्यनुमानविरोधात्। एतेन क्षपणकपक्षोऽप्यपास्तः। यद्यपि तत्पक्षे संवेदनं स्वरूपेणाऽजन्यं तथापि विषयावभासित्वोपाधिना तज्जन्माभ्युपेयम्। अन्यथा सर्वदा सर्वविषयावभासप्रसङ्गात्। ननु सर्वगतस्य निरवयवस्याऽऽत्मनो न परिस्पन्दपरिणामौ व्यापारौ युक्तौ। सत्यम्, अत एव वार्तिककारीयं मतमुपेक्षणीयम्। अस्मन्मते त्वध्यासपरिनिष्पन्नान्तःकरणसम्पिण्डितस्याऽऽत्मनो ज्ञानाकारपरिणामो

जाना जाना' इस भावव्युत्पत्तिसे तो संवेदन ही ज्ञान है, ऐसा सांख्य तथा वेदान्तका मत है, इनमें से कैसा ज्ञान इष्ट है?

समाधान—उक्त विप्रतिपत्तियोंमें प्रथम सुगत आदि चारोंका तथा लौकायतिकका—नास्तिकका—मत युक्तिसङ्गत नहीं है, कारण कि उन वादियोंने उत्पन्न होनेवाले फलभूत (जन्य) ज्ञानको भी कर्तृव्यापार-पूर्वक नहीं माना है; इससे 'विमत याने जन्य कर्ताके व्यापारपूर्वक होता है, फलस्वरूप होनेसे, ग्रामकी प्राप्तिके तुल्य' इस अनुमानसे विरोध होगा। [जैसे किसी गांवमें पहुँचनेके पूर्व जानेवालेका व्यापार अवश्य रहता है, वैसे जन्य घट, पट आदिके ज्ञानमें भी प्रमाताका व्यापार ज्ञान होनेसे पूर्वतक अवश्य रहता है]। इस अनुमानविरोधसे विज्ञानवादीके मतका भी खण्डन हो गया। यद्यपि उसके मतमें ज्ञान स्वरूपतः जन्य नहीं है, तथापि विषयावभासकत्वरूप उपाधिसे तो उसका जन्म मानना ही होगा, [घट, पट आदि विषयका बोध कराना तो उसका जन्मरूप ही है, उस घट, पट आदि आकारवाले जन्य ज्ञानमें विरोध स्पष्ट ही है]। यदि इसको भी जन्य न मानें, तो सदा ही सम्पूर्ण विषयोंके ज्ञानका प्रसङ्ग आ जायगा।

शङ्का—सर्वत्र व्याप्त और अवयवशून्य आत्मामें परिस्पन्द (क्रिया) और परिणाम होना युक्तिविरुद्ध है।

समाधान—ठीक है, इसी कारण तो वार्तिककारका मत उपेक्षणीय है। हमारे मतमें तो अध्यास द्वारा सिद्ध हुए अन्तःकरणके

युज्यते। न च तादृगात्मनः संवेदनाकारेणैव परिणामोऽस्त्विति वाच्यम्, संवेदनस्य स्वरूपतो नित्यसिद्धत्वात्। न चैवं संवेदनस्याऽजन्यस्य फलत्वासंभवः, विषयोपाधिकस्य तस्य जन्माङ्गीकारात्। यद्यप्यन्तःकरणपरिणामाः सर्वेऽपि साक्षिवेद्यत्वादपरोक्षास्तथापि विषयेण सहाऽपरोक्षहेतुरन्तःकरणपरिणामोऽपरोक्षज्ञानमितरत्परोक्षमिति तद्विवेकः। तत्रैतादृशमन्तःकरणपरिणामरूपमपरोक्षज्ञानं सूत्रेऽस्मिन्निष्यमाणतया निर्दिष्टम्।

नन्वेतत्प्रथमसूत्रं यदि शास्त्रेऽन्तर्भूतं तदानीमस्य स्वेनैवाऽऽरम्भसिद्धावात्माश्रयतापत्तिः। अन्येन चेदनवस्था। अथाऽनन्तर्भूतं तह्यस्याऽनारम्भप्रसङ्ग इति चेद्, नैष दोषः; स्वाध्यायाध्ययनादापातप्रतिपन्नः श्रवणविधिरेव स्वापेक्षितानुबन्धत्रयविचाराय प्रथमसूत्रमारम्भयति। तथा च वक्ष्य-

---

सम्पर्कको पाकर आत्माका ज्ञानरूपसे परिणाम होना युक्ति-सङ्गत है। यदि कहो कि वैसे ही अन्तःकरणके सम्पर्कको प्राप्त हुए आत्माका संवेदनके रूपमें ही परिणाम मान लिया जाय, तो ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि संवेदन स्वरूपतः नित्यसिद्ध है। यदि कहो कि उत्पन्न न होनेवाला 'स्वतः सिद्ध' संवेदन फल नहीं हो सकता है, तो ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण कि विषयरूप उपाधिसे युक्त संवेदनका जन्म माना गया है। यद्यपि सम्पूर्ण अन्तःकरणके परिणाम साक्षिवेद्य होनेसे प्रत्यक्ष ही हैं; तथापि विषयके साथ साक्षात्कारका कारणभूत अन्तःकरणपरिणाम ही प्रत्यक्ष कहलाता है और उससे भिन्न परोक्ष कहलाते हैं, इस प्रकार परोक्ष और अपरोक्षका विवेकग्रह होता है। इनमें उक्त प्रकारका (ब्रह्मरूप विषयके साथ साक्षात्कारका जनक) अन्तःकरणपरिणामरूप अपरोक्ष ज्ञान (साक्षात्कारात्मक अनुभव) इस सूत्रमें अभीष्ट माना गया है।

शङ्का—यदि यह प्रथम सूत्र शास्त्रके अन्तर्गत माना जाय, तो उसका अपने ही द्वारा आरम्भ माननेमें आत्माश्रय दोषकी आपत्ति होती है। और यदि दूसरेसे आरम्भ मानें, तो अनवस्था होती है। यदि शास्त्रके अन्तर्गत न माना जाय, तो इस सूत्रका आरम्भ करनेका प्रसङ्ग ही नहीं आ सकता है।

समाधान—यह दोष नहीं आता, कारण कि स्वाध्यायके अध्ययनसे आपततः ज्ञात हुई श्रवणविधि ही अपने लिए अपेक्षित (विषय, सम्बन्ध,

माणकृत्स्नशास्त्रप्रयोजकविधिनैव प्रयोज्यत्वादस्य शास्त्रान्तर्भावः । अपौरुषेयविधिप्रयुक्तत्वान्नाऽनवस्था । श्रवणविधिर्यदि स्वनिर्णयाय प्रथमसूत्रमेवारम्भयेत् तर्ह्युत्तरसूत्रसन्दर्भस्याऽऽरम्भकं किं स्यादिति न शङ्कनीयम्, प्रथमसूत्रनिर्णीतेन तेनैव विधिना तदारम्भोपपत्तेः । अत एव तद्विधिनिर्णयस्य सूत्रस्य शास्त्रादित्वं समन्वयाद्यध्यायसङ्गतिश्चाऽस्य सुलभा, श्रोतव्यादिवाक्यानां स्वार्थे समन्वयद्वारेण विचार्यमाणवेदान्तवाक्यानामपि ब्रह्मणि समन्वयनिमित्तत्वात् । अत्र च सूत्रेऽनुवादपरिहाराय कर्तव्यपदमध्याहृत्येष्यमाणज्ञानस्य फलभूतस्य स्वत एव सम्पाद्यतयाऽवगतस्य विधेयत्वायोगात् । तदुपायमन्तर्णीतविचारमुपलक्ष्य ब्रह्मज्ञानं प्रत्यदृष्टस्याऽपि साधनत्वाद्विधिमुपपाद्येष्टसाधनताविधिपक्षं स्वीकृत्य मुमुक्षुणा ब्रह्मानुभवाय विचारः कर्त्तव्य इति श्रौतो वाक्यार्थः

प्रयोजन या फल रूप) तीन अनुबन्धोंके विचारके लिए प्रथम सूत्रका आरम्भ कराती है, इससे आगे वर्णित सम्पूर्ण शास्त्रकी प्रयोजक श्रवणविधिसे ही इसकी प्रयुक्ति होती है, अतः यह शास्त्रके अन्तर्गत आ जाता है। और अपौरुषेय विधिसे प्रयुक्त होनेके कारण अनवस्था दोष भी नहीं आ सकता। श्रवणविधान अपना निर्णय करानेके लिए यदि प्रथम सूत्रके प्रारम्भकी ही प्रयुक्ति करा सके, तो उत्तर सूत्रके सन्दर्भका आरम्भ करानेवाला कौन होगा? ऐसी शङ्का भी नहीं करनी चाहिए, कारण कि प्रथम सूत्रसे निर्णीत श्रवणविधिसे ही उसका आरम्भ हो सकेगा। अतएव उस विधिके निर्णायक सूत्रमें वेदान्तशास्त्रकी आदिता और समन्वयादि अध्यायोंकी सङ्गति भी सुलभ है; कारण कि यह सूत्र 'श्रोतव्यः' इत्यादि वाक्योंके स्वार्थमें (विचारविधिमें) समन्वय-सङ्गतिके द्वारा विचारके विषय वेदान्तवाक्योंका भी ब्रह्ममें समन्वय करनेमें निमित्त होता है। और इस प्रथम सूत्रमें अनुवाद दोषका परिहार करनेके लिए कर्तव्यपदका अध्याहार कर फलस्वरूप अपने-आप सम्पादनयोग्यस्वरूपसे अवगत इष्यमाण ज्ञान विधेय नहीं हो सकता, उस ज्ञानके उपायभूत अन्तर्भावित विचारको उपलक्ष्य कर ब्रह्मज्ञानके प्रति अदृष्टके भी कारण होनेसे विधिका उपपादन कर इष्टसाधनतारूप विधिपक्षको स्वीकार करते हुए मुमुक्षु अधिकारीका ब्रह्मसाक्षात्कारके लिए (वेदान्तवाक्योंका) विचार करना चाहिए, इस प्रकार 'श्रोतव्यः'

कथनीयः। कथिते च तस्मिन् संबन्धविषयप्रयोजनान्यर्थादवगम्यन्त इति स्थितम् ॥

इति विवरणप्रमेयसंग्रहे प्रथमसूत्रे तृतीयवर्णकं समाप्तम् ॥



इत्यादि श्रुतिवाक्यका अर्थ करना चाहिए। इस अर्थका प्रतिपादन करनेके अनन्तर सम्बन्ध, विषय और प्रयोजन अर्थात् जाने जाते हैं, ऐसा सिद्धान्त है।

इति श्री पं० ललिताप्रसाद-डबराल-विरचित विवरणोपन्यास-भाषानुवादका तृतीय वर्णक समाप्त।



अथ चतुर्थं वर्णकम्

तृतीयवर्णके सूत्रपदवाक्यार्थ ईरितः ।
अधिकार्यथशब्देन तत्र साक्षात्प्रसाधितः ॥१॥
सूत्रितं त्रितयं त्वेतत्संबन्धो विषयः फलम् ।
चतुर्थे वर्णके सर्वं तदाक्षिप्य निरूप्यते ॥२॥
प्रथमे वर्णकेऽध्यासमाश्रित्यैतत्प्रसाधितम् ।
अस्मिंस्तु वर्णके साक्षात्तदेवाक्षिप्य साध्यते ॥३॥

ननु ब्रह्मस्वरूपं यदि मानान्तरेण प्रतिपन्नं तदा नाऽस्य शास्त्रस्य

चतुर्थ वर्णक

तृतीय वर्णकमें सूत्रस्थ पदोंका तथा वाक्यका अर्थ कहा गया है। (पद तथा वाक्यार्थका अगले उत्तरार्द्ध तथा दूसरे श्लोकके पूर्वार्द्धसे संकलन करते हैं—) अथशब्द द्वारा अधिकारीकी साक्षात् सिद्धि की गई है ॥ १ ॥

विषय, फल तथा सम्बन्ध—ये तीन अनुबन्ध सम्पूर्ण सूत्रसे कहे गये हैं। [साधनचतुष्टयके आनन्तर्यको कहनेवाले अथशब्दका तात्पर्यार्थ प्रसिद्ध है कि साधनचतुष्टयसम्पन्न ही ब्रह्मविचारका अधिकारी है, और जिज्ञासामें सन्-प्रकृत्यर्थ ज्ञान ही फल है, उसका प्रधान कर्मकारक ब्रह्म विषय है, विषय और फलका सम्बन्ध 'श्रोतव्यः' इत्यादि विधिसे सिद्ध ही है—इस प्रकार 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रने तीनोंको अपनेमें गूँथ लिया।]

चतुर्थवर्णककी आवश्यकता दिखलाते हैं—अब चतुर्थवर्णकमें ऊपर कहे अनुबन्धोंका आक्षेप द्वारा निरूपण किया जाता है ॥ २ ॥

प्रथम वर्णकमें निरूपण कर आनेके कारण पुनरुक्ति दोषको हटाते हैं—प्रथम वर्णकमें तो अध्यासका आश्रयण करके इनकी सिद्धि की गई है और अब—इस चौथे वर्णकमें—अनुबन्धोंकी ही स्वतन्त्ररूपसे आक्षेप द्वारा सिद्धि की जाती है ॥ ३ ॥

शङ्का—यदि अन्य प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे ब्रह्मस्वरूप अवगत है तो वह इस

विषयो भवितुमर्हति, अनधिगतार्थत्वाभावात् । नापि तदवगमोऽस्य प्रयोजनम् , एतच्छास्त्रात्प्रागेव सिद्धत्वात् । अथाऽप्रतिपन्नं तदाऽत्यन्तमबुद्ध्यारूढेनाऽर्थेन कथमिदं शास्त्रं संबध्येत । यद्यपि प्रत्यक्षादिकमत्यन्तादृष्टचरेणाऽप्यर्थेन संबध्यमानं दृष्टं तथापि विचारात्मकस्य शास्त्रस्य न तत्संभवति । सर्वत्राऽऽपाततः प्रतिपन्नस्यैव विचारसंबन्धदर्शनादिति चेद् , एवं तर्हि ब्रह्मणोऽप्यध्ययनादापातप्रतिपन्नस्याऽनिर्णीतस्य विषयस्य विचारशास्त्रसंबन्धे सति तदवगमः फलमिति न कोऽपि दोषः ।

ननु विषयप्रयोजनसंबन्धा नाऽत्र प्रतिपादनीया वक्ष्यमाणसमन्वयाध्यायादिभिरेव तत्सिद्धेः । न च तदप्रतिपादने श्रोतॄणामप्रवृत्तिः, शास्त्रप्रणेतृगौरवादेव विषयादिसद्भावनिश्चयेन प्रवृत्तिसंभवात् । मैवम् , सामान्यतो

शास्त्रका विषय नहीं हो सकता है, क्योंकि वह अज्ञानविषय नहीं है, अज्ञात—अपूर्व—ही विषय हो सकता है । और उसका परिज्ञान भी इस शास्त्रका प्रयोजन नहीं हो सकता, क्योंकि उसका तो इस शास्त्रके पहले ही ज्ञान हो चुका है । यदि किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है, तो कभी भी बुद्धिमें न आये हुए अर्थसे इस शास्त्रका सम्बन्ध कैसे होगा ? यद्यपि प्रत्यक्ष आदि ज्ञान पहले कभी भी बुद्धिमें न आये हुए अर्थसे भी सम्बन्ध करते देखे गये हैं, तथापि विचारस्वरूप शास्त्रमें तो ऐसा सम्भव नहीं हो सकता । अन्य स्थलोंमें सर्वत्र आपाततः (किसी न किसी प्रकार) ज्ञात (बुद्धिमें आरूढ़) पदार्थका ही विचार—निर्णय—से सम्बन्ध होते देखा गया है ।

समाधान—ऐसा मानो, तो अध्ययन द्वारा आपाततः (शाब्दिक) ज्ञात अनिर्णीत ब्रह्मरूप विषयका भी विचारशास्त्रसे सम्बन्धका सम्भव होनेपर उस (ब्रह्मका) ज्ञान—साक्षात्कार—फल हो सकता है, इसमें कोई दोष नहीं आता ।

शङ्का—विषय, प्रयोजन और सम्बन्धका इस सूत्रमें प्रतिपादन नहीं करना चाहिए, कारण कि समन्वयादि अध्यायों द्वारा ही इनका प्रतिपादन सिद्ध हो जाता है । इन तीनोंका प्रतिपादन किये बिना श्रोताओंकी प्रवृत्तिका अभाव भी नहीं कह सकते, कारण कि शास्त्रको बनानेवालेके गौरवसे (आदरसे) ही विषयादिका निश्चय कर प्रवृत्ति हो सकती है ।

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि सामान्यतः विषयादिके सद्भावका

विषयादिसत्त्वनिश्चयेऽपि स्वाभिप्रेतप्रयोजनविशेषानवगमे प्रवृत्त्ययोगात्।

ननु तर्हि प्रवृत्त्यङ्गतया प्रयोजनविशेष एव वक्तव्यो न विषयसंबन्धौ। अथ विषयोऽपि प्रयोजनसाधनतया प्रवृत्त्यङ्गं तथापि प्रयोजनावगमादेव सोऽवगम्यते, तत्संबन्धिन एव विषयत्वनियमात्। लोके द्वैधीभावाख्यप्रयोजनसमवायिन एव काष्ठस्य च्छिदिक्रियाविषयत्वात्। विषयविषयिप्रतीतौ तत्संबन्धोऽपि प्रतीयत एवेति न सोऽपि पृथग्वक्तव्य इति चेत्, मैवम्; तत्र किं प्रयोजनविषयसंबन्धानां स्वरूपतोऽत्यन्तभेदाभावात् पृथग्वक्तव्यत्वाभावः, किं वाऽन्यतराभिधानेनेतरयोरर्थसिद्धत्वाद्, उत प्रत्येकमेव स्वातन्त्र्येण प्रवृत्तिसमर्थतया संभूय प्रवृत्त्यङ्गत्वाभावात्? नाऽऽद्यः, पुरुषार्थरूपं प्रयोजनम्, अनन्यथासिद्धो विषयः, एतत्प्रतिपाद्यत्वं

निश्चय होनेपर भी अपने अभीष्ट प्रयोजनविशेषकी प्रतीति न होनेसे प्रवृत्तिका होना संभव नहीं है।

शङ्का—तब तो प्रवृत्तिका उपकारी होनेसे प्रयोजनविशेषका ही कथन उचित है, विषय और सम्बन्ध नहीं कहने चाहिए। यद्यपि विषय भी प्रयोजनका साधक होनेसे प्रवृत्तिमें उपकारक है, तथापि प्रयोजनके ज्ञात हो जानेसे ही विषयकी प्रतीति हो जाती है, कारण कि प्रयोजनसे सम्बद्ध ही विषय होता है, ऐसा नियम है। लोकमें द्वैधीभाव—दो टुकड़ा होना—रूप प्रयोजनका सम्बन्धी काष्ठ ही छेदन-क्रियाका विषय है। विषय और विषयी—प्रयोजन—की प्रतीति होनेसे उनका सम्बन्ध भी प्रतीत हो ही जाता है; इसलिए उसके भी पृथक् अभिधानकी आवश्यकता नहीं है।

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि हम विकल्प करेंगे कि क्या विषय, प्रयोजन और सम्बन्ध—इनमें स्वरूपतः अत्यन्त भेदका अभाव है, अतः इनको पृथक् नहीं कहना चाहिए? या इनमें एकका भी अभिधान हो जानेसे दूसरेकी अर्थात् सिद्धि हो जाती है, अथवा प्रत्येक ही स्वतन्त्ररूपसे [दूसरेकी अपेक्षा न रखकर] प्रवृत्त करानेमें समर्थ हैं, अतः मिलकर सब प्रवृत्तिके अङ्ग नहीं हैं, इसलिए [पृथक्-पृथक् सबका कहना आवश्यक नहीं हैं] प्रथम विकल्प नहीं बन सकता, कारण कि पुरुषार्थरूप तो प्रयोजन—फल—माना गया है, दूसरेसे सिद्ध (निर्णीत) न होनेवाला विषय

संबन्धः इत्येवमेषां भिन्नत्वात्। तत्र विषयत्वमन्ययोगव्यावृत्तिरूपमयोगव्यावृत्तिरूपश्च संबन्ध इति तयोर्विवेकः। न द्वितीयः, सत्यप्येकस्मिन्नितराभावदर्शनेनाऽर्थसिद्ध्ययोगात्। दृश्यते हि काकदन्तानां ग्रन्थान्तरेणाऽसिद्धतया विषयत्वे प्रतिपादयितुं शक्यतया संबन्धे च सत्यपि तद्विचारणायां प्रयोजनाभावः। तथा परिपक्वकदलीफलत्वगुत्पाटनादिषु कुठारदात्रादिना साधयितुं शक्यतया संबन्धे पुरुषैरपेक्ष्यतया प्रयोजने सत्यपि न कुठारादिव्यापारविषयत्वमस्ति, अङ्गुल्यादिभिरेव तदुत्पाटनसिद्धेः। एवं मेर्वादेरन्यैरनानीततया विषयभूतस्य सप्रयोजनस्याऽप्यस्मदादिकर्तृकानयनव्यापारेण न संबन्धं पश्यामः, अयोग्यत्वात्। तदेवं परस्परव्यभि-

---

है तथा इससे प्रतिपादित होनेवाला सम्बन्ध कहलाता है; इस प्रकार इन तीनोंमें परस्पर भेद विद्यमान है। इनमें विषय तो अन्ययोगकी व्यावृत्तिरूप है अर्थात् इस शास्त्रके विषयसे दूसरेका सम्बन्ध नहीं है और सम्बन्ध अयोगकी व्यावृत्तिरूप है अर्थात् फलसे विषयका सम्बन्ध अवश्य है, उसका अभाव नहीं, ऐसा सम्बन्ध और विषयका विवेक-भेद ग्रह है। दूसरा कल्प नहीं माना जा सकता, कारण कि एकके रहते हुए भी दूसरेका अभाव देखा जाता है, इसलिए दूसरेकी अर्थ द्वारा सिद्धि नहीं हो सकती। प्रयोजनाभावमें दृष्टान्त देते हैं—कौएके दाँत किसी दूसरे ग्रन्थसे सिद्ध नहीं हैं, इसलिए (अनन्यथासिद्धरूप) विषयत्वका प्रतिपादन किया जा सकता, अतः सम्बन्ध होना भी सम्भव है, परन्तु उस काकदन्तरूप विषयका विचार करनेसे प्रयोजन कुछ नहीं निकलता। [विषयाभावका दृष्टान्त दिखलाते हैं]—एवं पकी हुई केलेकी फलियोंका छिलका उतारनेमें कुठार, हँसुआ आदि साधनोंका सम्बन्ध हो सकता है और उससे पुरुषोंका प्रयोजन भी निकलता फिर भी वे कुठार आदिके व्यापारके विषय नहीं होते; कारण कि अङ्गुली आदिसे ही छिलकेका उच्चटन हो सकता है। [सम्बन्धाभावका दृष्टान्त दिखलाते हैं—] वैसे ही दूसरोंके द्वारा लाने लायक न होनेसे विषयभूत और (सुवर्णमय होनेसे) प्रयोजनविशिष्ट भी सुमेरु पर्वतके हमारे ऐसे मनुष्यों द्वारा किये गये व्यापारसे सम्बन्ध होते नहीं देखते हैं, कारण कि उसमें योग्यता नहीं है। इस प्रकार परस्पर व्यभिचारवाले इन तीनोंमें (एक दूसरेके

चारिषु नाऽस्त्यर्थसिद्धिशङ्काऽपि । न तृतीयः, उक्तत्रयमेलनमन्तरेण प्रवृत्त्यभावात् । नहि काकदन्तविचारे कदलीफलाद्युत्पाटनाय कुठारादौ मेर्वाद्यानयने वा पुरुषप्रवृत्तिरुपलभ्यते ।

स्यादेतत्, ब्रह्मस्वरूपं वेदान्तानामेव विषयो न विचारशास्त्रस्य, प्रमाणप्रमेयादिसंभावनाहेतुभूतन्यायानां तद्विषयत्वात् ।

अत्र सिद्धान्ताभिज्ञंमन्यः परिजहार—विमतं विचारशास्त्रं वेदान्तैरभिन्नार्थम्, तदितिकर्तव्यत्वाद्, यथा दर्शपूर्णमासाभ्यामेकविषयं तदितिकर्तव्यं प्रयाजादि यथा वा बीजेन सहैककार्यजनकं तत्सहकारिभूतं जलभूम्यादि । यद्यपि विचारशास्त्रेण न्याया एव साक्षात्प्रतिपाद्यमाना उपलभ्यन्ते तथापि ब्रह्मणः परम्परया विषयत्वं भविष्यति; यथा छेत्तुर्हस्तव्यापारः साक्षात् कुठारमेव विषयीकुर्वाणोऽपि परम्परया काष्ठमपि विषयीकरोति तद्वदिति ।

रहनेसे एक दूसरेकी) अर्थात् सिद्धि होनेकी शङ्का भी नहीं हो सकती, तीसरा विकल्प भी नहीं हो सकता । तीनोंके मेलके बिना प्रवृत्ति नहीं हो सकती; अर्थात् तीनों मिलकर प्रवृत्तिके अङ्ग हैं, अतएव काकदन्तका विचार करनेमें अथवा केलेकी फली आदिके छीलनेके लिए कुठारादिमें या सुमेरुपर्वतके आनयनमें पुरुषकी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है ।

शङ्का—अस्तु, यह (उक्त कथन) सम्भव भी कैसे होगा; कारण कि ब्रह्मस्वरूप तो वेदान्तवाक्योंका ही विषय हो सकता है; विचारशास्त्रका नहीं, क्योंकि विचारशास्त्रके विषय तो प्रमाण, प्रमेय आदिकी सम्भावनाके कारणभूत न्याय ही हैं ।

समाधान—इस आशङ्कामें अपनेको सिद्धान्तज्ञानी समझनेवालेने समाधान किया है कि विमत विचारशास्त्र, वेदान्तवाक्योंके साथ अभिन्न अर्थके प्रतिपादक हैं, कारण कि वही (वेदान्त ही) इतिकर्तव्यता इसमें भी है, दर्शपूर्णमासयागोंके साथ समानविषयवाले उसी इतिकर्तव्यतासे विशिष्ट प्रयाजादि यागके समान या बीजके साथ एक कार्यके जनक उस बीजके सहकारी पृथ्वी, जल आदिके समान । यद्यपि विचारशास्त्रसे न्यायोंका ही साक्षात् प्रतिपादन किया हुआ देखा जाता है तथापि ब्रह्म परम्परासे विषय हो जायगा; जैसे छेदनकर्ताका हस्तव्यापार साक्षात् कुठारको ही विषय करता हुआ भी परम्परासे काठको

नाऽयं पण्डितंमन्यस्य परिहारः समीचीनः, विचारस्य वेदान्तेतिकर्तव्यत्वासिद्धेः। यथा प्रयाजादेरितिकर्त्तव्यतायामागमो मानं यथा वा जलभूम्यादेः सहकारित्वमन्वयव्यतिरेकसिद्धं न तथा विचारस्येतिकर्तव्यत्वे किञ्चिन्मानस्ति। न चेतिकर्तव्यत्वशून्यस्य वेदान्तशब्दस्य ब्रह्मावगमं प्रति कथं करणतेति शङ्कनीयम्, शब्दोपलब्धेः शक्तिज्ञानसंस्कारस्य च तदितिकर्तव्यत्वात्। विचारोऽपि दोषनिराकरणेन ब्रह्मप्रमितिहेतुतया शब्दं प्रति इतिकर्त्तव्यतां भजत्विति चेद्, न; वैदिकशब्दे दोषाभावात्। न चैवं विचारवैयर्थ्यम्, पुरुषदोषनिरासहेतुत्वात्। पुरुषदोषश्च द्विविधः—शब्दशक्तितात्पर्यान्यथावधारणं प्रत्यक्षादिविरोधबुद्धिश्च। तत्र लौकिकप्रयोगेषु ग्रामेऽस्मिन्नयमेक एवाऽद्वितीयः प्रभुरित्यादिषु सजातीयमात्र-

---

भी विषय करता है; वैसे ही प्रकृतमें भी विचारशास्त्रका ब्रह्म विषय हो सकता है।

परन्तु अपनेको स्वयं पण्डितमाननेवालेका इस प्रकार समाधान उचित नहीं है; क्योंकि विचारशास्त्रमें वेदान्तरूप इतिकर्तव्यताकी सिद्धि नहीं है। जैसे प्रयाजादिको इतिकर्तव्यता माननेमें शास्त्र प्रमाण है; अथवा जैसे जल और भूमि आदिमें अन्वयव्यतिरेकसे सिद्ध 'बीजकी' सहकारिता है वैसे विचारकी इतिकर्तव्यतामें कोई प्रमाण नहीं है। इतिकर्तव्यतासे शून्य (इतिकर्तव्य न माना जानेवाला) वेदान्तवाक्य ब्रह्मज्ञानके प्रति करण कैसे हो सकता है? यह शङ्का भी नहीं करनी चाहिए, कारण कि शब्दकी उपलब्धि (शब्दका श्रावण प्रत्यक्ष) और शक्तिज्ञानजनित संस्कारमें ही उसकी इतिकर्तव्यता है।

शङ्का—विचार भी दोषोंको दूर कर देनेसे ब्रह्मनिर्णयका कारण होता है इसलिए उसको शब्दके प्रति इतिकर्तव्यता प्राप्त हो जायगी।

समाधान—नहीं, वैदिक शब्दोंमें दोष नहीं होता है। [जिससे दोषनिराकरणरूप द्वार पा सके]। और विचार व्यर्थ भी नहीं हो सकता, कारण कि पुरुषदोषके निराकरणमें विचार हेतु है। पुरुषका दोष दो प्रकारका होता है—एक तो शब्दशक्तितात्पर्यका विपरीत निश्चय और दूसरा प्रत्यक्ष आदिसे विरोधज्ञान। इनमें से 'इस गांवमें यह एक ही अद्वितीय स्वामी है' इत्यादि लौकिक प्रयोगोंमें सजातीयमात्रके निवारणमें शक्तिका तात्पर्य

निवारणे शक्तितात्पर्यमवलोक्य वैदिकप्रयोगेऽपि तथैवाऽवधारयति । तदेतदन्यथाऽवधारणं समन्वयविचारेण निरसिष्यते विरोधबुद्धिश्चाऽविरोध-विचारेण । एवं च प्रतिबन्धनिवारण एवोपक्षीणस्य विचारस्य कथं ब्रह्म-प्रमितिहेतुता ? तस्माद् न विचारशास्त्रविषयो ब्रह्मेति ।

अत्रोच्यते—शब्दादेवोत्पन्नमपि ब्रह्मज्ञानं प्रतिबन्धनिवृत्तौ सत्या-मेव प्रतितिष्ठति, न तु ततः पूर्वम् । तथा च प्रतिबन्धनिरासिनो विचारस्य ब्रह्मनिर्णयहेतुत्वाद् ब्रह्मविषयत्वमुपपद्यते ।

अत्र केचिदाहुः—विचारावगम्यतात्पर्यस्याऽर्थप्रमितिहेतुत्वाद्विचारोऽ-प्यर्थप्रमितेरेव हेतुर्न प्रतिबन्धनिरासस्येति । तदसत्, किं तात्पर्यमवि-ज्ञातमेवाऽर्थप्रमितिहेतुरुत विज्ञातम् ? नाऽऽद्यः, सर्वत्र लौकिकवाक्येषु तात्प-र्यावगमफलकविचारवैयर्थ्यापातात् । अनवगतेऽपि तात्पर्येऽन्यथाप्रति-

---

देखकर 'एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि वैदिक प्रयोगमें भी वैसे ही (सजातीय द्वितीयके निवारणमें ही) शक्तितात्पर्यका निश्चय करता है । इस प्रकारका विपरीत निश्चयरूप प्रथम दोष समन्वयविचारसे दूर किया जायगा और विरोधबुद्धिरूप 'दूसरा दोष' विरोधाभावके विचारसे दूर किया जायगा । इस परिस्थितिमें प्रतिबन्धके दूर करनेमें क्षीणशक्ति हुआ विचार ब्रह्मनिश्चयका कारण कैसे हो सकता है ? इसलिए विचारशास्त्रका विषय ब्रह्म नहीं हो सकता ।

इस विषयमें कहा जाता है—शब्दसे उत्पन्न हुआ ब्रह्मज्ञान भी प्रतिबन्ध-की निवृत्ति होनेपर ही प्रतिष्ठित (स्थिर) होता है, इससे पहिले प्रतिष्ठित नहीं होता । इस दशामें ब्रह्मका निर्णायक होनेसे प्रतिबन्धके निवारणमें समर्थ विचारशास्त्रका ब्रह्म विषय हो सकता है ।

इसपर कोई कहते हैं कि विचार करनेसे प्रतीत होनेवाला तात्पर्य अर्थनिर्णयका कारण है, इसलिए विचार भी अर्थनिश्चयका ही कारण होता है; प्रतिबन्धके दूर करनेका कारण नहीं होता है । उनका यह कथन उचित नहीं है, कारण कि क्या अज्ञात ही तात्पर्य अर्थनिश्चयका कारण है ? अथवा ज्ञात ? प्रथम कल्पयुक्त नहीं है, क्योंकि लौकिक वाक्योंमें तात्पर्यके बोधके लिए किया गया विचार सर्वत्र व्यर्थ हो जायगा । कारण कि तात्पर्यके अज्ञात रहनेपर भी प्रथम कल्पके अनुसार विपरीत निश्चयका

पत्त्यभावात् । द्वितीयेऽपि न तावत् तात्पर्यं पदार्थविषयम्, तस्य वाक्यार्थप्रतीतावनुपयोगात् । वाक्यार्थविषयत्वे चाऽन्योन्याश्रयत्वम्—विषयभूतवाक्यार्थस्य विशेषणस्याऽवगतौ तद्विशिष्टतात्पर्यावगतिस्तात्पर्यावगतौ च वाक्यार्थप्रमितिरिति ।

अथ मन्यसे—पदेभ्यः पदार्थानवगम्याऽनन्तरं नूनमेषां संसर्गोऽस्ति, सह प्रयुज्यमानत्वात्, इत्युत्प्रेक्षया वाक्यार्थावगतौ नोक्तदोष इति । तदयुक्तम्, तत्र न तावदुत्प्रेक्षा स्मृतिः; अनवगतार्थगन्तृत्वात् । नाऽपि संशयः, कोटिद्वयाभावात् । नाऽपि विपर्ययः, बाधाभावात् । परिशेषाच्छब्दजन्यो वाक्यार्थबोधः प्रमाणमित्येवाऽभ्युपेयम् । एवं च शब्दस्य तात्पर्यावगममनपेक्ष्य प्रमापकत्वं पूर्वोक्तपरस्पराश्रयत्वं वा दुर्वारम् ।

ननु गवादिपदानां गोत्वादिसामान्ये व्युत्पत्तिवद्वाक्यानामपि वाक्यार्थत्वसामान्ये तात्पर्यम्, ततश्च सामान्यस्य पूर्वमेव ज्ञाततया तात्पर्य-

---

अभाव हो जायगा । दूसरे कल्पमें भी प्रथम तो तात्पर्यका विषय पदार्थ है नहीं, क्योंकि उसका वाक्यार्थप्रतीतिमें उपयोग नहीं होता है । वाक्यार्थको विषय माननेमें अन्योन्याश्रय आता है । [अन्योन्याश्रय दिखलाते हैं—] विषयभूत वाक्यार्थस्वरूप विशेषणकी प्रतीतिके अनन्तर वाक्यार्थविशिष्ट तात्पर्यकी प्रतीति होती है और तात्पर्यकी प्रतीतिके अनन्तर वाक्यार्थका निश्चय होता है ।

यदि मानो कि पदोंके द्वारा पदार्थोंका ज्ञान करनेके अनन्तर उन पदार्थोंका अवश्य कोई सम्बन्ध है, क्योंकि इनका साथमें प्रयोग किया गया है, इस प्रकार उत्प्रेक्षासे वाक्यार्थकी प्रतीति हो जानेके कारण उक्त (अन्योन्याश्रय) दोष नहीं आता, तो यह भी कथन युक्तिसङ्गत नहीं है, कारण कि उत्प्रेक्षाको स्मृति तो मान नहीं सकते, क्योंकि वह (उत्प्रेक्षा) अप्रतीत अर्थकी प्रतीति कराती है । संशय भी नहीं है, क्योंकि दो विरुद्ध कोटि उसमें नही हैं । विपर्यय भी नहीं कह सकते, कारण कि बाध नहीं है । इस अवस्थामें परिशेषसे (अन्तमें) 'शब्दजन्य वाक्यार्थ बोध प्रमाण है' ऐसा ही मानना होगा । ऐसा माननेसे तात्पर्यप्रतीतिकी अपेक्षाके बिना ही शब्दमें प्रमाजनकत्व या पूर्वोक्त अन्योन्यश्रयत्व दोष नहीं हटाया जा सकता ।

शङ्का—जैसे गो आदि पदोंकी गोत्वसामान्यमें व्युत्पत्ति—शक्ति—मानी जाती है, वैसे ही वाक्योंका भी वाक्यार्थत्वसामान्यमें तात्पर्य माना जाता है ।

विशेषणत्वसंभवात् तद्विशिष्टं तात्पर्यमवगम्यते। तथा च न तात्पर्येण वाक्यार्थविशेषप्रमितौ पूर्वोक्तदोष इति चेद्, न; वाक्यार्थविशेषतात्पर्याभावप्रसङ्गात्। अथ गोत्ववाचिनो गोशब्दस्य गोव्यक्तौ पर्यवसानवत् सामान्यगोचरमेव तात्पर्यं विशेषे पर्यवस्येद्, एवमपि न तात्पर्यमर्थप्रमितिहेतुः। विमतो वाक्यार्थावगमः शब्दशक्तिमात्रनिबन्धनः, शाब्दज्ञानत्वात्, पदार्थज्ञानवत्। यदि च तात्पर्यं वाक्यार्थप्रमितिहेतुः स्यात् तदा वाक्यार्थोऽशाब्दः स्यात्, तात्पर्यमात्रात् तत्प्रमितिसिद्धेः। शब्दान्वयव्यतिरेकौ च शब्दस्य पदार्थप्रदर्शनमुखेन तात्पर्योपाध्युपयोगितयाऽप्युपपद्येयाताम्। तस्मात्

अतः पहले ही ज्ञात होनेसे सामान्य तात्पर्यका विशेषण होता है, और उससे विशिष्ट तात्पर्यकी प्रतीति हो सकती है। इस प्रक्रियासे तात्पर्य द्वारा वाक्यार्थविशेषका निश्चय माननेमें पूर्वोक्त दोष नहीं आता।

समाधान—उक्त कथन नहीं बन सकता, कारण कि वाक्यार्थविशेषमें तात्पर्यका अभाव हो जायगा। [ऐसा इष्ट नहीं कह सकते, क्योंकि वृद्धव्यवहारमें अर्थविशेषके बोधके तात्पर्यसे ही शब्द और वाक्यका प्रयोग किया जाता है।] यदि कहो कि जैसे गोत्वसामान्यका वाची गोशब्द गोव्यक्तिविशेषका बोध करानेमें पर्यवसित होता है, वैसे ही सामान्यविषयक तात्पर्य भी विशेष अर्थमें पर्यवसित हो जायगा; तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर भी तात्पर्य अर्थनिश्चयका कारण नहीं हो सकता। [कारण कि अनुमानसे पदार्थसंसर्गरूप वाक्यार्थनिश्चय भी शक्तिके द्वारा ही हो सकता है, इसके लिए तात्पर्यकी अपेक्षा नहीं है। उक्तार्थ साधक अनुमान दिखलाते हैं—] विमत याने विवादास्पद [वाक्यार्थ बोधको कोई शक्त्यधीन और कोई तात्पर्याधीन मानते हैं, इससे वह विमत हुआ] वाक्यार्थकी प्रतीति शब्दशक्तिमात्रके अधीन है, शाब्द (शब्दजनित) ज्ञान होनेसे, पदार्थज्ञानके सदृश। [इस अनुमानके विपरीत] यदि तात्पर्य वाक्यार्थज्ञानका कारण माना जायगा, तो वाक्यका अर्थ शाब्द (शब्दजनित) ज्ञान नहीं कहा जायगा; कारण कि तात्पर्यमात्रसे वाक्यार्थके निश्चयकी सिद्धि हो जायगी। [शाब्दबोध वही कहलाता है, जो शब्दनिष्ठशक्तिके द्वारा उपस्थित होता है] शब्दके अन्वय-व्यतिरेक तो पदार्थका बोध करा कर शब्दकी तात्पर्योपाधिमें—विशेषणभूत पदार्थमें—उपयोगिता बतलाकर भी उपपन्न

शाब्दत्वसिद्धये शब्द एवाऽर्थप्रमितिहेतुः, तात्पर्यबोधस्तु प्रतिबन्धनिरासीत्येवाऽभ्युपेयम्। एवं च तात्पर्यहेतोर्विचारस्याऽपि प्रतिबन्धनिरासित्वादुपचारेणैव ब्रह्मविषयत्वम्।

ननूपचारेणाऽपि न ब्रह्मणो विचारविषयत्वं संभवति, आपातप्रसिद्धेरपि दुस्संपादत्वात्। न तावल्लोके प्रसिद्धम्, मानान्तरागोचरत्वात्। नाऽपि वेदे तत्प्रसिद्धिः, तत्र ब्रह्मशब्दस्याऽनवधृतार्थत्वात्। 'लोकावधृतसामर्थ्यः शब्दो वेदेऽपि बोधकः' इति न्यायेनाऽव्युत्पन्नशब्दस्य वेदेऽप्यबोधकत्वात्।

हो सकते हैं। [शब्दके अन्वय-व्यतिरेकसे शाब्द कहलानेकी भी उपपत्ति नहीं हो सकती, कारण कि केवल पदार्थकी उपस्थिति करा देनेसे वे चरितार्थ हो जायँगे]। इसलिए [पदार्थसंसर्गरूप वाक्यार्थमें] शाब्दत्व (शाब्दबोधत्व) की सिद्धिके लिए शब्द ही अर्थनिश्चयका कारण है और तात्पर्यज्ञान तो प्रतिबन्ध दूर करनेमें ही कारण है, ऐसा ही मानना उचित है। इस प्रकार तात्पर्यका कारणभूत विचार भी प्रतिबन्धके निराकरणमें ही हेतु है, अतः उपचार द्वारा ही उसका ब्रह्म विषय होता है। [अर्थात् तात्पर्यप्रतीतिके बिना भी शक्ति या लक्षणा द्वारा शब्दसे ही अर्थनिश्चय हो जाता है, परन्तु उक्त विपरीत प्रतीति या विरोधबुद्धिरूप पुरुषदोषके द्वारा उत्पन्न हुए संशयादि प्रतिबन्धकोंकी निवृत्तिके लिए तात्पर्यज्ञान अपेक्षित होता है और तात्पर्यनिर्णयके लिए विचारेतिकर्तव्यता अपेक्षित है और यह सर्वविध ब्रह्मनिश्चय शब्द द्वारा हुए ब्रह्मनिश्चयकी प्रतिष्ठाके ही लिए है—इसलिए करणभूत शब्दका तथा विचारादि इतिकर्तव्यताका भी लक्षणाके द्वारा एक ही ब्रह्म विषय हुआ।]

शङ्का—उपचार—लक्षणा—से भी ब्रह्म विचारका विषय नहीं हो सकता, कारण कि ब्रह्मकी आपातप्रसिद्धि—सामान्यज्ञान—का भी सम्पादन नहीं बन सकता। क्योंकि लोकमें तो ब्रह्म प्रसिद्ध है ही नहीं, क्योंकि वह शब्द प्रमाणके अतिरिक्त प्रत्यक्ष आदि किसी प्रमाणका विषय नहीं है। और वेदमें भी ब्रह्मकी प्रसिद्धि नहीं है, क्योंकि वेदमें आये हुए ब्रह्मशब्दके अर्थका निर्णय ही नहीं हो सका है। कारण कि 'लोकमें प्रतीतार्थक शब्द ही वेदमें भी अर्थबोध करा सकता है' इस न्यायसे अव्युत्पन्न शब्द (जिसका व्युत्पत्ति-ग्रह नहीं हुआ है, ऐसा शब्द) वेदमें भी बोधक नहीं होता।

मैवम्, वैदिकप्रयोगान्यथानुपपत्त्या ब्रह्मशब्दार्थस्य कस्यचित्स्वर्गादिवत् कल्प्यत्वात्। प्रसिद्धपदसमभिव्याहारस्य स्वर्गब्रह्मवाक्ययोः समानत्वात्। एवमपि ब्रह्मशब्दस्याऽर्थमात्रं सिध्यति न त्वर्थविशेष इति चेद्, न; प्रसिद्धपदसमभिव्याहारेण तदन्वययोग्यस्यैवाऽर्थविशेषस्य कल्प्यत्वात्। न च तस्मिन्विवक्षितेऽर्थविशेषे शब्दस्य वृत्त्यसंभवः। रूढ्या तत्रावर्त्तमानमपि शब्दमवयवार्थव्युत्पादनेन वर्तयितुं शक्यत्वात्। एतदर्थमेव

समाधान—ऐसा नहीं, वैदिक प्रयोगोंकी अन्यथा अनुपपत्तिसे ब्रह्मशब्दके किसी-न-किसी अर्थकी स्वर्गादिके तुल्य कल्पना करनी चाहिए [जैसे लोकमें स्वर्गकी प्रसिद्धि न होनेपर भी वैदिक प्रयोगके बलसे एक पदार्थविशेषरूप स्वर्गकी कल्पना की जाती है, वैसे ही ब्रह्मशब्दार्थकी भी कल्पना हो जायगी]। प्रसिद्ध पदका समभिव्याहार स्वर्ग तथा ब्रह्म दोनों वाक्योंमें समान है।

शङ्का—इस निर्णयसे भी तो केवल ब्रह्मशब्दका सामान्य ही अर्थ सिद्ध हुआ [अर्थात् ब्रह्मशब्द अर्थका वाचक है, इतना ही सिद्ध होता है] अर्थविशेषकी तो सिद्धि नहीं हो सकती।

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रसिद्ध पदके समभिव्याहारसे उसके साथ अन्वययोग्य अर्थविशेषकी ही कल्पना करनी चाहिये। ['तद् ब्रह्म, तद् विजिज्ञासस्व' इत्यादि पदोंमें विचारविधायक 'विजिज्ञासस्व' आदि पदोंके साथ अन्वयसिद्धिके लिए लोकप्रसिद्ध जात्यादिसे भिन्न पदार्थविशेषका ही वाचक ब्रह्मपद है, ऐसा मानना होगा। इन वेदान्तवाक्योंके विचारके लिए प्रवृत्त विचारशास्त्रमें पठित भी ब्रह्मपद उसी अर्थका वाचक लिया जायगा, इसलिए ब्रह्मपदार्थके अप्रसिद्ध होनेका दोष नहीं आता।] और उस कल्पित अर्थविशेषकी विवक्षा माननेमें शब्दकी वृत्तिका असम्भव दोष भी नहीं आता। रूढिसे उस अर्थमें ब्रह्मशब्दकी वृत्ति (शक्त्यादि) न होनेपर भी अवयव-(प्रकृति-प्रत्यय) के अर्थको लेकर अर्थविशेषमें ब्रह्मशब्दकी वृत्ति हो सकती है, इसीलिए (प्रकृति-प्रत्ययके अर्थका व्युत्पादन कर शब्दकी वृत्ति दिखानेके निमित्त ही) सर्वत्र निगम[1], निरुक्त[2], तथा

(१) प्रकृतिप्रत्ययनिष्पन्न शब्दमें प्रकृतिरूप एक देशके अर्थको लेकर विशिष्ट शब्दकी अर्थान्तरमें वृत्ति होना निगम कहलाता है; जैसे देहशब्द 'दिह उपचये' धातुसे बना हुआ उपचित वस्तुभूत शरीरादिका वाचक होता है।

(२) निरुक्त नाम है—सम्पूर्ण अवयवके अर्थोंका आश्रय करके अर्थान्तरका अभिधान

सर्वत्र निगमनिरुक्तव्याकरणानां प्रवृत्तत्वात्। तथा चाऽत्र 'सत्यं ज्ञानमन्तं ब्रह्म' 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति श्रुतिसूत्रप्रयोगान्यथानुपपत्त्या बाधरहितं चिद्रूपमन्तशून्यं पुरुषार्थपर्यवसायितया जिज्ञास्यं वस्तु ब्रह्मशब्दार्थ इति कल्प्यते। ब्रह्मशब्दश्च बृह बृहि वृद्धावित्यस्माद्धातोर्निष्पन्नो महत्त्वमाचष्टे। तच्च महत्त्वं संकोचकप्रकरणोपपदयोरभावान्निरतिशयमेव संपद्यते। ततो देशतः कालतो वस्तुतश्चाऽन्तशून्यमित्युक्तं भवति। तथा बाध्यत्वजडत्वापुरुषार्थत्वादिदोषराहित्यमपि महत्त्वमेव। लोके दोषरहितेषु गुणवत्सु पुरुषेषु महापुरुषा इति व्यवहारदर्शनात्। ततो व्युत्पत्तिवशाद् यथोक्तेऽर्थे ब्रह्मशब्दो वर्त्तते। जातिजीवकमलासनादिषु यथोक्तार्थाभावेऽपि रूढिवशाद् ब्रह्मशब्दवृत्तिरुपपद्यते।

व्याकरण[3] शास्त्रोंकी प्रवृत्ति है। इस सिद्धान्तके अनुसार प्रकृतमें 'सत्य ज्ञान और अविनाशी रूप ब्रह्म है' 'इसलिए साधन चतुष्टयके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादि अर्थवाले श्रुति तथा सूत्र प्रयोगोंकी अन्यथा अनुपपत्तिसे बाधरहित, चिद्रूप, विनाश रहित, परम पुरुषार्थ होनेसे जिज्ञासायोग्य वस्तु ब्रह्म-शब्दका अर्थ है ऐसी कल्पना की जाती है। और ब्रह्म-शब्द वृद्ध्यर्थक बृह या बृहि धातुसे बना हुआ है, अतः महत्त्वका अभिधान करता है। और वह महत्त्व सङ्कोचके कारणभूत प्रकरण तथा समभिव्याहृत उपपदके न होनेसे निरतिशयरूप ही सम्पन्न होता है। इससे देश, काल तथा वस्तुसे भी परिच्छेद-शून्य वह वस्तु है ऐसा निश्चित होता है। एवं बाध्यत्व, जडत्व और अपुरुषार्थत्व इत्यादि दोषोंसे मुक्त रहना भी महत्त्व ही है। लोकमें दोष रहित और गुणी पुरुषोंके लिए महापुरुष ऐसा व्यवहार देखा जाता है। इस प्रकार व्युत्पत्तिके बलसे उक्त अर्थमें ब्रह्मशब्दकी वृत्ति है। और जाति, जीव, कमलासन आदि अर्थोंमें व्युत्पत्तिलभ्य उक्त महत्त्वरूप अर्थके अभावमें भी रूढिके कारण ब्रह्मशब्दकी वृत्ति उपपन्न होती है। [अर्थात् रूढिके कारण ब्रह्मशब्द जात्यादिका वाचक है और योगबलसे महत्त्वविशिष्ट ब्रह्मका वाचक है।

करना, जैसे—सोमशब्द। इसमें सह-उमा दो अवयव हैं, जिनका अर्थ है—पार्वती और सहित। इनके द्वारा उक्त पद महादेवजीका वाचक हुआ।

(३) प्रत्ययकी [illegible]भानसामर्थ्यसे अर्थका निश्चय कराना व्याकरणका कार्य है।

.ना शब्द)

ननु बृंहतिधात्वर्थानुगमनेन किं सौत्रस्य ब्रह्मशब्दस्याऽर्थो वर्ण्यते किंवा श्रौतस्य ? नाऽऽद्यः; पौरुषेयप्रयोगस्य मूलप्रमाणापेक्षस्य तदभावे निर्णयानुपयोगात्। अथ श्रुतिर्मूलप्रमाणं तथाऽप्युत्तरसूत्रे जगज्जन्मादिकारणं ब्रह्मेति निर्णेष्यमाणत्वादस्मिन् सूत्रे प्रयासो न कर्तव्यः। न द्वितीयः; 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते', 'तद्विजिज्ञासस्व', 'तद् ब्रह्म', 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतौ स्वयमेवाऽर्थनिर्णयात्; नैष दोषः, प्रथमसूत्रप्रवृत्तिदशायामनिष्पन्नस्य द्वितीयसूत्रस्य तदर्थनिर्णयहेतुत्वासंभवात्। श्रुतावपि पदार्थस्याऽन्यतः प्रसिद्धिमन्तरेण वाक्यार्थप्रमित्ययोगादुभयत्राऽपि धात्वर्थानुगमेनाऽर्थस्य वर्णनीयत्वात्। धात्वर्थानुगमः संभावनामात्रबुद्धिहेतुर्न निर्णायक इति चेद्, मा भून्निर्णयः; संभावितस्याऽनिर्णीतस्यैवाऽर्थस्याऽत्र

शङ्का—क्या वृद्ध्यर्थक बृहि धातुके अर्थका अनुगम करके सूत्रमें पठित ब्रह्मशब्दके अर्थका निरूपण करते हो ? या श्रुतिमें आये हुए ब्रह्मशब्दके अर्थका ? इनमें प्रथम पक्ष नहीं बन सकता, कारण कि मूल प्रमाणकी अपेक्षा रखनेवाले पुरुषके प्रयोगका उस मूल प्रमाणके अभावमें निर्णय करना उपयोगशून्य है अर्थात् जिस पौरुषेय प्रयोगका मूल ही नहीं है, उस प्रयोगके अर्थका निर्णय करना व्यर्थ है। यदि श्रुतिको प्रमाण मानें, तो भी उत्तर सूत्रमें 'जगत्के जन्मादिका कारण ब्रह्म है' ऐसा निर्णय करना है, इसलिए इस सूत्रमें उसके निर्वचनका प्रयास नहीं करना चाहिए। द्वितीय पक्ष भी नहीं माना जा सकता, कारण कि 'जिससे सकल भूत उत्पन्न होते हैं', 'उस ब्रह्मका विचार करो' 'वह ब्रह्म है', 'सत्यरूप, ज्ञानस्वरूप एवं अपरिच्छिन्न ब्रह्म है' इत्याद्यर्थक श्रुतिमें स्वयं ही ब्रह्मशब्दके अर्थका निर्णय किया गया है।

समाधान—उक्त दोष नहीं आ सकता, कारण कि प्रथम सूत्रकी प्रवृत्तिके अवसरमें द्वितीय सूत्र बना ही नहीं था, इसलिए वह (द्वितीय सूत्र) प्रथम सूत्रके अर्थनिर्णयका कारण नहीं हो सकता। श्रुतिमें भी पदार्थकी दूसरे प्रमाणोंसे प्रसिद्धि हुए बिना वाक्यार्थका निश्चय नहीं हो सकता, अतः दोनोंमें (वेद तथा लोकमें) धात्वर्थका अनुगम करके ही वर्णन करना उचित है। धात्वर्थका अनुगम तो केवल सम्भावनाबुद्धिका हेतु है, निर्णयका हेतु नहीं है, ऐसी शङ्का [illegible]हत [illegible]च्छी बात है, निर्णय मत हो, केवल सम्भावनासे सिद्ध हुए

जिज्ञासाविषयत्वेनाऽपेक्षितत्वात् ।

अथ विवक्षितस्य ब्रह्मशब्दार्थस्य निश्चिता प्रसिद्धिरपेक्ष्येत, तर्हि साऽपि संपाद्यते । आत्मा तावद् 'अहमस्मि' इति सर्वलोकप्रत्यक्षः प्रतीयते, स एव हि ब्रह्म; 'स वा अयमात्मा ब्रह्म' इति श्रुतेः । ततश्च प्रतिपन्नमुद्दिश्य विचारसंभवाच्छक्यप्रतिपाद्यत्वलक्षणः संबन्धः सिध्यति । तथा चाऽत्यन्ताप्रसिद्ध्यभावाद्विषयत्वसिद्धिः । नन्वेवं तर्हि प्रत्यक्षस्याऽपि गोचरत्वेनाऽसाधारणत्वाभावाद्विषयत्वं न सिध्यतीति चेद्, अहमित्यात्मत्वसामान्याकारेण सर्वप्रत्यक्षसिद्धावपि तद्विशेषस्य विप्रतिपद्यमानस्य प्रत्यक्षसिद्ध्ययोगात् । यद्यप्यात्मनि वस्तुतो नाऽस्ति सामान्यविशेषभावस्तथापि यथा रज्जुद्रव्यस्य दण्डसर्पधारादावनुस्यूतरूपेण प्रतीयमानत्वमेव सामान्यं तथाऽऽ-

---

अनिर्णीत अर्थकी ही इस प्रथम सूत्रमें जिज्ञासाके विषयत्वरूपसे अपेक्षा है ।

यदि ब्रह्मशब्दके विवक्षित अर्थकी निश्चित ही प्रसिद्धि अपेक्षित हो, तो उस निश्चित प्रसिद्धिका भी सम्पादन किया जाता है । आत्मा तो 'मैं हूँ' इस प्रकार सम्पूर्ण लोगोंको प्रत्यक्षरूपसे प्रतीत है । वही ब्रह्म है, कारण कि 'वह यह आत्मा ब्रह्म है' ऐसे अर्थवाली श्रुति विद्यमान है । इससे प्रतीतिसिद्ध ब्रह्मको उद्देश्य कर (विषय बनाकर) विचारका सम्भव है, इसलिए प्रतिपाद्यत्वरूप सम्बन्धका प्रतिपादन हो सकता है । इससे अत्यन्त अप्रसिद्धिके अभावसे ब्रह्मका विषय होना सिद्ध होता है ।

शङ्का—इस रीतिसे तो ब्रह्म प्रत्यक्षका भी विषय हो गया । आप कह आये हैं कि लोकसिद्ध अहं प्रतीतिसे ब्रह्म प्रत्यक्ष है, इससे अनन्यसाधारण न होनेसे ब्रह्मका विषय होना सिद्ध नहीं हो सकता । अनन्यसाधारण ही विषय हो सकता है, ऐसा नियम है ।

समाधान—यह शङ्का उचित नहीं है, कारण कि 'अहम्' (मैं) इस प्रकार आत्मसामान्यरूपसे प्रसिद्धि रहनेपर भी अनन्त (अपरिच्छिन्न), अव्यय इत्यादि विशेषरूपसे विप्रतिपत्तिग्रस्त होनेसे (इस विषयमें वादियोंका मतैक्य न होनेसे) उक्त विशेषरूपकी प्रत्यक्ष द्वारा सिद्धि नहीं हो सकती, [इसलिए ब्रह्मका स्वरूपविशेष अनन्यसाधारण हो गया] । यद्यपि (सकलविशेषशून्य) आत्मामें सामान्यविशेषभाव वास्तविक नहीं है, तथापि जैसे रज्जुरूप द्रव्यका दण्ड, सर्प या (जल) धारा आदिमें अनुवर्तमानरूपसे

त्मनोऽपि शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिशून्यकर्तृभोक्तृसर्वज्ञब्रह्माख्यपदार्थेषु विप्रतिपत्तिस्कन्धेष्वनुस्यूतत्वेन प्रतीयमानत्वं सामान्यं भविष्यति, प्रत्यक्षसिद्धेऽपि शरीराद्यर्थे प्रयुज्यमानस्याऽऽत्मवाचिनोऽहंशब्दस्य गोशब्दवदर्थविप्रतिपत्तिरुपपद्यते।

गोशब्दस्य हि प्रत्यक्षसिद्धव्यक्त्याकृतिक्रियागुणाद्यर्थेषु प्रयुज्यमानस्य जातिरर्थत्वेन वैदिकैः प्रतिपन्ना, व्यक्तिः सांख्यादिभिः, उभयं वैयाकरणैः, अवयवसंस्थानाख्याऽऽकृतिरार्हतादिभिः, त्रितयमपि नैयायिकैः। अथ गोशब्दस्य प्रयोगे जात्यादीनामन्वयव्यतिरेकनियमात् तदर्थत्वशङ्का, तर्ह्यहंशब्दप्रयोगेऽपि शरीरादीनामन्वयव्यतिरेकनियमादेव तदर्थत्वशङ्काऽस्तु।

तत्र विचारविरहितं प्रत्यक्षमेव प्रमाणमाश्रित्य चेतयमानो देह

ही सामान्य है। [अर्थात् दण्डादिमें इदन्त्व या पुरोवर्तित्वरूपसे सर्वत्र एक-सी प्रतीति होती है] इसी प्रकार आत्माका भी शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, शून्य, कर्ता, भोक्ता, सर्वज्ञ, तथा ब्रह्म नामक विप्रतिपत्तिके विषय पदार्थोंमें अनुगम होनेसे प्रतीयमानत्व ही सामान्य होगा, प्रत्यक्षसिद्ध भी शरीर आदिरूप अर्थमें प्रयुज्यमान अहंशब्दमें गोशब्दकी तरह अर्थविप्रतिपत्ति हो सकती है।

[प्रत्यक्षसिद्धमें विप्रतिपत्ति नहीं होती, इसका निराकरण किया गया, अब गोशब्दार्थमें विप्रतिपत्ति दिखलाते हैं—] प्रत्यक्षसिद्ध व्यक्ति, आकृति, क्रिया, गुण आदि अर्थोंमें प्रयुज्यमान गोशब्दका मीमांसक जातिरूप अर्थ मानते हैं, एवं सांख्य आदि व्यक्तिरूप अर्थको, वैयाकरण जाति और व्यक्ति दोनोंको, आर्हत (जैन) आदि अवयवसंस्थानरूप आकृतिको और नैयायिक तीनोंको गोशब्दका अर्थ मानते हैं। [इस प्रकार प्रत्यक्षसिद्धमें भी विप्रतिपत्ति देखी जाती है।] यदि गोशब्दके प्रयोगमें जात्यादि पदार्थोंका नियमतः अन्वय-व्यतिरेक होनेसे जात्यादिमें गोशब्दार्थत्वकी आशङ्का मानी जाय, तो प्रकृत 'अहम्' शब्दके प्रयोगमें शरीरादिरूप अर्थोंका भी अन्वयव्यतिरेकनियम होनेसे उन्हें 'अहम्' शब्दका अर्थ माननेकी आशङ्का होगी। ('अहं' शब्दार्थकी विप्रतिपत्ति दिखलाते हैं—]

[illegible] रशून्य प्रत्यक्षको ही प्रमाण मानकर 'चेष्टा करता हुआ देह आत्मा

आत्मेति शास्त्रसंस्कारवर्जिता जनाः प्रतिपन्नाः। तथा भूतचतुष्टयमात्रतत्त्ववादिनो लौकायतिकाश्च 'मनुष्योऽहं, जानामि' इति शरीरस्याऽहंप्रत्ययालम्बनत्वेन ज्ञानाश्रयत्वेन चाऽवगम्यमानत्वात् तदेवाऽऽत्मेति मन्यन्ते।

अन्ये पुनरेवमाहुः—सत्यपि शरीरे चक्षुरादिभिर्विना रूपादिज्ञानाभावादिन्द्रियाण्येव चेतनानि। न चेन्द्रियाणां करणतया ज्ञानान्वयव्यतिरेकयोरन्यथासिद्धिः, करणत्वकल्पनादुपादानकल्पनस्याऽभ्यर्हितत्वात्। अतः काणोऽहं मूकोऽहमित्यहंप्रत्ययालम्बनानि चेतनानीन्द्रियाणि प्रत्येकमात्मत्वेनाऽभ्युपेयानि। शरीरे त्वहंप्रत्ययालम्बनत्वं चेतनत्वं चाऽऽत्मभूतेन्द्रियाश्रयत्वादन्यथासिद्धम्। नन्वेकस्मिन् शरीरे बहूनामिन्द्रियाणां चेतनत्वे 'य एवाऽहं पूर्वं रूपमद्राक्षं स एवेदानीं शब्दं श्रृणोमि' इति प्रत्यभिज्ञा

है', ऐसा शास्त्रसंस्कारहीन मनुष्य मानते हैं। एवं चार (पृथ्वी, जल, तेज और वायुको) ही तत्त्व माननेवाले लौकायतिक—नास्तिक—'मैं मनुष्य हूँ और जानता हूँ' (ज्ञानवान् हूँ) इस प्रतीतिके अनुसार 'अहम्' प्रतीतिका विषय तथा ज्ञानका आश्रय होनेसे शरीर ही आत्मा है, ऐसा मानते हैं।

और दूसरोंकी इस प्रकार विप्रतिपत्ति है—शरीरके विद्यमान रहते भी चक्षुरादि इन्द्रियोंके बिना रूपादिका ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए इन्द्रियाँ ही चेतनस्वरूप (आत्मा) हैं। इन्द्रियोंका ज्ञानके साथ अन्वयव्यतिरेक अन्यथासिद्ध है, क्योंकि इन्द्रियां करण हैं [चक्षुरादि इन्द्रियोंके द्वारा रूपादिज्ञानदर्शनसे इन्द्रियोंका चेतन होना नहीं माना जा सकता, कारण कि इन्द्रियाँ तो ज्ञानकी साधन हैं, आश्रय नहीं हैं, जैसे कुठार आदि छेदनके साधन हैं, आश्रय या कर्ता नहीं हैं], ऐसा मानना उचित नहीं है; कारण कि करणकारककी कल्पना करनेकी अपेक्षा उपादान—आश्रय—की कल्पना करना श्रेष्ठ है। इसलिए 'मैं काना हूँ, मैं मूक (गूंगा) हूँ' इत्यादि अहंप्रत्ययके आलम्बन—आश्रय—चेतनस्वरूप इन्द्रियोंमें प्रत्येक चक्षुरादिको आत्मा समझना चाहिए। और शरीरका अहंप्रतीतिमें विषय होना या चेतन होना, तो आत्मभूत इन्द्रियोंका आश्रय होनेसे अन्यथासिद्ध है।

शङ्का—एक ही शरीरमें अनेक इन्द्रियोंके चेतन होनेपर '[illegible] रूप देखा था, [illegible] मैं इस समय शब्दको सुन रहा हूँ' ऐ[illegible]

न स्यात्। तथा भोक्तृत्वं च रूपरसादिषु युगपदेव स्यान्न क्रमेणेति चेद्, मैवम्; नहि चेतनैकत्वं प्रत्यभिज्ञाक्रमभोगयोर्निमित्तम्, किन्त्वेकशरीराश्रयत्वमेव। ततो यथैकस्मिन् गेहे बहूनां पुरुषाणामेकैकस्य विवाहेऽन्येषामुपसर्जनत्वं तथा इन्द्रियात्मनामप्येकैकस्योपभोगकालेऽन्येषामुपसर्जनत्वमिति।

अन्ये तु मन्यन्ते—स्वप्ने चक्षुराद्यभावेऽपि केवले मनसि विज्ञानाश्रयत्वमहंप्रत्ययालम्बनत्वं चोपलभ्यते। न च रूपादिज्ञानानां चक्षुराद्याश्रयत्वम्, तथा सति केवले मनसि रूपादिस्मृत्यनुपपत्तेः। ततः करणान्येव चक्षुरादीनि। अहंप्रत्ययस्तु तत्र कर्तृत्वोपचारात् सिध्यति। न चाऽनेकात्मस्वेकशरीराश्रयत्वमात्रेण प्रत्यभिज्ञा युज्यते, एकप्रासादमा-

---

हो सकती। और रूप, रस आदि विषयका भोग करना भी एक साथ ही प्राप्त हो जायगा, क्रमसे न होगा।

समाधान—ऐसा नहीं, क्योंकि चेतनका एक होना प्रत्यभिज्ञा और क्रमसे भोगका निमित्त नहीं है, किन्तु एक शरीरमें रहना ही निमित्त है। जैसे एक घरमें बहुत पुरुषोंमें से एक एकके विवाहमें दूसरोंका उपसर्जनत्व—गौणता—माना जाता है (अर्थात् जिसका विवाह रहता है उसका प्राधान्य और अन्योंकी अप्रधानता रहती है) एवं इन्द्रियरूप आत्माओंमें भी एक एकके उपभोगके समय दूसरोंकी अप्रधानता रहती है, [इसलिए प्रत्यभिज्ञाकी और क्रमिक भोगकी उपपत्ति हो जाती है]।

कुछ वादियोंका मत है कि—स्वप्नमें चक्षुरादिके अभावमें भी केवल मनमें विज्ञानका आश्रयत्व और अहंप्रत्ययका आलम्बनत्व पाया जाता है। और रूपादिज्ञान चक्षुरादि इन्द्रियोंके आश्रित नहीं हो सकते, कारण कि ऐसा माननेसे केवल मनमें रूपादिकी स्मृति नहीं हो सकेगी। [स्मरण और अनुभवमें सामानाधिकरण्यका नियम है], इसलिए इन्द्रियोंको करण ही मानना चाहिए। इन्द्रियोंमें अहंप्रतीति होना तो करणमें कर्तृत्वकी लक्षणा करनेसे उपपन्न होता है। भिन्न-भिन्न अनेक आत्माओंमें [illegible] शरीरमें आश्रित होनेसे प्रत्यभिज्ञाकी उपपत्ति नहीं हो सकती, [illegible] मकानमें रहनेवालोंको भी समान [illegible] होनेका प्रसङ्ग

श्रितानामपि तत्प्रसङ्गात् । तस्मात् चक्षुरादि करणं शरीराद्याधारं मन एवाऽऽत्मेति ।

विज्ञानवादिनस्तु क्षणिकविज्ञानव्यतिरिक्तवस्तुनः सद्भावमनुभवविरुद्धं मन्वानास्तस्यैव विज्ञानस्याऽऽत्मत्वमाहुः । प्रत्यभिज्ञा तु ज्वालायामिव संततविज्ञानोदयसादृश्यादुपपद्यते । विज्ञानानां हेतुफलसंतानमात्रादेव कर्मज्ञानबन्धमोक्षादिसिद्धिः ।

माध्यमिकस्तु सुषुप्ते विज्ञानस्याऽप्यदर्शनाच्छून्यमेवाऽऽत्मतत्त्वमित्याह । यदि सुषुप्ते विज्ञानप्रवाहः स्यात्तदा विषयावभासोऽपि प्रसज्येत, निरालम्बनज्ञानायोगात् । जागरणस्वप्नज्ञानानामेव सालम्बनत्वम् , न सौषुप्तिकज्ञानानामिति चेद्, न; विशेषाभावात् । विमतं सालम्बनम्, प्रत्ययत्वात्, संमतवत् । उत्थितस्य सौषुप्तविषयस्मृत्यभावनियमान्न तत्र

आ जायगा । इसलिए चक्षुरादि इन्द्रिय करण हैं और शरीरादिका आधार मन ही आत्मा है ।

विज्ञानवादी तो क्षणिक विज्ञानसे अतिरिक्त वस्तुके सद्भावको अनुभवविरुद्ध मानकर उसी क्षणिक विज्ञानको आत्मा कहते हैं । प्रत्यभिज्ञा तो ज्वाला—दीपशिखादि अग्निकी लपक—में जैसे निरन्तर एकसे विज्ञानका उदय होनेके कारण सादृश्यसे उपपन्न होती है । और विज्ञानोंके हेतु तथा फल सन्तानमात्रसे ही कर्म-ज्ञान, बन्ध-मोक्ष आदिकी सिद्धि होती है ।

माध्यमिक—शून्यवादी बौद्ध—तो सुषुप्ति अवस्थामें विज्ञानके भी न रहनेसे शून्य ही आत्मतत्त्व है, ऐसा कहता है । यदि सुषुप्तिदशामें भी विज्ञानका प्रवाह माना जाय, तो विषयका ज्ञान भी उस समय होना चाहिए, कारण कि विषयके बिना ज्ञानका होना सम्भव नहीं है ।

शङ्का—जाग्रत् तथा स्वप्न अवस्थाके ज्ञानमें सालम्बनत्वका—सविषयत्वका—नियम है, सुषुप्तिकालके ज्ञानोंमें ऐसा—सविषयत्वका—नियम नहीं है ।

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि इसमें कोई विशेष नहीं है । [अर्थात् जागरादि ज्ञानमें और सौषुप्त ज्ञानमें ज्ञानसामान्यके कारण कोई विशेष नहीं है] । कारण कि विमत सौषुप्तज्ञान—आलम्बन—विषय—विशिष्ट है, ज्ञान सामान्य होनेसे, सम्मत—जागर स्वप्नके—ज्ञानके तुल्य । ज... रज्ज...
प्राप्त होनेपर सुषुप्तिकालके विषयका स्मरण न होनेका निय...

विषय इति चेत्, तर्हि नियमेनाऽस्मर्यमाणत्वादेव तत्र ज्ञानमपि मा भूत्। न च शून्ये विवदितव्यम्, यथा सविकल्पकः स्वविषयविपरीतनिर्विकल्पकजन्यस्तथा सत्प्रत्ययोऽपि स्वविपरीतप्रत्ययजन्य इत्यभ्युपेयत्वात्। एवं चोत्थाने सति जायमानस्याऽहमस्मीति सत्प्रत्ययस्य समनन्तरपूर्वप्रत्ययलक्षणकारणरहितस्य वास्तवत्वायोगाच्छून्यमेव तत्त्वमिति।

अपरे पुनः शरीरेन्द्रियमनोविज्ञानशून्यव्यतिरिक्तं स्थायिनं संसारिणं कर्त्तारं भोक्तारमात्मानमाहुः। न च शून्येऽहंप्रत्यय उपपद्यते, वन्ध्यापुत्रादावपि तत्प्रसङ्गात्। नाऽपि क्षणिकविज्ञाने क्रमभावी व्यवहारो युज्यते, सर्वो हि लोकोऽनुकूलं वस्तु प्रथमतो जानाति, तत इच्छति, ततः प्रयतते, ततस्तत्प्राप्नोति, ततः सुखं लभते। यद्येतादृशमेककर्तृकतया

सुषुप्तिकालमें विषय नहीं रहता (केवल ज्ञानमात्र रहता है), ऐसा मानो, तो स्मरण न होनेके नियमसे ही सुषुप्तिमें ज्ञान भी न माना जाना चाहिए। और शून्यके माननेमें विवाद नहीं करना चाहिए, कारण कि जैसे सविकल्पक ज्ञान अपने (सविकल्प) विषयके विपरीत निर्विकल्पकसे उत्पन्न होता है, वैसे ही सत्को विषय करनेवाला ज्ञान भी अपनेसे विपरीत असत् (शून्य) के ज्ञानसे उत्पन्न होता है, ऐसा मानना आवश्यक है। एवं सुषुप्तिसे जाग जानेपर होनेवाली समनन्तर पूर्वप्रत्ययरूप कारणसे हीन 'मैं हूँ' इस प्रकार सत्-विषयक प्रतीतिको वास्तविकत्वका सम्भव नहीं है, अतः शून्य ही तत्त्वभूत पदार्थ है।

इससे भी दूसरे वादी शरीर, इन्द्रिय, मन, विज्ञान तथा शून्यसे भी अतिरिक्त स्थायी रहनेवाले कर्ता और भोक्ता रूप संसारीको आत्मा कहते हैं। शून्यके लिए अहंव्यवहार नहीं हो सकता, अन्यथा वन्ध्यापुत्रादिमें भी 'अहं' प्रत्यय होनेका प्रसङ्ग आ जायगा, (वन्ध्या पुत्र भी शून्यसे अविशेष है)। और क्षणिकविज्ञानवादमें भी क्रमभावी व्यवहार युक्त नहीं है, कारण कि सारा संसार [illegible]चिके पूर्व उपादेय वस्तुको अनुकूल जानता है, अनन्तर उसकी इच्छा [illegible] उसके पानेके लिए प्रयत्न करता है, इसके अनन्तर उसको [illegible] सुखप्राप्ति होती है। यदि एक ही कर्ताका उक्त प्रकारके व्यव-

भासमानं व्यवहारमेकसंतानवर्त्तिनो बहव आत्मानः परस्परवार्त्तानभिज्ञा अपि निष्पादयन्ति, तदा भिन्नसंतानवर्तिनः किं न निष्पादयेयुः। तस्मात् 'य एवाऽहमिदं वस्त्वज्ञासिषं स एवेदानीमिच्छामि' इत्याद्यबाधितप्रत्यभिज्ञानिर्वाहाय स्थाय्यात्माऽऽभ्युपेयः। न चाऽसौ विज्ञानरूपः, अहं विज्ञानमित्येकत्वानुभवाभावात्। 'ममेदं विज्ञानम्' इति हि संबन्धोऽनुभूयते। न चाऽयमनुभवो ममात्मेतिवदौपचारिकः, बाधाभावात्। एतेन शरीरेन्द्रियमनसामात्मत्वं प्रत्युक्तम्। तत्राऽपि संबन्धप्रत्ययस्याऽनिवार्यत्वात्, अहमुल्लेखस्य तत्राऽध्यासिकत्वात्।

न चाऽयमात्मा सादिः, शरीरोत्पत्तिसमनन्तरमेव सुखदुःखप्राप्तिमवलोक्य तद्धेतुभूतयोः पुण्यपापयोः कर्त्ता पूर्वमप्यस्तीत्यवगमात्। न चाऽयम-

हारका एक सन्तानमें होनेवाले बहुतसे आत्मा एक दूसरेके व्यवहारसे परिचित न होते हुए भी सम्पादन करते हैं, तो भिन्न सन्तान—प्रवाह—में आनेवाले आत्मा भी उक्त व्यवहारका सम्पादन क्यों न कर सकें। [अर्थात् देवदत्तादिके ज्ञान, इच्छा आदिसे यज्ञदत्तकी प्रवृत्ति तथा देवदत्तके व्यवहारका ज्ञान यज्ञदत्तको भी होना चाहिए] इसलिए 'जिस ही मैंने इस वस्तुको जाना था वही मैं इस समय चाह रहा हूँ' इत्यादि बाधरहित प्रत्यभिज्ञाके निर्वाहके लिए स्थायी आत्मा मानना चाहिए। वह आत्मा विज्ञानस्वरूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसके विपरीत 'मैं विज्ञान हूँ' ऐसा अभेदरूपसे अनुभव नहीं होता है; किन्तु 'मेरा यह विज्ञान है' इस प्रकार भेदसम्बन्धका अनुभव होता है। उक्त (मेरा विज्ञान, ऐसे) अनुभवको 'मेरी आत्मा' इस व्यवहारके तुल्य लाक्षणिक मानना उचित नहीं है, कारण कि इसमें (मेरा विज्ञान इस व्यवहारमें) बाध नहीं देखा जाता। 'बाधके बिना लक्षणाका सम्भव नहीं है' इस सिद्धान्तसे शरीर, इन्द्रिय तथा मनको आत्मा माननेका भी खण्डन हो गया। उनमें भी भेदसम्बन्धके ज्ञानका निवारण नहीं हो सकता, क्योंकि उन (शरीरादि) में 'अहम्' व्यवहार अध्यासमूलक होता है। [मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ इत्यादि प्रतीति बाधित होनेसे वस्तुभूत नहीं है।]

और आत्माको सादि (कार्य) नहीं मान सकते, [illegible] कि शरीरकी उत्पत्तिके अनन्तर ही सुख तथा दुःखकी प्राप्ति [illegible] उसके कारणभूत पुण्य तथा पाप (सुखका कारण पुण्य और [illegible]

नित्यः, विनाशानिरूपणात्। न तावत् स्वतो विनाशः, निर्हेतुकविनाशस्याऽतिप्रसङ्गिनः सुगतव्यतिरिक्तैरनङ्गीकारात्। नाऽपि परतः, निरवयवस्य विनाशहेतुसंसर्गासंभवात्। संभवेऽपि वा न विनाशः सिध्येत्। कर्मनिमित्तो ह्यन्यसंसर्गः, स च तत्कर्मफलोपभोगायाऽऽत्मनोऽवस्थितिमेव साधयेद्, न विनाशम्। तस्मादनादेरविनाशिनोऽनन्तशरीरेषु यातायातरूपः संसारः सिद्धः। निर्विकारस्य भोगासंभवाद्विकारस्य क्रियाफलरूपस्याऽभ्युपगमे क्रियावेशात्मकं कर्तृत्वमनिवार्यम्। भोक्तृत्वमप्यनुभूयमानं शरीरादिषु विज्ञानपर्यन्तेष्वनुपपन्नत्वादुक्तात्मन्येव पर्यवस्यति। तथा हि—शरीरं तावत् पञ्चभूतसंघातरूपम्, 'पञ्चभूतात्मके तात! शरीरे पञ्चतां गते' इत्यादिशास्त्रात्।

यत्तु नैयायिको मन्यते—भूलोकवासिनां शरीरं पार्थिवमेव, तत्र

का कर्ता इससे भी पहले है, ऐसा माना जाता है। और यह आत्मा अनित्य भी नहीं है, कारण कि विनाशका निरूपण नहीं किया जा सकता; क्योंकि आत्माका स्वतः विनाश तो होता नहीं है, क्योंकि कारणके विना होनेवाले अतिप्रसङ्गग्रस्त विनाशको बौद्धोंसे अतिरिक्त और कोई नहीं मानता। अन्य कारणसे भी (आत्माका) विनाश नहीं हो सकता, क्योंकि निरवयव आत्माका विनाशके कारणके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। और उसका सम्भव होनेपर भी विनाश सिद्ध नहीं हो सकता, कारण कि दूसरेका सम्बन्ध कर्म (क्रिया) द्वारा ही होता है और वह कर्मजनित सम्बन्ध उस कर्मके फलका उपभोग करनेके लिए आत्माकी स्थितिको ही सिद्ध करेगा, विनाशको नहीं। इससे अनादि और अविनाशी आत्माका अनन्त शरीरोंमें गतागतरूप (जन्म-मरणरूप) संसार सिद्ध होगा। विकारशून्यके भोगका सम्भव न होनेसे क्रिया-फलरूप विकारके माननेमें क्रियावेशात्मक कर्तृत्वका निवारण नहीं किया जा सकता और अनुभूयमान (अनुभवमें आनेवाला) भोक्तृत्व भी विज्ञानपर्यन्त शरीरादिमें नहीं बन सकता, इससे वह पूर्वकथित आत्मामें ही मानना पड़ता है, क्योंकि शरीर तो आकाशादि पांच भूतोंका संघातरूप है, क्योंकि 'हे तात! पञ्चभूतात्मक शरीरके पञ्चत्वको प्राप्त होनेपर' अर्थात् अपने कारणभूत पाचों भूतोंमें मिल जानेपर, ऐसा [illegible] [illegible] ता है।

होता [illegible] [illegible] कोंका जो यह मत है कि भूलोकमें रहनेवाले मनुष्योंका शरीर [illegible]

क्लेदनाद्युपलब्धिर्वस्त्रादाविव भूतान्तरोपष्टम्भादिति, तदसत्; शोषादिना जलाद्यपगमेऽपि यथा वस्त्रादिस्वरूपस्य नाऽपचयस्तथा क्लेदनपाचनव्यूहनावकाशानामपगमेऽपि शरीरस्याऽपचयाभावप्रसङ्गात् ।

यच्च वैशेषिकैरुच्यते—पञ्चभूतात्मकत्वे शरीरस्याऽप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गः, वाय्वाकाशयोरप्रत्यक्षतया प्रत्यक्षाप्रत्यक्षवृत्तित्वादिति; तदप्ययुक्तम्, तथा

पृथ्वीसे ही बना है, पाँच भूतोंसे नहीं । उसमें पसीने आदिकी उपलब्धि तो अन्य भूतोंके सम्बन्धसे होती है । जैसे कि दूसरे भूतोंके सम्बन्धसे वस्त्रमें जलादिकी उपलब्धि होती है, [आदि पदसे बढ़ना, फैलना, सिकुड़ना, गरम होना तथा अन्दरसे पोलापन आदि लेने चाहिएँ । तात्पर्य यह है कि क्लेदनादि यद्यपि जलादिके असाधारण गुण हैं तथापि जैसे वस्त्रादिमें जलादिके संयोगसे क्लेदन, पाचन, व्यूहन आदि देखे जाते हैं, पर वे पाञ्चभौतिक नहीं कहलाते, किन्तु पार्थिव ही कहलाते हैं, वैसे ही मनुष्यशरीर भी पार्थिव ही है ऐसा मानना चाहिए] । यह मत उचित नहीं है, कारण कि जैसे सुखा देने आदिसे जलादिका सम्बन्ध दूर हो जानेपर भी वस्त्रके स्वरूपकी कोई हानि नहीं होती, वैसे क्लेदन (गीलापन), पाचन, व्यूहन (बढ़ना) तथा (आकाश) पोलापन आदि गुणोंका नाश होनेपर भी शरीरके स्वरूपकी किसी प्रकारसे हानि नहीं होनी चाहिए । [वस्त्रका जलादि उपादान नहीं है, अतः क्लेदनादिके नष्ट होनेपर भी जैसे वस्त्रके स्वरूपका कुछ नहीं बिगड़ता, वैसे क्लेदनादि गुणोंके नष्ट होनेपर भी शरीरको वस्त्रके समान अपने स्वरूपमें रहना चाहिए, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता है, बल्कि क्लेदनादिका विनाश होनेपर शरीर-स्वरूपका ह्रास देखा जाता है, अतः नैयायिकोंका मत असङ्गत है] ।

और वैशेषिकोंका जो यह कहना है कि 'शरीर पाँच भूतोंसे बना है' ऐसा माननेमें उसका प्रत्यक्ष ही नही हो सकता, कारण कि वायु और आकाशका प्रत्यक्ष न होनेसे शरीर प्रत्यक्ष (पृथ्वी आदि तीन) और अप्रत्यक्ष (आकाश, वायु) भूतोंमें रहता है । [इसलिए सम्पूर्ण उपादानोंका प्रत्यक्ष न होनेसे प्रत्यक्षा-प्रत्यक्ष उपादानमें रहनेवाले शरीरका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, यह भाव है] ।

वैशेषिकोंका यह कथन भी युक्तिसङ्गत नहीं है, कारण कि [illegible] मान लेनेसे तो सभी अवयवी पदार्थोंका कभी प्रत्यक्ष ही न हो [illegible]

सति सर्वावयविनामप्रत्यक्षत्वापातात्, प्रत्यक्षाप्रत्यक्षावयववृत्तित्वात्। नहि सूक्ष्माः परभागस्थिताश्चाऽवयविनोऽवयवाः प्रत्यक्षीकर्तुं शक्यन्ते। तस्माद्भूतसंघातः शरीरम्। न च गन्धादिमतां तद्रहितानां च भूतानामेककार्यजनकत्वं न स्यात्, परस्परविरोधादिति वाच्यम्, तथा सति नीलादीनामेकावयविजनकत्वस्यैकचित्ररूपारम्भकत्वस्य चाऽसम्भवप्रसङ्गात्। अनुभवबलादेव तत्र तथा स्वीकारे प्रकृतेऽपि तन्न दण्डवारितम्।

तत्र शरीरस्य भोक्तृतां वदन्तो लोकायताः प्रष्टव्याः—किं व्यस्तानां भूतानां प्रत्येकं भोक्तृत्वम् उत समस्तानाम्? आद्येऽपि न तावद्युगपत् सर्वेषां भोक्तृता, तदा स्वार्थप्रवृत्तानां तेषामन्योन्यमङ्गाङ्गिभावानुपपत्तौ

सभी अवयवी पदार्थ प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकारके अवयवोंमें ही रहते हैं। अवयवीके अन्तिम अत्यन्त सूक्ष्म अवयवोंका (जहांपर पुनः अन्य अवयवकी कल्पना नहीं हो सकती, ऐसे अवयवोंका) प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता इसलिए पाँचों भूतोंका समूह (मिला हुआ पिण्डविशेष) ही मनुष्यशरीर है। यदि कहो कि गन्धादि गुणवाले और उन गुणोंसे रहित भूतोंका परस्पर विरोध होनेसे उनसे एक कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, कारण कि (परस्पर विरोधियोंको एक कार्यके प्रति जनक न माननेसे) नीलादि परस्पर विरोधी गुण भी एक अवयवीके (द्रव्यके) प्रति तथा एक चित्ररूपके प्रति जनक नहीं हो सकेंगे। [अर्थात् परस्पर विरुद्ध नीलादि गुण भी चित्रपट आदिके आरम्भक नहीं हो सकेंगे।] यदि कहो कि अनुभव-सामर्थ्यसे परस्पर विरोधी होते हुए भी नीलादि गुण चित्रपटके आरम्भक माने जाते हैं, तो प्रकृतमें भी उनको (अनुभवके बलसे परस्पर विरुद्ध पृथ्वी आदिको) एक शरीरके प्रति आरम्भक मानना डंडा मारकर भी नहीं हटाया जा सकता।

इन विरुद्ध परिस्थितियोंके उपस्थित होनेपर पहले शरीरको भोक्ता माननेवाले लोकायतसे—नास्तिकसे—पूछना चाहिए कि क्या अलग-अलग (प्रत्येक) भूत भोग करते हैं? अथवा सब मिले हुए भूत भोग करते हैं? प्रथम पक्षमें सबका एक [illegible] तो नहीं बन सकता, कारण कि एक साथ (क्रमके विना) [illegible] अपने-अपने अभीष्टके साथ [illegible] प्रवृत्त हुए भूतोंका परस्पर [illegible] के कारण उनका संघात ही नहीं [illegible]। [जुदे-जुदे

संघातापत्त्यभावप्रसङ्गात्। [न चाऽन्तरेणाऽङ्गाङ्गिभावं संघातस्योपपत्तिः।] अन्तरेण च संघातं भोक्तृत्वे देहाद्बहिरप्येकैकस्य भूतस्य भोक्तृतोपलभ्येत। नाऽपि क्रमेण तेषां भोक्तृत्वम्, संघातानुपपत्तितादवस्थ्यात्। न च वरविवाहादिन्यायेन गुणप्रधानभावेन तदुपपत्तिः, वैषम्यात्। यथा एकैकस्य वरस्याऽसाधारणत्वेनैकैका कन्या भोग्या, न तथा चतुर्णां पृथिव्यप्तेजोवायूनां भोक्तृणां रूपरसगन्धस्पर्शा भोग्या व्यवस्थिताः तत्र कथं क्रमभोगः? अथ कथंचिद्व्यवतिष्ठेरन्, तदाऽपि युगपत् सर्वविषयसंनिधाने सति क्रमानु-

---

अपने-अपने कामोंमें लगे रहनेकी दशामें मिलकर एक कार्यका करना सम्भव नहीं होता, यह भाव है]। [अङ्गाङ्गिभावके विना संघातका सम्भव नहीं हो सकता], [क्योंकि अङ्गाङ्गिभावको प्राप्त हुए तिनके ही संघातरूप रज्जुभावको प्राप्त होते हैं]। यदि संघातके विना भी एक-एक भूत भोक्ता मान लिया जाय, तो शरीरके बाहर भी एक-एक भूतमें भोक्तृत्वकी प्रसक्ति होगी। और क्रमसे भी प्रत्येक भूतोंको भोक्ता नहीं मान सकते, कारण कि ऐसा माननेपर भी संघातकी अनुपपत्ति तो वैसी ही बनी रह जाती है। [क्योंकि एक साथ अथवा जुदे-जुदे अपने-अपने कार्यके साधनमें प्रवृत्त हुए पदार्थोंका अङ्गाङ्गिभाव न होनेसे संघात कैसे हो सकेगा]। वर-विवाह आदि न्यायका अनुसरण करके गुण-प्रधानभाव (अङ्गाङ्गिभाव) से भी संघातकी उपपत्ति नहीं हो सकती, कारण कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें विषमता है। [दृष्टान्तभूत वरविवाहन्यायका विवेचन करते हैं—] जैसे एक-एक वरके लिए असाधारणरूपसे (जिसमें दूसरेके सम्बन्धका लेश भी प्राप्त न हो, इस रूपसे) एक-एक कन्या भोग्यभूत वस्तु है, वैसे ही भोग करनेवाले पृथिवी, जल, तेज और वायुके लिए एक-एक रूप, रस, गन्ध और स्पर्श व्यवस्थित—नियत—भोग्यवस्तु नहीं है अर्थात् भूतोंके विषय नियत नहीं हैं। [अतएव पृथ्वीमें रूप, रस आदिकी भी उपलब्धि होती है। आकाश केवल शब्दगुणक है, इसलिए आकाशका तो शब्द असाधारण गुण हो सकता है, परन्तु अन्य वायु आदि चार भूतोंमें उत्तरोत्तर गुणोंकी वृद्धि होनेसे स्पर्शादि भोग्य वस्तु [illegible] मानी जा सकती, इसलिए असाधारण-विषयमें वर-कन्या[illegible] व्यवस्था नहीं [illegible]ती]। यदि कथंचिद् रूप आदि

पपत्तिः। यथैकस्मिन् मुहूर्ते प्रत्येकं भोग्यकन्यावस्तुनि संनिहिते वराणां क्रमविवाहो गुणप्रधानतया संघातो वा नाऽस्ति, तद्वत्। नाऽपि समस्तानां भोक्तृत्वसंभवः, प्रत्येकमविद्यमानस्य चैतन्यस्य संघातेऽप्यभावाद्भोगानुपपत्तेः। अथ मन्यसे—अग्नौ प्रक्षिप्तेषु तिलेष्वेकैकस्य ज्वालाजनकत्वाभावेऽपि तिलसमूहस्य यथा तज्जनकत्वं तथा संघातस्य चैतन्यं स्यादिति, तदाऽपि संघातापत्तौ हेतुर्वक्तव्यः। आगामिभोगादिति चेद्, न; यदि तावद्भोगस्य गुणभावस्तदा प्रधानानां भूतानामन्योन्यं गुणप्रधानभाव-

---

मानी भी जाय, [यद्यपि रूपादि साधारण हैं, तथापि व्यवस्था हो सकती है कि तेजका रूप ही भोग्य है तथा वायुका स्पर्श ही, पृथ्वीका गन्ध ही और जलका रस ही भोग्य है] तो भी एक साथ सब विषयोंकी उपस्थिति होनेपर क्रमकी उपपत्ति नहीं हो सकती, [अर्थात् एक ही क्षणमें सभी भोक्ता अपने-अपने भोग्यका भोग करेंगे; क्रमकी अपेक्षा क्यों होगी ?] जैसे एक ही मुहूर्तमें प्रत्येक कन्यारूप भोग्यवस्तुका सन्निधान होनेपर वरोंका क्रमसे विवाह अथवा गुणप्रधानभाव—अङ्गाङ्गिभाव—से संघात नहीं होता वैसे प्रकृतमें भी [भूतोंका क्रमसे भोग अथवा गुणप्रधानरूपसे संघात नहीं हो सकता। और प्रकृतमें गुणप्रधानभाव मानकर संघातकी सिद्धि करना आवश्यक है, इससे दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिकमें समानता नहीं आ सकती]। और दूसरे पक्षका (मिले हुए भूत भोग करते हैं, इसका) भी सम्भव नहीं है, कारण कि प्रत्येकमें न रहनेवाले चैतन्यका (भोगकर्तृत्वका) संघातमें भी अभाव होनेसे भोगकी उपपत्ति नहीं हो सकती। यदि माना जाय कि आगमें डाले गये तिलोंमें से एक-एक तिल द्वारा ज्वालाकी उत्पत्ति न होनेपर भी तिलसमूहमें जैसे ज्वालाका जनकत्व है अर्थात् तिलसमूहसे जैसे ज्वालाकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही प्रकृतमें भी प्रत्येक भूतमें भोक्तृत्वके न होनेपर भी उसके संघातमें भोक्तृत्वरूप चैतन्यका सम्भव होगा, तब भी संघातके होनेमें हेतु कहना होगा। [संघातात्मक शरीरके अतिरिक्त चेतन पदार्थ लोकायतके मतमें है ही नहीं, जो प्रत्येक अचेतनभूतका चेतनात्मक संघात उत्पन्न कर दे, इसलिए उसका [illegible] वलना [illegible]ना होगा यह तात्पर्य है]। आगे प्राप्त होनेवाले भोगके द्वारा भी [illegible]ता [illegible]हेत कहना [illegible] सकता [अर्थात् आगामी भोगको भी संघातका कारण नहीं [illegible]ण कि यदि भोगको गुण (अप्रधान) [illegible] प्रधानरूपसे माने

रहितानां कथं संघातापत्तिः? प्राधान्यं तु भोगस्याऽनुपपन्नम्, भोक्तृशेषत्वात्। न च वाच्यं शेषिणं भोगं प्रति शेषभूतयोः स्त्रीपुंशरीरयोर्भोक्त्रोः संघातापत्तिर्दृष्टेति, तत्राऽपि शरीरयोर्भोक्तृत्वासंप्रतिपत्तेः। ज्वालां प्रति तिलानां संघातापत्तिरिति योऽयं दृष्टान्तः, सोऽपि तवाऽसिद्धः; संघातानिरूपणात्।

गये परस्पर गुणप्रधानभावसे शून्य पृथ्वी आदि भूतोंका संघात कैसे हो सकेगा? [अर्थात् भोग्यस्वरूप गन्धादि गुणके प्रति प्रधानभूत पृथ्वी आदि, परस्पर निरपेक्ष होनेसे, संघातभावको प्राप्त नहीं हो सकते याने स्वतन्त्र होनेसे अपने अधीन भोग्यका भोग स्वयं आप ही कर लेंगे] और भोग्यवस्तुस्वरूप रूपादिका प्राधान होना तो माना ही नहीं जा सकता, कारण कि भोग्य तो भोक्ताका उपकारक अङ्ग है।

[भोक्ताओं तथा भोगमें गुणप्रधानभाव न होनेके कारण ही संघातकी उपपत्तिका अभाव नहीं कह सकते, क्योंकि तादर्थ्यसे शेषशेषिभावको लेकर संघातकी उपपत्ति हो सकेगी; इस प्रकारके वादीके आशयका खण्डन करनेके लिए शङ्काका अनुवाद करते हैं—]

शङ्का—शेषीरूप भोगके प्रति भोग करनेवाले शेषभूत स्त्री तथा पुरुषके शरीरोंका संघात होते हुए देखा जाता है, [शरीरके विना भोग अनुपपन्न है, क्योंकि शरीरका लक्षण है कि 'भोगायतनं शरीरम्', इसलिए शरीरको भोगके प्रति शेष (उपकारक) मानना ही पड़ेगा। इसलिए जैसे एकके प्रति शेष होनेसे छः प्रयाजोंका संघात होता है, वैसे ही एक ही भोगके प्रति पांचों भूतोंका भी संघात उपपन्न हो सकता है, यह भाव है।]

समाधान—स्त्री तथा पुरुषके शरीरोंको भोक्ता मानना सभी प्रकारके सिद्धान्तोंसे सिद्ध नहीं है, [क्योंकि हमारे ही मतमें स्त्री-पुरुषोंके शरीरोंमें आत्मा ही भोक्ता है और शरीर केवल भोगार्थ होनेसे आत्माका ही शेष है, इससे आपके समान भोक्तास्वरूप शरीरोंका संघात नहीं माना जा सकता] और तुम्हारे (लोकायतके) द्वारा दिखलाया हुआ जो ज्वालाके प्रति तिलों[illegible] दृष्टान्त है, वह भी सिद्ध नहीं है, कारण कि संघातकार्य[illegible] हो सकता।

न तावत् संघातो नाम भोगभोगिनोर्वनवदेकदेशतामात्रम्, तथा सति तेन न्यायेन व्यापिनां भूतानां सर्वत्र तत्सत्त्वाच्चैतन्यभोगयोः सार्वत्रिकत्वप्रसङ्गात्। नाऽपि तदारब्धोऽवयवी संघातः, तस्य भूतेभ्यो भेदे पञ्चमतत्त्वाभ्युपगमप्रसङ्गात्। अभेदे भूतमात्रतया संघातासंभवात्। भेदाभेदयोश्चाऽनङ्गीकरणात्। अथाऽवयविनः पारतन्त्र्यान्न पञ्चमतत्त्वापत्तिः, तर्हि जलादेः पृथिव्यादितन्त्रत्वान्न तत्त्वचतुष्टयमपि सिध्येत्। न चैक-

---

[जैसे अनेक वृक्षोंका एक देशमें उगना ही उनका संघातभूत वन कहलाता है, वैसे भोग और भोक्ताका समानाधिकरणत्व ही संघात है, इस प्रकारके वादीके आशयसे कहते हैं कि] वनके समान भोग और भोगीका एक देशमें होना ही तो सङ्घात है ? नहीं, वह भी संघात नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मान लेनेसे तो इस न्यायसे (अर्थात् एकदेशस्थताको ही संघात माननेकी नीतिसे) व्यापकस्वरूप पृथ्वी आदि भूतोंकी (शरीरके बाहर भी) एकदेशस्थता सर्वत्र विद्यमान ही है, इसलिए चैतन्य और भोगका सभी जगह प्रसङ्ग आ जायगा। और उन अवयवोंसे (भूतोंसे) एक अवयवीका होना भी संघात नहीं कहा जा सकता, कारण कि उस अवयवीका यदि (अवयवरूप) भूतोंसे भेद माना जाय तो 'अवयवीरूप' पांचवां तत्त्व माननेका प्रसङ्ग आ जायगा। [लौकायतिक केवल पृथ्वी, जल, तेज और वायु, इस प्रकार चार ही तत्त्व मानता है। उनसे बने हुए शरीररूपी अवयवीको उनसे भिन्न माननेपर उसे पांचवां तत्त्व मानना पड़ेगा, इससे स्वयं अपसिद्धान्त दोषका भागी होगा, यह सारांश है]। और यदि भेद नहीं मानते, तो शरीर चार प्रकारके भूत ही रहे, अतः अतिरिक्त संघातकी सिद्धि ही नहीं हुई। और भेद तथा अभेद दोनोंको तो तुम मानते नहीं हो ['सुवर्णका कुण्डल है तथा कुण्डल सुवर्ण है—इन दोनों प्रतीतियोंसे सुवर्ण तथा कुण्डल दोनोंमें भेदाऽभेदस्वरूप तादात्म्य माना जाता है, इसमें भेद काल्पनिक और अभेद परमार्थ है, ऐसा तादात्म्य नास्तिक नहीं मानता]। यदि कहो कि अवयवी अवयवोंके पराधीन है, इसलिए अवयवसे अतिरिक्त पांचवाँ तत्त्व माननेकी [illegible] सकती, तो जलादिके भी पृथ्वी तत्त्वके पराधीन होनेसे आपके [illegible] सिद्ध नहीं हो सकेंगे, [क्योंकि यदि अवयवीमें अवयव-भेद [illegible]ता मानी जाय, तो जलादिमें भी पृथ्वी-भेद-प्रतीतिरूप

द्रव्यबुद्ध्यालम्बनयोग्यतापत्तिः संघातः, वस्तुतोऽनेकेष्वेकत्वबुद्धेर्विभ्रममात्रत्वात्। न चैकार्थक्रियायां युगपदन्वयः संघातः, तदानीं काष्ठाश्रयेण वह्निना वायुसमुद्धूतेन जले ताप्यमाने सति तत्र भूतचतुष्टयसंघाताद्भोगप्रसङ्गात् । न चाऽन्ययःपिण्डवत् संश्लेषः संघातः, शरीरे वायोस्तथा संश्लेषाभावात्। वह्निव्याप्ते चाऽयःपिण्डे सन्तापितजले वायुसंयुक्ते भोगप्रसङ्गात् । न चोक्तदोषपरिहारायैकस्यैव भूतस्य भोक्तृत्वनियतिः शङ्कनीया, सर्वसंनिधानेऽस्यैव भोग इत्यनिर्द्धारणात् ।

पराधीनता विद्यमान ही है। और दूसरे अवयवोंसे बननारूप पराधीनता मानो, तो पृथ्वी भी जलसे बनी है। इसलिए पृथ्वीमें भी उक्त पराधीनता चली गई, इस परिस्थितिमें तुम्हारे अभिमत चार तत्त्व दिवंगत ही हो चुके, यह भाव है।] तथा 'यह एक द्रव्य है' इस बुद्धिमें विषय होनेकी योग्यता ही संघात पदार्थ है, ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण कि परमार्थतः अनेक पदार्थोंमें एक बुद्धिका होना केवल भ्रम है [भ्रमात्मक बुद्धिमें कार्यकारित्व नहीं रहता, इसलिए भ्रमविषय संघातमें भी भोक्तृत्व नहीं हो सकता, यह तात्पर्य है] और एक ही अर्थक्रियामें (प्रमातृत्व आदि व्यवहारमें) सबका एक साथ अन्वय होनेको भी संघात नहीं कह सकते हैं, कारण कि ऐसा माननेसे वायुसे सुलगी हुई लकड़ीकी आगसे गरम किये गये जलमें चारों भूतोंका संघात होनेसे उसमें भी भोगका प्रसङ्ग हो जायगा। वैसे अग्नि और लोहेके गोलेके सम्बन्धके समान सम्बन्धको (सर्वावयवसे एकरस-व्याप्तिको) भी संघात नहीं मान सकते, कारण कि शरीरमें वायुका आग और लोहेके समान सम्बन्ध (एक-एक अवयवमें समानरूपसे व्याप्ति) नहीं है। [दूसरा दोष भी देते हैं—] जिसने जलको तपाकर अपनेमें ही सुखा लिया हो और वायु भी उसपर लगता हो, ऐसे गरम लोहपिण्डमें (चारों भूतोंका संघात होनेसे) भोगप्राप्तिका प्रसङ्ग होगा [परन्तु तप्तायःपिण्डमें भोग देखा नहीं जाता है, इसलिए भोगका समवायी कारण संघातरूप शरीर नहीं हो सकता] उक्त दोषके परिहारके लिए कहो कि एक ही भूत भोक्ता है, तो यह भी नहीं [illegible] सकते, कारण कि सबके संनिधानमें, यह इसका भोग है, इस [illegible] क्रिया जा सकता [रूप, रस, गन्ध और स्पर्श-रूप भोग्य वस्तु [illegible]

यत्तु लौकायतैकदेशिनां मतद्वयम्—इन्द्रियाणां भोक्तृत्वं देहेन्द्रियसंघातस्य च भोक्तृत्वमिति, तदुक्तन्यायेन निराकरणीयम्।

ननु कानि पुनरिन्द्रियाणि येषां भोक्तृत्वं निराक्रियते। तत्र गोलकमात्राणीति सुगताः, तच्छक्तय इति मीमांसकाः, तद्व्यतिरिक्तानि द्रव्यान्तराणीत्यन्ये सर्वे वादिनः।

न तावद्गोलकमात्रत्वं युक्तम्, कर्णशष्कुल्यादिविरहिणामपि सर्पादीनां शब्दाद्युपलब्धिसद्भावात्। वृक्षाणां च सर्वगोलकरहितानां विषयोपलम्भसत्त्वात्, 'तस्मात् पश्यन्ति पादपाः' इत्यादिशास्त्रात्। न च वृक्षाणामचेतनत्वम्, हिंसाप्रतिषेधेन प्राणित्वावगमात्। अत एव न गो-

---

भूतोंके भी उपस्थित रहनेमें कौन किसका भोग है, इसका नियामक कोई नहीं है, इसलिए अविशेषसे चारोंको भोक्ता मानना होगा और उनका संघात बन नहीं सकता, इसलिए संघातभूत शरीरात्मक भूतोंको भोक्ता मानना युक्तिसंगत नहीं है, यह तात्पर्य है।]

और भी लोकायत-मतके एकदेशियोंके जो ये दो मत हैं कि इन्द्रियां भोक्ता हैं अथवा देहेन्द्रियका संघात भोक्ता है। इन दोनों मतोंका दिखलाये गये न्यायके अनुसार खण्डन करना चाहिए।

[इन्द्रियोंमें भोक्तृत्वका खण्डन करनेके पहले इन्द्रियविषयक विप्रतिपत्ति दिखलानेके लिए प्रश्न करते हैं—] इन्द्रियां कौन पदार्थ हैं? जिनमें भोक्तृत्वका खण्डन किया जा रहा है। इस विषयमें बौद्ध कहते हैं कि गोलकमात्र [अर्थात् शरीरमें दीख पड़नेवाले आंख, नाक, कान आदिके तत्-तत् आकार] ही इन्द्रियाँ हैं। मीमांसक आकारोंमें देखने, सुनने आदिकी शक्तियोंको ही इन्द्रिय मानते हैं और इतर सभी लोग इन दोनोंसे अतिरिक्त द्रव्यान्तर ही इन्द्रिय है, ऐसा मानते हैं।

[बौद्धका खण्डन करते हैं—] गोलकको ही इन्द्रिय मानना उचित नहीं है, कारण कि कर्णशष्कुली (कानके भीतर एक विशेष प्रकारके छेद) आदिसे शून्य सर्प आदिको भी शब्दादि विषयोंका प्रत्यक्ष होता है और किसी भी [illegible] गोलक न होनेपर भी वृक्षादिको सम्पूर्ण विषयोंकी उपलब्धि होती [illegible] से वृक्ष भी देखते हैं' ऐसा शास्त्र कहता है। वृक्षोंको [illegible] मान सकते, क्योंकि शास्त्रोंमें उनकी हिंसाका निषेध है,

लकशक्तित्वमिन्द्रियाणाम्। अथ शक्तिमद्द्रव्यान्तरकल्पनात् प्रतिपन्नस्थानेषु शक्तिमात्रकल्पने लाघवं मन्यते, तर्ह्यत्यन्तलाघवादात्मन एव क्रमकारिसर्वविज्ञानसामर्थ्यं कल्प्यताम्, किमेभिरिन्द्रियैः? न च सर्वगतस्याऽऽत्मनो गोलकप्रदेशेष्वेव ज्ञानपरिणामोऽनुपपन्नः, त्वया तस्यैव शरीरप्रदेशमात्रे ज्ञानपरिणामाङ्गीकारात्। एवं चाऽनिन्द्रियेष्वपि गोलकप्रदेशेषु ज्ञानान्वयव्यतिरेकौ शरीरद्रव्यान्यथासिद्धौ, ततो न मीमांसकमतमुपपन्नम्। सन्तु तर्हि द्रव्यान्यराणीन्द्रियाणि, तानि च गोलकविशेषसंबन्धाच्चक्षुरादि-

---

अतः 'वृक्षोंमें प्राण है' ऐसा प्रतीत होता है। इसी कारण गोलककी शक्तियोंको भी इन्द्रिय नहीं मान सकते [क्योंकि उससे भी सर्प अथवा वृक्षादिमें व्यभिचार बना ही रह जायगा] यदि कहो कि शक्तिशाली द्रव्यान्तरकी कल्पनाकी अपेक्षा सर्वसम्मत नाक, कान आदि आकारविशेषवाले स्थानोंमें केवल शक्तिकी कल्पना करनेमें लाघव है, तो इसपर यह कहा जा सकता है कि शक्तिकी अपेक्षा अधिक लाघव होनेसे आत्मामें ही क्रमके उत्पादक सर्व-विज्ञानके सामर्थ्यकी ही कल्पना करो, इन (विप्रतिपत्तिग्रस्त) इन्द्रियोंकी कल्पना करनेसे क्या फायदा है ?

शङ्का—सर्वत्र व्याप्त आत्माका केवल गोलक-प्रदेशमें ज्ञानरूप परिणाम मानना युक्त नहीं है।

समाधान—तुम भी उस सर्वगत आत्माका शरीरप्रदेशमें ही ज्ञानरूप परिणाम मानते हो। [अर्थात् 'यश्चोभयोः समो दोषः परिहारस्तयोः समः' इत्यादि न्यायसे जैसे तुम्हारे मतमें सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी आत्माका शरीरसे बाहर ज्ञानाकार परिणाम नहीं हो सकता, केवल शरीरमें ही हो सकता है, वैसे ही मेरे मतमें भी गोलकमात्रमें ज्ञानाकार परिणामकी प्राप्ति असङ्गत नहीं है] इस रीतिसे इन्द्रियसे भिन्न होनेपर भी गोलकोंमें ज्ञानका अन्वय-व्यतिरेक तो शरीररूप द्रव्यके कारण अन्यथासिद्ध है। [अर्थात् सर्वव्यापी आत्माका जैसे इन्द्रिय-भिन्न शरीरके साथ ज्ञानान्वय-व्यतिरेक है, वैसे ही गोलकोंके साथ भी है, इन अन्वय-व्यतिरेकोंसे गोलकोंका या इनकी शक्तियोंका चेतना[illegible] सिद्ध नहीं हो सकता] इससे मीमांसक मत सङ्गत नहीं[illegible] तब तो अन्य वादियोंका सिद्धान्त—'द्रव्यान्तर ही इन्द्रियाँ हैं[illegible]

शब्दवाच्यानीति; तदप्ययुक्तम्, तेषु प्रमाणाभावात्। विमता रूपाद्युपलब्धयः, करणपूर्विकाः, कर्तृव्यापारत्वाद्, छिदिक्रियावत्, इति चेद्, न; अनैकान्तिकत्वात्। करणप्रेरणलक्षणे कर्तृव्यापारे करणान्तराभावात्, अन्यथाऽनवस्थानात्। 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इत्यागमगम्यानीन्द्रियाणीति चेद्, न; आगमसंस्कारविरहिणामपीन्द्रियप्रतिप-

---

(आकार-विशेषके) सम्बन्धसे आंख आदि शब्दोंसे कही जाती हैं—मान लें, तो यह भी उचित नहीं है; क्योंकि उस प्रकारके अतिरिक्त द्रव्योंके माननेमें कोई प्रमाण नहीं है।

शङ्का—विमत (विवादग्रस्त) रूपादिका प्रत्यक्ष, करणपूर्वक होता है, कर्ताके व्यापाररूप होनेसे, छेदन क्रियाके सदृश; [जैसे छेदन-क्रिया करण (साधन) द्वारा हो सकती है, वैसे ही व्यापारत्वसामान्यसे सभी व्यापार साधनसे ही सिद्ध होते हैं और वे साधन जिनका नाम आंख, कान आदि हैं, ऐसे द्रव्यान्तर ही हैं, क्योंकि उपलब्ध द्रव्य तो दर्शनादिके साधन हो नहीं सकते] यह अनुमान उन इन्द्रियात्मक अतिरिक्त द्रव्योंके माननेमें प्रमाण है।

समाधान—ऐसा नहीं है, कारण कि उक्त अनुमान व्यभिचारदोषसे दूषित है। [छेदनक्रियाके साधनभूत कुठार आदि भी तो अपने व्यापारके कर्ता हैं, लेकिन उस करणरूप कुठारादि कर्ताका व्यापार करणपूर्वक नहीं है, इसलिए ऐसे कर्तृव्यापारमें व्यभिचार आया, अतः उक्त अनुमान नहीं हो सकता। यदि प्रधानीभूत कर्तृव्यापारमें ही उक्त नियम माना जाय; सामान्य कर्तृव्यापारमात्रमें नहीं, तो भी दोष देते हैं—] करण और प्रेरणात्मक कर्ताके व्यापारमें कोई दूसरा करण नहीं है। [यद्यपि देवदत्तादिसे की जानेवाली छेदनक्रियाके पहले कुठारादि करण हैं, तथापि करणभूत कुठारको प्रेरणा करते हुए देवदत्तादिके व्यापारमें तो दूसरा करण नहीं है। यदि उसमें देवदत्तादिका प्रयत्न और उसमें मन, बुद्धि इत्यादि करणपरम्परा लगाते चलो, तो दोष देते हैं—] अन्यथा करणपरम्परा माननेसे तो अनवस्था दोष आ जायगा, अर्थात् [illegible] भी न रुकनेसे मूलकरणकी भी सिद्धि नहीं हो सकेगी।

[illegible] ब्रह्मसे ही प्राण, मन और सब इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।' [illegible] इन्द्रियोंकी प्रामाणिक प्रतीति होती है।

त्तेः । न च मनोवत्साक्षिवेद्यानीन्द्रियाणि, रूपादिज्ञानाख्यं लिङ्गमनपेक्ष्य साक्षिमात्रेण चक्षुरादीनां प्रतिपत्तेरभावात् । तस्मान्न सन्त्येवेन्द्रियाणीति ।

अत्रोच्यते—गोलकव्यतिरिक्तानीन्द्रियाण्यागमादेवाऽवगम्यन्ते । नहि तत्संस्कारहितास्तानि जानन्ति किन्तु गोलकान्येव ।

यत्तु तेषामिन्द्रियाणामहङ्कारकार्यत्वं सांख्यैरुच्यते तत्र किमध्यात्माऽहङ्कारः कारणं किं वा कृत्स्नकार्यव्यापिनी काचिदहङ्काराख्या प्रकृतिः ? उभयत्राऽपि नाऽस्ति किमपि मानम् । अथ द्वितीयपक्षे नानापुराणवचनानि मानम्, तन्न, श्रुतिविरोधात् । 'अन्नमयं हि सोम्य मन

समाधान—यह शङ्का उचित नहीं है; कारण कि शास्त्रजनित संस्कारसे सर्वथा विहीन पामरोंको भी इन्द्रियोंकी प्रतीति होती है ।

इन्द्रियोंको मनकी भाँति साक्षिवेद्य भी नहीं मान सकते, कारण कि रूपादिकी प्रतीतिरूप हेतुकी अपेक्षाके विना केवल साक्षीसे ही आंख आदि इन्द्रियोंकी प्रतीति नहीं होती है । [अर्थात् रूपादिज्ञान द्वारा ही साक्षी चक्षुरादि इन्द्रियोंकी प्रतीति करता है । मनकी भाँति उपलब्धिसामान्यसे नहीं] । इसलिए इन्द्रियाँ हैं ही नहीं ।

नहीं, इन्द्रियोंके विषयमें ऐसा शास्त्र द्वारा ही जाना जाता है कि गोलकसे अतिरिक्त ही इन्द्रियां हैं । शास्त्रीय संस्कारसे शून्य पामर उनको नहीं जान सकते, वे तो केवल गोलकोंको ही इन्द्रियाँ जानते हैं, [इससे सूचित किया कि बौद्ध तथा मीमांसक शास्त्रीय वासनासे विहीन पामर हैं] ।

इन्द्रियाँ अहङ्कारकी कार्य हैं, ऐसा सांख्यमतावलम्बियोंका जो कहना है, उसपर प्रश्न होता है कि क्या अध्यात्म अहंकार इनका कारण है ? या सम्पूर्ण कार्यमात्रको व्याप्त करनेवाली अहङ्कार नामकी कोई प्रकृति है ? । [अर्थात् आध्यात्मिक अहङ्कारसे इन्द्रियोंका जन्म है अथवा आधिदैविक अहङ्कारसे ?] दोनों प्रकारोंमें कोई भी प्रमाण नहीं है, दूसरे पक्षमें अनेक पुराण-वचन प्रमाण हैं, ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण कि ऐसा माननेमें श्रुतिसे विरोध आता है । [श्रुति-विरोध

(१) 'त्रिविधोऽयमहङ्कारो महत्तत्त्वादजायत । इन्द्रियाणां ततः [illegible] महामुने ! ॥' हे महामुनिजी, यह आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक [illegible] महत्तत्त्वसे उत्पन्न हुआ है । और इस अहङ्कारसे गुणोंके द्वारा इन्द्रियोंकी [illegible] पुराण-वचन समझने चाहिएं ।

आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्' इत्यादिश्रुतौ भूतविकारत्वावगमात् । अतः पुराणवचनानीन्द्रियाणामहङ्काराधीनतामात्रं प्रतिपादयन्ति ।

यच्च शुष्कतार्किकैर्भौतिकत्वमिन्द्रियाणामुक्तम्, तदप्ययुक्तम्; तैर्मानस्य वक्तुमशक्यत्वात् । इन्द्रियाणि भौतिकानि, सावयवत्वात्; सावयवत्वं च मध्यमपरिमाणत्वादिति चेद्, न; इन्द्रियाणामणुपरिमाणत्वेऽपि बाधाभावेन हेत्वसिद्धेः । विषयावभासस्याऽप्यणुत्वप्रसङ्गो बाध इति चेद्, न; त्वन्मतेऽणुपरिमाणेनाऽपि मनसा विस्तृतात्मादि-

---

दिखलाते हैं—] 'हे सौम्य ! मन अन्नमय अर्थात् अन्नका विकार है तथा प्राण जलका और वाणी तेजका विकार है' इत्यर्थक श्रुतिसे इन्द्रियाँ भूतकी विकार हैं, ऐसा प्रतीत होता है, अतः उक्त श्रुतिसे विरोधका परिहार करनेके लिए पुराणके वचनोंसे इन्द्रियोंका अहङ्कारके अधीन रहना केवल प्रतिपादित होता है ।

और भी जो शुष्क तर्कवादी वैशेषिक-मतानुयायियोंका कहना है कि इन्द्रियाँ भौतिक हैं [वैशिपिक केवल तर्क द्वारा इन्द्रियोंको भूतविकार मानते हैं, शास्त्रसे नहीं, इसलिए शास्त्रीयवासनासे शून्योंको भी तर्क द्वारा जान लेना प्राप्त हो जाता है कि इन्द्रिय भूतविकार हैं, इससे उक्त कथनका खण्डन हो जाता है कि शास्त्र द्वारा ही इन्द्रियोंको गोलकसे अतिरिक्त जाना जा सकता है] वह भी युक्तिसङ्गत नहीं है, कारण कि वे इसमें प्रमाण नहीं दे सकते ।

शङ्का—इन्द्रियाँ भूतविकार हैं, क्योंकि वे अवयवयुक्त हैं, और उनका अवयवयुक्त होना मध्यमपरिमाणसे सिद्ध होता है । [मध्यमपरिमाणवाले घटादि सब जैसे सावयव हैं, वैसे इन्द्रियाँ भी सावयव होंगी] यह अनुमान इन्द्रियोंके भौतिकत्वमें प्रमाण है ।

समाधान—ऐसा नहीं है, कारण कि इन्द्रियोंको अणुपरिमाण मान लेनेमें भी बाध नहीं आता है, अतः मध्यमपरिमाणत्वरूप हेतु असिद्ध है ।

शङ्का—इन्द्रियोंको अणुपरिमाण माननेपर उनके कार्यस्वरूप विषय-प्रत्यक्षको भी अणुपरिमाण मानना होगा, इसलिए इन्द्रियोंको अणुपरिमाण नहीं [illegible]

[illegible] क तर्क उचित नहीं है, कारण कि तुम्हारे मतके अनुसार [illegible] नसे भी महत्परिमाणवाले आत्मा आदि पदार्थोंका प्रत्यक्ष

वस्तुदर्शनसद्भावात् । चक्षुः रूपगुणवत्प्रकृतिकम्, रूपादिषु पञ्चसु मध्ये रूपस्यैवाऽभिव्यञ्जकत्वाद्, यद्यस्य नियमेनाऽभिव्यञ्जकं तत् तद्गुणवत्प्रकृतिकम्, यथा रूपाभिव्यञ्जको रूपप्रकृतिको दीपः, एवमन्यत्राऽप्यूहनीयमिति चेद्, न; शब्दस्यैवाऽभिव्यञ्जके श्रोत्रे शब्दगुणवदाकाशानारब्धेऽनैकान्तिकत्वात् । कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नाकाशमात्रस्य त्वया

होते देखा जाता है। [अतः इन्द्रियोंके अणु माननेपर भी उक्त दोष नहीं आता ।] पुनः दूसरे तर्क द्वारा इन्द्रियोंका भौतिकत्व सिद्ध करते हुए शङ्का करते हैं—] चक्षु इन्द्रिय रूपवत्-प्रकृतिक है अर्थात् चक्षुरिन्द्रियकी प्रकृति रूपवान् द्रव्य है, क्योंकि वह रूपादि पांच गुणोंमें से केवल रूपकी अभिव्यक्ति करती है। नियम है कि जो जिसकी व्यभिचारके विना अभिव्यक्ति करता है, वह उस गुणवाली प्रकृतिका ही विकार होता है, जैसा कि रूपको अभिव्यक्त करनेवाला रूपवत्-प्रकृतिक (तैजस) दीप है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियविषयक भी अनुभव करना चाहिए। [अर्थात् जिह्वा इन्द्रिय रस गुणवाले जलका विकार है, क्योंकि रूपादिमें से केवल रसका ग्रहण करती है, जैसे मुखसे उत्पन्न होनेवाली लार, नासिका गन्ध गुणवाली पृथ्वीका विकार है, अतएव रूपादिमें से गन्धका ही ग्रहण करती है, जैसे हींग आदि द्रव्य एवं त्वगिन्द्रिय स्पर्शगुणक वायुका विकार है, क्योंकि रूपादिमें से स्पर्शका ही ग्रहण करती है, जैसे पंखेकी हवा, इस प्रकार अन्य अनुमान समझने चाहिएँ। उक्त अनुमानमें अनुकूल तर्कका अभाव दिखला कर समाधान करते हैं—] ऐसा नहीं, कारण कि केवल शब्दकी अभिव्यक्ति करनेवाले कानमें व्यभिचार है, क्योंकि शब्दगुणवाले आकाशका कर्णेन्द्रिय विकार नहीं है, कर्णेन्द्रियको तो तुम कानके भीतर विद्यमान एक प्रकारका छिद्ररूप आकाश ही मानते हो* । [इसलिए श्रोत्रग्राह्य विशेषगुणवाले द्रव्यसे उत्पन्न न होनेपर भी जैसे कर्णेन्द्रिय शब्दमात्रका ग्रहण करती है, वैसे दूसरी इन्द्रियाँ भी तत्-तद्-विशेष गुणवाले द्रव्यकी विकार न होनेपर भी तत्तद्-विशेष गुणकी अभिव्यञ्जिका होतीं हैं, ऐसा माननेमें कोई हानि नहीं है।

---

* आकाश एक ही है, उसका कोई सजातीय भेद तो है ही [illegible] आरम्भक नहीं है।

श्रोत्रत्वाभ्युपगमात् । विशेषव्याप्तौ नाऽनैकान्तिकतेति चेद्, एवमप्यतिप्रसङ्गो दुर्वारः । रूपादिचतुष्टयाभिव्यञ्जकस्य मनसो भूतचतुष्टयारभ्यत्वस्य सुसाधत्वात् । अभूतस्याऽप्यात्मादेर्ग्राहकतया मनो न भूतारभ्यमिति चेत्, तर्हि संख्यापरिमाणादेरपि ग्राहकतया चक्षुरादीनां भूतारभ्यत्वं न स्यात् । असाधारणविषयारभ्यत्वाङ्गीकारे सति भौतिकत्वसिद्धिरिति चेत्, तर्हि मनोऽप्यसाधारणविषयेणाऽऽत्मनाऽऽरभ्येत । एकद्रव्यस्याऽऽत्मनः

शङ्का—विशेष व्याप्ति माननेमें व्यभिचार नहीं आता है [अर्थात् 'जो जिसके विशेष गुणका अभिव्यञ्जक है' इत्यादि नियमको इन्द्रियसामान्य-विषयक न मानकर रूपादिचतुष्टयके ग्राहक चक्षुरादि-इन्द्रिय-विशेष-विषयक ही मानेंगे, इससे श्रोत्रेन्द्रियमें व्यभिचार नहीं आ सकता है, यह भाव है]

समाधान—उक्त प्रकारसे विशेषविषयक नियम माननेमें भी अति-प्रसङ्ग नहीं हटाया जा सकता है, कारण कि उक्त व्याप्तिसे रूपादि चारोंकी (रूप, रस, गन्ध और स्पर्शकी) अभिव्यक्ति करनेवाला मन भी पृथ्वी, जल, तेज, वायु—इन चारों भूतोंका विकार हो जायगा, जो तुमको भी इष्ट नहीं है। यदि कहो कि भूतोंसे अतिरिक्त आत्मादिकी भी मन अभिव्यक्ति करता है, इसलिए मन भूतोंका विकार नहीं हो सकता; तो भूतके विशेष गुणोंसे अन्य संख्या तथा परिणाम आदिकी अभिव्यञ्जक होनेसे चक्षुरादि इन्द्रियाँ भी भूतकी विकार नहीं हो सकतीं।

शङ्का—असाधारण विषयसे उत्पन्न होती हैं, ऐसे नियमका अङ्गीकार कर लेनेपर इन्द्रियाँ भौतिक सिद्ध हो सकती हैं, [अर्थात् जो जिसका असाधारण—अनन्यग्राह्य—विषय है, वह उस विषयवालेसे उत्पन्न होता है, इस व्याप्तिसे चक्षुका रूप असाधारण विषय है, इसलिए चक्षु रूपवाले तेजोरूप द्रव्यसे उत्पन्न होता है, इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंके विषयमें भी समझना चाहिए, यह सारांश है]।

समाधान—इस निर्णयके अनुसार तो मन भी उसके असाधारण विषय [illegible] माना जाना चाहिए, [क्योंकि आत्मा भी मनसे इतर [illegible] नहीं है, अतः वह मनका ही असाधारण विषय है]। [illegible] से सावयव द्रव्यका आरम्भ भले ही न हो, परन्तु मनोरूप

सावयवद्रव्यानारम्भकत्वेऽपि निरवयवं मनोद्रव्यं प्रत्यारम्भकत्वं किं न स्यात्। तस्मान्न शुष्कतर्कादिन्द्रियाणां भौतिकत्वसिद्धिः, किन्त्वागमादेव।

तानि पुनरिन्द्रियाणि सर्वगतानीति योगाः प्रतिपेदिरे। तदपि मानहीनम्। आत्मेन्द्रियमनांसि सर्वगतानि सर्वत्र-दृष्टकार्यत्वादाकाशवत्; दृश्यते हि ज्ञानं तत्कार्यं सर्वत्रेति चेद्, न; सर्वत्रेत्यनेन कृत्स्नजगद्विवक्षायामसिद्धिप्रसङ्गात्। यत्र शरीरं तत्र सर्वत्रेति विवक्षायां शरीरे

निरवयव द्रव्यका उससे आरम्भ क्यों नहीं होगा? [अर्थात् अकेले द्रव्यसे सावयव द्रव्य नहीं हो सकता, क्योंकि सावयवका आरम्भक सङ्घात ही होता है, परन्तु अवयवशून्य मनका आरम्भक अकेले आत्मरूप द्रव्यके होनेमें कोई बाधा नहीं है, यह तात्पर्य है।] इसलिए शुष्क याने शास्त्राऽननुगृहीत तर्कसे इन्द्रियोंका भौतिक होना सिद्ध नहीं हो सकता, किन्तु शास्त्र द्वारा ही इन्द्रियोंका भौतिकत्व सिद्ध हो सकता है।

वे * इन्द्रियां सर्वगत—चारों ओर प्रसरणमें समर्थ व्यापक परिमाणवाली—हैं, ऐसा पातञ्जल योगदर्शनकार मानते हैं। परन्तु उनका ऐसा भी मानना प्रमाणशून्य है। यदि कहो कि आत्मा, इन्द्रिय तथा मन सर्वगत (विभु) हैं, सभी जगह इनके कार्यकी उपलब्धि होनेसे, आकाशके समान। [अर्थात् जैसे आकाशका सर्वत्र ही शब्दरूप कार्य देखा जाता है, अतः वह विभु है, वैसे ही आत्मादिके ज्ञान आदि कार्योंकी भी सर्वत्र उपलब्धि होती है, अतः वे विभु हैं] क्योंकि उनका कार्यभूत ज्ञान सर्वत्र ही देखा जाता है, इस अनुमानसे उनकी व्यापकता सिद्ध होगी, तो ऐसा कहना भी नहीं बनता, कारण कि उक्त हेतुके अन्तर्गत 'सर्वत्र' पदसे यदि सम्पूर्ण संसारकी विवक्षा करोगे तो हेतुकी असिद्धि है, [क्योंकि शरीरके बाहर कहीं भी संसारमें इन्द्रियादिकार्य-ज्ञान नहीं होता]। यदि जहां शरीर है, वहां सर्वत्र (शरीरमें) ऐसी विवक्षा करो अर्थात् 'सर्वत्र' पदसे सारा संसार न लेकर सम्पूर्ण शरीर

---

* 'तानि पुनः' इत्यादिसे लेकर 'किन्त्वागमादेव' तकके ग्रन्थसे इन्द्रियोंके स्वरूप तथा कारणविषयक विप्रतिपत्तिका निराकरण करके सिद्धान्त किया कि गोलकमें [illegible] ही इन्द्रियां हैं और उनके कारण आकाशादि भूत हैं। अब 'तानि पुनः' [illegible] सिद्धम्' पर्यन्त प्रघट्टकसे इन्द्रियाँ तथा मनमें प्रमाणविषयक विप्रति[illegible] मतका प्रदर्शन करते हैं।

एवाऽनैकान्तिकत्वम्, दृश्यते हि यत्र शरीरं तत्र सर्वत्र शरीरकार्यम्। न च शरीरस्य सर्वगतत्वमस्ति। अथेन्द्रियाणि सर्वगतानि, परोपाधिकगमनत्वात्, आकाशवत्; यथाऽऽकाशस्य गमनं घटाद्युपाधिकं तथेन्द्रियाणां शरीरोपाधिकं गमनमिति चेद्, न; शरीरावयवेष्वनैकान्तिकत्वात्। प्राणोपाधिकं हि तेषां गमनम्। किञ्चेन्द्रियाणां सर्वगतत्वे युगपत् सर्वविषयोपलब्धिः स्यात्। शरीर एव वृत्तिलाभान्नाऽयं दोष इति चेत्, तर्हि बहिरिन्द्रियसद्भावकल्पना न प्रमाणप्रयोजनवती। तस्मादसर्वगतानीन्द्रियाणि।

यत्तु तान्यप्राप्यकारीणीति सुगताः कल्पयन्ति, यदयुक्तम्; तत्र

केवल लेना हो, तो शरीरमें ही व्यभिचार होगा, कारण कि देखा जाता है कि जहाँ जहाँ शरीर है, वहाँ सर्वत्र शरीरका कार्य—चलन, स्थिति, आसनादि—कुछ-न-कुछ अवश्य रहता है, परन्तु इस सर्वत्रदृष्टकार्यत्वरूप हेतुसे शरीरका सर्वगतत्व नहीं देखा जाता है। यदि कहो कि इन्द्रियाँ सर्वगत हैं; दूसरेके कारण गमनशील होनेसे, आकाशके समान अर्थात् जैसे आकाशका गमन घटादिरूप उपाधिके द्वारा होता है, वैसे ही इन्द्रियोंमें गमन शरीररूप उपाधिके द्वारा होता है, इस अनुमानसे इन्द्रियोंका सर्वगतत्व सिद्ध होगा, तो यह कहना भी उचित नहीं है, कारण कि शरीरके अवयवोंमें ही व्यभिचार बना हुआ है, क्योंकि उनका प्राणरूप उपाधिसे ही गमन होता है। [परन्तु शरीरके अवयव सर्वगत नहीं हैं। दूसरा भी दोष देते हैं—] इन्द्रियोंको सर्वगत माननेमें एक साथ सभी विषयोंका ज्ञान होना चाहिए। यदि कहा जाय कि शरीरमें ही इन्द्रियोंको अपने वृत्तिरूप कार्यका उत्पादन करनेकी योग्यता प्राप्त होती है, अतः उक्त दोष नहीं आता [अर्थात् सर्वगत होते हुए भी कार्यजननयोग्यता सर्वत्र नहीं है, किन्तु परिच्छिन्न शरीरमें ही है, अतः उक्त दोषका प्रसङ्ग नहीं है] तो यह भी युक्त नहीं है, कारण कि (इन्द्रियोंको सर्वगत मानकर शरीरके) बाहर इन्द्रियोंकी सत्ताकी कल्पना करना प्रमाण तथा प्रयोजन दोनोंसे शून्य है, इसलिए इन्द्रियोंको सर्वगत नहीं मान सकते।

[illegible] जो यह कल्पना है कि इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी हैं [अर्थात् परिच्छिन्न होता [illegible] कल्पना [illegible] देशमें ही स्थित हैं और विषय देशमें न जाकर ही ज्ञान [illegible] हत [illegible] [illegible] युक्त नहीं है, क्योंकि यहाँपर प्रश्न होता है कि उन इन्द्रियोंमें

किं चक्षुःश्रोत्रयोरेवाऽप्राप्यकारित्वम् उतेतरेषामपि ? न तावदितरेषाम्; दूरत एव स्पर्शरसगन्धोपलब्धिप्रसङ्गात् । नाऽपि प्रथमः, विमते चक्षुःश्रोत्रे प्राप्यकारिणी, बाह्येन्द्रियत्वाद्, घ्राणादिवत्, तेजसस्त्वतिदूरशीघ्रगमनदर्शनादुन्मीलनमात्रेण चक्षुषो ध्रुवादिप्राप्तिरविरुद्धा । शब्दस्य च वीचिसन्तानवत् परम्परया श्रोत्रसमवायः प्राप्तिरिति यत्तार्किकैरुच्यते तदसत्, तथा सति 'इह श्रोत्रे शब्दः' इति प्रतीयेत; प्रतीयते तु 'तत्र शब्दः'

क्या आँख और कान ही अप्राप्यकारी (शरीर देशमें ही रहकर ज्ञानके जनक) हैं ? या और इन्द्रियाँ भी । इनमें आंख, कानसे अतिरिक्त इन्द्रियोंको तो ऐसा नहीं मान सकते, क्योंकि दूरसे ही स्पर्श, रस तथा गन्धका ज्ञान मानना पड़ेगा । प्रथम पक्ष (आंख तथा कानमें ही अप्राप्यकारित्व मानना) भी नहीं हो सकता, कारण कि विमत (विवादग्रस्त) आंख और कान प्राप्यकारी हैं (विषय देशमें जाकर ज्ञानके जनक हैं), बाह्येन्द्रिय होनेसे, नाक आदि इन्द्रियोंके समान । [घ्राणादि इन्द्रियोंमें उक्त अतिप्रसङ्गका वारण करनेके लिए प्राप्यकारित्व मानना आवश्यक है, अतः इन्हींका दृष्टान्त करके बाह्येन्द्रियमात्रमें प्राप्यकारिता मानना उचित है । आंखको प्राप्यकारी माननेमें उसके खुलते ही विलम्बके विना कोशों दूर न जा सकनेकी आशङ्काका समाधान करते हैं—] बड़ी शीघ्रतासे अत्यन्त दूर तक तेज चला जाता है, यह प्रत्यक्ष है, इसलिए खुलते-खुलते ही आंखोंका ध्रुवादि देश तक जाना भी कोई विरुद्ध नहीं है । [इन्द्रियोंमें अप्राप्यकारित्व मानकर नैयायिकसम्मत शब्दकी कान तक प्राप्तिका खण्डन करनेके लिए उनके मतका अनुवाद करते हैं—] तरङ्गोंके सन्तानके समान परम्परासे कानके साथ शब्दका समवाय—सम्बन्ध—कर्णेन्द्रियप्राप्ति है [अर्थात् जैसे जलमें उत्पन्न हुई प्रथम तरङ्ग क्रमशः दूसरी-दूसरी तरङ्गोंको उत्पन्न करती हुई परम्परासे तटतक पहुँच जाती है, वैसे ही प्रथम उत्पन्न हुआ आकाशसमवायी शब्द क्रमशः दूसरे-दूसरे शब्दोंको उत्पन्न करता हुआ कर्णेन्द्रिय तक अपना सम्बन्ध प्राप्त करता है], ऐसा जो तर्कवादियोंका कहना है—वह भी युक्ति[illegible] कारण कि उक्त रीतिसे 'इस कानमें शब्द है' ऐसी प्रती[illegible] परन्तु प्रतीति तो यह होती है कि वहां—उस अमुक प्रदेशमें [illegible]

इति। तस्माद्यथानुभवं श्रोत्रस्यैव तत्र गमनं कल्पनीयम्। तदेवं भौतिकानि परिच्छिन्नानि प्राप्यकारीणीन्द्रियाणि सन्तीति सिद्धम्।

किं तर्हि मनो नाम यस्मिन्नाऽऽत्मत्वमपरे लोकायतैकदेशिनो मन्यन्ते। नित्यं निरवयवमणुपरिमाणं मन इति तार्किकाः। तत्र न तावन्नित्यम्, परिच्छिन्नत्वाद्, घटवत्। विमतं नित्यम्, निरवयवद्रव्यत्वादात्मवत्, इति चेद्, न; हेत्वसिद्धेः। विमतं सावयवम्, करणत्वात्, चक्षुरादिवत्। अन्यथा मनसोऽन्नमयत्वं श्रुत्युक्तं बाध्येत। कथं तर्हि मूर्तद्रव्यानभिघात इति चेद्, जीवनदशायां देहाद्बहिर्निर्गमनाभावादिति ब्रूमः। मरणदशायां तु

है। इसलिए अनुभवके अनुसार उस देशमें कानके ही जानेकी कल्पना करना उचित है। इस प्रकार निर्णयके अनुसार सिद्ध हुआ कि इन्द्रियाँ भौतिक, परिच्छिन्न (शरीरके एक देशमें रहनेवाली) तथा प्राप्यकारी हैं।

[प्रसङ्गसे मनोविषयक विप्रतिपत्तिको दिखलाते हैं—] तो मन क्या वस्तु है, जिसको कि कुछ नास्तिक लोग आत्मा मानते हैं। इस विषयमें तार्किक लोग (न्याय-वैशेषिक) मनको नित्य, अवयवशून्य तथा अणु-परिमाण मानते हैं। इसमें प्रथम तो मन नित्य हो नहीं सकता, क्योंकि घटके समान वह परिच्छिन्न है।

शङ्का—'विमत मन नित्य है, अवयवशून्य द्रव्य होनेसे, आत्माके समान', इस अनुमानसे मन नित्य माना जा सकता है।

समाधान—नहीं, नित्य नहीं माना जा सकता, कारण कि अवयवशून्यद्रव्यत्व-रूप हेतु मनमें स्वरूपतः असिद्ध है, क्योंकि 'मन सावयव है, करण (ज्ञानसाधन) इन्द्रिय होनेसे, आंख आदिके तुल्य', इस अनुमानसे मन सावयव सिद्ध होता है। [अनुकूल तर्कके अभावकी आशङ्काका समाधान करते हैं—] अन्यथा—मनको सावयव न माननेसे—श्रुतिमें प्रतिपादित मनका अन्नविकार होना बाधित हो जायगा।

शङ्का—यदि मन अन्नविकार है, तो मूर्त द्रव्यसे उसका प्रतिघात—प्रतिबन्ध—होना कैसे वारण किया जा सकता है?

[illegible]—जीवनदशामें—मनुष्यादिके जीते जी—वह (मन) देहसे [illegible] निकलता [illegible]। [अतः मूर्त द्रव्य द्वारा इसका प्रतिबन्ध नहीं होता, इससे [illegible] भी मनको निरवयव सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं हो सकता।]

सावयवत्वेनाऽभिमतानां चक्षुरादीनामप्यप्रतिघातो विद्यत एव। अत एव सावयवत्वात् संयोगविभागवत्त्वाच्च घटादिवन्नाऽणुपरिमाणत्वम्। सर्वगतत्वे च युगपत् सर्वेन्द्रियसंयोगात् सर्वज्ञानप्रसङ्गः। मध्यमपरिमाणत्वे तु न कोऽपि दोषः। तदाऽपि स्थूलसूक्ष्मेषु हस्तिपुत्तिकादिदेहेषु क्रमेण प्राप्यमाणेषु कथं तत्तद्देहसमानत्वेन वृत्तिरिति चेद्, अवयवोपचयापचयाभ्यामिति ब्रूमः।

और मरनेपर तो सावयव माने हुए चक्षुरादि इन्द्रियोंका भी मूर्त द्रव्यसे प्रतिघाताभाव रहता ही है। [शङ्का करनेवाले वादीका तात्पर्य यह है कि जैसे सावयव चक्षुरादि इन्द्रियोंका मूर्त द्रव्य—दिवाल आदि—से प्रतिबन्ध होता है, वैसे ही मनका किसीसे भी प्रतिबन्ध नहीं देखा जाता है, इसलिए मनको निरवयव मानना चाहिए। समाधाताका तात्पर्य है कि जीवनदशामें इन्द्रियोंके प्राप्यकारित्व-पक्षमें चक्षुरादि इन्द्रियोंके समान मनका देहके बाहर निर्गमन न होनेसे मूर्त द्रव्य उसका प्रतिबन्ध नहीं कर सकता और मरणदशामें अवश्य मनका बहिर्निर्गमन होता है; परन्तु उस समय चक्षुरादिके समान मनका भी प्रतिबन्ध मूर्त द्वारा नहीं हो सकता।] इसलिए सावयव तथा संयोग-विभाग-शाली होनेपर भी मनको घटादिके समान अणुपरिमाण नहीं मान सकते अर्थात् जैसे घटादि अणुपरिमाण नहीं, वैसे मन भी अणु नहीं है। और सर्वगत—व्यापकीभूत महत्परिमाणवाला—माननेसे एक साथ ही सब इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध हो जानेसे सब विषयोंका ज्ञान होनेका प्रसङ्ग आ जायगा। मध्यमपरिमाण माननेमें तो कोई भी दोष नहीं आता।

शङ्का—मध्यमपरिमाण माननेपर भी बड़े और छोटे हाथी तथा फतिंगाके—पतंगाके—क्रमशः प्राप्त होनेवाले शरीरोंमें तत्तत् देहके समानरूपसे रहना कैसे हो सकेगा [अर्थात् हाथीके शरीरका परिवर्तन होनेपर कदाचित् चींटीकी देहकी प्राप्ति होती है और चींटीकी देहका परिवर्तन होनेपर हाथीके शरीरकी प्राप्ति होती है, इस क्रमसे मिलनेवाले स्थूल-सूक्ष्म शरीरोंमें स्थूल-सूक्ष्म मनका समावेश कैसे हो सकेगा ? हाथीके शरीरका निर्वाह अतिसूक्ष्म चीं[illegible] होगा और अतिसूक्ष्म चींटीके शरीरमें इतने बड़े हाथीका मन कै[illegible]

समाधान—अवयवोंके उपचय तथा अपचयसे ह[illegible]

शाक्यास्तु समनन्तरप्रत्यय एवोत्तरज्ञानकरणतया मन इति प्रतिपेदिरे, तदसङ्गतम्; व्याप्तिमनपेक्ष्य केवलस्य पूर्वज्ञानस्योत्तरज्ञानजनकत्वायोगात्। लिङ्गज्ञानस्य व्याप्तिसापेक्षस्यैव लिङ्गिज्ञानजनकत्वदर्शनात्। शब्दज्ञानं व्याप्त्यनपेक्षमेवाऽर्थज्ञानजनकमिति चेद्, न; त्वन्मते शब्दस्याऽनुमानान्तःपातितया तत्राऽपि व्याप्त्यपेक्षत्वात्। विशेषणज्ञानं व्याप्त्यनपेक्षमेव विशिष्टज्ञानजनकमिति चेद्, न; विशिष्टज्ञानस्य संप्रयोगजन्यत्वात्। अथ समनन्तरातीतप्रत्यय उत्तरज्ञानं न जनयति किन्तु

कहते हैं। [अर्थात् चींटीके मनके अवयव हाथीका शरीर पानेपर बढ़ जाते हैं और चींटीके शरीरमें आनेवाले हाथीके मनके अवयव घट जाते हैं]।

बौद्धोंका कहना है कि आगे होनेवाले ज्ञानके प्रति समनन्तरप्रत्यय कारण है, अतः वही (समनन्तरप्रत्यय ही) मन है, परन्तु यह मत मानने योग्य नहीं है; कारण कि व्याप्तिकी अपेक्षा न करके केवल पूर्व ज्ञानको उत्तर ज्ञानका जनक मानना युक्तियुक्त नहीं हो सकता; कारण कि व्याप्तिकी अपेक्षा करके ही हेतुका ज्ञान साध्यके ज्ञानका जनक होता है, यही अनुभव है।

शङ्का—शब्दसे उत्पन्न हुआ ज्ञान व्याप्तिकी अपेक्षा न करके ही अर्थज्ञानका (शाब्दबोधका) जनक होता है।

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि तुम्हारे मतमें शब्द प्रमाण अनुमानके ही अन्तर्गत माना गया है, अतः उसमें (शब्दज्ञानमें) व्याप्तिकी अपेक्षा है ही।

शङ्का—विशेषणज्ञान व्याप्तिज्ञानके बिना ही विशिष्टज्ञानका जनक हो जाता है [अतएव विशेषणीभूत पूर्वज्ञान स्वतन्त्ररूपसे ही उत्तर ज्ञानका जनक हो जायगा]।

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि संप्रयोगसे विशिष्ट ज्ञान होता है। [जैसे 'नीलोऽयं घटः' (यह नीला घड़ा है) इस आकारका विशिष्ट ज्ञान [illegible] नीलादि पदार्थके ज्ञानके संस्कारसे सहकृत इन्द्रियोंके संयोगसे होता [illegible] कच्छिन्न [illegible]भी विशिष्ट ज्ञान संप्रयोगसे ही उत्पन्न होंगे, समनन्तरप्रत्यय-[illegible] भाव है।] यदि मानो कि समनन्तर पूर्व ज्ञान उत्तर ज्ञानका

तस्याऽऽकारमात्रं समर्पयतीति चेद्, नः आकाराकारिणोरभेदात्। आकारस्य स्वाभाविकतयाऽन्यापेक्षाभावात्। तस्मादन्यदेव सावयवं मन इति सिद्धम्।

ननु कश्चाऽयं वास्तव आत्मा यो देहादिषु विज्ञानान्तेषु भ्रान्तैर्वादिभिरारोप्यते। तत्र सर्वगतोऽयं जीव आत्मेति केचित्, तदसत्; शुष्कतार्किकाणां साधकाभावात्।

अथ मतम्—देहाद्बहिरन्तश्च सर्वाणि भोगसाधनान्यात्मभोगायैव व्याप्रियन्ते। तद्व्यापारश्चाऽदृष्टवदात्मसंयोगापेक्षस्ततोऽसौ सर्वगत इति। तत्र किं यस्मिन्नाऽऽत्मप्रदेशेऽदृष्टं तत्प्रदेशे संयोगोऽपेक्ष्यते उताऽदृष्टो-

जनक नहीं है। किन्तु उसको (उत्तर ज्ञानको) आकारमात्र देता है, * तो यह भी सिद्धान्त उचित नहीं है, कारण कि आकार और जिसका वह आकार है, ऐसे आकारीमें किसी प्रकारका भेद नहीं है और आकार स्वाभाविक होनेसे उसमें दूसरेकी अपेक्षा नहीं है, इसलिए समनन्तर प्रत्ययसे भिन्न ही कोई दूसरा सावयव मन सिद्ध होता है।

[अब मुख्य उपादेय आत्माके विषयमें विप्रतिपत्ति दिखलाते हैं—] यह वस्तुभूत आत्मा ऐसा कौन-सा पदार्थ है ? जिसका कि भ्रममें डूबे हुए नास्तिकादिवादी देहसे लेकर विज्ञान पर्यन्त अनात्मपदार्थोंमें आरोप करते हैं। इनमें से कुछ वादियोंका कहना है कि सर्वत्र व्यापक यह जीव ही आत्मा है, परन्तु यह कथन युक्त नहीं है, कारण कि शुष्क तर्कवादियोंके लिए उक्त मतकी सिद्धि करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है।

यदि यह माना जाय कि देहसे बाहर और भीतर सभी प्रकारके भोगोंके साधन आत्माके भोगके लिए ही प्रयत्नशील रहते हैं। और उन भोगके साधनोंका व्यापार अदृष्टाश्रय आत्माके साथ संयोगकी अपेक्षा रखता है, इसलिए यह आत्मा (सर्वगत) व्यापक है, ऐसा मानना चाहिए। इस मतमें प्रश्न उठता है कि क्या जिस प्रदेशमें अदृष्ट है, उसी प्रदेशमें आत्माके संयोगकी अपेक्षा होती है, या अदृष्टसे उपलक्षित आत्माका संयोग अपेक्षित है अर्थात्

* बौद्धमतमें अधिपति—चक्षुरादि, सहकारी आलोक, समनन्त[illegible] ये चार प्रत्यय ज्ञानके जनक हैं। इनमें पूर्व प्रत्ययसे ज्ञानस्वरूप, दूसरे [illegible] प्रकटता (स्पष्टता), तीसरेसे बोधका आकार तथा चौथेसे घटादिका आकार हो[illegible]

पलक्षितात्मसंयोगः ? नाऽऽद्यः, देहावच्छिन्नात्मसमवेतादृष्टस्य स्वर्गभोगहेतुत्वात् । न द्वितीयः, मोक्षेऽपि भोगप्रसङ्गात् । तस्मादागमादेव सर्वगतत्वसिद्धिः ।

न चाऽयमात्मा जडः, प्रत्यक्षानुमानागमैः स्वप्रकाशत्वावगमात् । तत्र प्रत्यक्षं सौषुप्तमवगन्तव्यम् । अनुमानान्यपि आत्मा स्वप्रकाशः, स्वसत्तायां प्रकाशव्यतिरेकरहितत्वात्, प्रदीपवत् संवेदनवच्च । तथा विषय-

---

केवल आत्माका संयोग ? इनमें प्रथम कल्प नहीं बन सकता, कारण कि देहावच्छिन्न आत्मामें रहनेवाले अदृष्ट स्वर्गरूप भोगके कारण हैं [अर्थात् इस भूलोकके देहमें रहनेवाले आत्मसमवेत अदृष्टसे स्वर्गमें भोग मिलता है, इससे अदृष्टवान् भूलोक या भूलोकस्थ शरीरके प्रदेशसे भिन्न स्वर्गरूप प्रदेशमें भोगके मिलनेसे अदृष्टवत् प्रदेशसे संयोगका होना सिद्ध नहीं हो सका] दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि मोक्षदशामें भी भोगके प्राप्त होनेका प्रसङ्ग आ जायगा । आत्मसंयोग सर्वत्र ही है, इसलिए केवल आत्मसंयोग फलका (भोगका) जनक नहीं होता । [अन्यथा सबको सब कालमें सुखदुःखादि सब भोग हो जायँगे] इसलिए आगम द्वारा ही आत्माका सर्वगत होना सिद्ध हो सकता है । (केवल शुष्क तर्कसे नहीं) ।

आत्मा जड़ है, ऐसी आशङ्का भी नहीं करनी चाहिए, कारण कि प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शास्त्रोंके द्वारा आत्मा स्वप्रकाश है, ऐसा ज्ञात होता है । इन प्रमाणोंमें प्रत्यक्ष प्रमाणसे सुषुप्ति कालका प्रत्यक्ष लेना चाहिए । [सुषुप्तिसे उठनेके अनन्तर 'मैं आनन्दपूर्वक सोया' इस प्रकार सुषुप्तिकालमें अनुभूत सुखका स्मरण होता है, इससे सुषुप्तिकालमें सुखानुभवकी प्रयोजक किसी चक्षुरादिकी वृत्तिके न होनेके कारण वहां स्वयंप्रकाशात्मक आत्माका ही सद्भाव मानना होगा । वह आनन्द दुःखाभावरूप नहीं है, इस विषयमें प्रथम वर्णकमें ही विशदरूपसे वर्णन किया गया है ।] अनुमान प्रमाण भी अनेक हैं—जैसे 'आत्मा स्वप्रकाश है, अपने सद्भावमें प्रकाशके अभावसे रहित होनेसे, प्रदीप या संवेदन (ज्ञान) के समान । [यदि प्रदीप या ज्ञान विद्यमान हैं; तो [illegible] लनात्म[illegible] उनका प्रकाश न हो, उनका प्रकाश अवश्य होता है । घटादि [illegible] च्छिन्न [illegible] भी यदि आलोकादि सहकारी कारण न हों, तो उनका

प्रकाशकर्तृत्वात्, प्रदीपवत्। विषयप्रकाशाश्रयत्वात्, आलोकवत्। अनिन्द्रियगोचरत्वे सत्यपरोक्षत्वात् संवेदनवत्। आत्मा सति धर्मिण्यजन्यप्रकाशगुणः, प्रकाशगुणत्वात्, आदित्यवत्। आगमश्च—'अत्राऽयं पुरुषः स्वयंज्योतिः' इत्यादिः। स चाऽयमात्मा सर्वशरीरेष्वेक एव, सर्वत्राऽहमित्येकाकारप्रत्ययवेदनीयत्वाद्, गोत्ववत्। शरीराणां भिन्नत्वादेवाऽतीतशरीरादाविव न भोगानुसंधानप्रसङ्गः। ननु तर्ह्यस्याऽपि मनुष्य-

---

प्रकाश नहीं हो सकता। और आत्मा तो प्रदीपादिके समान स्वप्रकाश है]। तथा (आत्माके स्वप्रकाशके साधनेमें अन्य भी हेतु हैं, जैसे) विषयप्रकाशका कर्ता होनेसे, दीपकके समान विषयप्रकाशका आश्रय होनेसे, आलोकके समान, इन्द्रियोंका विषय न होते हुए अपरोक्षरूप होनेसे, संवेदनके तुल्य (आत्मा स्वप्रकाश है)। एवं धर्मी होते हुए भी आत्मा अजन्य (किसीसे उत्पन्न न होनेवाले) प्रकाशरूप गुणवाला है, सूर्यके सदृश। शास्त्र भी कहता है 'यहां सुषुप्तिमें यह पुरुष (आत्मा) स्वयंज्योति—स्वयंप्रकाश—है' इस प्रकार प्रमाणसिद्ध यह आत्मा सम्पूर्ण शरीरोंमें एक ही है, कारण कि सर्वत्र 'अहम्' (मैं) इस प्रकार गोत्वके समान एक ही प्रकारकी प्रतीतिसे जाना जाता है। [जैसे सकल गोव्यक्तियोंमें गोत्वकी समानाकार प्रतीति होनेसे गोत्व एक ही अनुगत है, वैसे ही सकल मनुष्य-शरीरोंमें 'मैं—अहम्—' इत्याकारक अनुगत प्रतीतिसे अहम्-प्रतीतिवेद्य भी एक ही है।] और शरीरोंका परस्पर भेद होनेसे ही अतीत शरीरोंमें जैसा भोगका स्मरण होता है, वैसा भोगके अनुसन्धानका प्रसङ्ग नहीं आ सकता। [यदि सभी शरीरोंमें आत्मा एक ही है, तो सबको सभीके भोगके परिज्ञानकी प्रसक्ति होनी चाहिए, इस प्रकार पूर्वपक्षी आशङ्का करता है, इसपर समाधाताका कहना है कि जैसे एक ही देवदत्त आदिको अपने जन्म-जन्मान्तरोंमें अनुभूत भोगोंका अनुसंधान जन्मान्तरोंके शरीरोंके अलग अलग होनेके कारण नहीं होता, वैसे ही प्रकृतमें भी देवदत्त और यज्ञदत्त आदिके शरीरका परस्पर भेद होनेसे एकको दूसरेके भोगका अनुसंधान नहीं होता अर्थात् भो[illegible]क ही शरीरमें होता है, भिन्न-भिन्न शरीरोंमें नहीं होता, यह भाव है

शरीरस्य प्रतिक्षणं परिणामभेदाद्भेदे सत्यत्राऽप्यात्मनो भोगानुसंधानं प्रसज्येतेति चेद्, नः 'तदेवेदं शरीरम्' इति प्रत्यभिज्ञया तदेकत्वावगमात्। न च ज्वालाप्रत्यभिज्ञावद् भ्रान्तत्वम्, तत्र सूक्ष्मदर्शने प्रत्यक्षत एव ज्वालानां भेददर्शनात्; अत्र तदभावाद्। तदेवमेकः स्वप्रकाश आत्मेति सिद्धान्तः।

तमेतमात्मानमवैदिका देहादिबुद्ध्यन्तपदार्थरूपत्वेन प्रतिपन्नाः। मीमांसकादयस्तु तस्य देहादिव्यतिरेकं प्रतिपद्याऽपि कर्त्तारं भोक्तारं तमिच्छन्ति।

तदेतत्सांख्या न सहन्ते; न तावदात्मनः कर्तृत्वं स्वाभाविकम्, सर्वगतस्य निरवयवस्याऽऽत्मनः परिस्पन्दपरिणामलक्षणक्रियावेशा-

---

शङ्का—तब तो इस मनुष्य शरीरमें भी प्रतिक्षण होनेवाले परिणामके भेदसे भेद होनेपर भोगका अनुसन्धान नहीं होना चाहिए।

समाधान—यह दोष नहीं आता, कारण कि 'यह वही शरीर है', इस प्रकार होनेवाली प्रत्यभिज्ञाके आधारपर उस शरीरमें एकत्वका ही ज्ञान होता है। इस एकत्व प्रतीतिकी जनक प्रत्यभिज्ञाको दीपज्वालाविषयक प्रत्यभिज्ञाके समान भ्रम नहीं मान सकते, कारण कि दीपज्वालामें सूक्ष्म विचार करनेपर प्रत्यक्षसे ज्वालाओंका भेद देखा जाता है और शरीरमें प्रत्यक्षसे भेद नहीं ज्ञात होता है, इसलिए आत्मा एक और स्वप्रकाश है, ऐसा सिद्धान्त है।

इस स्वप्रकाश आत्माको वेदबाह्य प्रतिवादी देहसे लेकर बुद्धिपर्यन्त पदार्थके रूपमें जानते हैं। (और वैदिकोंमें भी) मीमांसक आदि तो आत्मा देहादिसे भिन्न है, ऐसा जानकर भी उसको कर्ता और भोक्ता मानते हैं।

इस मीमांसकमतको सांख्यवादी सहन नहीं करते। [उनका कहना है कि] आत्मामें कर्तृत्व स्वभावसिद्ध तो हो ही नहीं सकता, कारण कि सर्वत्र व्यापकस्वरूप और अवयवशून्य—अखण्ड—आत्मा परिस्पन्द या परिणामस्वरूप क्रियाका आश्रय नहीं बन सकता। [अर्थात् व्यापक होनेसे उसमें परिस्पन्द—चलनात्मक—क्रिया और अखण्ड होनेसे परिणाम नहीं हो सकता, जो परिच्छिन्न और सखण्डमें ही सदा रहते हैं और उक्त क्रियाका

योगात् । स्वाभाविकत्वे चैतन्यवत्क्रियावेशो न कदाचिदपि व्यभिचरेत् । नाऽपि कर्तृत्वमागन्तुकम्, निरवयवे कर्तृत्वहेतूपरागायोगात् । नाऽपि बुद्धेः कर्तृत्वमात्मन्यारोपयितुं शक्यम्, अख्यातिवादे भ्रान्त्यभावात् । तस्मान्नाऽस्ति कर्तृत्वम् । न चैवं भोक्तृत्वमपाकर्त्तुं शक्यम्, नहि सुखदुःखान्वयो भोगः, येन कर्तृत्ववद्व्यभिचरेत्, किन्तु चिद्रूपत्वेन दृश्यसाक्षित्वं भोक्तृत्वम् । तस्माद्भोक्तैवाऽऽत्मेति सांख्यानां पक्षः ।

वैशेषिकयोगनैयायिका उक्ताद्भोक्तुर्जीवादतिरिक्तः सर्वज्ञः सर्वशक्ति-

---

आश्रय ही कर्ता होता है ।] यदि कर्तृत्वको स्वाभाविक मानो, तो चैतन्यके समान वह कभी भी व्यभिचरित नहीं होगा [अर्थात् जैसे आत्माका स्वाभाविक चैतन्य नित्यसिद्ध (सदैव विद्यमान) रहता है, वैसे ही क्रियाश्रयत्वरूप कर्तृत्व भी सदा ही विद्यमान रहना चाहिए] और कर्तृत्वको आगन्तुक भी नहीं मान सकते, क्योंकि अवयवरहित पदार्थमें कर्तृत्वके उत्पादक हेतुओंका सम्बन्ध ही नहीं हो सकता । बुद्धिमें विद्यमान कर्तृत्वका आत्मामें आरोप भी नहीं किया जा सकता, [सांख्य बुद्धिमें ही कर्तृत्वका स्वीकार करते हैं और पुरुषको निर्लेप मानते हैं । उस बुद्धिके कर्तृत्वका आत्मामें आरोप मीमांसक आदिकी ओरसे कहा जाता है, यह शङ्काका तात्पर्य है ।] कारण कि अख्यातिवादमें भ्रम ज्ञानका अभाव है । [अख्यातिवादी मीमांसक ज्ञानमात्रको यथार्थ मानते हैं । शुक्तिमें 'यह रजत है' इस ज्ञानमें 'यह' अंश प्रत्यक्ष और 'रजत' अंश स्मरणरूप है, इसलिए दोनों अंश यथार्थ ही हैं । और आरोपमें तो यथार्थता रहती ही नहीं है, दूसरेके धर्मका दूसरेमें प्रतीत होना ही भ्रम है । परन्तु मीमांसक ऐसा मानते नहीं हैं, अतः उनके मतमें बुद्धिधर्मका आरोप आत्मामें नहीं हो सकता, यह भाव है] । इसलिए आत्मामें कर्तृत्व नहीं है । इस रीतिसे आत्मामें भोक्तृत्वका खण्डन नहीं किया जा सकता, कारण कि सुख या दुःखकी अनुवृत्ति—सम्बन्ध—तो भोग कहलाता नहीं है, किन्तु चिद्रूप होकर दृश्यका (जड़का) साक्षी—प्रकाशक—होना ही भोक्तृत्व है, इसका आत्मामें कभी भी व्यभिचार नहीं है, इसलिए आत्मा भोक्ता ही है, ऐसा सांख्यशास्त्रकारोंका पक्ष है ।

वैशेपिक, योग तथा नैयायिक पूर्वोक्त साङ्ख्यसम्मत भोक्ता ही जीवसे

रीश्वरोऽपि कश्चिदस्तीत्यनुमिमते । विमतं जगत् स्वरूपोपादानाद्यभिज्ञकर्तृकम्, विविधकार्यत्वात्, प्रासादादिवत् । तत्र कल्पनालाघवेनैककर्तृकत्वोपादानात् सर्वज्ञत्वसिद्धिरिति वैशेषिकादयः । विमता ज्ञानैश्वर्यशक्तयः कांचित्परां काष्ठां प्राप्ताः, सातिशयत्वात्, परिमाणवत् इति योगाः । विमतं धर्माधर्मफलं कर्मतत्फलतद्भोक्त्राद्यभिज्ञेन दीयते, व्यवहितकर्मफलत्वात्, सेवाफलवत्, इति नैयायिकाः ।

भिन्न दूसरा कोई सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर भी पदार्थ है, ऐसा अनुमान करते हैं । [अनुमानका स्वरूप दिखलाते हैं—] विमत—विवादग्रस्त प्रपञ्च—जगत्के स्वरूप तथा उपादान कारण दोनोंको जाननेवाले कर्ता द्वारा बना है, नाना प्रकारका कार्य होनेसे, प्रासादके—महल या कोठीके—समान । इसमें कल्पनालाघवके बलसे प्रपञ्चको एककर्तृक माननेसे सर्वज्ञत्वकी सिद्धि होती है, यह वैशेषिक आदि मानते हैं । [नाना प्रकारकी रचनाओंसे पूर्ण विश्वको वही बना सकता है, जो इतनी वैचित्र्यपूर्ण रचनाओंकी जानकारी रखता हो तथा इन रचनाओंके उपादान कारण परमाणु आदिका भी पूर्ण परिचय रखता हो, ऐसा सर्वज्ञ ईश्वर ही हो सकता है । अल्पज्ञको कर्ता माननेमें तो अनेक कर्ताओंके माननेसे गौरव हो जायगा] । पातञ्जल— योगदर्शनकार—कहते हैं कि विमत ज्ञान तथा ऐश्वर्यकी शक्तियां किसी अन्तिम काष्ठाको प्राप्त हैं, सातिशय होनेसे, परिमाणके सदृश, [जैसे सेर-छटांक, गिरह-गज आदि छोटे बड़े परिमाण सातिशय होनेसे अन्तिम सीमावाले होते हैं, छोटेमें परमाणु और बड़ेमें महत्परिमाण; वैसे ही ज्ञान तथा ऐश्वर्यकी शक्तियां भी सातिशय होनेसे चरमगति वाली होती हैं, वह चरम गति ईश्वर ही है । उससे अधिक ज्ञान तथा ऐश्वर्यशाली कोई नहीं है ।] इस अनुमानसे ईश्वर सिद्ध होता है । नैयायिकोंका अनुमान है कि विमत धर्म तथा अधर्मका फल (सुख-दुःखादि), कर्म, उनके फल तथा उनके भोक्ताको जाननेवाला ही देता है, व्यवहित कर्मोंका फल होनेसे, सेवाके फलके सदृश, [कर्म क्रियाकलापरूप होनेसे विनाशी हैं, इन विनाशी कर्मोंसे कालान्तरमें होनेवाला फल कैसे हो सकता है ? क्योंकि कारणको कार्यके अव्यवहित पूर्व क्षणमें रहना आवश्यक है, इसलिए व्यवहित कर्मोंका फल देनेवाला कोई ऐसा पुरुष होना चाहिए जो कर्मोंके

नन्वीश्वरपक्षोपन्यासो न युक्तः, यतोऽत्र जिज्ञास्ये प्रत्यगात्मरूपे ब्रह्मणि विप्रतिपत्तिर्दर्शयितुं प्रक्रान्ता। नैष दोषः; प्रत्यगात्मा तस्मादीश्वरादन्योऽनन्यो वेति प्रत्यगात्मविप्रतिपत्तावेव पर्यवसानात्।

अत्र भास्कर आह—नेह प्रत्यगात्मा जिज्ञास्यते, येन तद्विप्रतिपत्तिरुपन्यस्येत; किन्त्वीश्वर एव ब्रह्मशब्देनोद्दिश्य विचार्यते, जन्मादिसूत्रे जगत्कारणत्वलक्षणाभिधानात् । तस्य च लक्षणस्य प्रत्यगात्मन्यसंभवादनुभवविरोधादिति। तत्र वक्तव्यमीश्वरो जगत्कारणादन्योऽ-

---

फल और भोक्ता दोनोंको जानता हो, वह सर्वज्ञ ईश्वर[1] ही हो सकता है।]

शङ्का—[आत्मविषयक विप्रतिपत्तिके प्रसङ्गमें] ईश्वरका वर्णन करना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि प्रकृतमें जिज्ञासाके विषय प्रत्यगात्मस्वरूप ब्रह्मकी विप्रतिपत्ति दिखलानेके लिए ही प्रकरण चल रहा है।

समाधान—यह दोष नहीं है, कारण कि प्रत्यगात्मस्वरूप ब्रह्म उस ईश्वरसे भिन्न है या अभिन्न है ? इस रीतिसे ईश्वरका उपन्यास भी प्रत्यगात्मविषयक विप्रतिपत्तिके ही अन्तर्गत आ जाता है।

इस विषयपर भास्करका कहना है—इस प्रथम सूत्रमें प्रत्यगात्माकी (ब्रह्मकी) जिज्ञासा नहीं की जा रही है। जिससे ब्रह्मविषयक विप्रतिपत्तिका उपन्यास किया जाय, किन्तु ब्रह्मशब्दसे ईश्वरका ही उद्देश करके विचार किया जाता है, कारण कि जन्मादि सूत्रमें उसीका जगत्कारणस्वरूप लक्षण किया गया है। यह जगत्कारणस्वरूप लक्षण अनुभवसे विरोध होनेसे ब्रह्ममें नहीं घट सकता है, [क्योंकि वह तो निर्धर्म तथा निर्लेप है]। भास्करके उक्त मतके विषयमें यह कहना चाहिए कि क्या ईश्वर जगत्के कारणसे भिन्न है ? या अभिन्न है ?

---

१. इसी आशयसे महिम्नस्तोत्रमें कहा गया है—

'क्रतौ सुप्ते जाग्रत्त्वमसि फलयोगे क्रतुमतां
क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते।
अतस्त्वां संप्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवं
श्रुतौ श्रद्धां बध्वा दृढपरिकरः कर्मसु जनः ॥'

अर्थात् हे महेश्वर ! आपकी आराधनाके बिना क्षणविनाशी क्रियाकलापात्मक यज्ञ फल देनेमें कैसे समर्थ हो सकते हैं, इसलिए आपके ऊपर भरोसा रखकर ही याज्ञिक पुरुष श्रुतिमें श्रद्धा करके यज्ञोंमें प्रवृत्त होते हैं।

नन्यो वेति । अन्यत्वे 'प्रधानमेके परमाणूनपरे' इत्यादिना त्वच्छास्त्रे जगत्कारणविप्रतिपत्तिप्रदर्शनमसमञ्जसं स्यात्, ईश्वरविप्रतिपत्तेरेव त्वया दर्शनीयत्वात् । अनन्यत्वे च त्वदीयः प्रधानपरमाण्वादिपक्षोपन्यास ईश्वराभिप्रायः स्याद्, न च तद्युक्तम् ; नहि वादिनः प्रधानमीश्वरः परमाणुर्वेश्वर इति विप्रतिपद्यन्ते । यद्यपि प्रत्यगात्मनि जगत्कारणत्वं पामरा नाऽनुभवन्ति, तथापि श्रुतिस्मृतिन्यायकुशला अनुभवन्त्येव । एवं च श्रुत्यादिप्रसिद्धजगत्कारणत्वलक्षणेन विप्रतिपद्यमानप्रत्यगात्मविशेषस्वरूपे ब्रह्मणि बोध्यमाने यज्जगत्कारणं तद् ब्रह्मेत्येतादृशी वचनव्यक्तिर्द्वितीयसूत्रे युज्यतेतराम् । तथा पुरुषाणां क्लेशकरदेहादिबुद्ध्यन्तबन्धनिवर्त्तनेन सत्य-ज्ञानानन्तानन्दप्रत्यगात्मब्रह्मस्वरूपपरिशेषः फलिष्यति । त्वत्पक्षे तु

यदि ईश्वर भिन्न है, तो 'कोई लोग प्रधानको—प्रकृतिको—और दूसरे परमाणुओंको' इत्यादि ग्रन्थसे तुम्हारे शास्त्रमें जगत्के कारणके विषयमें विप्रतिपत्तिका दिखलाना अयुक्त होगा, क्योंकि तुमको तो ईश्वरके विषयमें ही विप्रतिपत्ति दिखलानी चाहिए थी । यदि जगत्के कारणसे ईश्वर भिन्न नहीं है तो तुम्हारा दर्शाया हुआ प्रधान तथा परमाणु आदि पक्षोंका उपन्यास भी ईश्वरके ही अभिप्रायवाला होगा, अर्थात् उक्त पक्षोंसे ईश्वरका वर्णन समझा जायगा, जो कि युक्तियुक्त नहीं है, कारण कि वादी और प्रतिवादियोंका ऐसा विवाद नहीं है कि प्रधान ईश्वर है ? या परमाणु ईश्वर है ? यद्यपि पामर (मूर्ख) प्रत्यगात्मा ब्रह्ममें जगत्कारणत्वका अनुभव नहीं करते हैं, [अर्थात् मूर्ख ब्रह्म ही संसारका कारण है, ऐसा नहीं समझते हैं] तथापि श्रुति, स्मृति तथा न्याय शास्त्रमें प्रवीण विद्वान् तो ऐसा अनुभव करते ही हैं । इस परिस्थितिमें श्रुति आदिसे प्रसिद्ध संसारकारणत्वरूप लक्षणके बलसे विप्रतिपत्तिविषयक प्रत्यगात्मस्वरूप ब्रह्मके बोधित होनेपर 'जो संसारका कारण है, वह ब्रह्म है' इस प्रकार वचनका स्वरूप होना दूसरे (जन्माद्यस्य यतः) सूत्रमें अत्यन्त युक्तिपूर्ण है । एवं पुरुषोंको क्लेश देनेवाले देहसे लेकर बुद्धिपर्यन्त बन्धकी निवृत्ति करनेसे सत्य (त्रिकालाबाधित), ज्ञान (साक्षात्कारात्मक बोधस्वरूप), अनन्त (परिच्छेदसे रहित), आनन्द (नित्यनिरतिशय सुखरूप) प्रत्यगात्मा ब्रह्मस्वरूप परिशेषात् फलित हो जायगा ।

जगत्कारणस्य विप्रतिपद्यमानत्वात्तद्विशेष एव ब्रह्मानुवादेन बोधनीयः। तथा च यद् ब्रह्म तज्जगत्कारणमित्येवं वचनव्यक्तिः सूत्रस्याऽऽपद्येत, पुरुषाणां च न किंचित् प्रयोजनं तद्बोधे स्यात्। न चोपासनं प्रयोजनम्, अरोपितरूपेणाऽप्युपासनसंभवे तत्प्रतिपादनवैयर्थ्यात्। तस्मादसङ्गतोऽयं भास्करपक्षः।

परमार्थदर्शिनस्तु य ईश्वरः स एव प्रत्यगात्मेति मन्यन्ते। विमतौ जीवेश्वरौ वस्तुतो न भिन्नौ, उपाधिपरामर्शमन्तरेणाऽविभाव्यमानभेदत्वाद्, बिम्बप्रतिबिम्बवत्। अन्यथा ब्रह्मणि निरतिशयबृहत्यर्थान्वयो न सिध्येत्। तस्य कृत्स्नदेशकालव्यापित्वेऽपि जीवेभ्यो भिन्नत्वाद्वस्तुतः सर्वगतत्वाभावात्।

तुम्हारे (भास्करके) मतमें तो जगत्के कारणकी विप्रतिपत्ति होनेसे ब्रह्मका अनुवाद करके उसके (जगत्कारणके) विशेषको ही दिखलाना होगा। इस परिस्थितिमें जो ब्रह्म है वही जगत्कारण है, इस प्रकारका वाक्यस्वरूप दूसरे सूत्रका प्राप्त होगा और उस (जगत्कारणके) बोधसे पुरुषोंका कोई प्रयोजन भी सिद्ध नहीं होगा। उपासनाको भी उसका प्रयोजन नहीं मान सकते, कारण कि आरोपितरूपसे भी उपासनाका सम्भव है, इसलिए उसके लिए उसका प्रतिपादन करना व्यर्थ ही है। इसलिए उक्त भास्करका मत असङ्गत है अर्थात् प्रधानतया ईश्वरविषयक विप्रतिपत्ति दिखलानेका कथमपि अवसर नहीं है।

परमार्थदर्शी अर्थात् ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार किये हुए वेदान्तदर्शनकार तो 'जो ईश्वर है वही प्रत्यगात्मा है' ऐसा मानते हैं। [अपने मतका साधक अनुमान करते हैं—] विमत जीव और ईश्वर, परमार्थतः भिन्न नहीं हैं (एक ही हैं), उपाधिके सम्बन्धज्ञानके बिना भेदका बोध न होनेसे; बिम्ब और प्रतिबिम्बके समान। अन्यथा ब्रह्मपदार्थमें 'बृह्' धातुके निरतिशयरूप अर्थका सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकेगा, कारण कि उसके (ब्रह्मके) सम्पूर्ण देश और कालमें व्याप्त होनेपर भी जीवोंसे भिन्न होनेके कारण वस्तुतः सर्वगतत्व सिद्ध नहीं हो सकता। [वह वस्तुतः सर्वगत तभी माना जायगा, जब सकल वस्तुओंमें उपादानरूपसे अनुस्यूत होगा, जीवको ब्रह्मसे भिन्न माननेमें ब्रह्मके जीवपदार्थमें

ननु बृहत्यर्थानुगमाय ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वाङ्गीकारे दुःखात्मकताया अप्यङ्गीकार्यत्वादपुरुषार्थता स्यात् । आनन्दरूपत्वमप्यस्तीति पुरुषार्थतेति चेद्, मैवम्; नहि तृप्तिहेतुरित्येतावता विषमिश्रितान्नं पुरुषैरर्थ्यते । 'न लिप्यते लोकदुःखेन' इत्यादिशास्त्रान्न दुःखात्मकतेति चेद्, न; 'आत्मैवेदं सर्वम्' इति सर्वतादात्म्यश्रुत्या सर्वोपादानत्वलक्षणयुक्त्या च तस्य बाधितत्वात् । अथैकदेशिमतमाश्रित्य सर्वज्ञस्याऽज्ञानमिथ्याज्ञानाभावान्नाऽनर्थसंबन्ध इति चेद्, न; तन्मते सर्वप्रपञ्चतादात्म्यस्य वास्तवस्य जननायाऽविद्याद्यनपेक्षणात् । अत एव तत्त्वज्ञाने सत्यप्यपायस्य दुःसम्पाद-

---

अनुस्यूत न होनेसे उक्त सर्वगतत्व नहीं हो सकता, इसलिए जीव और ईश्वर वस्तुतः अभिन्न हैं, भिन्न नहीं हैं, यह तात्पर्य है]।

शङ्का—'बृह्' धातुके अर्थके अनुगमके लिए ब्रह्मको सर्वात्मा (सकलवस्तुस्वरूप) माननेपर उसमें दुःखस्वरूपता भी माननी होगी, इससे वह पुरुषार्थ ही न होगा । यदि कहो कि आनन्दस्वरूप भी तो ब्रह्म है, इसलिए उसमें पुरुषार्थत्व है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि इतनेसे वह पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता, कारण कि विष मिला हुआ अन्न भूख अवश्य मिटा सकता है, पर पुरुष उसको चाहते नहीं हैं [अर्थात् वह विषमिश्रित अन्न पुरुषार्थ नहीं होता, वैसे ही आनन्दरूप ब्रह्म भी दुःखमय होनेसे पुरुषार्थ नहीं हो सकता] 'वह ईश्वर मनुष्योंके दुःखसे दुःखी नहीं होता' इत्याद्यर्थक शास्त्रोंके आधारपर ब्रह्म दुःखात्मक नहीं है, ऐसा मानना भी उचित नहीं है, कारण कि 'यह सब कुछ आत्मा ही है' इत्याद्यर्थक सकल प्रपञ्चके साथ तादात्म्यका बोधन करनेवाली श्रुतिसे और सर्वोपादानस्वरूप ब्रह्मके लक्षणकी युक्तिसे भी उक्त शास्त्रका बाध हो जाता है । यदि किसी एकदेशीके मतका आश्रयण करके यह माना जाय कि सर्वज्ञमें अज्ञान अथवा विपरीत ज्ञान नहीं है, अतः अनर्थका (पुरुषार्थभिन्न दुःखका) उसमें सम्बन्ध नहीं है, तो वह भी नहीं मान सकते, कारण कि उस एकदेशीके मतमें सम्पूर्ण प्रपञ्चके वस्तुभूत तादात्म्यकी उत्पत्तिके लिए अविद्या आदिकी अपेक्षा नहीं होती है । [यदि प्रपञ्चतादात्म्यकी उत्पत्तिके लिए अविद्यादिकी अपेक्षा होती, तो कह सकते थे कि सर्वज्ञमें अविद्याका सम्बन्ध नहीं है, इसलिए

त्वात्। अथाऽपि ब्रह्मणो धर्माधर्मरहितत्वान्न दुःखादिसंबन्धस्तदनुभवो वा संभवतीति चेद्, न; दुःखादिसर्वप्रपञ्चोपादानतया तत्संबन्धस्य सर्वज्ञतया तदनुभवस्य चाऽवारणीयत्वात्। अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया कार्यप्रपञ्चाद् ब्रह्मणो भिन्नत्वं वा कारणाकारणरूपेण ब्रह्मद्वयं वाऽभ्युपगम्येत; तदा बृहत्यर्थो नाऽनुगच्छेत्। तस्मात् सर्वात्मकं सर्वज्ञं ब्रह्माऽपुरुषार्थतया न जिज्ञास्यमिति।

अत्रोच्यते—भवेदयं दोषः पारमार्थिकप्रपञ्चवादे, मायावादे तु न कोऽपि दोषः; वस्तुतो ब्रह्मणो निर्लेपत्वात्। तदेवं देहादिनिर्लेपब्रह्मान्ताः पदार्था युक्तिं वाक्यं च समाश्रयद्भिर्वादिभिः प्रत्यगात्मतया विप्रति-

---

अनर्थका तादात्म्य नहीं हो सकता]। इसीलिए तत्त्वज्ञान होनेपर भी उसके (तादात्म्यके] विनाशका सम्पादन करना कठिन होता है [क्योंकि तत्त्वज्ञानसे तो अविद्याका ही नाश होता है और तादात्म्यमें अविद्या है ही नहीं, जिससे कि अविद्याका नाश होनेपर उसका कार्यभूत तादात्म्य भी नष्ट हो जाय, वह तो उस मतमें बना ही रह जायगा]। यदि कहो कि धर्म तथा अधर्मसे ब्रह्ममें दुःखादिका सम्बन्ध तथा उसका अनुभव नहीं हो सकता है, तो यह भी नहीं कहा जा सकता, कारण कि दुःख आदि सम्पूर्ण प्रपञ्चके प्रति उपादान होनेसे दुःखादिके सम्बन्धका तथा सर्वज्ञ होनेसे दुःखादिके अनुभवका ब्रह्ममें वारण नहीं किया जा सकता। यदि उक्त दोषके समाधानके लिए कार्यस्वरूप प्रपञ्चसे ब्रह्मका भेद अथवा कारण और अकारण (कार्य) रूपसे दो ब्रह्मके भेद माने जायँ, तो 'बृहि' धात्वर्थका अनुगमन नहीं हो सकेगा, इसलिए पुरुषार्थस्वरूप न होनेसे सर्वात्मक और सर्वज्ञ ब्रह्म जिज्ञासाका विषय नहीं हो सकता।

[इस लम्बी शङ्काका समाधान करते हैं—] इस शङ्काके उत्तरमें कहा जाता है—यह दोष तो प्रपञ्चको पारमार्थिक माननेमें आ सकता है। मायावादमें (प्रपञ्चको मिथ्या माननेवालोंके मतमें) तो कोई भी दोष नहीं आता, क्योंकि ब्रह्म वस्तुतः निर्लेप—सर्वप्रकारके सम्बन्धसे रहित—है। अपनी-अपनी युक्ति तथा प्रमाणभूत वचनका आश्रयण करके प्रतिवादी इस प्रकार देहसे लेकर निर्लेप ब्रह्म पर्यन्त पदार्थोंके विषयमें प्रत्यगात्मरूपसे

पद्यन्ते। तत्र तत्र तन्मतसिद्धा युक्तिः पूर्वमेव दर्शिता। वाक्यं च 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः', 'स वा अयमात्मा ब्रह्म', 'पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयः' इत्यादिकं शरीरात्मवादेऽवगन्तव्यम्। 'ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो वागुदगायत्' इत्यादीन्द्रियात्मवादे, 'मन उदगायत्' इति मनआत्मवादे, 'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः' इत्यादि विज्ञानात्मवादे, 'असद्वा इदमग्र आसीत्' इति शून्यात्मवादे, 'मन्ता बोद्धा कर्ता स्वप्ने जीवः सुखदुःखभोक्ता' इत्यादि कर्तृभोक्त्रात्मवादे, 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति सत्त्वमनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इत्यादि साक्षित्वलक्षणकेवलभोक्त्रात्मवादे, 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति' इति तटस्थात्मवादे, निर्लेपब्रह्मात्मवादे तु सर्वाणि वेदान्तवाक्यान्यवगन्तव्यानि। तत्र

विवाद करते हैं। तत्-तत् स्थानमें उनके मतका अनुसरण करनेवाली युक्तियोंका पहले ही दिग्दर्शन कराया गया है। और 'वह यह पुरुष अन्न-रसमय है, वह यह आत्मा ब्रह्म है और पृथ्वीरूप, जलरूप, वायुरूप, आकाशरूप, तेजःस्वरूप है' इत्याद्यर्थक वाक्य भी देहात्मवादके पक्षमें आपाततः प्रमाण हैं, यह समझना चाहिए। 'वे वाणीसे कहने लगे कि तुम हमारे लिए उद्गान करो, उसको स्वीकार करके वाणीने उनके लिए उद्गान किया' इत्याद्यर्थक वाक्य इन्द्रियोंको आत्मा माननेके पक्षमें हैं। 'मनने उद्गान किया' इत्यर्थक वाक्य मनको आत्मा माननेमें, 'कौन आत्मा है' इस प्रश्नके उत्तरमें 'जो यह विज्ञानस्वरूप है' इत्यर्थक वाक्य विज्ञानको आत्मा माननेमें, 'इस सृष्टिसे पूर्व सब असत् था' इत्यर्थक वाक्य शून्यको आत्मा माननेमें, 'मनन कर्ता बोद्धा, कर्ता स्वप्नमें जीव सुख-दुःखका भोक्ता है' इत्यादि वाक्य आत्माको कर्ता, भोक्ता माननेमें, 'इन दोनोंमें एक स्वादु कर्मफलका भोग करता है और दूसरा भोग न करता हुआ प्रकाशमान रहता है' इत्यादि वाक्य आत्माको साक्षीरूप केवल भोक्ता माननेमें तथा 'जो अपनेमें स्थित होता हुआ भीतर आत्माका नियमन करता है' इत्यादि वाक्य तटस्थ आत्माके माननेमें प्रवृत्त होते हैं। और 'आत्मा निर्लेप ब्रह्मरूप है' इस मतमें तो सम्पूर्ण वेदान्तवाक्योंका ही समन्वय है, ऐसा समझना चाहिए। इनमें निर्लेप

निर्लेपब्रह्मात्मवादिनाऽभिहितयोर्युक्तिवाक्ययोः समीचीनत्वमन्योक्तयोस्त्वाभासत्वमित्येतत्सूत्रकार एव तत्र तत्र स्पष्टीकरिष्यति। एवं च सत्येतद्विचारशास्त्रमश्रुत्वा पण्डितंमन्यतया देहादितटस्थेश्वरान्तेष्वन्यतमं यं कश्चिदात्मानमवलम्बमानो मुमुक्षुर्न मोक्षं प्राप्नुयात्, तत्त्वज्ञानलभ्यस्य मोक्षस्य विपरीतज्ञानेन सम्पादयितुमशक्यत्वात्। न च तस्य पापिष्ठस्य कदाचिन्निष्कृतिरस्ति । 'अतस्तस्य अन्यथाप्रतिपत्तिर्हि महत्तरं पापम्,

'योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चोरेणाऽऽत्मापहारिणा ॥'

इति न्यायात्। अतः सत्यज्ञानानन्दादिरूपस्याऽऽत्मनोऽसत्कल्पनामापादयतस्तस्याऽऽत्मघातिनः कष्टलोकप्राप्तिः श्रूयते—

ब्रह्मस्वरूप आत्मा है, इस प्रकार माननेवाले अद्वैतवादी द्वारा प्रदर्शित युक्ति और प्रमाणभूत वाक्योंमें समीचीनता (प्रमाणता) है और दूसरे वादियोंके द्वारा दिखलाई गई युक्तियों तथा प्रमाणरूपसे दिये वाक्योंमें आभासता (अप्रमाणता) है, इसका स्पष्ट प्रतिपादन तत्-तत् स्थलोंमें सूत्रकार स्वयं करेंगे। इस परिस्थितिमें इस विचारशास्त्रका (उत्तरब्रह्ममीमांसाका) श्रवण न करके अपनेको पण्डित समझ कर कहे गये देहसे लेकर तटस्थ ईश्वर पर्यन्त पदार्थोंमें से किसी एक पदार्थको आत्मा मानकर उसके सहारे मोक्षकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य मोक्षको नहीं पा सकता, कारण कि तत्त्वज्ञानको न पाकर विपरीत ज्ञानसे मोक्षका सम्पादन नहीं किया जा सकता। और विपरीत ज्ञानको रखनेवाले उस पापीका कभी भी संसारसे छुटकारा नहीं हो सकता। इसलिए उसका विपरीत ज्ञान बड़ा भारी पाप है, क्योंकि—

'जो सद्रूप आत्माको असत्‌रूप समझता है, उसने क्या पाप नहीं किया ? अर्थात् पाप किया ही, क्योंकि वह तो आत्माको ही चुरा लेनेवाला महान् चोर है', ऐसा शास्त्रीय न्याय है।

इसलिए सत्य, ज्ञान, आनन्दादि स्वरूप आत्माके विषयमें असत्—विपरीत—कल्पनाका आपादन करनेवाले आत्मघातियोंको दुःखप्रद लोकोंकी प्राप्ति होती है, ऐसा श्रुतिमें कहा गया है—

'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥' इति ।

ननु ब्रह्मविचारेण तत्त्वज्ञाने निष्पन्नेऽपि न मोक्ष उपपद्यते, पृथिव्यादिप्रपञ्चनिवृत्तेरभावात्, नैष दोषः; सर्वजीवसाधारणेषु पृथिव्यादिषु सत्स्वप्यन्तःकरणाध्यासनिवृत्तौ प्रमातृत्वाभावादात्मचैतन्यस्य स्वतो विषयोपरागाभावाद्वा एतद्दर्शनं न प्राप्नोति, निरिन्द्रियस्येव रूपादिदर्शन-

---

वे अशुभ लोक हैं, जो सदैव अन्ध (दृष्टिका उपघात करनेवाले) अन्धकारसे व्याप्त रहते हैं। मरनेके बाद उन लोकोंकी उन्हें प्राप्ति होती है; जो आत्मघाती मनुष्य हैं।' [अज्ञान तथा अन्यथाग्रहण दोनों हिंसामें ही सम्मिलित हैं। वस्तुका यथार्थरूप न रखना या न समझना हिंसा ही है, अतः अनात्माको आत्मा समझ कर और आत्माका शुद्ध निर्लेप सत्, चित् और आनन्द रूप न समझ कर कर्ता, भोक्ता आदि धर्मसहित समझना भी आत्मघात ही कहलाता है, अतः ऐसे आत्मघाती पुरुष दुःखद असुर्य नामक (देवादिस्थावरान्त) लोकको प्राप्त होते हैं, यह भाव है ।]

शङ्का—ब्रह्मका विचार करनेसे तत्त्वज्ञानके होनेपर भी मोक्षकी उपपत्ति नहीं हो सकती, कारण कि पृथ्वी आदि प्रपञ्चकी निवृत्ति ही नहीं होती [सर्वप्रपञ्चनिवृत्तिको ही मोक्ष कहते हैं और ब्रह्मविचारसे प्रपञ्चकी निवृत्ति नहीं देख पड़ती, अतः तत्त्वज्ञानसे भी मोक्ष नहीं हो सकता, यह भाव है] ।

समाधान—उक्त दोष नहीं आता, कारण कि यद्यपि पृथ्वी आदि प्रपञ्च सकल-जीव-साधारण रहता है, तथापि अन्तःकरणके अध्यासकी निवृत्ति हो जानेके कारण प्रमातृत्व आदि धर्मोंके न रहनेसे अथवा आत्मस्वरूप चैतन्य के साथ स्वतः विषयका सम्पर्क न होनेसे पृथ्वी आदि प्रपञ्चका दर्शन ही प्राप्त नहीं होता। [जब शुद्ध चैतन्य सर्वविध लेपसे शून्य है और अन्तःकरणाध्यासरूप उपाधि ब्रह्मविचारसे छूट ही गई, तब सर्वसाधारणकी दृष्टिमें पृथ्वी आदि प्रपञ्चके रहनेसे भी अध्यासरूप उपाधिशून्य पुरुष उस प्रपञ्चात्मक द्वैतका दर्शन नहीं कर सकता, यह भाव है।] [सर्वसाधारणकी दृष्टिमें विषय 'द्वैत' के विद्यमान रहते भी उसका दर्शन नहीं होता है, इसका दृष्टान्त द्वारा समर्थन करते हैं—] जैसे कि इन्द्रियहीन पुरुषको रूपादिका दर्शन

मित्येकः पक्षः। इतरस्तु सर्वद्वैतनिवृत्तिपक्षः समन्वयसूत्रे वक्ष्यते। तदेवमहमित्यात्मत्वसामान्याकारेण सर्वप्रत्यक्षसिद्धस्याऽत्यन्ताप्रसिद्ध्यभावाद्विशेषतो वादिविप्रतिपत्तिविषयस्याऽपि निष्प्रपञ्चब्रह्मरूपेण विशेषेण शास्त्रान्तरेष्वसिद्धत्वाच्च विषयत्वसिद्धिः। तस्य च ब्रह्मणोऽनेन शास्त्रेण प्रतिपादयितुं शक्यतया प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावलक्षणः संबन्धोऽपि सिद्ध इत्युभयस्याऽपि सिद्धे प्रयोजनस्य च मोक्षस्याऽभिहितत्वान्निष्प्रत्यूहो ब्रह्मविचारः कर्तव्य इत्यशेषमतिमङ्गलम्।

इति श्रीविद्यारण्यमुनिप्रणीते विवरणप्रमेयसंग्रहे प्रथमसूत्रे चतुर्थवर्णकम्।

समाप्तं चेदं सूत्रम्।

नहीं होता, इस प्रकार एक पक्ष है। और सम्पूर्ण द्वैत प्रपञ्च की निवृत्ति हो जाती है, इस प्रकारका दूसरा पक्ष समन्वय सूत्रमें कहा जायगा। अन्तमें तात्त्विक बात यह हुई कि 'अहम्' इस प्रकार आत्मस्वरूप सामान्य आकारसे सबके प्रत्यक्षसे सिद्ध ब्रह्मभूत आत्माकी अत्यन्त अप्रसिद्धि नहीं हो सकती और विशेष प्रकारसे वादियोंकी विप्रतिपत्तिका विषय होनेपर भी प्रपञ्चशून्य ब्रह्मात्मक विशेषरूपसे दूसरे शास्त्रोंके द्वारा वह सिद्ध नहीं है, इसलिए इस विचारशास्त्रकी विषयता ब्रह्ममें सिद्ध हो सकती है। और उस ब्रह्मका इस शास्त्रसे प्रतिपादन हो सकता है, अतः प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव सम्बन्ध भी सिद्ध है, इसलिए (विषय तथा सम्बन्ध) दोनोंकी भी सिद्धि है और मोक्षरूप प्रयोजनका पहले ही अभिधान हो चुका है अतः ब्रह्मका विचार निर्विवादरूपसे करना चाहिए, इस प्रकार (प्रथम सूत्रका व्याख्यानतात्पर्य) सम्पूर्ण ही अत्यन्त मङ्गलमय है।

इति श्रीविवरणप्रमेयसंग्रहके पं० ललिताप्रसाद डबरालविरचित भाषानुवादमें चौथा वर्णक समाप्त हुआ

प्रथम सूत्र समाप्त



अथ द्वितीयं सूत्रम्

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यत्र ब्रह्म ज्ञातुकामेन ज्ञानोपायभूतमिदं विचारशास्त्रं श्रोतव्यमिति प्रतिज्ञातम्, जिज्ञासापदस्य ज्ञानेच्छालक्षणस्वार्थापरित्यागेनाऽन्तर्णीतविचारलक्षकत्वात्। प्रतिज्ञाते च ब्रह्मविचारे तदङ्गानि लक्षणप्रमाणयुक्तिसाधनफलान्यप्यर्थात्प्रतिज्ञातान्येवेति लक्षणादिप्रतिपादको वक्ष्यमाणः सूत्रसन्दर्भः सङ्गच्छतेतराम्। अन्यथा ज्ञानेच्छामपुरुपतन्त्रां कर्त्तव्यत्वेन प्रतिज्ञायेच्छानुपयुक्तानि लक्षणादीनि प्रतिपादयतः सूत्रकृतो महदकौशलमापद्येत। यद्यपि साध्यसिद्धेः साधनाद्यधीनत्वात् साधनादीन्येव प्रथमं विचार्याणि, तथापि तानि ब्रह्मप्रमाणं ब्रह्मयुक्तिर्ब्रह्मसाधनं ब्रह्मप्रमितिरिति ब्रह्मविशिष्टत्वेन ब्रह्मस्वरूपनिर्णय-

---

द्वितीय सूत्र

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस प्रथम सूत्रमें 'ब्रह्मज्ञानकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको ज्ञानके उपायभूत (साधनभूत) इस विचारशास्त्रका (वेदान्तशास्त्रका) श्रवण करना चाहिए, ऐसी प्रतिज्ञा की गई है, कारण कि 'जिज्ञासा' पद ज्ञानविषयक इच्छारूप अपने अर्थका परित्याग नहीं करता है, इससे वह अन्तर्णीत (अन्तर्गत) विचारका लक्षक (बोधक) है। ब्रह्मविचारकी प्रतिज्ञा करनेपर उसके अङ्गभूत लक्षण, प्रमाण, युक्ति, साधन और फल—इन सभीकी प्रतिज्ञा अर्थतः सिद्ध हो ही जाती है; इसलिए लक्षण आदिका प्रतिपादन करनेवाले अग्रिम द्वितीय सूत्रके सन्दर्भकी प्रथम सूत्रके साथ सङ्गति है ही। अन्यथा जिसकी उत्पत्ति पुरुषाधीन नहीं है, ऐसी ज्ञानेच्छाकी कर्तव्यरूपसे प्रतिज्ञा कर यदि सूत्रकार इच्छाके लिए अनुपयुक्त लक्षण आदिका प्रतिपादन करें, तो उनका बड़ा भारी अकौशल (मौर्ख्य) प्रकट होगा। यद्यपि साधन आदिके अधीन साध्यकी सिद्धि होती है, इसलिए साधन आदिका ही पहले विचार करना चाहिए, तथापि वे साधन आदि ब्रह्ममें प्रमाण, ब्रह्ममें युक्तियाँ; ब्रह्मप्रापक साधन तथा ब्रह्मका निश्चयात्मक ज्ञान, इस प्रकार ब्रह्मसे विशिष्ट हैं [अतः ब्रह्मस्वरूपके निर्णयकी अपेक्षा रखते हैं, क्योंकि सर्वत्र साधनादिमें ब्रह्म विशेषण लगा है और विशेषणज्ञानके बिना

सापेक्षाण्युपसर्जनानि च। अतो निरपेक्षं प्रधानं च ब्रह्मस्वरूपं भगवान् सूत्रकारः प्रथमं लक्षयति—'जन्माद्यस्य यतः' इति।

नन्वज्ञाते स्वरूपे लक्षणं ज्ञाते वा? नाऽज्ञाते, किमस्य लक्ष्यस्य लक्षणमिति जिज्ञासानुदयात्। अस्येदं लक्षणमिति लक्ष्यलक्षणसंबन्धापरिज्ञानाच्च। नाऽपि ज्ञाते, वैयर्थ्यात्। किञ्च स्वरूपलक्षणमुच्यते तटस्थलक्षणं वा? नाऽऽद्यः, जन्मादिकारणत्वस्य सप्रतियोगिकस्य स्वरूपत्वायोगात्। स्वरूपत्वे च सविशेषत्वप्रसङ्गात्। नाऽपि द्वितीयः, स्वरूपलक्षणेन विना तटस्थलक्षणमात्रेण स्वरूपप्रतीत्ययोगात्। अन्यत्र च स्वरूपलक्षणस्याऽप्रसिद्धेः। कथंचित्तत्प्रसिद्धावप्यस्य तटस्थलक्षण-

विशिष्टज्ञानका संभव नहीं है] और उपसर्जन—गौण—हैं। इसलिए निरपेक्ष और प्रधानभूत ब्रह्मस्वरूपका भगवान् सूत्रकार सर्वप्रथम लक्षण करते हैं—'जन्माद्यस्य यतः' से।

शङ्का—स्वरूपका ज्ञान न होनेपर लक्षण किया जाता है? या स्वरूपका ज्ञान होनेपर? इनमें स्वरूपके अज्ञात रहनेपर लक्षण करना नहीं बन सकता, कारण कि इस लक्ष्यका लक्षण क्या है? ऐसी जिज्ञासाका उदय नहीं होता है। और इसका यह लक्षण है, ऐसा लक्ष्य-लक्षण-भाव सम्बन्धका ज्ञान नहीं होता है। स्वरूपके ज्ञात रहते भी नहीं कह सकते, क्योंकि ज्ञात होनेपर लक्षण करना व्यर्थ है। [लक्षणनिर्माणका स्वरूपज्ञान कराना ही फल है। यदि वह फल सिद्ध ही है तो उसके लिए प्रयास करना पिष्टपेषणके सदृश व्यर्थ है।] [और भी विकल्प करते हैं—] क्या स्वरूपलक्षण[1] करते हो या तटस्थलक्षण[2]? इनमें प्रथम कल्प नहीं बन सकता, कारण कि सप्रतियोगिक जन्मादिकारणस्वरूप ब्रह्मका स्वरूप नहीं हो सकता। यदि इसको ब्रह्मका स्वरूप मानो, तो ब्रह्म सविशेष हो जायगा। दूसरा पक्ष भी नहीं माना जा सकता, कारण कि स्वरूपलक्षण किये बिना केवल तटस्थलक्षणसे स्वरूपकी प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि कहीं दूसरी जगह स्वरूपलक्षणकी प्रसिद्धि नहीं है। कथंचित् प्रसिद्धि मान भी ली जाय, तो भी इस तटस्थलक्षणकी अतिव्याप्ति हो जायगी, कारण कि

(१) अन्यकी व्यावृत्ति करता हुआ स्वरूपका परिचय देनेवाला असाधारण धर्म।
(२) केवल इतर व्यावर्तक असाधारण धर्म।

स्याऽतिव्याप्तिः, प्राधानादावपि जगत्कारणत्वसंभवात् । अतोऽनेन सूत्रेण किं प्रतिपाद्यत इति ? अत्र ब्रूमः—

जगज्जन्मस्थितिध्वंसा यतः सिध्यन्ति कारणात् ।
तत् स्वरूपतटस्थाभ्यां लक्षणाभ्यां प्रदर्श्यते ॥

अधीतवेदान्तस्य विदितपदपदार्थसंबन्धस्याऽऽपाततो ब्रह्मस्वरूपं ज्ञात्वा विशेषतो ज्ञातुमाकाङ्क्षतः क्लृप्तलक्ष्यलक्षणसंबन्धत्वेन सार्थकमेवेदं लक्षणाभिधानम् । तत्र तावज्जन्मादिकारणत्वं मायाविशिष्टब्रह्मणः स्वरूपलक्षणत्वेऽप्यविरुद्धम् । शुद्धब्रह्मणस्तु तत् तटस्थलक्षणम् । स्वरूपलक्षणं तु तस्य 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्धम् । न चोक्तलक्षणस्याऽतिव्याप्तिः, प्रधानादेर्जगत्कारणत्वस्य निराकरिष्यमाणत्वात् । अतिव्याप्त्यादिदोषपरिहारेण लक्षणनिर्णयायाऽत्रैवाऽर्थात्सूत्रिते प्रमाणयुक्ती इत्यवगन्तव्यम् ।

प्रधान (प्रकृति) आदिमें [आदिपदसे परमाणु आदि लेने चाहिए] जगत्कारणत्वका सम्भव है । इसलिए प्रश्न होता है कि इस दूसरे सूत्रसे किस वस्तुका प्रतिपादन किया जा रहा है ?

समाधान—इस आशङ्काके उत्तरमें कहा जाता है—'जिस कारणसे संसारके जन्म, स्थिति तथा विनाश—ये तीनों सिद्ध होते हैं, उसका स्वरूप और तटस्थ लक्षणोंके द्वारा प्रदर्शन (विवेक) किया जाता है ।' वेदान्तवाक्योंके पढ़नेसे पदपदार्थसम्बन्ध-ज्ञान द्वारा पहले सामान्यरूपसे ब्रह्मस्वरूपको जानकर विशेषरूपसे जाननेकी आकाङ्क्षावाले जिज्ञासुके लिए माने गये लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्ध होनेसे यह लक्षण करना सप्रयोजन ही है [व्यर्थ नहीं है] । इस दशामें संसारके जन्मादिका कारण होना मायामिश्रित ब्रह्मका स्वरूपलक्षण होनेपर भी विरोध नहीं आ सकता । शुद्ध ब्रह्मका तो वह तटस्थलक्षण ही है । उसका स्वरूपलक्षण तो 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियोंमें सत्य-ज्ञानादिरूप प्रसिद्ध है [इससे अन्यत्र अप्रसिद्धि दोष भी नहीं आता] । और उक्त लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष भी नहीं है [अर्थात् प्रधानादिमें जगत्कारणत्वरूप तटस्थलक्षण अतिप्रसक्त भी नहीं है], कारण कि प्रधानादिमें संसारकी कारणताका आगे खण्डन किया जायगा । अतिव्याप्ति आदि दोषोंका परिहार करनेसे यहींपर अर्थात् इसी सूत्रमें लक्षणोंका निर्णय करनेके लिए

अध्यायद्वये तयोरेव प्रमाणयुक्त्योः सूत्रकारेण प्रपञ्चयिष्यमाणत्वात् । ननु जन्मादीत्यस्मिन् बहुव्रीहौ स्थितिप्रलययोरन्यपदार्थत्वात् पुँल्लिङ्ग-द्विवचनेन भवितव्यम् ? न भवितव्यम्, जन्मनोऽप्यन्यपदार्थत्वेन विवक्षितत्वात् । न चैवं सत्येकस्यैव जन्मनो विशेष्यत्वविशेषणत्वप्रसङ्गः, जन्मादित्रयस्य विशेष्यत्वेन विवक्षितत्वात् । अत एव न पुँल्लिङ्गबहुवचनप्राप्तिरपि । यद्यप्यनादौ संसारे न जन्मनो वस्तुत आदित्वम्, तथापि जनित्वा स्थित्वा प्रलीयते इति व्यावहारिकीं लोकप्रसिद्धिमुपजीव्य 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इति श्रुतौ जन्मन आदित्वनिर्देशस्तमुपजीव्याऽयं सौत्रोऽपि निर्देश उपपन्नः ।

अर्थतः प्रमाण और युक्तियोंका सूचन किया गया है, ऐसा समझ लेना चाहिए, क्योंकि दो अध्यायोंमें उन्हीं प्रमाण और युक्तियोंका सूत्रकार बड़े विस्तारसे वर्णन करेंगे ।

शङ्का—'जन्मादि' इस पदमें जन्म आदि ययोः स्थितिप्रलययोस्तौ जिनके आदिमें जन्म हैं' ऐसे स्थिति और प्रलय [अर्थात् तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहिसे जन्मादि पदसे जन्म, स्थिति और प्रलय तीनों लिए जाते हैं], इस प्रकार बहुव्रीहि समासमें स्थिति और प्रलयके अन्य पदार्थ होनेसे जन्मादि पदको पुंलिङ्ग और द्विवचन होना चाहिए ।

समाधान—वह पुंलिङ्ग और द्विवचन नहीं हो सकता, कारण कि जन्मकी भी अन्यपदार्थरूपसे विवक्षा कर सकते हैं । ऐसा माननेसे एक ही जन्ममें विशेष्यत्व और विशेषणत्व दोनोंका प्रसङ्ग नहीं आ सकता, कारण कि जन्मादि तीनोंमें विशेष्यत्वकी विवक्षा की गई है । इसीलिए पुंलिङ्ग और बहुवचन आनेकी प्रसक्ति भी नहीं होती । यद्यपि अनादि संसारमें जन्मका ही वस्तुतः सर्वप्रथमत्व नहीं है, तथापि 'उत्पन्न होकर, कुछ दिन रहकर लीन हो जाता है' इस लोकप्रसिद्ध रीतिको लेकर 'जिससे ये सब भूतसमूह उत्पन्न होते हैं, इस श्रुतिमें जन्ममें ही प्रथमत्वका निर्देश किया गया है, उक्त श्रुतिको ही मूल मानकर सूत्रमें भी जन्मका आदिपदसे निर्देश करना उचित है ।

अस्येति सूत्रप्रतीकेन प्रत्यक्षादिप्रतीतं कृत्स्नं जगदभिधीयते, इदमः सर्वनामत्वात् । अन्यत्रेवाऽत्र सङ्कोचकस्य प्रकरणादेरभावात् । अत एव षष्ठीविभक्त्या जन्मादीनां जगतश्च सर्व एवेह संबन्धो विवक्ष्यते। न च जगदाश्रितानां जन्मादीनां गृहाश्रितकाकवल्लक्ष्यसंबन्धरहितत्वादलक्षणत्वमिति वाच्यम्, शुद्धब्रह्मसंबन्धाभावेऽपि मायाविशिष्टकारणब्रह्मसंबन्धित्वात् । यत इत्यनेन हि सूत्रपदेन कारणमेव निर्दिश्यते, न तु शुद्धम् ।

ननु कारणत्वमपि न लक्ष्यान्तर्गतम् । कारणत्वं हि नानाविधकार्यगोचर-

---

सूत्रमें प्रतीकरूपसे आये हुए 'अस्य' इस षष्ठ्यन्त 'इदम्' शब्दसे प्रत्यक्ष आदिसे प्रतीत सम्पूर्ण प्रपञ्चका अभिधान किया जाता है, कारण कि 'इदम्' सर्वनाम है [सर्वेषां नाम—वाचकम्—अर्थात् सबका जो वाचक हो वह सर्वनाम कहलाता है, अतः प्रकृतमें 'इदम्' सर्वनाम भी दृश्यमान सकल विश्वका वाचक है], क्योंकि और स्थलोंकी नाईं प्रकृतमें संकोचकारक कोई प्रकरण आदि प्रमाण नहीं है । [इदम् आदि सर्वनाम कहीं-कहींपर पूर्वकथित या सन्निहित मात्रका तथा कहींपर बुद्धिस्थ यत्किञ्चित्का ही परामर्श करता है। संकोचमें तो प्रकरणादि ही नियामक होता है । प्रकरणादिके अभावमें तो सकलका ही वाचक होता है] इस कारणसे ही षष्ठी विभक्ति द्वारा जन्मादि और जगत्का यहाँ सभी तरहका सम्बन्ध विवक्षित होता है ।

शङ्का—जगत्का आश्रय करनेवाले जन्म आदि घरमें बैठे हुए काकके सदृश लक्ष्यके साथ सम्बन्ध न होनेसे लक्षण नहीं हो सकते। [जैसे गृहाश्रित काकादिका ब्रह्मके साथ सम्बन्ध न होनेसे वह (काकादि) ब्रह्मका लक्षण नहीं माना जा सकता, वैसे ही सकल प्रपञ्चाश्रित जन्मादि भी ब्रह्मके लक्षण नहीं हो सकते] ।

समाधान—शुद्ध ब्रह्मके साथ सम्बन्ध न होते हुए भी मायाशबलित कारण ब्रह्मके साथ सम्बन्ध हो सकता है, क्योंकि सूत्रमें आये हुए 'यतः' पदसे कारण ब्रह्मका ही निर्देश है, शुद्धका नहीं ।

शङ्का—कारणत्व भी लक्ष्यके अन्तर्गत नहीं आता, कारण कि नाना प्रकारके कार्योंसे सम्बन्ध रखनेवाली (उत्पादिका) क्रियाओंका आश्रय

क्रियावेशात्मत्वं तत्प्रसवशक्त्यात्मकत्वं वा । न च तदुभयं जिज्ञास्ये विशुद्धे ब्रह्मण्यन्तर्भवितुमर्हति, ततः कारणसंबन्धिनो जन्मादेरलक्षणत्वमिति चेद्, मैवम्; काकाधिकरणत्ववदुपपत्तेः । काकाधिकरणत्वं हि न गृहेऽन्तर्भवति । तथा च सति काकविगमे गृहैकदेशभङ्गबुद्धिप्रसङ्गात् । अतो गृहस्याऽधिकरणत्वं नामौपाधिको धर्मः, स च परिशेषाल्लक्षणे एवाऽन्तर्भवति । तन्निरूपकस्य काकस्य यथा लक्षणत्वं तथा ब्रह्मणोऽपि कारणत्वमौपाधिको धर्मो लक्षणान्तःपाती । तन्निरूपकस्य जन्मादेर्लक्षणत्वे का तव हानिः ?

अथवा तादृश क्रियाका उत्पादन करनेकी सामर्थ्य ही कारण है । और उक्त दोनों प्रकारके कारणत्वका जिज्ञासाविषयीभूत शुद्ध ब्रह्ममें अन्तर्गत होना नहीं बन सकता, इससे कारणसम्बन्धी जन्मादि (जिज्ञास्य ब्रह्मके) लक्षण नहीं हो सकते । [जैसे आकाशके अन्तर्गत न होनेसे गन्धवत्त्व आकाशका लक्षण नहीं माना जाता, वैसे ही प्रकृतमें सर्वविधधर्मशून्य जिज्ञास्यभूत शुद्ध ब्रह्ममें उक्त कारणत्वके न होनेसे वह उसका लक्षण नहीं हो सकता] ।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि काकाधिकरणत्वकी भाँति (कारणत्वका लक्षण होना) उपपन्न हो सकता है । [वादीकी शङ्का है कि लक्ष्यान्तर्गत ही लक्षण हो सकता है । उसका समाधाता उत्तर देता है कि काकाधिकरणत्वकी तरह लक्ष्यान्तर्गत न होनेपर भी लक्षण हो सकता है । इसीका आगे स्पष्टीकरण कर रहे हैं—] काकाधिकरणत्व मकानके अन्तर्गत नहीं है । यदि वह (काकाधिकरणत्व) मकानके ही अन्तर्गत मान लिया जाय, तो काकके उड़ जानेपर (काकाधिकरणताका नाश होनेसे) 'घरका एक भाग नष्ट हुआ' ऐसी बुद्धिका प्रसंग आ जायगा । इससे मकानमें विद्यमान काककी अधिकरणता एक प्रकारका औपाधिक धर्म है और वह धर्म परिशेषसे [पूर्वोक्त-गृहैकदेशके नाशकी बुद्धिका प्रसङ्गरूप दोष होनेसे लक्ष्यभूत घरका अङ्ग तो हो नहीं सकता, अतः] लक्षणके ही अन्तर्गत होता है । उस अधिकरणत्वका निरूपक काक जैसे उपलक्षणविधया मकानका लक्षण होता है, वैसे ही ब्रह्ममें भी कारणत्व उपाधिप्रयुक्त धर्म है और वह लक्षणके ही अन्तर्भूत है, इसलिए उस कारणत्वके निरूपक जन्मादिको (पूर्वोक्त रीतिसे) लक्षण

ननु लक्षणान्तःपातित्वेन ब्रह्मण्यङ्गीक्रियमाणं कारणत्वं कीदृशम्? किं निमित्तत्वमेव उतोपादानत्वमेव अथोभयम्? न तावत् प्रथमद्वितीयौ, उपादानस्य निमित्तस्य वाऽन्यस्याऽवश्याङ्गीकर्तव्यत्वेन ब्रह्मणि बृहत्यर्थान्वयाभावात् श्रुत्युक्तानन्त्यभङ्गप्रसङ्गात्। नाऽपि तृतीयः, एकस्योभयकारणत्वे प्रमाणाभावात्। नह्यत्राऽनुमानं संभवति। तथाहि—भूतभौतिकं जगत् पक्षीक्रियते भूतमात्रं वा? आद्ये भागे बाधः,

माननेमें तुम्हारी क्या हानि है? अर्थात् कुछ नहीं है। [जैसे काकके उड़ जानेपर भी काकाधिकरणत्व मकानका उपलक्षण होता है, वैसे ही जगत्कारणत्व भी ब्रह्मका उपलक्षण हो सकता है, इस प्रकार समान प्रतिबन्दी उत्तर है, यह भाव है।]

शङ्का—लक्षणके अन्तर्गतत्वरूपसे ब्रह्ममें (उपलक्षणविधया) माना गया कारणत्व किस प्रकारका है? क्या वह केवल निमित्त कारण है? या केवल उपादान कारण है? अथवा निमित्त उपादान दोनों है? इनमें प्रथम और द्वितीय पक्ष नहीं मान सकते, कारण कि ऐसा माननेसे उपादान या निमित्त कारणको ब्रह्मसे अतिरिक्त अवश्य मानना होगा, इस परिस्थितिमें ब्रह्ममें 'बृहि' धातुके अर्थका समन्वय नहीं हो सकेगा [ब्रह्मको दोमें से एक कारण माननेपर जब समवायी कारण मानेंगे तब निमित्तमें और निमित्त कारण मानेंगे तब समवायीमें ब्रह्मका भेद हो जानेके कारण ब्रह्मकी व्यापकताका अभाव स्पष्ट ही होगा, यह भाव है] और श्रुतिसे प्रतिपादित आनन्त्यका भङ्ग हो जायगा। तीसरा पक्ष भी नहीं बन सकता, कारण कि एकको ही उपादान और निमित्त यों दो प्रकारका कारण माननेमें प्रमाण नहीं है। इस विषयमें अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि उक्त अनुमानमें क्या भूत और भौतिक दो प्रकारके प्रपञ्चको पक्ष करेंगे अथवा केवल भूतमात्रको पक्ष करेंगे? प्रथम पक्षके माननेमें एक भागमें बाध होगा, कारण कि भौतिक जगत्में अभिन्ननिमित्तोपादानत्वस्वरूप साध्यका अभाव (बाध) देखा जाता है [अर्थात् भौतिक घट, पट आदिके प्रति भिन्न-भिन्न कुलाल, तन्तुवाय आदि निमित्त और मृत्तिका तथा तन्तु आदि उपादान कारण देखे जाते हैं, पर दोनोंकी अभिन्नता देखी नहीं जाती, इसलिए पक्षके एक

१. निमित्तं च उपादानं च निमित्तोपादाने, ते अभिन्ने यस्य तस्य भावः तत्त्वम्—एक ही है निमित्त और उपादान कारण जिसका, ऐसा कार्य होना।

भौतिकेष्वभिन्ननिमित्तोपादानवत्त्वसाध्यवैपरीत्यदर्शनात् । न द्वितीयः, घटादिष्वेव कार्यत्वहेतोरनैकान्तिकत्वात् । अतो न कारणत्वं लक्षणमिति चेद्, मैवम्; सूत्रगतया 'यतः' इति पञ्चम्या द्विविधकारणत्वस्य विवक्षितत्वात् । जायमानवस्तुप्रकृतौ हेतौ च पञ्चमीविधानात् । न च तन्तुष्वनेकेषु प्रकृतित्वदर्शनादेकस्य ब्रह्मणः प्रकृतित्वासंभव इति वाच्यम्, तत्र किं महाभूतप्रकृतित्वं न संभवति भौतिकप्रकृतित्वं वा ? नाऽऽद्यः, महाभूतानि सत्ताप्रकृतिकानि, तदनुरक्तत्वाद्, यो यदनुरक्तः स

भौतिकरूप भागमें उक्त साध्यका अभाव है, यह तात्पर्य है ।] दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता, कारण कि घटादि-पदार्थोंमें ही कार्यत्वरूप हेतु व्यभिचरित है । [उक्त अभिन्नोपादाननिमित्तकत्वरूप साध्यकी सिद्धि आप कार्यत्वरूप हेतुके द्वारा ही करेंगे, परन्तु वह हेतु उक्त साध्यसे व्याप्त नहीं है, क्योंकि प्रदर्शित-रीतिके अनुसार घटादि कार्योंमें हेतु तो विद्यमान है, परन्तु तथोक्त साध्य नहीं है ।] इसलिए ब्रह्मका लक्षण कारणत्व नहीं माना जा सकता ।

समाधान—ऐसा कहना उचित नहीं है, कारण कि सूत्रमें आई हुई 'यतः' इस पञ्चमी विभक्तिसे दो प्रकारका (निमित्त और उपादान) कारण विवक्षित है, क्योंकि उत्पन्न होनेवाले पदार्थकी प्रकृतिमें और हेतुमें पञ्चमी विभक्तिका ['जनिकर्तुः प्रकृतिः' इस सूत्रसे] विधान किया जाता है । यदि कहो कि अनेक तन्तुओंमें (पटकी) उपादानकारणता देखी जाती है, अतः अकेले ब्रह्ममें प्रकृतित्वका (उपादानत्वका) होना सम्भव नहीं हो सकता, तो यह कहना भी उचित नहीं है, कारण कि उसपर प्रश्न यह होता है कि क्या ब्रह्म महाभूतोंका उपादान नहीं हो सकता ? या भौतिक घट, पटादि कार्योंका उपादान नहीं हो सकता ? प्रथम विकल्प नहीं बन सकता, कारण कि [अनुमान द्वारा उसका सम्भव होगा, अनुमान दिखलाते हैं] महाभूत एकसत्तामात्र प्रकृतिक हैं, अर्थात् महाभूतोंका उपादान (प्रकृति) एक ही सद् वस्तु है, सत्तासे अनुरक्त (अनुगत) होनेसे [आकाशादि महाभूतोंमें सत्तानुरागके द्वारा आकाश सत् है, वायु सत् है, तेज सत् है इत्यादि अनुगत-रूपसे 'सन्' प्रतीति होती है ।] क्योंकि व्याप्ति है कि जो जिससे अनुरक्त रहता है, उसकी वह अनुगत पदार्थ प्रकृति (उपादान) है, जैसे तन्तुसे अनुरक्त कपड़ा । जैसे तन्तुओंकी अनुरक्ति होनेसे कपड़ेकी प्रकृति तन्तु होता

तत्प्रकृतिकः, यथा तन्त्वनुरक्तस्तन्तुप्रकृतिकः पटः। सत्तायाश्चैकत्वं लोकवदेवाऽसत प्रसिद्धम्, दिक्कालादिषु द्रव्यत्वजात्यनुगमेऽप्यतत्प्रकृतिकत्वादनैकान्तिकतेति चेद्, न; वेदान्तिभिर्द्रव्यत्वादीनामपि प्रकृतित्वाङ्गीकारात्। सत्ताया एव ह्यौपाधिका भेदा द्रव्यत्वादयो न स्वतन्त्राः। अतो न पृथिव्यादौ सत्ताद्रव्यत्वोभयप्रकृतित्वप्रसङ्गः। नाऽपि द्वितीयः; भौतिकेष्वपि सत्तानुरक्तेषु भूतद्वारा भूतानुगतसत्ताया एव लाघवन्यायेन मूलप्रकृतित्वाङ्गीकारात्। न च प्रकृतेरेव निमित्तत्वे मानासम्भवः, विमतं

है, वैसे ही महाभूतोंकी भी सत् प्रकृति है। और सत्ताका एकत्व तो लोक और वेदमें प्रसिद्ध ही है। [लोकवत् पाठ माननेमें लोकके तुल्य अर्थात् जैसे लोकप्रसिद्धिके लिए कोई अनुमानादि प्रमाण अपेक्षित नहीं है, वैसे ही सत्ताके एक होनेमें प्रमाणोंको देनेकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वह तो प्रसिद्ध ही है। 'जैसे आकाशादिमें सत्ताकी अनुगत प्रतीति होती है, वैसे द्रव्यत्वादि भी अनुगतरूपसे भासते हैं, परन्तु द्रव्यत्व तो न्यायमतमें उपादान नहीं माना जाता और यदि प्रकृति माना जाय तो अनेकोंका उपादान होना प्राप्त होता है; इन आशङ्काओंका अनुवाद करके समाधान करते हैं] दिक् काल आदि पदार्थोंमें द्रव्यत्व जातिका अनुराग होनेपर भी द्रव्यत्वप्रकृति न होनेसे व्यभिचार दिखलाना उचित नहीं, कारण कि वेदान्तसिद्धान्तवाले द्रव्यत्व आदिको भी प्रकृति मानते हैं। द्रव्यत्व आदि सत्ताके ही औपाधिक भेद हैं, स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं [अर्थात् वे सत्तासे सर्व अभिन्न हैं], इसलिए पृथ्वी आदि भूतोंमें सत्ता और द्रव्यत्वरूप भेदोंके प्रकृतित्वका प्रसङ्ग नहीं आ सकता। दूसरा विकल्प भी नहीं मान सकते, कारण कि सत्तासे अनुगत घट, पटादि भौतिक पदार्थोंमें भी भूतोंके द्वारा भूतोंमें अनुगतरूपसे विद्यमान सत्ता ही लाघवन्यायसे मूल प्रकृति मानी गई है। [तात्पर्य यह है कि जैसे दधिमन्थनसे उत्पन्न हुए नवनीतकी मूल प्रकृति दूध ही है, क्योंकि दधि दूधका ही परिणाम है) वैसे ही प्रकृतमें पृथ्वी आदिके कार्यभूत घटादिकी मूल प्रकृति भी सत्तामात्र है, क्योंकि ये सत्ताके परिणामभूत पृथ्वी आदिके विकार हैं। यदि कहो कि प्रकृति (उपादान कारण) को निमित्त कारण माननेमें प्रमाणका सम्भव नहीं है, तो यह कहना उचित नहीं

जगद् अभिन्ननिमित्तोपादानकम्, प्रेक्षापूर्वजनितत्वाद् आत्मगतसुखदुःखराग-द्वेषादिवत् । अज्ञानोपादानकदोषनिमित्तकशुक्तिरजतव्यावृत्तये प्रेक्षापूर्वेत्युक्तम् । घटादीनामपि पक्षत्वान्नाऽनैकान्तिकता । कुलालाद्याकारेण ब्रह्मण एव निमित्तत्वाद् न भागे बाधोऽपि । अदृष्टादिनिमित्तभेददर्शनात्साध्यवैकल्यमिति चेद्, न; उपादानाधिष्ठात्रोरैकत्वानुमानात् । तथा च सति जगत्यपि ब्रह्मव्यतिरिक्तस्याऽदृष्टस्य निमित्तत्वं प्रसज्येतेति चेद्,

---

है, कारण कि इसमें अनुमान प्रमाण विद्यमान है। [अनुमान दिखलाते हैं—] विवादग्रस्त संसार अभिन्ननिमित्तोपादानक है [अर्थात् इस प्रपञ्च-रूप कार्यका जो निमित्त कारण है, वही उपादान कारण भी होता है] क्योंकि बुद्धिपूर्वक इसकी उत्पत्ति की गई है, जैसे आत्मामें होनेवाले सुख, दुःख तथा राग और द्वेष । शुक्तिरजतमें अज्ञान उपादान है और दोष निमित्त है । इस प्रकार भ्रमात्मक ज्ञानरूप कार्यकी व्यावृत्तिके लिए बुद्धिपूर्वक विशेषण दिया गया है [भ्रमात्मक ज्ञान बुद्धिपूर्वक—सोच समझकर—नहीं होते हैं । 'घटादिके निमित्त कुलालादि और उपादान मृदादि होनेसे घटादिमें व्यभिचार नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वे भी हमारे पक्षमें ही आ जाते हैं [घटादिरूप पक्षैकदेशमें उक्त रीतिसे आनेवाले बाधका वारण करते हैं—] कुलालादिके आकारसे ब्रह्म निमित्त कारण है, अतः पक्षैकदेश घटादिमें बाध भी नहीं है । [अर्थात् मृदवच्छिन्न चैतन्य उपादान और कुलालावच्छिन्न चैतन्य निमित्त कारण है, औपाधिक भेद होनेपर भी वास्तव अभेद होनेसे कोई दोष नहीं आता] ।

शङ्का—कार्यमात्रमें अदृष्ट निमित्त कारण है, इस नियमके अनुसार अथवा सुखादिभोगमें तो अदृष्टके ही निमित्त होनेसे अदृष्टादि निमित्त कारणके भेद देखे जानेसे (एककारणत्वरूप) साध्यका अभाव दोष होगा ।

समाधान—नहीं, कारण कि उपादान और अधिष्ठाताके एक होनेका अनुमान करते हैं । [सुखादिरूप कार्यके प्रति भी अदृष्ट अधि-ष्ठान नहीं है, अतः निमित्तका भेद होनेसे भी दोष नहीं आ सकता] ऐसा माननेपर भी तो (सुखादिकी भाँति) जगत्में ब्रह्मसे अतिरिक्त अदृष्टको निमित्तकारणत्वका प्रसङ्ग आ ही जायगा [इससे अदृष्ट और ब्रह्म दो

एवं तददृष्टोपहितस्याऽऽत्मन एव सुखादिनिमित्तत्वं द्रष्टव्यम् ।

अथ कुतर्कोपहतमतिः सन्नस्मिन्ननुमानेऽत्यन्तं न प्रीयसे, तर्हि सृष्टिवाक्यप्रसिद्धमेकस्योभयकारणत्वं लक्षणत्वेन निर्दिश्यते। सृष्टिवाक्यं च 'तदैक्षत' इति निमित्तत्वम् 'बहु स्याम्' इत्युपादानत्वं च प्रतिपादयतीति सन्तोष्टव्यम् ।

अत्र केचित् । श्रुतेः स्वतःप्रामाण्यात्तथाभूतैव ब्रह्मणः प्रपञ्चापत्तिरिति परिणामवादमवतारयन्ति। तत्र तथाभूतत्वं नाम किं सत्य-

---

निमित्त कारण होनेसे साध्यवैकल्य बना ही रह गया] ऐसा दोष दिया जाय, तो इस अदृष्टोपहित आत्माको ही सुखादिका निमित्त समझना चाहिए। [तात्पर्य यह है कि सुखादिस्थलमें भी जब अदृष्ट स्वतन्त्र निमित्त नहीं है, तब उस दृष्टान्तसे अन्यत्र भी अदृष्टमें स्वतन्त्र निमित्तकारणत्व कैसे प्राप्त हो सकता है ? इस सिद्धान्तके अनुसार प्रपञ्चमात्रको अभिन्ननिमित्तोपादानकत्व या अभिन्नोपादानाधिष्ठानकत्व सुतरां सिद्ध हो जाता है]। यदि कुतर्कके कारण बुद्धि मारी जानेपर इस उक्त अनुमानसे अधिक प्रसन्नता न हो सके, तो सृष्टिवाक्यमें प्रसिद्ध एकमें ही दोनों कारणताका लक्षणरूपसे निर्देश किया गया है। [अनुमान समझमें न आ सकनेके कारण यदि ब्रह्मका कारणत्वरूप लक्षणमें विवाद करते हो, तो श्रुतिप्रतिपादित सृष्टिवाक्यपर श्रद्धा रख कर कारणत्व लक्षण मानिए सृष्टि वाक्य दिखाते हैं—] और सृष्टि वाक्य है कि 'तदैक्षत'—'उस ब्रह्मने ईक्षण—मायाके उन्मुख होनेकी कामना—किया' इससे ब्रह्मका निमित्त या अधिष्ठान होना दिखलाया गया, और 'बहु स्याम्'—'बहुत हो जाऊँ' इसके द्वारा ब्रह्मका उपादान कारण होना प्रतिपादन किया गया, इस प्रकार सृष्टिवाक्योंसे सन्तोष करना चाहिए।

इस विषयपर कोई वादी श्रुतिके स्वतःप्रमाण होनेसे ब्रह्मका तथाभूत प्रपञ्चरूपसे परिणाम होता है इस तरह परिणामवादका अवतरण करते हैं, ['बहु स्यां प्रजायेय' यह स्वतःप्रमाण श्रुतिका सृष्टिवाक्य ब्रह्मका प्रपञ्चरूप परिणामको कहता है, अतः इसे प्रमाण मानना चाहिए।] इन परिणामवादियोंसे प्रश्न करना चाहिये कि आपका तथाभूतत्व पदार्थ क्या है ? क्या सत्यशब्दसे

शब्दाभिधेयत्वं किं वा स्वोपाधावभावव्यावृत्तत्वम् उत स्वाश्रयोपाधावबाध्यत्वम् अथवा स्वरूपेणाऽबाध्यत्वम् ? नाद्यः, स्वप्नसृष्टेः सत्यशब्दाभिधेयताप्रसङ्गात्। तद्बुद्धेरपि स्वतः प्रामाण्यप्राप्तेर्दुर्वारत्वात्। अथ तत्र दोषादप्रामाण्यं श्रुतेस्तु नैवमिति मन्यसे एवमपीदं रजतं मिथ्या, बाध्यत्वादित्यनुमानप्रमाणगम्ये रजते सत्यत्वं प्रसज्येत। न द्वितीयः, मायावादिभिरपि श्रुत्यादिप्रतिपन्नसृष्टेः स्वाधिष्ठाने ब्रह्मण्यभावव्यावृत्तत्वाङ्गीकारात्। न तृतीयः, कल्पितानां प्रतिबिम्बश्यामत्व-

कहे जाने योग्य होना है ? अथवा अपनी उपाधिमें अपने अभावसे रहित होना है ? या अपने आश्रयकी उपाधिमें बाध्य न होना है ? अथवा स्वरूपसे बाधित न होना है ? इनमें से प्रथम विकल्प नहीं मान सकते, कारण कि स्वप्नसृष्टि भी सत्यशब्दसे कही जाने लगेगी। स्वप्नबुद्धिमें भी स्वतःप्रमाणत्व नहीं हटाया जा सकता। ['अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' इत्यादि श्रुतिवाक्य ही स्वप्नसृष्टिमें प्रमाण है और स्वप्नमें रथादिबुद्धि भी होती है। बुद्धि तथा श्रुति दोनों स्वतः प्रमाण हैं, इसलिए तुम्हारे मतसे स्वप्नसृष्टि सत्य कही जानी चाहिए।] यदि स्वप्नसृष्टिमें (निद्रारूप) दोष है (अथवा श्रुतिसे ही वहांपर 'न रथा' इत्यादि बाध है) इसलिए प्रामाण्य नहीं माना जाता और सृष्टिश्रुतिमें तो ऐसा (बाध या दोष) नहीं है, ऐसा मानते हो, तो तो भी 'यह रजत मिथ्या है, बाध्य होनेसे' इस अनुमानप्रमाणसे जाने गये 'पक्षभूत' रजतमें भी सत्यत्वका प्रसङ्ग आ जायगा। [परन्तु ऐसा नहीं है, इस अनुमानसे केवल इतना ही दिखाया जाता है, रजतभिन्नको रजत समझना प्रमाण नहीं है, रजतको सिद्ध करनेमें इसका तात्पर्य नहीं, अतः प्रमाणगम्यत्व होना-मात्र सत्यत्वका प्रयोजक नहीं है।] दूसरा विकल्प भी नहीं बन सकता, कारण कि मायावादी भी श्रुत्यादिसे सिद्ध सृष्टिको अपने अधिष्ठान ब्रह्ममें अभावव्यावृत्त—अभावरहित—मानते हैं। [भासमान सृष्टिका अपने अधिष्ठान ब्रह्ममें अभाव नहीं है, एतावता सृष्टिको प्रमाणभूत या सत्य नहीं कह सकते, अर्थात् दूसरा विकल्प परिमाणकी प्रमाणता सिद्ध नहीं कर सकता] तीसरा विकल्प भी साधक नहीं है, क्योंकि कल्पनाके विकल्पभूत प्रतिबिम्बगत श्यामता और घटाकाशादिरूपसे परिच्छिन्न होना आदि

घटाकाशपरिच्छिन्नत्वादीनामौपाधिकधर्माणामपि स्वाश्रयोपाधावबाध्यत्वात्। न चतुर्थः, सृष्टेरपि परमार्थसत्यत्वांशेनैव बाध्यत्वं न स्वरूपेणेत्यङ्गीकारात्। सृष्टेः सत्यत्वाभावे सृष्टिश्रुतेरप्रामाण्यं स्याद् इति चेद्, न; सृष्टिस्वरूपमात्रप्रमापणे प्रवृत्तायाः श्रुतेः सृष्टिस्वरूपसद्भावमात्रेण प्रामाण्योपपत्तौ तत्सत्यताया अप्रयोजकत्वात्। नहि रूपप्रमापकस्य चक्षुषः शब्दाभावादप्रामाण्यं भवति, प्रमाणत्वापराधमात्रेण सत्यतायां तात्पर्यकल्पने स्वप्नविषयसृष्टिश्रुतेरपि तथात्वं स्यात्। प्रयोजनशून्यता तूभयत्र समाना दुःखतत्साधनांशेऽनर्थहेतुत्वं च समम्। सृष्टिसत्यता-

---

[आदि पदसे जपाकुसुमके संसर्गसे प्रतीयमान स्फटिकगत लौहित्यादिका ग्रहण है] औपाधिक धर्मोंका भी अपने आश्रयभूत प्रतिबिम्ब या घटाकाशादिके रहते उसके उपाधिरूप दर्पण या घटादिमें बाध नहीं होता है। [दर्पणमें श्यामत्व, घटमें परिच्छिन्नत्व तथा जपामें लौहित्य आदि अबाधित ही हैं, इससे भी प्रतिबिम्ब-श्यामत्व आदि प्रमाण नहीं माने जाते]। चतुर्थ विकल्प भी नहीं बनता, कारण कि सृष्टिमें भी परमार्थरूपसे ही बाध्यत्व है, स्वरूपसे नहीं, ऐसा माना गया है, [अतः स्वरूपसे अबाध्य होना भी प्रामाण्यका साधक नहीं है]।

शङ्का—सृष्टिको सत्य न माननेसे सृष्टिप्रतिपादक श्रुति अप्रमाण हो जायगी।

समाधान—सृष्टिप्रतिपादक श्रुतिमें अप्रामाण्य नहीं आ सकता, कारण कि सृष्टिके स्वरूपमात्रका निश्चय कराने लिए प्रवृत्त हुई श्रुतिका सृष्टिके स्वरूपसद्भावमात्रसे प्रामाण्य उपपन्न हो सकता है, अतः वह सृष्टिकी सत्यतामें प्रयोजक नहीं है, [श्रुतिके स्वतःप्रामाण्यसे सृष्टिकी सत्यता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि उसका प्रामाण्य तो सृष्टिके स्वरूपमात्रके बोधनसे ही बना है]। कारण कि रूपका निश्चय करनेवाला चक्षु शब्दका निश्चय न करानेसे अप्रमाण नहीं हो सकता। प्रामाण्यमात्रके अपराधसे सृष्टिकी सत्यतामें श्रुतिका तात्पर्य माननेसे तो स्वप्नकालिक सृष्टिबोधक श्रुतिमें भी ऐसा होना—स्वप्नसृष्टिकी सत्यताका बोधकत्व—प्राप्त हो जायगा। प्रयोजनसे रहित होना तो दोनोंमें समान है। [यदि स्वप्न-सृष्टिको सत्य माननेमें प्रयोजन नहीं है, तो इस जागर-सृष्टिको भी सत्य माननेमें कोई प्रयोजन नहीं है, व्यवहार तो दोनोंमें समान ही है एवं स्थायित्व और अस्थायित्व भी

प्रतिपादने कर्मकाण्डस्य प्रत्यक्षादेर्वा प्रामाण्यसिद्धिः प्रयोजनमिति चेद्, नः तत्प्रामाण्यस्य जगन्नित्यत्ववादिमीमांसकमतेऽप्युपपत्तौ परिणामवादाऽनवताराात्। मतान्तरेष्वपि सृष्टिश्रुत्यवगमात् प्रागेव लोकव्यवहारात्तत्प्रामाण्यं सिद्धम्। ततो निष्प्रयोजनैव सृष्टिश्रुतिः स्यात्। अस्मन्मते तु मानान्तराऽनवगताखण्डैकरसब्रह्मावगमाय महावाक्यप्रवृत्तिः। सृष्टिश्रुतिस्तु—

दोनों सृष्टियोंमें समान ही है]। दुःख और उसके साधनरूप परिणामांशमें अनर्थका कारण होना भी समान ही है। [यदि स्वप्न-सृष्टिको दुःख या दुःख-साधन माननेपर उसके अनर्थकारी होनेसे उसकी सत्यतामें श्रुतिका तात्पर्य न माना जाय, तो जागर-प्रपञ्च-सृष्टिमें भी उक्त अनर्थ-हेतुता समान ही है, अर्थात् वह भी दुःखमय और दुःखसाधन ही है, यह भाव है।]

शङ्का—प्रपञ्च-सृष्टिमें सत्यताका प्रतिपादन करनेसे कर्मकाण्ड तथा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंके प्रामाण्यकी सिद्धि ही प्रयोजन माना जायगा। [यदि प्रपञ्च सत्य न हो, तो स्वर्ग, पुत्र, धन, धान्य आदिकी कामनाकी पूर्तिके लिए कर्मकाण्ड-वाक्य द्वारा तत्तत् यागका विधान करना अप्रमाण होगा और प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका भी प्रामाण्य नहीं रह जायगा।]

समाधान—नहीं, कर्मकाण्ड-भाग या प्रत्यक्ष आदिका प्रामाण्य तो संसारको नित्य माननेवाले मीमांसकके मतसे भी उपपन्न हो सकता है, उससे परिणाम-वादका अवतरण नहीं बन सकता। [जो वादी जगत्को सत्य नहीं मानते, उनके मतमें सृष्टिके प्रामाण्यके बोधनमें श्रुतिका तात्पर्य माना जायगा, इस आशङ्काका समाधान करते हैं—] दूसरे मतोंमें भी सृष्टि-विषयक श्रुतिका ज्ञान होनेसे पूर्व ही लोकव्यवहारसे सृष्टिका प्रामाण्य सिद्ध है, [इसलिए श्रुति-वाक्यरूप शब्दके प्रामाण्यकी आवश्यकता—अपेक्षा—नहीं है, एवं 'सन् घटः' इत्यादि लोकव्यवहारसे ही सिद्ध सत्त्वके अभेदका प्रतिपादन करनेके लिए भी शास्त्र सप्रयोजन नहीं है]। अतः सृष्टिविषयक श्रुति प्रयोजनशून्य ही हो जायगी। हमारे (वेदान्तियोंके) मतमें तो दूसरे प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा नहीं जाने गये अखण्डैकरस ब्रह्मकी प्रतीति करानेके लिए महावाक्योंकी प्रवृत्ति है। और सृष्टिके प्रतिपादक वाक्य तो—

'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते।
नाऽन्यत्र कारणात्कार्यं न चेत्तत्र क तद्भवेत् ॥'

इति न्यायेनाऽखण्डैकरसत्वप्रतिपादनायेति न वैयर्थ्यं किञ्चित्।

ननु यथा 'इदं रजतम्' इति ज्ञानस्य प्रतीतितो रजतस्वरूपमात्रगोचरत्वेऽपि वस्तुतो रजताभासगोचरत्वेनाऽप्रामाण्यं तथा श्रौतसृष्टिज्ञानस्याऽपीति चेद्, न; तत्र यथा रजताभासादन्यन्मुख्यरजतं लोके प्रसिद्धं यद्वदत्र सृष्ट्यन्तरस्य मुख्यस्याऽभावात्तस्या एव मुख्यसृष्टित्वेन तद्गोचरज्ञानस्य मुख्यरजतज्ञानवत् प्रामाण्योपपत्तेः। न च पारमार्थिकब्रह्मणो मिथ्याभूतप्रपञ्चभावापत्तिविरोध इति वाच्यम्, देवदत्तस्य मायया मिथ्याव्याघ्रादिभावापत्तिदर्शनात्। न च मिथ्याकार्ये सृष्टिशब्दप्रयोगानु-

---

'अध्यारोप और अपवाद—इन दोनोंके द्वारा निष्प्रपञ्च—प्रपञ्चशून्य—शुद्ध ब्रह्मका विस्तारसे वर्णन किया जाता है। कारणसे अन्यत्र कार्यकी स्थिति नहीं हो सकती। यदि कारणमें कार्यकी स्थिति न मानो, तो वह कार्य फिर कहां रह सकता है? अर्थात् कहीं भी नहीं रह सकता।'

—इस न्यायसे उस ब्रह्मकी अखण्डता तथा एक-रसताका प्रतिपादन करनेके लिए प्रवृत्त हैं, इसलिए कुछ भी व्यर्थ नहीं है।

शङ्का—जैसे 'यह रजत है' इस ज्ञानमें यद्यपि रजतका स्वरूपमात्र विषय है, तथापि उसके वस्तुतः—परमार्थतः—रजताभासविषयक होनेसे वह प्रमाण नहीं माना जाता, वैसे ही श्रुतिसे उत्पन्न सृष्टि-ज्ञान भी प्रमाण नहीं होता [विषयके स्वरूपसे सिद्ध होनेपर भी परमार्थतः असिद्ध होनेसे ज्ञानका प्रामाण्य नहीं हो सकता]।

समाधान—उक्त दृष्टान्त उचित नहीं है, कारण कि जैसे शुक्ति-रजतसे भिन्न (दूसरा) मुख्य—व्यावहारिक—रजत लोकमें प्रसिद्ध है, वैसे प्रकृतमें श्रुति-सिद्ध सृष्टिसे अतिरिक्त दूसरी मुख्य सृष्टि कहीं प्रतीत नहीं है, इसलिए उसीको मुख्य सृष्टि मान कर मुख्य रजतके ज्ञानकी भांति उसमें प्रामाण्य मानना उपपत्तियुक्त है। परमार्थभूत ब्रह्मकी मिथ्यात्मक प्रपञ्च-भावापत्ति माननेमें विरोध नहीं दिखाना चाहिए, कारण कि माया द्वारा देवदत्तका मिथ्याभूत व्याघ्र आदि होना देखा गया है। मिथ्यास्वरूप प्रपञ्चात्मक

पपत्तिः, 'माया ह्येषा मया सृष्टा' इत्यादिप्रयोगदर्शनात् । न च सृष्टि-मिथ्यात्वे मानाभावः, श्रुतिस्मृतिप्रत्यक्षानुमानार्थापत्तीनां सत्त्वात् । 'मायां तु प्रकृतिं विद्याद्', 'मम माया दुरत्यया' इति श्रुतिस्मृती अनिर्वचनीयमायात्मकत्वं सृष्टेर्दर्शयतः । घटाद्यभावग्राहिप्रत्यक्षमपि सृष्टेर्मिथ्यात्वं दर्शयति । यथा 'इदं रजतम्' इत्यत्रेदन्तोपाधौ प्रतिपन्नस्य सत्येव तदुपाधौ 'नेदं रजतम्' इति बाधः तथा 'अस्ति घटः' इत्यत्राऽस्त्यर्थोपाधौ प्रतिपन्नस्य घटस्य तदुपाधावेव नाऽस्तीति प्रत्यक्षेणैव बाधो दृश्यते । ननु देशकाल-विशेषे तदुपाधिकास्त्यर्थे वा घटस्य निषेधो नाऽस्त्यर्थमात्रे, ततो देशान्तरे कालान्तरे च घटस्य सद्भाव इति चेद्, न; यदा देशकालौ निषिध्येते तदा देशकालान्तराभावे न केवलाऽस्त्यर्थस्यैवोपाधित्वं वाच्यम्, निरुपा-

कार्यके लिए सृष्टिशब्दके प्रयोगकी अनुपपत्ति भी नहीं कह सकते, कारण कि 'इस मायाकी मैंने सृष्टि की है' इत्यादि प्रयोग देखे गये हैं, [अतः मिथ्याभूत मायाके लिए सृष्टिशब्दका प्रयोग शास्त्रोंमें आया है]। सृष्टिको मिथ्या—अपारमार्थिक—माननेमें प्रमाणका अभाव भी नहीं कह सकते, क्योंकि इस सृष्टिमिथ्यात्वमें श्रुति, स्मृति, प्रत्यक्ष, अनुमान तथा अर्थापत्ति रूप प्रमाण विद्यमान हैं। 'मायाको प्रकृति समझना' और 'मेरी माया सहसा नहीं हटाई जा सकती' इत्यादि श्रुति तथा स्मृतिमें सृष्टि अनिर्वचनीय-मायामयता दिखलाती हैं। और घट आदिके अभावका बोध करानेवाले प्रत्यक्षसे भी सृष्टिका मिथ्या होना सिद्ध है। जैसे कि 'यह रजत है' इस प्रतीतिमें इदन्तारूप उपाधिमें ज्ञात रजतका उसी उपाधिमें (इदन्तामें ही) 'यह रजत नहीं है' ऐसा बाध होता है, (इस बाधके कारण उसे रजतरूप समझना मिथ्या है) एवं 'घट है' इस ज्ञानमें अस्तिके अर्थभूत सत्ता-रूप उपाधिमें ज्ञात घटका उसी उपाधिमें 'नहीं है' इस प्रकार प्रत्यक्षसे ही बाधज्ञान होता है।

शङ्का—देशकालविशेषमें या देशकालोपाधिविशिष्ट अस्त्यर्थ सत्तामें 'नास्ति घटः' इस प्रकार घटका निषेध किया जाता है, केवल अस्त्यर्थ सत्तामें ही नहीं, इससे 'इस देश या कालमें उसका निषेध होनेपर भी' दूसरे देश या दूसरे कालमें घटका सद्भाव बना ही रहता है।

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि जब (देश नहीं, काल नहीं, इस प्रकार) देश तथा कालका निषेध किया जाता है, तब दूसरे देश

धिकनिषेधायोगात्। ततस्तत्र क्लृप्तोपाधेर्घटादिनिषेधसम्भवे सत्य न्योपाधिकल्पने गौरवप्रसङ्गः। न चैवमेवाऽस्त्यर्थनिषेधेऽस्त्यर्थान्तराभावान्निषेध्यस्याऽनुपाधित्वान्निरुपाधिकनिषेधोऽङ्गीक्रियते इति वाच्यम्, अस्त्यर्थस्याऽनुयायिनो निषेधाभावात्। तस्मादस्त्यर्थे ब्रह्मणि घटाद्यभावबोधकं प्रत्यक्षं मिथ्यात्वे मानम्।

यस्त्वभावस्य षष्ठमानगम्यत्वमाह तं प्रत्येकैकाभावविशिष्टवस्त्वन्तरप्रत्यक्षं वा षष्ठमानमेव वा मिथ्यात्वं बोधयतु।

अनुमानान्यपि तद्बोधकान्युच्यन्ते—विमता विकाराः स्वानुस्यूतैकवस्तुनि कल्पिताः, प्रत्येकमेकस्वभावानुविद्धत्वाद् विभक्तत्वाच्च, चन्द्र-

---

या कालका अभाव होनेसे केवल अस्त्यर्थ सत्ताको ही उपाधि मानना होगा, कारण कि उपाधिशून्य निषेध हो नहीं सकता, अन्यथा निषेधका भासना ही असम्भव होगा। इसलिए देशकालनिषेधमें मानी हुई अस्त्यर्थरूप उपाधिमें घटादिके निषेधका सम्भव होनेसे दूसरी उपाधिकी कल्पना करनेसे गौरवका प्रसङ्ग आता है।

शङ्का—उक्त रीतिके अनुसार 'अस्त्यर्थो न' इत्याकारक अस्त्यर्थके निषेधमें दूसरा अस्त्यर्थ न होनेके कारण निषेध्य अस्त्यर्थके उपाधिशून्य होनेसे निरुपाधिक निषेध माना ही जाता है, [अर्थात् उपाधिकी कल्पनासे अनवस्था या गौरव नहीं आ सकता]।

समाधान—ऐसा नहीं कहा जा सकता, कारण कि अनुयायी अस्त्यर्थका निषेध नहीं हो सकता। [अस्त्यर्थ सर्वत्र अनुवर्तमान रहता है, अन्ततः 'अभाव है, निषेध है, अस्त्यर्थ नहीं है' इत्यादि प्रकारसे नास्तिमें भी अस्त्यर्थ रहता है, अतः उसका निषेध नहीं हो सकता और अस्त्यर्थके सद्रूप होनेसे ब्रह्माद्वैतवादमें भी हानि नहीं आ सकती।] इसलिए अस्त्यर्थ सद्रूप ब्रह्ममें घटादिके अभावका बोधन करनेके लिए प्रवृत्त प्रत्यक्ष प्रमाण प्रपञ्चमें मिथ्यात्व-बोधन करता है।

और जो वादी अभावको छठे अनुपलब्धिरूप प्रमाणसे जानने योग्य कहता है, उसके प्रति एक-एकके अभावसे विशिष्ट अन्य वस्तुका प्रत्यक्ष अथवा छठा प्रमाण अनुपलब्धि ही प्रपञ्चके मिथ्यात्वका बोधन करेगा।

अब प्रपञ्चमिथ्यात्वके बोधक अनुमान भी कहे जाते हैं—विमत—भूतभौतिक आकाशादि तथा घट, पटादि रूप प्रपञ्च—अपनेमें अनुवर्तमान एक ही वस्तुमें

स्वभावानुविद्धचन्द्रकल्पितजलचन्द्रभेदवत् । शून्यवादिनं प्रति सिद्धसाधनतापरिहाराय वस्तुनीति पदम् । अनेकेषु विषयेषु विज्ञानाकारः कल्पित इति वादिनं प्रत्येकेति । क्षणिकैकज्ञाने सर्वं कल्पितमिति वादिनं प्रति स्वानुस्यूतेति । वनाकारानुविद्धेषु तत्राऽकल्पितेषु तरुष्वनैकान्तिकत्वव्यावृत्तये प्रत्येकमिति । भेदः कल्पितो जडत्वात्, कार्यत्वात्, रजतवत् ; भेद-

कल्पित हैं, [हेतु देते हैं—] प्रत्येक एक ही स्वभावसे सम्बद्ध होनेसे अथवा परस्पर विभक्त[1] होनेसे, [दृष्टान्त देते हैं—] चन्द्रस्वभावसे अनुविद्ध चन्द्रकल्पित जलचन्द्रोंके भेदके समान। शून्यवादीके मतमें सिद्ध-साधन दोषके परिहारके लिए 'वस्तुनि' यह पद दिया गया है। [शून्यवादी सभी पदार्थोंको कल्पित ही मानता है, और इस अनुमानसे भी यही सिद्ध किया गया, कोई नवीनता नहीं आई; इससे वस्तु पद दिया गया है। शून्यवादी एक भी वस्तु ऐसी नहीं मानता, जो कल्पित न हो, और इस मतमें अनुस्यूत सत् पदार्थ कल्पित नहीं है। प्रत्युत—सारा प्रपञ्च इसमें ही कल्पित है, इतनी नवीनता आनेसे सिद्धसाधन दोष नहीं आता]

[प्रत्येक पदका प्रयोजन दिखलाते हैं—] अनेक विषयोंमें विज्ञानका आकार कल्पित होता है, इस प्रकार माननेवाले वादीके मतके अनुसार अर्थान्तर दोषका वारण करनेके लिए 'प्रत्येक' पद दिया गया है। क्षणिक एक ज्ञानमें सम्पूर्ण जगत्को कल्पित माननेवालेके प्रति 'स्वानुस्यूत' पद दिया है [क्षणिकवादी अनुस्यूत एक स्थायी पदार्थ नहीं मान सकता, इससे उसके मतको लेकर सिद्धसाधनादि दोष नहीं दिया जा सकता। हेतुगत प्रत्येक पदका फल कहते हैं—] एक ही वनरूपमें अनुवृत्त और उस वनमें कल्पित न माने जानेवाले वृक्षोंमें व्यभिचारका वारण करनेके लिए (हेतुमें) प्रत्येक पद दिया है। [प्रत्येक वृक्ष वन नहीं कहा जाता, किन्तु वृक्षोंके समूहको वन कहते हैं, अतः वृक्षमें हेतु तथा साध्य दोनोंके न होनेसे व्यभिचार दोष नहीं आता। विभक्तत्व—कल्पितभेदवत्ता—रूप हेतुसे भेदाश्रय प्रपञ्चमें मिथ्यात्वकी सिद्धि पहले कर आये हैं, अत्र भेदमें कल्पितत्वका साधन करते हैं—] भेद कल्पित—मिथ्या—है, जड़ या कार्य होनेसे, रजतके समान; या

१—यह दूसरा हेतु है। विभक्तत्व धर्मिसत्तासमसत्ताक भेदवत्त्वको कहते हैं—घट, पटादिकी सत्ताके समान इनके भेदकी सत्ता भी कल्पित ही है, अतः इस हेतुका अर्थ कल्पित भेद हुआ।

स्यात् चन्द्रभेदवत्; प्रतिपन्नोपाधावस्थूलादिवाक्यैः प्रतिषिध्यमानत्वात्, देहात्मभाववत्; विरोधिकारणस्वभावाऽनुपमर्देन विरोधिकार्यापत्तिलक्षणत्वाद्, मायाविव्याघ्रवत्; प्रलयावस्थायां सह कालेन स्वोपाधौ शून्यत्वाद्, देहात्मभाववत्। प्रलयकाले एव शून्यत्वं न स्वोपाधावित्याशङ्काव्युदासाय सह कालेनेत्युक्तम्। अर्थापत्तिरपि—प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमन्तरेणाऽनुपपन्नौ जन्मविनाशौ, अमिथ्याभूतयोर्ब्रह्मशून्ययोर्जन्मविनाशादर्शनात्। न चैवं प्रपञ्चमिथ्यात्वाङ्गीकारे ब्रह्मज्ञानस्याऽपि प्रपञ्चज्ञानवन्मिथ्यात्वमनुमीयते

भेदरूप होनेसे चन्द्रभेद (चन्द्रविशेष) के तुल्य। अथवा सद्रूप ब्रह्मात्मक उपाधिमें 'स्थूल नहीं' इत्याद्यर्थक 'अस्थूलम्' इत्यादि वाक्योंके द्वारा निषेधका विषय होनेसे, देहात्मभावके समान; [अर्थात् जैसे देहमें आत्मबुद्धि 'मैं मनुष्य नहीं हूँ' इस प्रत्यक्ष बाधसे मिथ्या है, वैसे ही सद्रूप ब्रह्ममें 'सन् घटः' इत्याकारक प्रपञ्चबुद्धिके 'अस्थूलम्' इत्यादि वाक्यों द्वारा बाधित होनेसे प्रपञ्चमें मिथ्यात्व सिद्ध होता है]। अथवा विरोधी कारणके स्वभावका उपमर्दन करके (अर्थात् अनुवर्तन करके) विरोधी कार्यरूपकी प्राप्ति होनेसे, मायावी नटके व्याघ्र होनेके समान। [मायावी मनुष्य विरोधी व्याघ्ररूप कार्यकी प्राप्ति करता हुआ भी अपना चैतन्य या लोकानुरञ्जन आदि स्वभाव नहीं छोड़ता, मायावी सिंहका विकरालरूप भी अनुरञ्जनका ही साधक है, इससे विवर्तवाद सिद्ध हुआ।] अथवा प्रलयदशामें कालके साथ अपनी उक्त उपाधिमें शून्यरूप होनेसे, देहात्मभावके समान। [मरनेपर 'मैं मनुष्य हूँ' इत्याद्याकारक देहात्मभावसे शून्य हो जाता है, एवम् प्रलयमें सब प्रपञ्च शून्य हो जाता है।] प्रलयकालमें ही शून्यत्व होता है (अर्थात् काल ही सब प्रपञ्चका लय करता है) अपनी उपाधिमें नहीं होता, इस आशङ्काकी व्यावृत्तिके लिए 'कालके साथ' ऐसा कहा। अर्थात् अविद्याके प्रलयसे कालकी भी निवृत्ति हो जाती है।

अर्थापत्ति भी इसमें प्रमाण है—प्रपञ्चको मिथ्या माने बिना उसके जन्म और विनाश दोनों नहीं बन सकते; कारण कि मिथ्या नहीं माने जानेवाले ब्रह्म तथा शून्य—तुच्छ—का जन्म और विनाश दोनों नहीं देखे जाते।

शङ्का—इस प्रकार श्रुतिसिद्ध प्रपञ्चको अनुमानादिसे मिथ्या माननेपर ब्रह्मज्ञान भी प्रपञ्चज्ञानके समान मिथ्या होगा।

इति वाच्यम्, स्वरूपतो मिथ्यात्वाङ्गीकारात्। विषयतो मिथ्यात्वं तु 'तत्सत्यं स आत्मा' इति वचनविरुद्धम्। नन्वस्थूलादिवाक्यैः स्थूलादिव्यतिरिक्तरूपमप्यस्तीति प्रतिपाद्यते, न तु स्थूलादिरूपं निषिध्यते, ततः प्रतिषिध्यमानत्वमिति हेतुरसिद्ध इति चेत्, स्थूलप्रपञ्चतादात्म्यवति ब्रह्मण्यन्यरूपविवक्षयाऽप्येवं प्रतिषेधानुपपत्तेः; नहि शुक्लायां गवि क्षीरसंपत्तिं विवक्षन्न शुक्ला गौरिति प्रयुङ्क्ते, किं तर्हि क्षीरसंपन्ना गौरिति। ततः स्थूलादिप्रपञ्चं निषिध्यैव रूपान्तरं प्रतिपाद्यते इत्यङ्गीकर्त्तव्यम्। तर्काप्रतिष्ठानान्न मिथ्यात्वानुमानमिति चेद्, न; विचारशास्त्रानारम्भप्रसङ्गात्।

समाधान—ऐसा नहीं कहा जा सकता, कारण कि [विषयविषयिभावापन्न ब्रह्मज्ञानमें] स्वरूपतः मिथ्यात्वका अङ्गीकार किया ही गया है। (ब्रह्मज्ञानको) 'ब्रह्मरूप' विषयसे मिथ्या मानना तो जो 'सत्य—अबाधित—है वह आत्मा है', इत्यादि श्रुतिवचनोंसे विरुद्ध है। [इसलिए ब्रह्मज्ञानका विषय ब्रह्म मिथ्या नहीं माना जा सकता और सृष्टिका (प्रपञ्चका) ज्ञान तो 'अस्थूलम्' इत्यादि वाक्योंसे बाधित होनेसे मिथ्या माना गया है]।

शङ्का—'अस्थूलम्' इत्यादि वाक्योंसे (स्थूल ही नहीं बल्कि) स्थूलादिसे अतिरिक्तरूप भी इसका है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं। स्थूलादि रूपका निषेध नहीं किया जाता है; इससे प्रतिषिध्यमानत्व—निषेधका विषय होनारूप—हेतु सिद्ध नहीं हो सकता।

समाधान—ऐसा नहीं, कारण कि स्थूल प्रपञ्चके तादात्म्यको प्राप्त हुए ब्रह्ममें स्थूलभिन्न अतिरिक्त रूपकी विवक्षासे भी 'अस्थूलम्' (स्थूल नहीं) इस प्रकार निषेध करना उपपन्न नहीं होता, क्योंकि लोकमें भी शुक्लवर्णवाली गायमें दूधकी अधिकता प्रकट करनेकी विवक्षासे—'यह गाय शुक्ल नहीं है' इस प्रकार (निषेध वाक्यका) प्रयोग नहीं किया जाता, किन्तु 'यह गाय दूधकी सम्पत्तिवाली है' ऐसा प्रयोग किया जाता है। इससे स्थूलादि प्रपञ्चका निषेध करके ही ('अस्थूलम्' इत्यादि वाक्योंसे) रूपान्तरका प्रतिपादन किया जाता है, यही मानना होगा।

शङ्का—तर्कके प्रतिष्ठित न होनेसे मिथ्यात्वसाधक अनुमान कैसे प्रतिष्ठित (सङ्गत) होगा ?

नहि श्रुत्यर्थनिर्णायकतर्कप्रदर्शनाय विचारशास्त्रारम्भः, किन्तु परकीय-तर्कनिराकरणायैव। ब्रह्म तु श्रुतिमात्रसिद्धमिति चेत्, तर्हि 'असद्वा इदम्' 'सदेव सोम्येदम्' इत्यादिश्रुतिद्वयसामर्थ्यात् कारणस्य सदसत्त्वे स्याताम्। सर्वशक्तित्वाद् ब्रह्मणः सर्वमुपपन्नमिति चेद्, न; तथा सति कदाचिच्छून्यत्वस्याऽपि प्रसङ्गात्। सर्वशक्तित्वं तु श्रुत्यनुसारेणैवाऽवगन्तव्यम्। श्रुत्यर्थश्च तदनुसारितर्कान्निश्चेतव्यः। अतोऽनुमानमपि श्रुत्यविरोधि प्रपञ्चमिथ्यात्वं साधयिष्यत्येव। न च 'सन् घटः' इत्यादिसद्बुद्ध्यनुगमविरोधः, अनुगतसत्ताया अधिष्ठानत्वाद् घटादिविशेषाणामेव मिथ्यात्वात्। तस्मादश्रौतः परिणामवाद इति सिद्धम्।

एवं च सति विवर्त्तवादाभिप्रायेणैव ब्रह्मणः श्रुतौ द्विविधकारणत्व-

---

समाधान—[ऐसा नहीं, इससे तो विचारशास्त्रका आरम्भ ही नहीं हो सकता। श्रुतिके अर्थके निर्णायक तर्कोंको दिखलानेके लिए विचारशास्त्रका आरम्भ नहीं है; किन्तु दूसरे विरोधियों द्वारा उपस्थित किये गये तर्कोंका निराकरण करनेके लिए ही शास्त्रका आरम्भ है। ब्रह्म केवल श्रुतिसे सिद्ध है, ऐसा मानना भी नहीं बन सकता, कारण कि 'अथवा यह सब असत् था', 'हे सौम्य ! यह सत् ही था' इत्यादि परस्पर विरुद्ध दो श्रुतियोंकी सामर्थ्यसे कारणमें सत्त्व और असत्त्व दोनों प्राप्त हो जायँगे। यदि कहो कि ब्रह्ममें सब प्रकारकी शक्तियाँ हैं, अतः ब्रह्म दोनों प्रकारका याने सत् और असत् है, तो ऐसा कहना भी उचित नहीं है; कारण कि ऐसा कहनेसे तो कदाचित् ब्रह्ममें शून्यत्वका भी प्रसङ्ग आ जायगा। ब्रह्ममें सब शक्तियोंका होना तो श्रुतिके अनुसार ही समझना चाहिए और श्रुतिके अर्थका तो श्रुतिके अनुकूल तर्कके द्वारा निश्चय करना चाहिए, इसलिए श्रुतिके साथ विरोध न रखनेवाला अनुमान भी प्रपञ्चके मिथ्याभावको सिद्ध करेगा ही। 'सन् घटः' (घट सत् है) इत्यादि प्रतीतिके साथ विरोध (घटके मिथ्या माननेमें भी) नहीं आता, कारण कि अनुगत सत्ताके ही अधिष्ठान होनेसे घटादिविशेष ही मिथ्या हैं, अर्थात् घटादिका 'सत्' इत्याकारक विशेषण अधिष्ठानभूत सत्ताके द्वारा प्राप्त है, विशेष्य स्वयं स्वरूपतः मिथ्या है, इसलिए परिणामवाद किसी तरह भी श्रुति-सम्मत नहीं है, यह सिद्ध हुआ।

ऊपर किये गये निर्णयके अनुसार विवर्तवादके अभिप्रायसे ही ब्रह्ममें

मुक्तम्। तच्च कारणत्वं तटस्थलक्षणत्वेन यद्यपि लक्ष्याद् ब्रह्मणः पृथग्भूतं तथापि तस्य मिथ्यात्वान्न लक्ष्यस्याऽद्वितीयत्वविरोधः। न च सत्यस्यैव लक्षणत्वं न मिथ्याभूतस्येति वाच्यम्, असाधारणसंबन्धो हि लक्षणत्वप्रयोजको न लक्षणसत्यत्वम्। सत्यानामप्यसंबद्धानां काकादीनां गृहोपलक्षणत्वादर्शनात्। असत्यानामपि संबद्धानां रजतादीनां 'यद्रजतमित्यभात् सा शुक्तिः' इत्यादौ शुक्त्यादिलक्षकत्वात्। अस्ति चाऽत्र प्रपञ्चब्रह्मणोर्वास्तवसंबन्धाभावेऽप्याध्यासिकस्तादात्म्यसंबन्धः। अतः प्रपञ्चजन्मादिकारणत्वेन तटस्थेन जिज्ञास्यविशुद्धब्रह्मस्वरूपं निर्विघ्नमुपलक्ष्यते।

न चोक्तलक्षणेन प्रधानादीनि लक्षयितुं शक्यन्ते, तेषां सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वाभावात्; सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वयोश्च सूत्रस्थयच्छब्देन विवक्षित-

---

दो प्रकारकी [निमित्त और उपादान] कारणता श्रुतिमें कही गई है। यद्यपि तटस्थ लक्षण होनेसे उक्त कारणता लक्ष्यस्वरूप ब्रह्मसे पृथक् है, तथापि उसके (कारणत्वलक्षणके) मिथ्या होनेसे लक्ष्यभूत ब्रह्मके अद्वितीय होनेमें विरोध नहीं आता। और यह भी नहीं कहा जा सकता कि सत्य ही लक्षण होता है, मिथ्या नहीं, क्योंकि असाधारण सम्बन्ध [अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भवरूप तीन दोषोंसे रहित होना] ही लक्षणत्वका प्रयोजक है, लक्षणका सत्यत्व प्रयोजक नहीं है। इसलिए सत्य होनेपर भी उक्त सम्बन्धसे शून्य काकादि मकानके लक्षण नहीं देखे जाते और 'जो रजतके समान भासित हुआ था, वह शुक्ति है, इत्यादि स्थलमें उक्त सम्बन्धसे सम्बन्धी होनेके कारण असत्यभूत रजत आदि भी शुक्ति आदिके लक्षण देखे जाते हैं। प्रकृतमें प्रपञ्च और ब्रह्मका वास्तव सम्बन्ध न होनेपर भी अध्यास द्वारा तादात्म्य (अभेद) सम्बन्ध है ही। इसलिए प्रपञ्चजन्मादिकारणत्वरूप तटस्थ लक्षणके द्वारा जिज्ञासाविषय विशुद्ध ब्रह्मका स्वरूप निर्विघ्न उपलक्षित (सूचित) होता है।

उक्त कारणत्वरूप लक्षणसे प्रधान (सांख्यसम्मत प्रकृति) आदि लक्षित नहीं हो सकते, कारण कि प्रधान आदि सर्वज्ञ या सर्वशक्तिशाली नहीं हैं। और सूत्रमें आये हुए 'यतः' इस (पञ्चमीकी प्रकृति) यत्-शब्दसे सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्त्वकी ही विवक्षा है। इस प्रकारकी विवक्षा

त्वात्। सा च विवक्षा सूत्रगतेदंशब्दार्थभूतकार्यप्रपञ्चपर्यालोचनया लभ्यते।

तं च प्रपञ्चं वादिनः स्वप्रक्रियानुसारेण विभजन्ति। तथाहि—द्रव्यगुणकर्मसामान्यानीति वार्त्तिककारीयाः। कार्यकारणयोगविधिदुःखान्तशब्दवाच्या जगदीश्वरसमाधित्रिषवणस्नानाद्यनुष्ठानमोक्षाः पञ्चेति शैवाः। द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः षडिति वैशेषिकाः। जीवाजीवाऽऽस्रवसंवरनिर्जरबन्धमोक्षाः सप्तेति क्षपणकाः। तत्र बद्धो मुक्तो नित्यसिद्धश्चेति त्रिविधो जीवपदार्थः। पुद्गलास्तिकायो धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकायश्चेत्यजीवपदार्थश्चतुर्विधः। आस्रावयति पुरुषं

सूत्रमें पढ़े गये 'अस्य'के प्रकृतिभूत 'इदम्' शब्दके अर्थभूत कार्य-प्रपञ्चकी पर्यालोचनासे पाई जाती है।

उस कार्य प्रपञ्चका वादी लोग अपनी अपनी प्रक्रियाके अनुसार इस प्रकार विभाग करते हैं—वार्तिककारका कहना है—द्रव्य, गुण, कर्म, और सामान्य इस तरह चार प्रकारके पदार्थ हैं। शैवागमकारका मत है—कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त शब्दोंसे क्रमशः कहे जानेवाले संसार, ईश्वर, समाधि, त्रिषवण स्नानादिका [सायं, प्रातः तथा मध्याह्न तीनों कालोंमें स्नान करना त्रिषवण स्नान कहलाता है और आदि पदसे अग्निहोत्रादिका ग्रहण है] अनुष्ठान तथा मोक्ष इस प्रकार पाँच पदार्थ हैं। वैशिषिक द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय—इन छः पदार्थोंको मानते हैं। क्षपणक (जैन) जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जर, बन्ध और मोक्ष—यों सात पदार्थ मानते हैं। इनमें तीन प्रकारका जीव पदार्थ है—बद्ध, मुक्त, और नित्यसिद्ध। अजीव पदार्थ पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय इस तरहसे चार प्रकारका है। पुरुषको ज्ञान उत्पन्न

१—द्रव्य आदिकी परिभाषा इस प्रकारकी की गई है—गुणवाला तथा कार्यका समवायी कारण द्रव्य, गुणक्रियाशून्य सत्तावान् तथा समवायीसे भिन्न गुण, चलनात्मक या संयोग-विभागका निरपेक्ष कारण कर्म तथा नित्य और अनेकोंमें अनुगतरूपसे रहनेवाला सामान्य कहलाता है।

२—नित्य द्रव्योंमें ही रहनेवाला तथा अपने आप भिन्न होनेवाला विशेष पदार्थ है, और समवाय नित्य सम्बन्धको कहते हैं।

३—जीवपदसे चेतनमूर्ति और अजीवसे जड़ परमाणु आदि विवक्षित हैं।

ज्ञानजननेन विषयेष्वितीन्द्रियप्रवृत्तिरास्रवः, स्रोतसो द्वारं संवृणोतीति शमदमरूपा प्रवृत्तिः संवरः, निश्शेषेण पुण्यापुण्ये सुखदुःखोपभोगेन जरयतीति तप्तशिलारोहणादिर्निर्जरः, अष्टविधं कर्म बन्धः, अलोकाकाशे सततोर्ध्वगमनं मोक्षः। द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषपारतन्त्र्यशक्तिनियोगा अष्टाविति चिरन्तनाः प्राभाकराः; द्रव्यगुणकर्मसामान्यसमवायशक्तिसंख्यासादृश्यान्यष्टावित्याधुनिकाः। प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धा-

कराकर विषयोंमें प्रवृत्त करानेवाली इन्द्रियप्रवृत्ति आस्रव कहलाती है, इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिको रोक देनेवाली शम, दम आदिरूप प्रवृत्ति संवर है, पुण्य तथा पाप दोनोंको सुख, दुःखके भोग द्वारा निश्शेष जला देनेवाला तक्षशिलारोहणादि निर्जर कहलाता है, आठ प्रकारके कर्म बन्धपदसे लिए जाते हैं, अलोकाकाशमें निरन्तर ऊर्ध्वगतिको मोक्ष कहते हैं। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, पारतन्त्र्य[1], शक्ति[2] और नियोग[3] इस प्रकार आठ पदार्थोंको प्राचीन प्रभाकरानुयायी मीमांसक मानते हैं, और द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, शक्ति, संख्या और सादृश्य इस प्रकार आठ पदार्थोंको नवीन मीमांसक मानते हैं। प्रमाण[4], प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क,

१—पारतन्त्र्य-समवाय सम्बन्ध।

२—शक्ति वह पदार्थ है, जिसके कारण अग्नि आदि दाहादिके जननमें समर्थ होते हैं।

३—लिङादि प्रत्ययका अर्थ नियोग है, जिसके कारण पुरुष अनुष्ठानमें प्रवृत्त होता है और जो अनुष्ठान पुण्यजनक है, यह सूचित करता है।

४—(१) प्रमाण—प्रमाका (निश्चयात्मक ज्ञानका) साधन, (२) प्रमेय—प्रमाके विषय घट, पटादि, (३) संशय—निश्चय न कर सकना अर्थात् एक ही धर्मीमें समानकोटिसे नाना प्रकारका ज्ञान होना, (४) प्रयोजन—उद्देश्य, (५) दृष्टान्त—व्याप्तिका समन्वय करनेके लिए स्थल, जो सर्ववादिसम्मत हो, (६) सिद्धान्त—प्रमाणरूपसे माना गया निश्चय, (७) अवयव—न्यायवाक्यका प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनयन और निगमनरूप भाग, (८) व्याप्तिके बलसे हठात् अनिष्टकी प्रसक्ति दिखा देना तर्क है, (९) निर्णय—प्रथम तर्क द्वारा उपस्थित की गई अनिष्ट प्रसक्तिका निराकरण करके निश्चय करना, (१०) वाद—रागादि दोषोंसे शून्य होकर तत्त्वजिज्ञासुके लिए की गई कथा, गुरुका उपदेश आदि। यह कथा प्रश्नपूर्वक भी होती है, परन्तु इसमें रागादि या अभिनिवेश नहीं होता है। (११) जल्प—अपने-अपने मतके साधनमें प्रवृत्त हुई कथा, (१२) वितण्डा—उपर्युक्त जल्प कथा, परन्तु इसमें अपने पक्षका साधन नहीं किया जाना, केवल परपक्षका खण्डन ही किया जाना है, (१३) हेत्वाभास—हेतु न हो, परन्तु

न्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानि षोड़शेति नैयायिकाः । एकादशेन्द्रियपञ्चप्राणपञ्चभूताहङ्कारमहदव्यक्तपुरुषाः पञ्चविंशतिरिति सांख्याः । वेदान्तिनस्तु 'त्रयं वा इदं नामरूपं कर्म', 'नामरूपे व्याकरवाणि' इति श्रुतिद्वयमाश्रित्य त्रैविध्यं द्वैविध्यं वाऽङ्गीकुर्वन्ति ।

युक्तश्चाऽन्त्यः पक्षः, स्रष्टुः सृज्यगोचरनामरूपयोः प्रथमं बुद्ध्यारोहात् । लोके घटं चिकीर्षौ कुलाले तद्दर्शनात् । मूलकारणमपि नामरूपा-

---

निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान—इन सोलह पदार्थोंको नैयायिक मानते हैं। सांख्यवादी ग्यारह इन्द्रियाँ, पाँच प्राण, पाँच महाभूत, अहङ्कार, महत्, प्रकृति और पुरुष—इन पचीस तत्त्वोंको मानते हैं। वेदान्ती तो 'तीन प्रकारका यह प्रपञ्च है—नाम, रूप, और कर्म' तथा 'नाम और रूपका व्याकरण करते हैं' ऐसे अर्थवाली दो श्रुतियोंके आधार पर प्रपञ्चको तीन या दो प्रकारका मानते हैं।

इसमें अन्तिम पक्ष (नामरूपात्मक प्रपञ्चका त्रैविध्य मानना) ही युक्त है। सर्जनकर्त्ताकी बुद्धिमें सर्वप्रथम जानेवाली वस्तुके नाम और रूप ही आते हैं। क्योंकि लोकमें घड़ा बनानेवाले कुम्हारमें ऐसा ही देखा जाता है [अर्थात् घट बनानेकी इच्छा करनेवाले कुम्हारको सबसे पहले

पञ्चम्यन्त पद आदिसे हेतुके समान जो मालूम होता हो, (१४) छल—विपरीत अर्थकी कल्पना करके वादीके वचनोंको काट देना, (१५) जाति—अपने वक्तव्यमें ही विरोध दिखा देनेवाला उत्तर, (१६) निग्रहस्थान—व्याख्याताकी सामर्थ्यहीनताकी सूचना।

(१) ग्यारह इन्द्रिय—आँख, नाक, कान, जिह्वा और त्वक् इस तरह पांच ज्ञानेन्द्रिय और छः कर्मेन्द्रिय–मुख, हाथ, पांव, गुदा, जननेन्द्रिय और एक मन। (१) पांच प्राण—प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान। पांच महाभूत—आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी। (२) सांख्यमतमें पांच प्राणोंके स्थानमें प्रायः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पञ्च तन्मात्राओंकी संख्या पाई जाती है—ग्रन्थकारने प्राणोंकी संख्या गिनाई है, ये तो वायुके भेदोंमें हैं। तत्त्वभेदोंमें नहीं। अहङ्कार—महत्तत्त्वका विकार, अन्तःकरणमें कार्यक्षमताका अभिमानरूप वृत्तिविशेष। महत्—प्रकृतिका प्रथम विकार, जिससे साम्यावस्थामें वैषम्य उत्पन्न हुआ और जो शुद्ध चैतन्यमें सर्वप्रथम ईक्षणस्थानीय बुद्ध्यादिविशेषवृत्तिविशेष है, इनके मतमें वह पृथक् तत्त्व समझा गया है। प्रकृति—सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंकी साम्यावस्था और स्वयं किसीका भी विकार नहीं। पुरुष—चेतनतत्त्व तथा निर्लेप परन्तु भोक्ता।

२—नाम—वाचक शब्द—आद्य सृष्टि। रूप—रूप्यते बोध्यते यः—अर्थ। कर्म—उभ नाम और रूपका सम्बन्ध।

भ्यां स्वबुद्धयारूढं सृजति, स्रष्टृत्वात्, कुलालवत्। एतावता जगद् बुद्धिमचेतनकार्यमिति लभ्यते। न च जीवकार्यत्वं शङ्कनीयम्, कर्तृत्वभोक्तृत्वविशिष्टानां नामरूपात्मकानां सर्वजीवानां कार्यान्तःपातित्वात्। न च जगत्कारणस्य सर्वज्ञत्वे विवदितव्यम्, जगतः प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयत्वात्। प्रतिनियतदेशोत्पादाः कृष्णमृगादयः। प्रतिनियतकालोत्पादाः कोकिलादयः। प्रतिनियतनिमित्ता नवाम्बुदनादसंभवा बलाकागर्भादयः। प्रतिनियतक्रिया ब्राह्मणानां याजनादयः। प्रतिनियतफलं ब्रह्मलोके सुखं नरके दुःखमित्युदाहार्यम्। तामीदृशीं नियतिम-

---

'घट' यह नाम अर्थात् जिसको बनाना चाहता है उस वस्तुका वाचक शब्द और तदुपरान्त घटरूप अर्थ जिसको बना रहा है, उसका स्वरूप—इन दोनोंका ज्ञान अत्यन्त अपेक्षित है]। इस कुलालदृष्टान्तसे मूल कारण भी नाम (शब्द) और रूप (अर्थ)—इन दोनोंसे अपनी बुद्धिमें प्राप्त वस्तुकी ही रचना करता है, सृष्टिकर्ता होनेसे, कुलालके समान। [ऐसा अनुमान भी नामरूपात्मक—शब्दार्थमय—] द्विविध प्रपञ्चकी सिद्धि करता है। इतने शास्त्रार्थसे संसार किसी बुद्धिशाली चेतनका रचा हुआ कार्य है, यह सिद्ध होता है। संसार जीव द्वारा रचित है, ऐसी आशङ्का नहीं की जा सकती, कारण कि कर्तृत्व-भोक्तृत्वविशिष्ट नाम-रूपात्मक जीवोंका भी कार्यकोटिमें ही समावेश है [अर्थात् कार्यरूप प्रपञ्च ही जीव हैं, अतः इनका भी कोई अन्य कर्ता होगा] एवं जीव सर्वज्ञ भी नहीं हो सकता और सर्वज्ञसे अतिरिक्त इस महान् कार्य प्रपञ्चकी रचना कर भी नहीं सकता। जगत्के कारणको सर्वज्ञ माननेमें विवाद नहीं किया जा सकता, कारण कि संसार नियमित देश, काल, निमित्त, क्रिया और फलका आश्रय है। कृष्ण मृग (काले हिरण) आदि कुछ पदार्थ किन्हीं खास ही देशोंमें होते हैं, सर्वत्र नहीं होते; अर्थात् ब्रह्मावर्तमें ही कृष्णसार और हिमवान्में कस्तूरी मृग होते हैं। कोकिल आदि वसन्तादि नियमित समयमें ही होते हैं और बगुला, बलाकाके गर्भधारण आदि नियमित निमित्तवाले हैं, क्योंकि ये नवीन मेघोंकी गर्जनासे ही होते हैं। ब्राह्मणोंके याजनादि नियमित कर्म हैं। ब्रह्मलोकमें सुख और नरकमें दुःख, ऐसा फलविषयक भी नियम है, इत्यादि

साङ्क्येंण कथमसर्वज्ञः सम्पादयेत्। नाऽपि सर्वशक्तित्वे विवदितव्यम्, जगतो मनसाऽप्यचिन्त्यरचनारूपत्वात्। नह्येकस्या अपि शरीररचनाया विविधनाडीजालादिसंनिवेशविशिष्टाया रूपं मनसाऽपि शक्यं चिन्तयितुं दूरे जगद्रचनायाः। तदीदृशं जगत् कथमसर्वशक्तिर्विरचयेत्? तदेवं सूत्रगतयच्छब्देनैव सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च विवक्षितम्।

सूत्रं चोपलक्षणप्रतिपादकमेवं योजनीयम्—अस्योक्तविधस्य जगतो जन्मादि यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद् भवति तत्कारणं ब्रह्मेति।

नन्वत्र सूत्रे ब्रह्मस्वरूपलक्षणं नोक्तम्, न च तदन्तरेण स्वरूपमवगम्यते प्रकृष्टप्रकाशात्मत्वमनुक्त्वा 'शाखाग्रे चन्द्रः' इत्येवोक्ते चन्द्रस्वरूपानवगमात्। यच्छब्देन तदुक्तमिति चेत्, तत् किं सर्वशक्तित्वम् उत

रूपसे उदाहरण समझना चाहिए, इस प्रकारकी नियत शैलीको असर्वज्ञ तथा अल्पज्ञ पुरुष ठीक-ठीक कैसे सम्पादन कर सकता है? एवं 'जगत्कारणके' सम्पूर्ण शक्तिशाली होनेमें विवाद करना उचित नहीं है; कारण कि संसारकी रचना हम जैसे अल्पशक्ति मनुष्योंके लिए मनसे भी चिन्तन करने योग्य नहीं है, निर्माण करना तो दूर रहा। नाना प्रकारकी नाड़ियोंके समूह आदिके सन्निवेशसे युक्त एक शरीरकी ही रचनाके जब स्वरूपका हम मनसे भी विचार करनेमें समर्थ नहीं हैं तब सम्पूर्ण संसारकी रचनाका चित्रण तो दूर ही रहा। अतः अल्पशक्तिशाली जीव इस प्रकारके विलक्षण संसारकी रचना कैसे कर सकता है?

इस सिद्धान्तके अनुसार सूत्र पठित 'यत्' शब्दसे सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता विवक्षित है। [पदार्थोंका अन्वय दिखलाते हैं—उपलक्षण—तटस्थ लक्षण—का प्रतिपादन करनेवाले सूत्रकी इस प्रकार पदार्थयोजना (अन्वय) करनी चाहिए। इस प्रकार प्रदर्शित स्वरूपवाले संसारका जन्मादि (जन्म, स्थिति और लय) जिस सर्वज्ञ और सर्वशक्तिशाली कारणसे होता है, वह कारण ब्रह्म है।

शङ्का—इस दूसरे सूत्रमें ब्रह्मका स्वरूप लक्षण तो कहा ही नहीं गया और स्वरूप लक्षणके बिना स्वरूप जाना नहीं जाता, जैसे प्रकृष्टप्रकाश—सबसे अधिक प्रकाशवाला—चन्द्रमा है, ऐसा स्वरूप लक्षण न कह करके वटकी शाखाके अग्रभागमें 'दिखलाई देनेवाला' चन्द्रमा है; इतनामात्र कह देनेसे चन्द्रमाके स्वरूपका ज्ञान नहीं हो सकता। यदि कहो कि 'यत्' शब्द द्वारा

सर्वज्ञत्वम् ? नाऽऽद्यः; प्रधानादावपि तत्संभवात् । न द्वितीयः, सर्वोपाधिकस्य तस्य शुद्धब्रह्मस्वरूपत्वायोगात् । सर्वज्ञत्वं च दुर्भणम् । किं षड्भिः प्रमाणैः सर्वज्ञत्वम् उत प्रत्यक्षेणैव ? आद्येऽपि न तावद् युगपत् सर्वज्ञत्वम्, प्रत्यक्षादीनामयुगपत् प्रवृत्तेः । क्रमेण सर्वज्ञत्वेऽपि तत्किं सर्वापरोक्ष्यम् उत सर्वज्ञानमात्रम् ? नाऽऽद्यः, नित्यानुमेयानामापरोक्ष्यानुपपत्तेः । न द्वितीयः; अस्माकमपि षड्भिः प्रमाणैः क्रमेण सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात् । प्रत्यक्षेणैव सर्वज्ञत्वमपि किं बाह्येन उत मानसेन अथवा साक्षिप्रत्यक्षेण ? नाऽऽद्यः; बाह्येन्द्रियाणां देशकालविप्रकृष्टार्थेषु साक्षात्संबन्धाभावात् । परम्परया संबन्धेऽस्माकमपि सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात् । द्वितीयेऽपि किं केवलेन

उसका स्वरूप कहा गया है; तो प्रश्न होगा कि क्या वह स्वरूप सर्वशक्तित्व है ? या सर्वज्ञत्व है ? प्रथम पक्षको तो नहीं मान सकते, कारण कि प्रधान—प्रकृति—आदिमें भी सर्वशक्तिशालित्व का सम्भव है । दूसरा कल्प भी नहीं बनता, कारण कि सम्पूर्ण उपाधियोंसे भूपित वह कारण ब्रह्म शुद्ध ब्रह्मस्वरूप नहीं हो सकता । और उसका सर्वज्ञ होना सिद्ध भी नहीं किया जा सकता; कारण कि उसका सर्वज्ञ होना प्रत्यक्षादि छः प्रमाणोंके द्वारा सकल ज्ञान प्राप्त करना है क्या ? अथवा केवल एक ही प्रत्यक्षके द्वारा सब जान जाना है ? प्रथम कल्पमें भी एक साथ सर्वज्ञ होना संगत नहीं हो सकता, कारण कि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंकी युगपत्—एक साथ ही प्रवृत्ति नहीं होती है । क्रमशः सर्वज्ञ होना माननेमें भी क्या वह सर्वज्ञ होना सबका साक्षात्कार करना है ? या सबका साधारण ज्ञानमात्र है ? इसमें प्रथम पक्ष उचित नहीं है, कारण कि नित्य अनुमेय (आकाशादि) पदार्थोंका प्रत्यक्ष होना संगत नहीं है । दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, कारण कि हम मनुष्योंमें भी छः प्रमाणोंके द्वारा क्रमशः सर्वज्ञत्वका प्रसङ्ग आ जायगा । एक प्रत्यक्ष द्वारा ही सर्वज्ञ होना माननेमें भी विकल्प होते हैं कि क्या बाह्य प्रत्यक्षसे ? अथवा मानससे ? या साक्षिप्रत्यक्ष द्वारा ? इनमें प्रथम पक्ष साधक नहीं है, कारण कि चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियोंका देश तथा कालसे व्यवहित घट, पट, आदि विषयोंके साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं हो सकता । परम्परा सम्बन्ध माननेमें तो हम साधारण जीव भी सर्वज्ञ कहलायेंगे । दूसरे विकल्पमें भी क्या केवल मनके द्वारा ? अथवा योगाभ्यास प्राप्त किये

मनसा उत योगाभ्यासजन्यातिशययुक्तेन अथवा सर्वविषयसंस्कारयुक्तेन ? नाऽऽद्यः, केवलमनसो बहिरस्वातन्त्र्यात् । न द्वितीयः, अतिशयस्य स्वविषय एव प्रभवात् । मार्जारादिदृष्टीनामपि योग्यरूपेष्वेवाऽतिशयवत्त्वदर्शनात् । न तृतीयः, प्रथमतः सर्वग्रहणाभावे तत्र संस्कारायोगात् । क्रमेण सर्वग्रहणे सति तत्संस्कारकल्पनेऽप्यतीतानागतवर्त्तमानार्था-

---

अतिशय सहित मनसे ? या सम्पूर्ण विषयोंके संस्कारसे विशिष्ट मनसे ? प्रथम कल्प उचित नहीं है, कारण कि अकेला मन बाहरी घट, पट आदि विषयोंका प्रत्यक्ष करनेमें स्वतन्त्र नहीं है अर्थात् चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियोंके अधीन होकर ही मन बाह्य पदार्थोंको विषय कर सकता है। दूसरा कल्प भी नहीं बनता, कारण कि अतिशय अपने ही विषयमें होता है। बिल्ली आदिकी दृष्टियोंका भी अपने योग्य रूपोंमें ही अतिशय देखा जाता है [अर्थात् बिल्ली आदिकी दृष्टिमें इतना ही विशेष है कि आलोकके संनिधानके बिना अन्धकारमें भी वे दूरसे रूपका दर्शन कर लेते हैं, परन्तु व्यवहित रूपका तथा शब्दादि विषयोंका चक्षुसे प्रत्यक्ष नहीं कर सकते एवं उत्कट योगाभ्याससे उत्पन्न अतिशय भी रूपादि विषयोंमें देश, कालके व्यवधानरूप प्रतिबन्धका ही दूरीकरण करता है, जिससे तत्-तत् इन्द्रियां अपने-अपने विषयोंको देश-कालका व्यवधान रहनेपर भी जान जातीं हैं, अतः उससे ऐसा विशेष उत्पन्न नहीं होता कि आंख गन्धका भी प्रत्यक्ष कर सके; अभियुक्तोंका भी वचन है—

'यत्राऽप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात् ।
दूरात् सूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता ॥'

अर्थात् योगादिके अभ्याससे अपने विषयको छोड़कर अन्य विषयका ग्रहण करनेके लिए कोई विशेष उत्पन्न नहीं होता है। हां, दूरके (व्यवहित) तथा परमाणु जैसे सूक्ष्मभूत पदार्थोंको देखनेमें चक्षुका अतिशय हो सकता है, परन्तु श्रोत्रका रूप विषय नहीं हो सकता।] तीसरा कल्प भी युक्त नहीं है, कारण कि पहले सम्पूर्ण विषयोंका ज्ञान न होनेसे उनमें तद्विषयक संस्कार होनेका सम्भव ही नहीं है, [क्योंकि पूर्वानुभव ही संस्कारका जनक है।] क्रमशः सम्पूर्ण विषयोंका ज्ञान होनेके पश्चात् उनके उत्कट संस्कारकी कल्पना करनेपर भी बीते हुए, आगे आनेवाले [याने जो अभी उपस्थित नहीं हैं, ऐसे विषय] तथा वर्तमान

नामनन्तानामियत्तानवधारणात् सर्वग्रहणानुपपत्तिः। न च साक्षिप्रत्यक्षेण सर्वज्ञता, प्रदीपप्रभावत्तस्याऽतीतानागतार्थग्राहित्वाभावात्। तस्मान्नाऽस्ति सर्वज्ञ इति।

अत्रोच्यते—सर्वविषयाकारधारिषु मायापरिणामेषु प्रतिबिम्बितं चैतन्यं सर्वानुभव इत्युच्यते। तस्य च विषयैराध्यासिकसंबन्धाद्वर्त्तमानकाले तावत् सर्वज्ञत्वं सिद्धम्। अतीतविषयाणां तदवच्छिन्नमायावृत्तीनां तदवच्छिन्नानुभवानां च निवृत्तौ तत्संस्कारादस्मदादिष्विवाऽतीतविषयाः स्मृतिरूपा मायापरिणामा भवन्ति। तत्प्रतिबिम्बितानुभवेनाऽतीतविषयज्ञत्वमपि सिध्यति। तथा सृष्टेः प्रागपि स्रक्ष्यमाणपदार्थावधारणस्य कुलालादिषु दृष्टत्वादागामिसर्वविषयज्ञानमपि स्वमायापरिणामवशाद्

समयमें उपस्थित अनन्त—असङ्ख्य—विषयोंकी इयत्ताका (इतने ही हैं, ऐसा) निर्णय नहीं हो सकता है, अतः सम्पूर्ण विषयोंका ज्ञान होना उपपत्तिसे युक्त नहीं है। साक्षिप्रत्यक्ष द्वारा भी सर्वज्ञत्व नहीं हो सकता, कारण कि प्रदीपके आलोकके समान साक्षिप्रकाश भी अतीत तथा अनागत विषयोंका ग्रहण नहीं करता है। [जैसे दीपकका प्रकाश वर्तमान विषयका ही ग्रहण करा सकता है, वैसे ही साक्षीका प्रकाश भी वर्तमान विषयका ही ग्रहण करता है।] इसलिए सर्वज्ञत्वकी उपपत्ति हो ही नहीं सकती।

इस लम्बी शङ्काके उत्तरमें कहा जाता है कि सम्पूर्ण विषयोंके आकारको धारण करनेवाले मायाके परिणामोंमें प्रतिबिम्बित चैतन्य ही सर्वानुभव (सब कुछ जानना) कहा जाता है; उस अनुभवका विषयोंके साथ अध्यासमूलक सम्बन्ध होनेसे वर्तमान कालमें तो सर्वज्ञ होना सिद्ध ही है। बीते हुए विषयोंकी और उन अतीत विषयावच्छिन्न मायावृत्तियोंकी तथा उनसे अवच्छिन्न अनुभवोंकी—उन मायाके परिणामोंमें प्रतिबिम्बित चैतन्योंकी—निवृत्ति होनेपर उनके संस्कारसे हम लोगोंके समान बीते हुए विषय स्मृतिरूपमें परिणत होते हैं। उन स्मृतिरूप मायाके परिणामोंमें प्रतिबिम्बित अनुभवके (चैतन्यके) द्वारा अतीत विषयोंका परिज्ञान भी सिद्ध हो जाता है। एवं उत्पत्तिसे पहले भी बनाये जानेवाले पदार्थका ज्ञान कुलालादिमें दिखलाई देता है, अतः आगे होनेवाले सब विषयोंका ज्ञान भी अपनी मायाके परिणामकी सामर्थ्यसे होगा, इस प्रक्रियाके

भविष्यतीति युक्ता सर्वज्ञता। न चाऽत्र मानाभावः; 'यः सर्वज्ञः' इति श्रुतेः। न च स्वरूपलक्षणत्वासंभवः, लक्षणाभिधानावसरे सर्वज्ञशब्देन सर्वप्रकाशकत्वोपलक्षितशुद्धचैतन्यमात्रस्य विवक्षितत्वात्। तदेवं जन्मस्थितिनाशाख्यविकारत्रयकारणस्य ब्रह्मणः सूत्र एव स्वरूपलक्षणमपि सिद्धम्।

यद्यपि वृद्धिपरिणामापक्षयास्त्रयो भावविकारा जन्मस्थितिनाशव्यतिरेकेण प्रसिद्धास्तथापि वृद्धिर्जायते वृद्धिस्तिष्ठति वृद्धिर्नश्यतीत्येवमेव वृद्ध्यादयो निरूप्यन्ते नाऽन्यथा। ततो वृद्ध्यादीनां जन्माद्यन्तर्भावान्न सूत्रगतादिशब्देन पृथग् ग्रहणम्। न च निरुक्तकारपठितषड्भाव-

---

अनुसार सर्वज्ञता युक्त ही है। सर्वज्ञ होनेमें प्रमाणका अभाव भी नहीं है, कारण कि 'जो सर्वज्ञ है' ऐसे अर्थवाली श्रुति ही उसमें प्रमाण है। स्वरूपलक्षणका भी असम्भव नहीं है, कारण कि लक्षणके कथनके अवसरपर सर्वज्ञशब्दसे सर्वप्रकाशकत्वरूपसे उपलक्षित शुद्ध चैतन्य ही विवक्षित है। इस रीतिसे जन्म, स्थिति और नाश रूप तीन विकारोंके कारणभूत ब्रह्मका स्वरूपलक्षण भी सूत्रमें ही सिद्ध है। [सर्वज्ञताके बिना संसारके जन्मादिका कारण हो नहीं सकता और 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुति ब्रह्मको स्पष्ट ही जगत्के जन्मादिके प्रति कारण कह रही है, अतः इस प्रमाणभूत श्रुतिके अनुवादक 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रसे ही सर्वप्रकाशकत्वरूप सर्वज्ञतात्मक स्वरूपलक्षण भी उपपन्न हो गया।]

[यास्क आदि मुनिके वचनोंसे प्रतीत अतिरिक्त वृद्धि आदि तीन विकार भी आदिपदसे गृहीत होते हैं, इस शङ्काकी निवृत्ति करते हैं—] यद्यपि वृद्धि, परिणाम और अपक्षय—ह्रास—ये तीन भाव-प्रपञ्चके विकार जन्म, स्थिति और नाश—इन तीनोंसे पृथक् प्रसिद्ध हैं, तथापि उनका निरूपण 'वृद्धि होती है, वृद्धि रुक गई, वृद्धि नष्ट हो गई', इत्यादि प्रकारसे ही किया जाता है, किसी दूसरे प्रकारसे उनका निरूपण नहीं किया जाता। इससे वृद्धि आदि विकारोंका भी जन्मादिमें अन्तर्भाव हो जाता है, अतः सूत्रपठित आदि शब्दसे उनका पृथक् ग्रहण नहीं किया जाता है।

शङ्का—निरुक्तकार 'यास्क मुनि' द्वारा प्रदर्शित छः भावविकारोंका ही

विकारग्रहणे सति नाऽस्त्यन्तर्भावप्रयास इति वाच्यम् , तदा ह्यार्षेयवाक्यस्य न तावदनुमानादि मूलम् , अस्माकमपि तत्संभवेन तद्वाक्यवैयर्थ्यात् । नाऽपि प्रत्यक्षम् , ब्रह्मजन्यमहाभूतविकाराणां श्रुतिमन्तरेणाऽप्रत्यक्षत्वात् । भौतिकविकारा एव मुनिना प्रोक्ता इति चेत् , तर्हि तेषामिह ग्रहणे भौतिककारणभूतपञ्चकमेव ब्रह्मत्वेन सूत्रे लक्षितमिति बुद्धिः स्यात् । अतः श्रुत्युक्ता जन्मादयस्त्रय एवाऽत्र ग्राह्याः । नहि श्रुतिर्मूलप्रमाणमपेक्षते, येनोक्तदोषः

ग्रहण करना उचित है, क्योंकि ऐसा होनेपर जन्मादि तीनोंमें उन सबका अन्तर्भाव करनेके लिए पृथक् प्रयास करनेकी आवश्यकता नहीं होगी ।

समाधान—ऐसा नहीं, कारण कि ऋषिके वाक्योंमें अनुमान आदि तो मूल-प्रमाण माने नहीं जा सकते, क्योंकि ऐसा तो हमारे वाक्योंमें भी संभव होनेसे ऋषिवाक्योंका उपन्यास ही व्यर्थ हो जायगा [हम भी अपने अभीष्ट अर्थका बोध करानेके लिए वाक्यकी रचना करेंगे और उसकी पुष्टिमें मूलभूत अनुमान-प्रयोग दिखला देंगे । इस प्रकार अनुमानमूलक वाक्योंके प्रमाण माने जानेपर ऋषिवाक्योंके उद्धरणकी अपेक्षा ही नहीं रह जायगी]। उनमें प्रत्यक्ष भी प्रमाण नहीं है, क्योंकि ब्रह्मसे उत्पन्न पांच महाभूतरूप विकारोंका श्रुतिसे अतिरिक्त साधन द्वारा ज्ञान ही नहीं हो सकता । [यद्यपि ऋषिवाक्यमें प्रत्यक्ष प्रमाण हो सकता है, तथापि प्रकृतमें महाभूतात्मक विकार तो केवल 'यतो वा इमानि' इत्यादि श्रुतिसे ही सिद्ध हैं, प्रत्यक्षसे नहीं । और जो भौतिक विकार प्रत्यक्ष हैं, उनको ही श्रुति और सूत्रमें लेना नहीं है, इस आशयसे शङ्का-समाधान करते हैं—] यदि कहा जाय कि मुनि व्यासजीने भौतिक घट, पट आदि विकारोंको ही अपने सूत्रमें जन्मादिपदसे कहा है, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि उन भौतिक विकारोंका इस सूत्रमें ग्रहण करनेसे भौतिक घट, पट आदिके कारण पांच महाभूत ही ब्रह्मस्वरूपसे सूत्रमें लक्षित किये गये हैं, ऐसा समझा जायगा । [भाव यह है कि घट-पटादिजन्मादिकारणस्वरूप लक्षणसे तो महाभूत ही ब्रह्म समझे जायँगे, क्योंकि घटके जन्म, स्थिति तथा लय या वृद्ध्यादि छः विकार पृथ्वीरूप भूतमें ही हैं, एवं अन्यत्र भी समझना चाहिए ।] इसलिए श्रुतिमें दिखलाये गये जन्मादि तीन ही विकार लेने चाहिएँ जो प्रत्यक्ष नहीं हैं । और श्रुति तो स्वयं प्रतिपादित अर्थकी पुष्टिमें अपनेसे अतिरिक्त मूल प्रमाणकी अपेक्षा नहीं रखती, जिससे कि मूल प्रमाणकी अपेक्षा

स्याद्, अतो यत्किञ्चिज्जन्मवद्भूतभौतिकं तस्य सर्वस्य मूलकारणत्वेन श्रुत्युक्तं ब्रह्मैवाऽत्र लक्षितमित्यवगम्यते। नन्वेवमपि सूत्रे श्रुत्युक्तं जन्मैव सूत्र्यतां तावतैवोक्तार्थसिद्धेरिति चेद्, न; केवलनिमित्तकारणत्वशङ्काव्युदासार्थत्वात् स्थितिप्रलययोः। नह्यनुपादाने केवलनिमित्ते स्थितिप्रलयौ संभवतः। यद्यपि जन्मस्थितिप्रलया निरुक्तकारेणाऽप्युक्तास्तथापि न तद्वचनद्वारा श्रुतिमूलत्वं सूत्रस्य कल्पनीयम्। सूत्राणां साक्षाच्छ्रुत्यर्थनिर्णयपरत्वात्। अन्यथा ऋषिवाक्यान्येव वक्ष्यमाणसूत्रैरुदाहृत्य निर्णयेरन्। तस्मात् 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्येतच्छ्रुत्युक्तानेव जन्मस्थितिनाशान् साक्षात् सूत्रे निर्दिश्य तत्कारणं ब्रह्मेति लक्ष्यते।

ननु कथं ब्रह्मणः कारणत्वम्, किं ब्रह्म पूर्वरूपं परित्यज्य रूपान्तरेण

होनेसे उक्त दोष आ सके, इसलिए जो भी कुछ जन्मादिशाली भूत या भौतिक प्रपञ्चजात है, उस सबके मूल कारणरूपसे श्रुतिमें कहे गये ब्रह्मका ही इस सूत्रमें लक्षण किया गया है, ऐसा जाना जाता है।

शङ्का—ऐसा माननेपर भी श्रुतिमें कहा गया केवल जन्म ही सूत्रमें देना चाहिए अर्थात् 'आदि' पद देना व्यर्थ है, क्योंकि जन्म इतना कहनेसे ही उक्त कारणस्वरूप अर्थकी सिद्धि हो जायगी।

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि ब्रह्म केवल निमित्त कारण ही है, इस आशङ्काका वारण करनेके लिए 'आदि' पद दिया गया है। उपादानसे अतिरिक्त केवल निमित्त कारणमें स्थिति और प्रलयका सम्भव नहीं हो सकता। यद्यपि जन्म, स्थिति और प्रलय—इन तीनोंको निरुक्तकारने भी कहा ही है, तथापि निरुक्तकारके वचन द्वारा सूत्रमें श्रुतिमूलकत्वकी कल्पना करना उचित नहीं है, कारण कि साक्षात् श्रुतिके अर्थके निर्णयमें सूत्रोंका तात्पर्य है, [ऋषिवाक्योंको द्वार मानकर नहीं] यदि इसके विपरीत माना जाय, तो आगे कहे जानेवाले सूत्रोंसे ऋषिवाक्योंका ही उद्धरण करके निर्णय किया जाता। इसलिए 'जिस कारणभूत ब्रह्मसे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं' इत्यर्थक श्रुतिमें कहे गये जन्म, स्थिति और प्रलय—इन तीनोंका ही सूत्रमें साक्षात् निर्देश करके उनका कारण ब्रह्म है; ऐसा लक्षण किया जाता है।

शङ्का—ब्रह्मको कारण किस रीतिसे मानते हो? क्या ब्रह्म अपने पूर्व रूपका

परिणमते उताऽपरित्यज्य विवर्तते ? आद्ये सृष्टेरुपरि ज्ञानानन्दरूपस्य ब्रह्मण उच्छेदः स्यात् । अथ जगद्रूपेण परिणतं तद् ब्रह्म पुनरपि प्रलयावस्थायां ज्ञानानन्दब्रह्मरूपेण परिणमेत तथापि तस्य ब्रह्मणः पुनर्जगदाकारपरिणामस्वभावित्वादनिर्मोक्षप्रसङ्गः । न च सृष्टिश्रुतिः परिणामे प्रमाणम्, तस्याः सृष्टिमात्रोपक्षीणायाः पूर्वरूपपरित्यागापरित्यागयोस्ताटस्थ्यात् । न च श्रुत्यन्तरं परिणामे संभवति, 'अज आत्मा महान् ध्रुवः' इति ध्रुवशब्देन परिणामविरुद्धकौटस्थ्याभिधानात् । कूटस्थत्वं च ब्रह्मणो निरवयवत्वादुपपन्नम् ।

ननु निरवयवमपि परिणमत एव । तथाहि — हेमगतरुचकादिपरिणामः

त्याग करके दूसरे रूपमें बदल जाता है ? या पूर्व रूपका त्याग न करके दूसरे रूपमें बदल जाता है ? [अर्थात् ब्रह्मका दधि-दुग्धवत् तात्त्विक परिणाम होता है या रज्जुसर्पवत् अतात्त्विक अन्यथाभाव ?] प्रथम कल्प नहीं बनता, कारण कि सृष्टि हो जानेपर ज्ञान और आनन्द रूप ब्रह्मका विनाश हो जायगा । [सद्रूपका नहीं, क्योंकि सद्रूप तो तात्त्विक अन्यथाभावके साथ भी अनुवर्तमान रहता है,] यद्यपि संसारके रूपमें परिणामको प्राप्त हुआ ब्रह्म प्रलयावस्थामें फिर भी ज्ञान और आनन्द रूपमें बदल जायगा; तथापि उस ब्रह्मका बार-बार संसारके आकारमें बदलनेका स्वभाव होनेसे मोक्षका अभाव हो जायगा । [अर्थात् ज्ञानान्दाकारको बदल कर जगदाकार और जगदाकारको छोड़ कर ज्ञानानन्दाकार इत्यादि परम्परा ब्रह्मकी चलती ही रहेगी, ऐसी दशामें मोक्षका प्रसङ्ग ही नहीं आ सकता ।] सृष्टिविषयक श्रुतिको ब्रह्म-परिणाममें प्रमाण भी नहीं मान सकते, कारण कि उस सृष्टि-श्रुतिका केवल सृष्टिका बोधन करनेमें तात्पर्य है, इसलिए ब्रह्मके पूर्व रूपका परित्याग होता है या नहीं होता, इस विषयमें यह श्रुति तटस्थ—उदासीन—है । [अर्थात् श्रुतिवाक्योंमें ऐसा कोई वाचक पद नहीं है; जिससे कि उक्त अर्थकी स्पष्टरूपसे प्रतीति हो] और कोई दूसरी श्रुति भी परिणामरूप अर्थका बोधन करनेवाली नहीं है । 'अज (जन्म-रहित) आत्मा महान् और ध्रुव है' इत्यर्थक श्रुतिमें तो ध्रुवपदसे परिणामके विरुद्ध ब्रह्मकी कूटस्थताका (अपरिणामिताका) बोध होता है, और अवयवशून्य होनेसे ब्रह्मका कूटस्थ होना उचित है ।

शङ्का—अवयवशून्यका भी परिणाम होता ही है । इस विषयमें अनुमानका

परम्परया परमाणुपर्यन्तगामी, अवयववृत्तित्वात्, संयोगवत्। संयोगो ह्यवयव्येकदेशसमवेतः परम्परया निरवयवपरमाणुसंयोगपुरःसरः प्रसिद्ध इति। तत्र वक्तव्यं कोऽयं परिणाम इति। मृत्पिण्डस्य घटरूपापत्ताविव स्वावयवानां पूर्वसंयोगात्संयोगान्तरापत्त्या संमूर्छितावयवत्वं परिणामः, तक्राद्यातञ्चनावयवसंयोगेन क्षीरस्य दधिभाववदवयवान्तरसंयोगेन संमूर्छितावयवत्वं वा, यूनो वृद्धत्ववदवस्थान्तरं वा, काष्ठस्य स्तम्भाद्यापत्तिवदन्यथाभावो वा, अणोरण्वन्तरसंयोगेन द्व्यणुकापत्तिवद्वस्त्वन्तरसंयोगो वा, उदकस्य नदीभाववत्परिस्पन्दो वा। पक्वफलस्य वर्णान्तरवद् गुणान्तरोदयो वा, उपादानानुरक्तद्रव्यान्तरोत्पत्तिर्वा? न तावत्

प्रतिपादन करता है—सुवर्णमें होनेवाले रुचक (कड़ा) आदि स्वरूप परिणामको परम्परासे परमाणुओंमें होनेवाला ही मानना चाहिए, अवयवमें वृत्ति होनेसे, संयोगके समान। [समन्वय करते हैं—] संयोग अवयवीके (धर्मीके) एकदेशमें (अवयवमें) समवायसम्बन्धसे रहता हुआ परम्परासे अवयवशून्य परमाणुके संयोगको लेकरके ही होता है, यह प्रसिद्ध है। [इसी प्रकार अवयवीका परिणाम भी निरवयवका परिमाण होनेपर ही होता है।]

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि यहांपर कहना होगा कि यह परिणाम क्या वस्तु है? [जो निरवयवमें भी हो जाता है।] मिट्टीके पिण्डसे घटाकारकी प्राप्तिमें जैसे अपने अवयवोंका पहलेके संयोगसे दूसरा संयोग होनेके कारण संमूर्छितावयवत्व [अवयवोंका पृथक् ग्रहण न होकर सब एक समूहरूपसे अवयवीका बोध होना] परिणाम होता है, वैसे क्या प्रकृतमें संमूर्च्छितावयवत्व ही परिणाम है? अथवा तक्र आदि जोड़नके अवयवके संयोगसे दूधकी दधिरूप प्राप्तिके समान दूसरे अवयवके संयोगसे होनेवाला संमूर्छितावयवत्व परिणाम है? या जैसे युवा पुरुषको दूसरी वृद्धा अवस्था प्राप्त होती है, वैसे ही दूसरी अवस्थाका पाना परिणाम है? किंवा जैसे लकड़ीका स्तम्भ आदिके रूपमें परिवर्तन होता है, वैसे ही दूसरे रूपमें बदल जाना परिणाम है? अथवा जैसे परमाणुके साथ संयोग होनेसे द्व्यणुकादि होते हैं, वैसे ही दूसरी वस्तुका संयोग परिणाम है या जैसे जल नदीके रूपको पा जाता है, वैसे ही परिस्पन्द परिणाम है? अथवा पके हुए फलके रूपके बदलनेके समान दूसरा गुण हो जाना परिणाम है? या उपादान कारणसे

प्रथमद्वितीयौ, निरवयवस्य तादृशपरिणामानुपपत्तेः। नाऽपि तृतीयचतुर्थौ, तथा सति जगदाकारपरिणामे पुनर्ब्रह्मभावानुपपत्तावनिर्मोक्षप्रसङ्गः। नहि वृद्धः कदाचिदपि युवा भवति। नाऽपि स्तम्भा वृक्षरूपेण प्ररोहेयुः। क्वचित्पुनः प्ररोहोऽपि दृश्यत इति चेत्, तर्हि मोक्षस्यापि तथा पुनः परिणामरूपत्वे सत्यनित्यत्वं दुर्वारं स्यात्। नाऽपि पञ्चमषष्ठसप्तमाः, परिणामलक्षणस्याऽतिव्याप्तेः। वस्त्वन्तरसंयोगिन्याकाशे परिस्पन्दमाने भ्रमरे लौहित्योदयवति च पटे द्रव्यपरिणामबुद्धयभावात्। नाऽप्यष्टमः, अवयविनस्तथा परिणामेऽप्यवयवपरिणामस्य दुर्भणत्वात्। किं हेमावयवानां रुचकरूपेण परिणामः किं वा रुचकोपयुक्तद्रव्यान्तररूपेण उत रुचकोप-

---

अनुरक्त अतिरिक्त द्रव्यकी उत्पत्ति परिणाम है ? इनमें प्रथम और द्वितीय कल्प नहीं माने जा सकते, कारण कि अवयवशून्य पदार्थका उक्त प्रकारसे परिणाम नहीं हो सकता। तीसरे और चौथे विकल्पको भी नहीं मान सकते, कारण कि ऐसा माननेसे प्रपंचके आकारमें परिणाम होनेके अनन्तर पुनः ब्रह्मभावकी उपपत्ति न हो सकनेसे मोक्षके अभावका प्रसंग हो जायगा, क्योंकि वृद्धावस्थाको प्राप्त हुआ पुरुष फिर युवावस्थाको नहीं पा सकता और स्तम्भ भी फिर वृक्षरूपसे उग नहीं सकते। यदि कहा जाय, कि कहीं कहीं 'स्तम्भभावके अनन्तर' फिर उगना भी देखा जाता है, तो मोक्षका भी पुनः परिणाम होनेसे उसमें अनित्यत्वका वारण नहीं किया जा सकेगा। पांचवाँ, छटा और सातवाँ विकल्प भी साधक नहीं हो सकता, कारण कि परिणामके लक्षणकी अतिव्याप्ति हो जायगी। दूसरी वस्तुके साथ संयोगको प्राप्त हुए आकाशमें और उड़ते हुए भ्रमरमें तथा रंगनेसे लाल रंगको पाये हुए पटरूप द्रव्यमें परिणामबुद्धिका अभाव है। [और आपका पाचवां परिणामका लक्षण उक्त आकाशमें, छठा उक्त भ्रमरमें और सातवां उक्त पटमें (जो कि लक्ष्य नहीं है) चला जाता है, अतः अतिव्याप्त हो जाता है।] आठवां लक्षण भी नहीं बनता, कारण कि अवयवीका उक्त प्रकारसे [उपादानकारणानुगत दूसरा अवयवी हो जानारूप] परिणामका सम्भव होनेपर भी अवयवोंका वैसा परिणाम होता है, यह कहना नहीं बन सकता। [दिये गये हेम-रुचक दृष्टान्तका विघटन करते हैं—] क्या सुवर्णके अवयवोंका रुचकरूपमें परिणाम होता है ? अथवा रुचकके उपयोगी द्रव्यान्तरके रूपमें ?

युक्तावस्थान्तररूपेण । न तावद् द्वितीयतृतीयौ, रुचकव्यतिरेकेण तदुपयुक्तद्रव्यान्तरावस्थान्तरयोरदर्शनात् । नाऽपि प्रथमः, रुचकस्याऽवयविकार्यत्वात् । अवयवकार्यत्वे चाऽऽरम्भवादप्रसङ्गात् । न चाऽवयवानां रुचकानुगमानुपपत्तिः, अवयविद्वारा तदुपपत्तेः । न चाऽऽश्रयावयवेषु विकारमन्तरेणाऽऽश्रितावयविनि विकारानुपपत्तिः, परमाणौ असतोरेव जन्मविनाशयोर्द्व्यणुके दर्शनात् । जन्मविनाशव्यतिरिक्तधर्मस्य तथात्वमिति चेद्, नः कपालेष्वसत्या एव घटत्वजातेर्घटसमवेतत्वात् । व्यापकानामवयवानामवस्थान्तरमन्तरेण व्याप्यस्याऽवयविनोऽवस्थान्तरं नोपपन्न-

---

या रुचकके योग्य अन्य अवस्थाके रूपमें ? दूसरे और तीसरे विकल्प तो बन नहीं सकते, कारण कि रुचकसे अतिरिक्त रुचकके उपयोगमें आनेवाले द्रव्यान्तर और अवस्थान्तर तो कोई देखनेमें नहीं आते हैं । प्रथम विकल्प भी नहीं हो सकता, क्योंकि रुचक अवयवीका कार्य (परिणाम) है, [अवयवका नहीं ।] यदि अवयवका कार्य माना जाय, तो आरम्भवाद प्राप्त होगा । [अर्थात् परिणामवादको तो तुम सिद्ध करना चाहते हो और सिद्ध कर गये अवयवोंसे रुचकका आरम्भ याने नैयायिकसम्मत आरम्भवाद, इससे अर्थान्तर, सिद्धसाधन, अपसिद्धान्त आदि दोष होंगे ।] रुचकमें अवयवोंके अनुगमकी अनुपपत्ति भी नहीं हो सकती, कारण कि अवयवीके द्वारा अवयवोंके अनुगमकी उपपत्ति हो सकती है ।

शङ्का—आश्रयभूत अवयवोंमें विकारके उत्पन्न हुए बिना अवयवीमें विकार नहीं हो सकता, [इससे आश्रयरूप अवयवभूत ब्रह्ममें परिणाम उपपन्न होगा] ।

समाधान—उक्त अनुपपत्ति नहीं है, कारण कि [आश्रयभूत अवयवात्मक] परमाणुमें न रहनेवाले जन्म और विनाश द्व्यणुकमें देखे गये हैं; [इस दृष्टान्तसे अवयविगत विशेषण अवयवमें अवश्य रहता है, ऐसा कोई नियम नहीं है] । जन्म और विनाशसे अतिरिक्त धर्मोंमें उक्त नियमका माना जाना भी उचित नहीं है, कारण कि कपालमें न रहनेवाली घटत्व जाति घटमें रहती है, [घटत्व आदि जातियाँ भी जन्म और विनाशसे अतिरिक्त हैं; तथा अवयवमें विशेषण न होकर अवयवीमें विशेषण होती हैं] । यदि कहो कि व्यापकीभूत अवयवोंकी अवस्थाका परिवर्तन हुए बिना व्याप्यस्वरूप अवयवीकी अवस्था नहीं

मिति चेद्, न; व्यापकयोर्जातिगुणयोरवस्थान्तराभावेऽपि व्याप्यद्रव्ये तद्दर्शनात्। अस्तु वाऽवयवानां परिणामस्तथाप्यवयविपरिणामप्रयुक्तत्वान्नाऽसौ ब्रह्मपरिणामस्य दृष्टान्तः। नहि ब्रह्मावयवकं परिणामि किञ्चिदस्ति, यत्प्रयुक्तो ब्रह्मपरिणामः स्यात्। निरवयवत्वादवयविदृष्टान्तेनाऽपि न ब्रह्मणः परिणामसिद्धिः।

यत्तु निरवयवसंयोगवत् परिणाम इति, तत्राऽपि किं दृश्यमानावयविसंयोगस्य परमाणुसमवेतत्वमुच्यते उत परमाणुसंयोगपूर्वकत्वं कल्प्यते? नाऽऽद्यः, परमाणुगतरूपादिवदप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। न द्वितीयः; अवयविन्येव घटत्वजातिसमवायवत् संयोगोपपत्तेः। अवयवानां संयोगेऽनुग-

---

बदल सकती; तो ऐसा भी कहना उचित नहीं है; कारण कि व्यापकीभूत जाति तथा गुणोंमें अवस्थाके परिवर्तनके बिना भी व्याप्य द्रव्योंमें अवस्थाका परिवर्तन देखा जाता है। अथवा भले ही अवयवोंका परिणाम हो, तो भी यह (अवयवपरिणाम) अवयवीके परिणामका कारण है, अतः वह ब्रह्मपरिणामका दृष्टान्त नहीं बन सकता। कारण कि जिसका ब्रह्म अवयव हो; ऐसा कोई परिणामी द्रव्य नहीं दीखता, जिससे कि (अवयवभूत) ब्रह्मका परिणाम हो सके। और अवयवशून्य होनेसे अवयवीके दृष्टान्तसे भी ब्रह्ममें परिणामित्वकी सिद्धि नहीं हो सकती।

और 'अवयवरहित पदार्थका जिस प्रकार संयोग होता है, उस प्रकार उनका परिणाम भी हो सकता है' ऐसा जो कहा जाता है, उसमें प्रष्टव्य यह है कि दिखलाई पड़नेवाला (द्व्यणुकादिरूप) अवयवीके संयोगको क्या परमाणुमें समवेत [समवायसम्बन्धसे रहनेवाला] मानते हो? या उसमें परमाणुसंयोगपूर्वकत्वकी कल्पना करते हो? इनमें प्रथम कल्प नहीं मान सकते, कारण कि परमाणुमें विद्यमान रूपके समान संयोगका भी प्रत्यक्ष न हो सकेगा। दूसरा कल्प भी नहीं हो सकता, कारण कि जैसे घटत्व (आदि) जातिका समवाय अवयवीमें रहता है; वैसे ही संयोगकी भी अवयवीमें ही उपपत्ति होती है। अवयवोंका संयोगमें अनुगम [अर्थात् अवयवोंकी संयोगमें प्रतीति होना]

मस्त्ववयविद्वाराऽन्यथासिद्धः। संयोगस्याऽवयविवृत्तित्वे कृत्स्नव्यापित्व-प्रसङ्गेनाऽवयवेष्वेव वृत्तिरिति चेत्, तर्ह्यवयविनां तन्तूनां संयोगासंभवेन पटानारम्भप्रसङ्गः। कृत्स्नव्यापित्वं तु तार्किकं प्रत्यवयवावृत्तिपरमाणु-संयोगोदाहरणेन परिहर्त्तव्यम्। अन्यान्प्रत्याकाशवर्त्ती शब्द उदाहार्यः। तस्मान्न संयोगदृष्टान्तेन निरवयवपरिणामोऽनुमातुं शक्यः।

ननु कथं ब्रह्मणो निरवयवत्वम्, येन परिणामो निराक्रियेत? सावयव-

---

तो अवयवीके द्वारा अन्यथासिद्ध है। [क्योंकि अवयवीके संयोगसे ही अवयव-संयोगकी प्रतीति होती है; अतः निरवयव परमाणु आदिमें संयोग भी नहीं है]।

शङ्का—संयोग अवयवीमें रहता है, ऐसा माननेसे सम्पूर्ण अवयवीको व्याप्त करनेका प्रसङ्ग आता है; अतः अवयवोंमें ही संयोग मानना उचित है।

समाधान—उक्त रीतिसे अवयवी तन्तुओंमें संयोगका असम्भव है, अतः उनसे पटका (वस्त्रका) आरम्भ नहीं हो सकेगा। सर्वांशव्यापी होना-रूप दोषका तो तर्कशील नैयायिकके प्रति अवयवों न रहनेवाले परमाणु-संयोगके उदाहरणसे परिहार करना चाहिए और दूसरे वादियोंके प्रति आकाशवर्ती शब्दका उदाहरण देना चाहिए। [अर्थात् यदि अवयवीका संयोग ही कार्यका आरम्भक माना जाय और उसमें उसके आरम्भक अवयव न माने जायँ, तो अवयवीके संयोगमें सर्वांशव्यापित्व दोष देना अवयवसंयोगमें भी समान है, जैसे तार्किक परमाणुसंयोग मानता है; परन्तु उसका आरम्भक अवयवान्तर नहीं मानता, इस दशामें भी परमाणुसंयोगको कृत्स्नव्यापी नहीं मानता, अन्यथा उक्त रीतिसे उसके भी कृत्स्नव्यापी होनेका प्रसङ्ग है ही। एवं अन्य मतमें निरवयव आकाशसंयुक्त शब्द भी कृत्स्नव्यापी नहीं है। उक्त रीतिसे तो उसे भी कृत्स्नव्यापी होना चाहिए] इस प्रघट्टकके अनुसार निरवयवका परिणाम होना असम्भव होनेसे उसका अनुमान नहीं कर सकते। अग्रिम ग्रन्थसे ब्रह्मको सावयव मानकर परिणामकी आशङ्का करते हैं—

शङ्का—ब्रह्मका अवयवशून्य होना कैसे सिद्ध है, जिससे कि उसके परिणामका खण्डन किया जा सके।

समाधान—'ब्रह्म निरवयव ही है' कारण कि उसका अवयवोंसे युक्त होना नहीं कहा जा सकता और श्रुतिसे भी निरवयव होना ही सिद्ध

त्वस्य दुर्भणत्वाच्छ्रुतेश्चेति वदामः। सावयवत्वे किमवयवावयविनोरुभयोरपि स्वप्रकाशत्वम् उताऽन्यतरस्यैव? आद्ये तयोरितरेतराविषयत्वान्न केनचिदपि सावयवत्वं प्रतीयात्। द्वितीये घटात्मनोरिव तयोर्नांशांशिभावसिद्धिः। श्रुतिश्च 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' इति क्रियावयवशून्यतामाह। नियन्तृत्वादिक्रियापि श्रूयत इति चेत्, तर्हि तत्त्वतो निष्क्रियत्वं मायया सक्रियत्वमिति व्यवस्थाऽस्तु; 'मायाभिः पुरुरूप ईयते' इति विनिगमश्रुतेः। निर्व्यापारस्य चेतनस्य सुषुप्ते पुरुषार्थत्वानुभवेन निष्क्रिय-

---

है, ऐसा हम कहते हैं। [सावयवत्वकी असिद्धि दिखलाते हैं—] यदि ब्रह्म सावयव माना जाय; तो प्रश्न यह होगा कि क्या अवयव और अवयवी दोनों स्वप्रकाश हैं? अथवा इनमें से कोई एक ही (अवयव या अवयवी) स्वप्रकाश है? इनमें से यदि प्रथम कल्प (दोनोंको स्वप्रकाश) माना जाय, तो ये दोनों किसी एक दूसरेके विषय नहीं हैं, अतः कोई भी अपनेको सावयव नहीं समझ सकेगा। [ब्रह्म सावयव होनेसे अवयव और अवयवीरूप होगा, इन दोनों रूपोंमें यदि स्वप्रकाशता है, तो ब्रह्म कैसे अपनेमें सावयवत्वका अनुभव कर सकता है? यह तो तब हो सकता जब कि एक दूसरेका विषय होता अर्थात् अवयवका प्रकाश अवयवीके द्वारा या अवयवीका अवयव द्वारा ऐसा विषय-विषयिभाव होता]। और दूसरे कल्पमें (दोनोंमें से एकको ही स्वप्रकाश माननेमें) घट और आत्मामें जैसे अवयव और अवयवी भाव नहीं है, वैसे इन दोनोंमें भी अवयवावयविभाव सिद्ध नहीं हो सकता। [दूसरे कल्पमें एकको प्रकाशरूप माना है, इस दशामें उन पदार्थोंमें परस्पर अवयवावयविभाव उस तरह नहीं होता जिस तरह जड़स्वरूप घट और प्रकाशस्वरूप आत्मामें अवयवावयविभाव नहीं है] 'निष्कल, निष्क्रिय तथा शान्त ब्रह्म है' इत्याद्यर्थक श्रुति भी ब्रह्मको क्रियारूप अवयवसे रहित कहती है। यदि शङ्का करो कि नियन्तृत्व—नियमन करना—आदि क्रिया भी ब्रह्ममें श्रुतिसे सिद्ध है, तो उसपर हमारा समाधान यह होगा कि वास्तवमें ब्रह्म क्रियारहित ही है और मायाके द्वारा क्रियाविशिष्ट है, ऐसी व्यवस्था मानिये। [वैपरीत्यके वारणके लिए श्रुतिरूप प्रमाण देते हैं—] 'मायाओंके कारण बहुरूपताको प्राप्त करता है' इत्याद्यर्थक सिद्धान्त श्रुतिसे ऐसी ही व्यवस्था होती है। सुषुप्त पुरुषमें व्यापार—क्रिया—हीन चेतनके पुरुषार्थरूपसे अनुभवगोचर होनेसे उस ब्रह्मका क्रिया-

त्वस्य तात्त्विकत्वोपपत्तेः । न च ब्रह्मप्रवृत्तेर्मायिकत्वे युक्त्यभावः, स्वप्रवृत्तिवन्निष्प्रयोजनत्वेन मिथ्यात्वोपपत्तेः। तदेवं निरवयवं ब्रह्म न परिणमते, किन्तु विवर्त्तते इति द्वितीयपक्षोऽङ्गीकार्यः। तस्मिन्नपि पक्षे पूर्वरूपमपरित्यजतो ब्रह्मणो निर्विकारत्वाज्जगद्रूपेण विकरिष्यमाणं वस्त्वन्तरं किञ्चिदङ्गीकार्यम्। तत्किं माया उताऽन्यत् ? नाऽन्यत् , ब्रह्ममायाभ्यां व्यतिरिक्तस्य कार्यत्वेन मूलकारणत्वायोगात् ।

मायापक्षेऽपि किं 'माया प्रज्ञा तथा मेधा' इत्यभिधानमनुसृत्य मायाशब्देन प्रज्ञोच्यते उत पामरप्रसिद्ध्या मन्त्रौषधादिः अथवा स्वकीय-

---

रहित होना वस्तुतः युक्तिसिद्ध होता है । नियमन आदि ब्रह्मकी प्रवृत्तिको मायाजनित माननेमें युक्तियोंका अभाव नहीं कह सकते, कारण कि प्रयोजनशून्य होनेसे अपनी प्रवृत्तिके समान उसमें मिथ्यात्व उपपन्न है । [जैसे मनुष्यकी प्रयोजनशून्य प्रवृत्ति मिथ्या है, वैसे ही ब्रह्मकी प्रवृत्तिमें कोई प्रयोजन न होनेसे वह मिथ्या अर्थात् इन्द्रजालके सदृश मायाजनित है] इस उपर्युक्त सिद्धान्तके अनुसार अवयवहीन ब्रह्मका परिणाम नहीं हो सकता, किन्तु विवर्त होता है । [अर्थात् दूधका दधिके सदृश तात्त्विक अन्यथाभावरूप परिणाम नहीं होता है, किन्तु शुक्तिरजतके समान अवास्तव अन्यथाभावरूप विवर्त होता है, जो कि बुद्धिविपरिणाममात्र है, अतः निरवयवका भी विवर्त होना सम्भव है] । इस रीतिसे विवर्तात्मक परिणामरूप दूसरे पक्षका ही अङ्गीकार करना होगा, उस दूसरे पक्षमें भी ब्रह्मके निर्विकार होनेसे पूर्वरूपका त्याग नहीं हो सकता, इसलिए संसारके रूपमें बदलनेवाली ब्रह्मसे अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु माननी होगी । वह वस्तु क्या है ? माया है अथवा उससे कोई अतिरिक्त है ? मायासे अतिरिक्तको तो मान नहीं सकते, क्योंकि ब्रह्म और माया—इन दोनोंसे अतिरिक्त सकल पदार्थ कार्य ही हैं, इसलिए उन्हें मूल कारण मानना नहीं बन सकता । [प्रथम कल्प मानकर माया ही उस जगत्के रूपमें बदलनेवाली है, ऐसा मानना होगा ।]

माया माननेके पक्षमें भी विकल्प हो सकता है कि 'माया प्रज्ञा और मेधा पर्याय हैं' इस कोशके अनुसार क्या मायाशब्दसे प्रज्ञा कही जाती है ? अथवा पामर-साधारण अज्ञानी पुरुषोंकी प्रसिद्धिके अनुसार मन्त्र, औषध आदि लिये जाते हैं ? या अपनेको पण्डित माननेके

पण्डितंमन्यत्वेन जडात्मिका काचित्पारमार्थिकशक्तिः किं वा 'नाऽसदासीत्' इत्यादिशास्त्रानुसारतोऽनिर्वचनीयशक्तिः ? आद्येऽपि न तावत् 'प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म' इति श्रुत्युक्तब्रह्मचैतन्यरूपप्रज्ञाया मायात्वं संभवति, 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः', 'दैवी ह्येषा गुणमयी', 'माययाऽपहृतज्ञाना' इति शास्त्रेण मायाया निवर्त्यत्वगुणमयत्वप्रज्ञानावरणत्वाभिधानात्, चैतन्यस्य तदसंभवात्। नाऽपि 'धीः प्रज्ञा शेमुषी मतिः' इत्यभिधानोक्ताया बुद्धिरूपप्रज्ञाया मायात्वम्, बुद्धेरुपादानत्वायोगात्। न द्वितीयः, नहि लोके मन्त्रौषधादौ मायाशब्दः प्रयुज्यते, किं तर्हि तत्कार्ये गन्धर्वनगरादौ बाधिते। न तृतीयः, पारमार्थिकशक्तौ प्रमाणाभावात्। चतुर्थेऽ-

---

अभिप्रायसे जडस्वरूप कोई (अज्ञात) पारमार्थिक—सद्रूप—शक्तिको लेते हो ? अथवा 'असत् नहीं था' इत्यादि शास्त्रके अनुसार मायासे कोई अनिर्वचनीय—मिथ्याभूत—शक्ति ली जाती है ? [अनिर्वचनीय इसलिए कहते हैं कि निर्दिष्ट शास्त्रमें असत्का निषेध जैसे किया वैसे 'नो सदासीत्' ऐसा सत्का भी निषेध किया है, अतः सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय ही होता है।] प्रथम पक्ष माननेमें भी तो 'प्रज्ञा, प्रतिष्ठा, विज्ञान, ब्रह्म' इस श्रुतिमें (ब्रह्मके साथ प्रज्ञाका सामानाधिकरण्य होनेसे) ब्रह्मका पर्याय प्रज्ञा है, इसलिए कहे गये ब्रह्म-चैतन्यरूप प्रज्ञाका माया होना सम्भव नहीं है, कारण कि 'अन्तमें सम्पूर्ण मायाकी निवृत्ति हो जाती है', 'यह गुणमयी देवी माया है', 'मायाके कारण ज्ञानहीन हुए' इन शास्त्रोंने मायाको विनाशी गुणमय तथा ज्ञानका आवरण कहा है, यह सब चैतन्यमें सम्भव नहीं है। अर्थात् प्रज्ञा विनाशशील, गुणमयी तथा ज्ञानविरोधिनी नहीं है, इसलिए मायापदसे नित्य चैतन्यात्मक प्रज्ञा नहीं ली जा सकती, और 'प्रज्ञा धीः शेमुषी मतिः' इस प्रकार बुद्धिके पर्यायप्रदर्शक कोशके आधारपर बुद्धिरूप प्रज्ञा भी माया नहीं हो सकती, कारण कि बुद्धि मूल कारण नहीं हो सकती। दूसरा पक्ष (मन्त्र, औषध आदिको माया मानना) नहीं बनता, कारण कि लोकमें मन्त्र, औषध आदिके लिए मायाशब्दका प्रयोग नहीं होता, किन्तु उन मन्त्र, औषध आदिके कार्यस्वरूप गन्धर्वनगर आदिमें ही मायाशब्दका प्रयोग होता है, जो कि बाधके विषय हैं, (अर्थात् मिथ्या हैं)। तीसरा पक्ष (मायाको

प्यनिर्वचनीया सा माया किं जगत उपादानं किंवा जगदुत्पत्तौ कारणमिति विवेक्तव्यम्? तत्र 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' इति श्रुतेरुपादानत्वं युक्तम्। न च 'प्रक्रियते अनया' इति प्रकृतिशब्दः करणे व्युत्पादनीयः, उपादाने रूढत्वात्, रूढेश्च प्राबल्यात्। 'इन्द्रो मायाभिः' इति तृतीया-श्रुत्या करणत्वमिति चेद्, न; तत्राऽऽत्मनो बहुत्वापत्तावेव करणत्वश्रवणात्। तावता च प्रपञ्चोपादानत्वे का हानिः? 'आत्मन आकाशः संभूतः' इति पञ्चम्या प्रकृतित्वमात्मनः श्रूयते, ततो न मायोपादानमिति चेद्, न; निमित्तेऽपि पञ्चमीसंभवात्। न च मायैव निमित्तमस्त्विति वाच्यम्,

---

परमार्थभूत शक्ति मानना) उचित नहीं है, कारण कि मायाको पारमार्थिक शक्ति माननेमें कोई प्रमाण नहीं है। चतुर्थ कल्प (अनिर्वचनीय) माननेमें भी वह (आपकी मानी हुई) माया क्या संसार-समवायी कारण है? या संसारकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण है? इसका विवेचन करना आवश्यक है। इस विवेचनके अवसरपर 'मायाको प्रकृति—उपादान—समझना चाहिए' इस श्रुतिसे मायाको उपादान मानना उचित होता है। 'जिसके द्वारा प्रक्रिया—सृष्टि—की जाय वह प्रकृति है' इस व्युत्पत्तिसे प्रकृतिशब्द कारणवाची नहीं माना जा सकता, कारण कि प्रकृतिशब्द उपादान कारणमें रूढ़ है, [और रूढ़िर्योगा-पहारिणी' इस न्यायसे] रूढ़ि प्रबल मानी जाती है।

शङ्का—'इन्द्र मायाओंके द्वारा' इत्यादि तृतीया विभक्तिके श्रवणसे प्रकृतिको करण कहेंगे।

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते; कारण कि उस श्रुतिमें एक आत्माके नाना होनेमें ही मायाको करण माना गया है; इससे भी प्रपञ्चके प्रति उपादान होनेमें कोई बाधा नहीं आ सकती।

शङ्का—'आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ' इत्याद्यर्थक श्रुतिमें 'आत्मनः' इस पञ्चमी विभक्तिके आनेसे आत्मा ही प्रकृति है, यह सिद्ध होता है, इससे संसारकी उपादान माया नहीं हो सकती।

समाधान—पञ्चमी विभक्ति निमित्त कारणके लिए भी आ सकती है, 'आत्मनः' इसमें पञ्चमी आनेसे ब्रह्मको उपादान नहीं कह सकते; किन्तु निमित्तमें पञ्चमी है। मायाको ही निमित्त कारण मानना उचित नहीं है; कारण कि

जाड्यरूपेण मायायाः प्रपञ्चेऽनुगतत्वात् । आत्माऽपि सत्तारूपेण स्फूर्त्तिरूपेण वाऽनुगत इति चेद्, एवं तर्ह्यात्मा माया चेत्युभयम् उपादानमस्तु । तथा च मायायामतिव्याप्तेन जगज्जन्मादिकारणत्वलक्षणेन विशुद्धं ब्रह्म न सिध्यति ।

अत्रोच्यते—एकस्य कार्यस्य परस्परनिरपेक्षोपादानद्वयाऽसंभवान्माया ब्रह्म च मिलित्वैकमेवोपादानमिति वाच्यम् । तत्र त्रैविध्यं संभवति—रज्ज्वा संयुक्तसूत्रद्वयवत् समप्रधानभावेनोभयमपि जगत उपादानम् । तत्र सत्तास्फूर्त्यंशयोर्ब्रह्मण उपयोगः । जाड्यविकारांशयोस्तु मायाया इति केचिदाहुः ।

'देवात्मशक्तिम्' इति श्रुतिबलान्मायाख्या शक्तिरेव साक्षादुपादानम् ।

जड़ताके रूपमें माया प्रपञ्चमात्रमें अनुगत है । यदि कहा जाय कि आत्मा भी तो सद्रूपसे या स्फुरणरूपसे प्रपञ्चमात्रमें अनुगत है, तो आत्मा और माया दोनोंको उपादान मानिये । इससे जगत्के जन्मादिकाकारणत्वरूप लक्षणके द्वारा उसका मायामें भी समन्वय हो जानेसे विशुद्ध ब्रह्मकी सिद्धि नहीं हो सकती ।

समाधान—इस लम्बे पर्यनुयोगके उत्तरमें कहा जाता है—एक कार्यके एक दूसरेसे अपेक्षा न रखनेवाले दो उपादान कारण नहीं हो सकते, इसलिए माया और ब्रह्म दोनों मिलकर एक ही उपादान है; ऐसा कहना होगा; इस कथनमें तीन प्रकारकी रीतियां हो सकती हैं—

रस्सीके संयुक्त दो सूत्रोंके समान समप्रधानभावसे (माया और ब्रह्म) दोनों जगत्के उपादान हैं [अर्थात् जैसे वेष्टित—बटे हुए—दो सूत्र रस्सीके प्रति समानरूपसे उपादान हैं, उनमें एक दूसरेमें न्यूनाधिक प्राधान्य नहीं है; वैसे ही ब्रह्म और माया दोनोंमें जगत्की स्थिति होनी चाहिए] । इनमें सत्ता और स्फुरण (प्रकाश) अंशमें ब्रह्मका उपयोग है तथा जड़ता और विकाररूपी अंशोंमें मायाका उपयोग है, ऐसा एक प्रकारका कहींपर वादीका मत है ।

'देवात्मशक्तिम्' इत्यादि श्रुतिके आधारपर मायानामक शक्ति ही साक्षात् उपादान है और शक्तिको शक्तिमान्के अधीन रहना नियमतः प्राप्त

शक्तेश्च नियमेन शक्तिमत्पारतन्त्र्यात् शक्तिमति ब्रह्मण्यप्यर्थाद् उपादानत्वं पर्यवस्यतीत्यन्ये ।

आरोपिताया मायाया अधिष्ठानब्रह्मस्वरूपमन्तरेण वस्तुतः स्वरूपान्तराभावाद् मायाया एव साक्षादुपादानत्वेऽपि तदधिष्ठानत्वेन ब्रह्मणोऽप्युपादानत्वमवर्जनीयमित्यपरे ।

आद्ये पक्षे मायाविशिष्टब्रह्मणो मुख्योपादानत्वं द्वितीयतृतीययोस्तु मायाया एव। पक्षत्रयेऽपि विशुद्धब्रह्मण औपचारिकमेवोपादानत्वम् । तत्र मुख्योपादानस्य जगत्कारणत्वं स्वरूपलक्षणम् । औपचारिकोपादानस्य तु तत्तटस्थलक्षणम् । तथा सति किं स्वरूपलक्षणत्वेनाऽभिप्रेतं जगत्कारणत्वं मायायामतिव्याप्तं किं वा तटस्थलक्षणत्वेन ? नाऽऽद्यः, मायाया

है, इसलिए ब्रह्ममें भी उपादानत्व अर्थात् सिद्ध होता है—इस प्रकार दूसरे वादियोंका मत है ।

यद्यपि अधिष्ठानभूत ब्रह्मके स्वरूपके बिना आरोपित (मिथ्याभूत) मायाका वस्तुतः अतिरिक्त स्वरूप न होनेसे माया ही साक्षात् उपादान है, तथापि (मायाका) अधिष्ठान ब्रह्म है, अतः हठात् ब्रह्ममें भी उपादानत्व प्राप्त होता है, [रजतबुद्धिसे ग्रहण करनेपर भी हाथमें शुक्ति ही आती है, कारण कि अध्यस्त पदार्थ अधिष्ठानके अतिरिक्त कुछ भी नहीं होता, एवं अध्यस्त मायाको उपादान माननेसे ब्रह्मको उपादान मानना अर्थात् सिद्ध हो जाता है] ऐसा कुछ वादी मानते हैं ।

प्रथम पक्षमें मायाविशिष्ट ब्रह्ममें मुख्य उपादानत्व प्राप्त होता है तथा दूसरे और तीसरे पक्षमें केवल मायामें मुख्य उपादानत्व प्राप्त होता है । तीनों पक्षोंमें शुद्ध ब्रह्ममें गौण ही उपादानकारणत्व प्राप्त है । इनमें मुख्य उपादानका जगत्कारणत्व स्वरूप लक्षण है और औपचारिक उपादानका तो वही जगत्कारणत्व तटस्थ लक्षण होता है । इस दशामें प्रश्न होता है कि क्या स्वरूपलक्षणके रूपमें माने गये जगत्कारणत्वकी मायामें अतिव्याप्ति होती है ? या तटस्थ लक्षणके रूपसे अभिप्रेत जगत्कारणत्वकी मायामें अतिव्याप्ति होती है ? इनमें प्रथम कल्पोक्त अतिव्याप्ति नहीं हो सकती, कारण कि माया लक्ष्यकोटिमें ही

लक्ष्यान्तःपातित्वात्। न द्वितीयः, जगत्कारणत्वस्य तटस्थलक्षणरूपेण मायायामवृत्तेः। तस्माज्जगत्कारणत्वरूपतटस्थलक्षणेन ज्ञानानन्दादिरूपस्वरूपलक्षणेन च विशुद्धब्रह्मसिद्धिः।

ननु न तावत् पृथिव्याद्युपादानत्वं ब्रह्मलक्षणम्, पृथिव्यादीनामुत्पत्त्यदर्शनात्। नाऽपि घटाद्युपादानत्वम्, घटादीनां पृथिव्यादिकार्यत्वादिति चेद्, मैवम्; विमताः पृथिव्यप्तेजोवायवः जायन्ते, पृथिव्यप्तेजोवायुबुद्धिगोचरत्वात्, संप्रतिपन्नपृथिव्यप्तेजोवायुभागवत्। आकाशकालदिगादयो

आ जाती है। दूसरे कल्पसे उक्त अतिव्याप्ति भी नहीं हो सकती, कारण कि जगत्कारणत्वरूप लक्षणका तटस्थ लक्षणके रूपसे मायामें समन्वय नहीं हो सकता। [जगत्कारणत्वरूप तटस्थ लक्षण औपचारिक उपादानका ही हो सकता है; माया तो उक्त तीनों प्रकारोंमें से किसी भी प्रकारसे औपचारिक उपादान नहीं है।] इसलिए जगत्कारणत्वरूप तटस्थ लक्षणके द्वारा और ज्ञान, आनन्द आदि स्वरूप लक्षणके द्वारा विशुद्ध ब्रह्मकी सिद्धि हो सकती है।

शङ्का—ब्रह्मका पृथिवी आदि भूतोंके प्रति उपादानकारणत्वरूप लक्षण नहीं हो सकता, कारण कि पृथिवी आदि भूतोंकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती है। और उसका घट आदि भौतिक द्रव्योंके प्रति उपादानत्वरूप लक्षण भी नहीं बन सकता, कारण कि घट आदि भौतिक द्रव्य तो पृथ्वी आदि भूतोंके कार्य हैं, [इसलिए भौतिक द्रव्योंके उपादान पृथ्वी आदि भूत ही होंगे, ब्रह्म नहीं होगा]।

समाधान—उक्त आशङ्का युक्त नहीं है, कारण कि पृथ्वी आदि भूतोंकी उत्पत्ति प्रथम तो अनुमानसे सिद्ध है—[साधक अनुमान प्रयोग दिखलाते हैं—] 'विमत पृथ्वी, जल, तेज और वायु उत्पन्न होते हैं; पृथ्वी, जल, तेज और वायु—इस बुद्धिके विषय होनेसे; उभयवादिसम्मत पृथ्वी, जल, तेज, और वायु—इन भूतोंके एकदेश—अवयव—के सदृश। [वादी और प्रतिवादी अवयवभूत वृक्ष, पाषाण आदिकी उत्पत्ति मानते हैं; अतः इसको दृष्टान्त मानकर पृथ्वी आदि अवयवी भूतोंकी भी उत्पत्ति माननी चाहिए। निरवयव आकाश आदि पदार्थ-साधारण उत्पत्तिका साधक अनुमान दिखलाते हैं—] आकाश, काल और दिग् आदि भी उत्पन्न होते हैं, विभक्त—एक दूसरेसे भिन्न-भिन्न—होनेसे,

जायन्ते, विभक्तत्वाद्, घटादिवत्। ननु प्रत्यनुमानमस्ति—पृथिव्यादयो न जायन्ते, महाभूतत्वात्, आकाशवत्। आकाशश्च न जायते, निरवयवद्रव्यत्वात्, आत्मवत्, इति चेद्, मैवम्; सामान्यविषयान्महाभूतत्वहेतोरपि विशेषविषयस्य पृथिवीबुद्धिगोचरत्वस्य बलीयस्त्वाद्। तदुक्तं भट्टाचार्यैः—

'बाधः सामान्यशास्त्रस्य विशेषविषयाद्यथा।
अनुमानान्तरैरेवमनुमानस्य बाधनम् ॥' इति।

घटादिके समान [जैसे घट, पट आदि यावत् विभक्त पदार्थ उत्पन्न होते देखे जाते हैं, वैसे ही आकाशादिमें भी विभक्तत्व होनेसे उनकी उत्पत्ति माननी होगी, इस अनुमानसे अवयवरहित अथवा सावयव सभी भूतोंकी उत्पत्ति सिद्ध की गई]।

शङ्का—उक्त अनुमानका विरोधी अनुमान है—'पृथ्वी आदि उत्पन्न नहीं होते हैं, कारण कि आकाशके समान वे सब महाभूत हैं *। [निरवयव भूतोंकी अनुत्पत्ति सिद्ध करते हैं—] आकाश उत्पन्न नहीं होता, अवयवशून्य द्रव्य होनेसे, आत्माके समान।

समाधान—सामान्यविषयक महाभूतत्वरूप हेतुकी अपेक्षा विशेषविषयक पृथ्वीबुद्धिगोचरत्वरूप हेतु बलवान् है। इस विषयमें भट्टाचार्य महाशयने कहा है—

'जैसे विशेषविषयक शास्त्रसे सामान्यविषयक शास्त्रका बाध होता है, वैसे ही दूसरे (विशेषविषयक) अनुमानोंसे सामान्यविषयक अनुमानका बाध हो जाता है।'

---

* आकाशके दृष्टान्तसे पृथ्वी आदिकी अनुत्पत्ति सिद्ध की गई है और इससे अव्यवहित पूर्व पङ्क्तिमें विभक्तत्वरूप हेतुसे आकाशकी उत्पत्ति सिद्ध की गई है, अतः विरोध-सा प्रतीत होता है, परन्तु यह अग्रिम अनुमान पूर्व अनुमानका विरोधी है—पूर्वमें विभक्तत्व हेतुसे वादीने उत्पत्ति दिखलाई है और प्रतिवादी महाभूतत्वरूप हेतुसे आकाशके दृष्टान्त द्वारा अनुत्पत्ति सिद्ध करता है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रतिवादी वादीके तर्कको सहसा स्वीकार कर ले, अथवा यह अगला आकाशादिकी उत्पत्ति सिद्ध करनेवाला अनुमान मूलभूत विवरणमें न होते हुए भी प्रमेयकार द्वारा सावयव-निरवयव-भूतसाधारणकी उत्पत्ति सिद्ध करनेके लिए उट्टङ्कित किया गया है, अतः आगे दिये जानेवाले समाधानमें विभक्तत्वरूप हेतुका उल्लेख न करते हुए केवल पृथ्वीबुद्धिगोचरत्वका ही उल्लेख किया गया है। अन्यथा विभक्तत्व हेतुसे आकाशकी उत्पत्ति सिद्ध होनेके अनन्तर प्रत्यनुमानमें अनुत्पत्तिके साधनमें आकाश कैसे दृष्टान्त हो सकता ?

आकाशजन्माभावानुमाने श्रुतिविरोधः साधनविकलश्च दृष्टान्तः, निर्गुणात्मनि गुणवत्त्वलक्षणस्य द्रव्यत्वस्याऽभावात्। तस्मात् जायमानपृथिव्यादिकृत्स्नजगदुपादानत्वं ब्रह्मलक्षणम्।

ननु वादिनो जगदुपादाने विप्रतिपद्यन्ते। तथाहि—विमताः सर्वे विकाराः, सुखदुःखमोहसामान्यप्रकृतिकाः, तदन्वितस्वभावत्वाद्, ये यदन्वितस्वभावास्ते तत्प्रकृतिकाः, यथा मृदन्विता मृत्प्रकृतिकाः शरावादयः। तथा विमताः सर्वविकारा अविभक्तैकप्रकृतिकाः, परिमितत्वात् अनेकत्वात् विकारत्वाच, शरावादिवत्, इति सांख्याः प्रधानं जगदुपादानमनुमिमते।

विमतं कार्यद्रव्यं स्वपरिमाणादणुतरपरिमाणारब्धम्, कार्यद्रव्यत्वात्,

---

और आकाशकी उत्पत्तिके अभावको सिद्ध करनेवाले अनुमानमें श्रुतिका विरोध और साधन-शून्य दृष्टान्त हो जाता है, कारण कि निर्गुण आत्मामें गुणवत्त्वरूप द्रव्यत्वका अभाव है। इन दोनों बातोंके कारण अनुमान दुर्बल हो जाता है। [अनुमानकी पुष्टि आगमसे होनी आवश्यक है और दृष्टान्तको हेतुशून्य भी नहीं होना चाहिए]। इसलिए उत्पन्न होनेवाले पृथ्वी आदि सम्पूर्ण जगत्‌का उपादान होनारूप ब्रह्मका लक्षण सिद्ध होता है।

शङ्का—जगत्‌के उपादानके विषयमें वादियोंका विवाद (विरुद्ध मत) है कि विमत सकल विकार (भूत, भौतिक) सुख, दुःख और मोह साधारण प्रकृतिवाले हैं [अर्थात् सब विकारोंकी प्रकृति—उपादान—सामान्यतः सुख-दुःख-मोहात्मक है], कारण कि वे उससे—सुख-दुःख-मोहसामान्यसे—युक्त स्वभाववाले हैं। जो जिन गुणोंसे युक्त स्वभाववाले होते हैं, उन सबकी उन्हीं गुणोंसे युक्त प्रकृति (उपादान) होती है। जैसे कि मिट्टीरूप सामान्यसे युक्त मिट्टीसे बने हुए घड़े और सकोरे आदि। तथा विमत सम्पूर्ण विकारोंकी मिली हुई एक ही प्रकृति—उपादान—है, कारण कि वे परिमित—नाप-तोल वाले—अनेक तथा विकार कहलाते हैं, सकोरे आदिके समान' इस प्रकार अनुमान द्वारा सांख्यवादी प्रधान—त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति—को ही विश्वका उपादान (मूल प्रकृति) मानते हैं।

परमाणुवादी नैयायिक—'विमत कार्य द्रव्य (घट, पट आदि भौतिक कार्य) अपने

पटवत् इति परमाणूंस्तद्वादिनः कल्पयन्ति ।

सर्वं कार्यमभावपुरःसरम्, योग्यत्वे सत्यनुपलभ्यमानपूर्वावस्थत्वात्, व्यतिरेके परपरिकल्पितात्मवत्, इति शून्यं शून्यवादिनो वदन्ति ।

योगाः शैवाश्च स्वकीयागमसामर्थ्याद्धिरण्यगर्भं पशुपतिं चाऽऽहुरिति ।

तदयुक्तम्—आन्तराणां सुखादीनां बाह्यानां घटादीनां च प्रत्यक्षतो भेदप्रतीतौ सुखदुःखमोहसामान्यान्वितत्वहेतोरसिद्धत्वात् । घटादिविकाराः सुखदुःखमोहात्मकाः, स्वाभिव्यञ्जकचित्तोपाधौ सुखाद्याकारप्रतिभासहेतुत्वाद्, यथा दर्पणोपाधौ मुखाकारप्रतिभासहेतुर्मुखात्मको

परिमाणकी अपेक्षा छोटे परिमाणवालेसे उत्पन्न हुआ है, क्योंकि वह कार्यद्रव्य है, जैसे कि पट,—इस प्रकारके अनुमानसे परमाणुको विश्वके प्रति उपादान मानते हैं ।

शून्यवादी बौद्ध कहते हैं कि सकल कार्यजात अभावपुरस्सर है अर्थात् अभावसे ही उत्पन्न हुआ है, कारण कि योग्यता होनेपर भी पूर्वावस्थाकी उपलब्धि नहीं होती [यदि उसकी पूर्वावस्था—कारणावस्था—भावरूप होती, तो उसकी उपलब्धि होती, अतः उसकी पूर्वावस्थाको अभावरूप ही मानना चाहिए, इसमें व्यतिरेक दृष्टान्त है—दूसरे वादियोंके द्वारा कल्पित आत्मा, इस प्रकार अनुमानसे शून्य ही जगत्का उपादान सिद्ध होता है ।

योगशास्त्रवेत्ता तथा शैवागमके अनुयायी अपने-अपने शास्त्रोंके बलपर हिरण्यगर्भ या पशुपतिको उपादान मानते हैं ।

समाधान—वादियोंका उक्त मत युक्त नहीं है, कारण कि आन्तर—भीतरी—सुखादि और बाह्य—बाहरी—घट आदि पदार्थोंके भेदका प्रत्यक्ष ज्ञान होनेसे सुख, दुःख तथा मोह सामान्यसे अन्वित होनारूप हेतु सिद्ध नहीं होता है । [यदि सभी विकार सुख-दुःख-मोहसामान्यवाले समान ही होते और आभ्यन्तर सुख, दुःख आदि विकारोंमें और बाह्य घट, पट आदि विकारोंमें भेदका प्रत्यक्ष नहीं होता] ।

शङ्का—'घट आदि विकार सुख-दुःख-मोह-सामान्यात्मक हैं, कारण कि ये अपने—सुख, दुःख आदिके—अभिव्यञ्जक—अनुभव करानेवाले—चित्तरूप उपाधिमें सुखादि आकारके प्रतिभासके कारण हैं । [यदि बाह्य घटादि

बिम्ब इति हेतुसिद्धिरिति चेद्, नः तथा सत्येकमेव पदार्थमुपलभमानस्य युगपत्सुखादित्रितयोपलम्भप्रसङ्गात्। अदृष्टवशादेकोपलम्भ इति चेद्, नः अदृष्टेन वस्तुसामर्थ्यनियमायोगात्। नह्यदृष्टवशात् पाषाणो मृदुर्भवति। अदृष्टस्य वस्तुसामर्थ्यानियामकत्वेऽप्युपलम्भनियामकत्वमस्त्येवेति चेद्, एवमपि सुखादिसामान्यान्वितत्वहेतुरनैकान्तिकः। शुक्लादिगुणैर्घटत्वादिसामान्यैश्चाऽन्वितानां द्रव्याणां तत्प्रकृतित्वादर्शनात्। परिमितत्वमपि वस्तुकृतं चेत्, प्रधानपुरुषयोर्नित्ययोरनैकान्तिकता।

न हों, तो उनके उपभोगसे उत्पन्न हुए सुखादिका प्रतिभास अन्तःकरणमें हो ही नहीं सकता अर्थात् अन्तःकरणकी सुखादिरूप वृत्ति ही नहीं होगी, जैसे दर्पणरूप उपाधिमें मुखाकार प्रतिभासका कारण बिम्बभूत मुखस्वरूप होता है' इस अनुमानसे उक्त हेतुकी सिद्धि हो जायगी।

समाधान—उक्त हेतुसाधक अनुमानको प्रमाण मानकर यदि सभी पदार्थ सुख-दुःख-मोहसामान्यसे युक्त माने जायँ, तो किसी भी एक पदार्थकी उपलब्धि करनेवाले पुरुषको एक ही कालमें सुख, दुःख तथा मोह तीनोंके अनुभवका प्रसङ्ग आ जायगा। अदृष्ट—प्रारब्धविशेष—के कारण सुखादिमें से एकका ही अनुभव होता है, ऐसी व्यवस्था भी नहीं की जा सकती, कारण कि अदृष्टके द्वारा वस्तुस्वभावकी सामर्थ्यका नियमन नहीं हो सकता। [वस्तुका स्वभाव यदि सुखादिस्वरूप है, तो उनमें से दो की निवृत्ति अदृष्ट कैसे कर सकेगा]। अदृष्टके बलसे पत्थर कोमल नहीं हो सकता। अदृष्ट वस्तुसामर्थ्यका नियामक न होनेपर भी अनुभवका नियामक तो है, ऐसा यदि मान भी लिया जाय, तो भी सुखादिसामान्यसे अन्वित होनारूप हेतुमें व्यभिचार आ ही जाता है; [कारण कि सुखादिकी सत्ता उपलम्भसे अतिरिक्त नहीं होती है। यदि उपलम्भ नहीं है, तो सुखादिकी स्थिति भी नहीं है] और शुक्ल आदि गुणोंसे अथवा घटत्व आदि सामान्यसे अन्वित घटादि द्रव्योंकी प्रकृति शुक्लादि गुण और घटत्व आदि सामान्य नहीं हैं।

परिमितत्व हेतुका खण्डन करते हैं—यदि परिमितत्व भी वस्तुके कारण होता हो, तो नित्यस्वरूप प्रधान—सांख्यसम्मत त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति—और पुरुष—आत्मा चेतन—इन दोनोंमें ही व्यभिचार है। [अर्थात् उक्त दोनों

देशकालकृतं चेद्, घटहिमकरकादिषु प्रत्यक्षदृष्टभिन्नप्रकृतिकेष्वनेकान्तम् । एतेनाऽनेकत्वविकारत्वहेतू व्याख्यातौ । कार्यद्रव्यत्वं च दीर्घविस्तीर्णदुकूलद्वयारब्धे सङ्कुचिते रज्जुद्रव्येऽनैकान्तिकम् । अथ दुकूलद्वयसंयोगमन्तरेण रज्जुद्रव्यं नामाऽन्यन्नाऽस्ति तथापि तत्प्रत्यनुमानग्रस्तम् । विमतं द्व्यणुकं सावयवारब्धम्, सावयवत्वाद्, घटवत् इति हि प्रतिप्रयोगः । शून्यवादिनोऽपि घटस्य पूर्वावस्थारूपा मृत् प्रत्यक्षोपलब्धेत्यसिद्धो हेतुः। योगशैवागमास्तु वेदविरोधादप्रमाणम् ।

वस्तुएँ तो हैं ही, परन्तु इनमें परिमितत्व नहीं है]। देश या कालके कारण परिमितत्व माना जाय, तो भी जिनकी प्रकृति प्रत्यक्ष भिन्न भिन्न दीखती है, ऐसे घट, हिम (बरफ), करक (ओले पत्थर) आदिमें साध्यका (एकप्रकृतिकत्वका) व्यभिचार है । [वस्तुकृत परिमितत्व न मान कर काल या देशकृत माननेसे पुरुष और प्रकृतिमें से व्यभिचारका वारण होनेपर भी घट हिमादिमें देशकालकृत परिमितत्व रहता है और उनमें साध्य नहीं है, अतः साध्यवदवृत्ति होनेसे व्यभिचरित हेतु हो गया, क्योंकि घटकी प्रकृति मिट्टी है और हिमकी प्रकृति जल है, ऐसा प्रत्यक्ष सिद्ध है ।] इसीसे अनेकत्व और विकारत्वरूप हेतुका भी व्याख्यान हो गया [अर्थात् घट, हिमादिमें अनेकत्व और विकारत्वके रहनेपर भी साध्य—अविभक्तैकप्रकृतिकत्व—नहीं है] और परमाणुवादियोंका कार्यद्रव्यत्वरूप हेतु भी लम्बी और चौड़ी दो धोतियोंके समेटनेसे बने हुए रस्सीरूप द्रव्यमें व्यभिचरित है । [अर्थात् उक्त रज्जुरूप कार्यद्रव्यका उपादान दो लम्बी और चौड़ी धोतियां है, परमाणु नहीं है] यदि कहा जाय कि रज्जुनामक द्रव्य दो रज्जुओंके संयोगसे अतिरिक्त कोई कार्य द्रव्य नहीं है, तो भी उक्त कार्यद्रव्यत्वहेतुक अनुमान प्रत्यनुमानग्रस्त है । [अर्थात् कार्यद्रव्यत्व हेतु सत्प्रतिपक्षरूप हेत्वाभाससे आक्रान्त है] उस प्रतिपक्षी अनुमानका इस प्रकार प्रयोग है—'विमत द्व्यणुक (कार्यद्रव्य) अवयवसहित पदार्थसे बना है, कारण कि वह द्व्यणुक अवयवविशिष्ट है, घटके समान । शून्यवादीका भी 'योग्यत्वे सति अनुपलभ्यमानपूर्वावस्थत्वरूप' हेतु असिद्ध है कारण कि घटकी पूर्वावस्थारूप मिट्टीका प्रत्यक्ष दर्शन होता है । योग अथवा शैव शास्त्र तो वेदके साथ विरोध आनेसे प्रमाणभूत ही नहीं हैं ।

ननु वादिनां प्रमाणानुपपत्तावपि न प्रमेयानुपपत्तिः, नहि चक्षुरुपद्रवमात्रेण दृश्यरूपादिहानिर्दृष्टेति चेद्, न; प्रमेयस्याऽप्यन्यदीयस्य दुर्निरूपत्वात्। किं केवलं प्रधानादि जगत्कारणम् उतेश्वराधिष्ठितम् ? नाऽऽद्यः; अचेतनस्य प्रतिनियतरचनानुपपत्तेः। द्वितीयेऽपि तस्येश्वरस्य श्रुतिसिद्धत्वे ब्रह्मवादप्रसङ्गः। अनुमानगम्यत्वे कुलालादिदृष्टान्तेनैव परिच्छिन्नज्ञानशक्तित्वं स्यात्। अथ कुलालादिवदनेकत्वाभावादेकस्य सर्वजगत्स्रष्टुस्तस्य सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वे अर्थात् भविष्यतः। एवमपि विमतं जगज्जीवेश्वरा-

---

शङ्का—वादियोंको प्रमाणकी उपपत्ति न होनेपर भी प्रमेयकी उपपत्तिका अभाव नहीं हो सकता। [यदि वादी अपने अपने सिद्धान्तसम्मत जगत्के उपादानभूत परमाणु आदिमें प्रमाण नहीं दे सकते, तो इसका यह तात्पर्य नहीं मानना चाहिए कि प्रमेय ही नहीं है, क्योंकि प्रमाणके अभावमें भी प्रमेय रहता है, इसको दृष्टान्तसे सिद्ध करते हैं—] आँखमें खराबी आ जानेसे ही दृश्यरूप आदिकी हानि नहीं देखी गई है।

समाधान—दूसरे वादियोंके सम्मत प्रमेयका निरूपण भी नहीं हो सकता, [प्रमाणके अभावमात्रसे प्रमेयका अभाव नहीं कहा जा रहा है, परन्तु प्रमेय ही नहीं है, इस प्रकार प्रमेयकी दुर्निरूपता भी दिखलाते हैं—] क्या प्रधानादि केवल (अन्यनिरपेक्ष होकर) विश्वके कारण होते हैं ? अथवा ईश्वरके अधीन होकर कारण होते हैं ?। इनमें प्रथम कल्प नहीं मान सकते, कारण कि अचेतनसे व्यवस्थित रचना नहीं बन सकती। दूसरे पक्षके माननेमें भी यदि वह अधिष्ठानभूत ईश्वर श्रुतिसे सिद्ध है, तो ब्रह्मवादका प्रसङ्ग आ जाता है। [अर्थात् श्रुतिमें मायाधिष्ठान सृष्टिकर्ता ईश्वर ब्रह्म ही कहा गया है, अतः ब्रह्मोपादानक जगत् सिद्ध होता है]। यदि उसको अनुमानगम्य माना जाय, तो कुलाल आदि दृष्टान्तसे ही वह परिच्छिन्न-ज्ञानशक्तिवाला हो जायगा। [अर्थात् जैसे घट आदिका कर्ता कुलाल आदि परिमित शक्ति और ज्ञानवाले हैं, वैसे ही सृष्टिकर्ता ईश्वर भी है]। यदि कहा जाय कि जैसे कुलाल आदि घटादिके कर्ता अनेक हैं, वैसे ईश्वर अनेक नहीं हैं, प्रत्युत एक है और जगत्भरका रचयिता है, इसलिए उसकी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता अर्थात् सिद्ध हो जायगी, तो ऐसा कहनेपर भी विमत संसारको जीव

भ्यामुत्पद्यते, कार्यत्वाद् , घटादिवत्, इत्यतिप्रसङ्गो दुर्वारः। अदृष्टद्वारा जीवस्याऽपि जगत्कर्तृत्वादिष्टापत्तिरिति चेत् , तर्हि घटादिवैलक्षण्याय पृथिव्यादौ कर्तृत्रयं प्रसज्येत। शून्यस्य तु निरुपाख्यत्वान्न जगदुपादनत्वसंभावनाऽप्यस्ति, जगतः सदन्वयात् । सदन्वयः संवृत्तिकल्पित इति चेद् , एवमपि त्वन्मते निरन्वयविनाशवतः पूर्वकल्पस्य संस्कारासंभवेन तत्सदृशो वर्त्तमानकल्प इति नियमो न स्यात् । ततश्च कर्मतत्फलतत्प्रमाणव्यवहारोच्छेदः । विशिष्टसंनिवेशयुक्तदेवादिभावकामनयाऽनुष्ठितकर्मणां कल्पान्तरे तथाविधदेवादिरूपानुत्पत्तेः कर्मोच्छेदः। अत्यन्तपुण्यकारिण आकल्पं स्वर्गमनुभूय कल्पान्तरे पूर्वजातिस्मरणपूर्वकं जन्म श्रुतौ फलत्वेन श्रुतं तच्च फलं निरन्वयविनाशे संस्काराभावान्न

और ईश्वर दोनोंने बनाया है, कार्य होनेसे, घट आदिके तुल्य' इस प्रत्यनुमानसे जीव भी संसारका कर्ता है, ऐसा अतिप्रसङ्ग नहीं हटाया जा सकता। जीव भी अदृष्ट द्वारा संसारका कर्ता है, इस प्रकार यदि इष्ट ही माना जाय, तो घटादिसे वैलक्षण्य—भेद—दिखलानेके लिए पृथ्वी आदि कार्यके प्रति तीन कर्ताओंका प्रसङ्ग होगा। निरुपाख्य होनेसे शून्यमें तो संसारके उपादानत्वकी सम्भावना भी नहीं हो सकती, कारण कि संसार सत्से अन्वित है। [निरुपाख्यमें सत्की अनुवृत्ति बाधित है और जगत्के साथ 'सन् घटः, सन् पटः' इत्यादिरूपसे सत्की अनुवृत्ति होती है]। यदि सत्का अन्वय संवृत्तिके द्वारा माना जाय, तो भी तुम्हारे (शून्यवादीके) मतमें अन्वयशून्य विनाशशाली पूर्व कल्पके संसारका सम्भव न होनेसे उसीके सदृश वर्तमान कल्प है, ऐसा नियम नहीं बन सकता। इससे कर्म, कर्मफल तथा उसके प्रमाण आदिका सब व्यवहार नष्ट हो जायगा। [प्रत्येक व्यवहारके विनाशका प्रकार दिखलाते हैं—] विशिष्ट आकृतिसे युक्त देवादिभावकी इच्छासे किये गये कर्मोंका दूसरे कल्पमें उसी प्रकार देवादिरूपकी उत्पत्ति न होनेसे कर्मोंका विनाश हो जायगा। अत्यन्त (अधिक) पुण्य करनेवाले पुरुषके लिए श्रुतिमें ऐसा पुण्यफल कहा गया है कि कल्पपर्यन्त स्वर्गका उपभोग करनेके अनन्तर दूसरे कल्पमें अपनी पूर्व जातिका स्मरण रख कर वह जन्मग्रहण करता है। उस श्रुति द्वारा कथित फलका अनुवृत्ति रहित विनाश होनेपर संस्कारके न हो सकनेसे सम्भव

संभवेत् । तथा पूर्ववेदस्य निरन्वयविनाशे सति धर्मस्य मानान्तरागम्यत्वेन तद्गोचरनूतनपदरचनायाः पुरुषैः कर्त्तुमशक्यतया धर्मप्रमाणमप्युच्छिद्येत । तदङ्गीकारे च तथैव तदभिमतकर्मतत्फलतत्प्रमाणानामप्युच्छेदः स्यात् ।

सर्वं कार्यं स्वभावादेवोत्पद्यत इति बार्हस्पत्यो मन्यते । स प्रतिवक्तव्यः—किं स्वयमेव स्वस्य निमित्तमित्यर्थः, किं वा निर्निमित्तमुत्पद्यत इति ? नाऽऽद्यः, आत्माश्रयत्वात् । द्वितीये घटस्य भावाभावौ युगपत्स्याताम् , क्रमकारिनिमित्तनिरपेक्षत्वात् । अथ मन्यसे त्वन्मतेऽपि तस्य निमि-

---

नहीं है । एवं पूर्व कल्पके वेदका अन्वयशून्य विनाश हो जानेपर धर्ममें प्रमाणका भी उच्छेद हो जायगा, कारण कि वेदमें आई हुई तादृश नूतन पदोंकी रचना पुरुषोंके द्वारा नहीं की जा सकती। और धर्मको वेदसे अतिरिक्त दूसरे किसी प्रमाणसे जान भी नहीं सकते, इसलिए निरन्वय विनाश नहीं मान सकते । यदि निरन्वय विनाशका अङ्गीकार करोगे, तो उनके—निरन्वय विनाश माननेवाले बौद्धके—अभिमत कर्म, उनका फल तथा उनमें प्रमाणभूत धर्मग्रन्थोंके व्यवहारका भी विनाश हो जायगा । [तात्पर्य यह है कि इससे पूर्व प्रघट्टकमें कहा है कि वेदोक्त कर्म, फल आदि तथा वेदप्रमाणके उच्छिन्न होनेसे बौद्धका कोई अपसिद्धान्त आदि दोष नहीं आ सकता, वह तो प्रसन्नतासे इष्टापत्ति कह देगा, परन्तु वेदान्तीका कहना है कि बौद्ध भी कर्म, कर्मफल तथा उनमें प्रमाणभूत धर्मग्रन्थ तो अपने मतमें मानता ही है, अतः उनके भी अभिमतका उच्छेद होगा, इसलिए इसमें इष्टापत्ति भी नहीं मान सकते ।

बृहस्पतिका—चार्वाकका—मत है कि सम्पूर्ण कार्य स्वभावसे ही उत्पन्न होता है, [पृथ्वी आदि भूतोंका अपना रूप ही ऐसा है जैसा कि दीख रहा है, उसको किसीने बुद्धिपूर्वक रचा नहीं है ।] परन्तु उससे प्रश्न करना चाहिए कि स्वभावसे उत्पन्न होता है, इसका यह अभिप्राय है कि स्वयं अपना निमित्त है ? अथवा निमित्तके बिना ही उत्पन्न हो जाता है ? इनमें प्रथम कल्प तो माना नहीं जा सकता, कारण कि ऐसा माननेसे आत्माश्रय दोष होगा। दूसरे पक्षके माननेमें घटके भाव—उत्पत्ति—और अभाव—विनाश—दोनों एक ही कालमें होने चाहिएँ, कारण कि क्रमशः कार्य करनेवाले निमित्तकी उसमें अपेक्षा ही नहीं है । [नास्तिक स्वभाववादी

तस्य क्रमकारित्वं स्वाभाविकं चेत्स्वभाववादः। निमित्तान्तरसापेक्षत्वेऽनवस्थापातः। कालभेदेन तस्यैव क्रमकार्यवस्थाङ्गीकारेऽपि स कालक्रमः स्वाभाविकश्चेत् स्वभाववादः। निमित्तान्तरापेक्षश्चेदनवस्थेति। तदसत्; किमनेनाऽवस्थापादनेन वस्तूनां सामर्थ्यस्य निमित्तान्तरनिरपेक्षत्वमुच्यते किं वा सति वस्तूनां सामर्थ्ये निमित्तान्तरानुसरणं व्यर्थमिति? आद्योऽङ्गीकृत एव। द्वितीयेऽपि किं निमित्तान्तरापेक्षत्वं न प्रतीयत इत्युच्यते

जब निमित्तकी अपेक्षा न रखकर ही कार्यकी उत्पत्ति मानता है, तब उत्पत्ति और विनाश एक साथ ही क्यों न हो जायँ]।

शङ्का—यदि माना जाय कि तुम्हारे वेदान्तीके मतमें भी यदि उस निमित्तका क्रमशः कार्य करना स्वभाव है, तो स्वभाववाद सिद्ध हुआ [इससे अन्तर्गड्ड निमित्तान्तर मानना अधिक हुआ]। यदि उसमें दूसरे निमित्तकी अपेक्षा है, तो अनवस्था दोष आ जाता है। [क्योंकि नियामक निमित्तान्तरोंकी अन्वेषणपरम्परा लगी ही रहेगी]। और यदि कालभेदसे उस निमित्तकी क्रमसे कार्य उत्पन्न करनेकी अवस्था मान भी ली जाय, तो भी वह कालक्रम यदि स्वभावसिद्ध है, तो पुनः वही स्वभाववाद आ जाता है। यदि दूसरे निमित्तकी अपेक्षा मानी जाय, तो अनवस्था दोष बना ही है।

समाधान—नास्तिकका उक्त आरोप उचित नहीं है, कारण कि इस अवस्थाका प्रतिपादन करनेसे क्या प्रयोजन? [अर्थात् हमारे ऊपर आरोप करना कि निमित्तकी क्रमशः कार्य करनेवाली अवस्थाका निरूपण नहीं किया जा सकता, यह उचित नहीं है] हमें तो पूछना है कि वस्तुओंकी—पदार्थोंकी—सामर्थ्य दूसरे निमित्तकी अपेक्षा नहीं रखती है, ऐसा कहा जा रहा है? [अर्थात् वस्तु अपने कार्यकरत्वरूप सामर्थ्यके लिए दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखती, क्योंकि वस्तुसामर्थ्य स्वतःसिद्ध है] अथवा कार्य करनेके लिए वस्तुसामर्थ्यके रहते दूसरे निमित्तका अनुसरण करना व्यर्थ है? [इन दोनों प्रकारोंमें कौनसा स्वभाववादी तुम्हारा मत है?] प्रथम कल्प तो माना ही गया है। [क्योंकि वस्तुसामर्थ्य दूसरे हजार निमित्तोंसे भी नहीं उत्पन्न हो सकती, सहस्र प्रयत्न करनेपर भी सिकतासे तेल नहीं पा सकते] दूसरे पक्षमें भी प्रश्न होता है कि क्या कार्यको अपनेसे दूसरे निमित्तकी अपेक्षा रखना प्रतीत नहीं होता? अथवा प्रतीत होता हुआ भी उसका निरूपण

किं वा प्रतीतमपि दुर्निरूपमिति ? नाऽऽद्यः, प्रत्यक्षविरोधात् । घटमारभमाणस्य कुम्भकारस्य दण्डचक्राद्यपेक्षायाः प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । न द्वितीयः, सर्वानिर्वाच्यत्ववादिनो दुर्निरूपत्वस्याऽलंकारत्वात् । भूतचतुष्टयमेव तत्त्वं प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणं स्वभाववाद एव पारमार्थिक इति मन्यमानस्य तत्र प्रतिज्ञातार्थे हेतूपन्यासे सनिमित्तत्वप्रसङ्गः । अनुपन्यायसे च प्रतिज्ञातार्थासिद्धिः । प्रतीतिमात्रशरणत्वे चाऽनिर्वचनीयवादापातः । तदेवं वस्त्वन्तरस्य कारणत्वसम्भावनानिराकरणे पारिशेष्यादस्मदुक्तः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरीश्वर एव कारणमित्येतादृशी युक्तिरपि ब्रह्मस्वरूपनिर्णयायाऽनेनैव सूत्रेण तन्त्रेणाऽऽवृत्त्या वा सूत्रितेति द्रष्टव्यम् । अनया च युक्त्या यथोक्तब्रह्मसंभावनायां पश्चादागमेन तत्साधयितुं शक्यम् । यथाऽऽहुः—

नहीं किया जा सकता ? इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, कारण कि इसके माननेमें प्रत्यक्षसे विरोध आता है, क्योंकि घटको रचनेवाले कुलाल—कुम्हार—को दण्ड, चक्र आदिकी अपेक्षा प्रत्यक्ष दीखती है । दूसरा पक्ष नहीं माना जा सकता, कारण कि विश्व भरके सभी पदार्थोंको अनिर्वचनीय कहनेवाले वेदान्तीके मतमें उसका निरूपण न हो सकना तो अलङ्कार ही है । [कार्यको निमित्तानपेक्ष माननेमें और भी दोष देते हैं—] चार भूत—पृथ्वी, जल, तेज और वायु—ही पदार्थ हैं, एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, स्वभाववाद पारमार्थिक— सत्य सिद्धान्त—है, इस प्रकार सिद्धान्त माननेवाले तुम यदि अपने प्रतिज्ञात विषयकी पुष्टिमें हेतु दिखलाते हो, तो वस्तुकी सिद्धिमें निमित्तसहित होनेका प्रसङ्ग होगा । यदि हेतु नहीं दिखलाया जाता, तो अपने प्रतिज्ञात अर्थकी सिद्धि नहीं हो सकती । यदि केवल प्रतीतिके बलका आधार लिया जाय, तो अनिर्वचनीयवादका मानना ही हो जाता है । इस प्रकार ब्रह्मसे दूसरी वस्तुके कारण होनेकी सम्भावनाका निराकरण—खण्डन—हो जानेसे अन्तमें हमारे सिद्धान्तके अनुसार सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर ही संसारका कारण हैं, इस प्रकारकी युक्ति भी ब्रह्मस्वरूपका निर्णय करनेके लिए इसी सूत्रसे तन्त्र अथवा आवृत्तिके द्वारा दिखलाई गई है, यह समझना चाहिए । इस युक्तिके द्वारा कथितके अनुसार ब्रह्मकी सम्भावना सिद्ध होनेके अनन्तर शास्त्र द्वारा उसकी सिद्धि हो सकती है । जैसा कि शास्त्रकारोंने कहा है—

'सम्भावितः प्रतिज्ञायां पक्षः साध्येत हेतुना ।
न तस्य हेतुभिस्त्राणमुत्पतन्नेव यो हतः ॥' इति ।

नन्वनुमानादेव यथोक्तेश्वरसिद्धो किमाभ्यां युक्त्यागमाभ्याम् । न च सत्यागमेऽनुमानप्रयासवैयर्थ्यमिति वाच्यम्, 'यतो वा' इत्याद्यागमस्याऽनुमानसिद्धार्थानुवादकत्वात् । अनुमानं चैवं प्रयोज्यम्—विमतं जगद् उपादानोपकरणाद्यखिलाभिज्ञकर्तृकम्, कार्यत्वाद्, गृहवत्, इति वैशेषिकैरुच्यत इति चेद्, नः विमतं जगद्बहुकर्तृकमसर्वज्ञकर्तृकं वेत्यतिप्रसङ्गस्याऽपि तद्वत्सुसाधत्वात् ।

ज्ञानैश्वर्यशक्तय उत्कृष्यमाणाः क्वचित्पर्यवसिताः, उत्कृष्यमाणधर्मत्वात्, परिमाणवत्, इति सांख्या योगाश्च वदन्तीति चेद्, नः निरीश्व-

प्रतिज्ञावाक्यमें सम्भावनासे माने गये पक्षका हेतुबलसे साध्ययुक्त होना समर्थित किया जाता है। उस पक्षकी रक्षा अनेक हेतुओंके द्वारा भी नहीं हो सकती जो प्रतिज्ञामें आते आते न ठहर सके [अर्थात् जिसकी सम्भावना ही नहीं है, ऐसे प्रतिज्ञात अर्थकी पुष्टिके लिए हेतुका उपन्यास करना व्यर्थ ही होता है]।

शङ्का—अनुमान द्वारा ही कथित ईश्वरकी सिद्धि हो सकती है, इसके लिए इन युक्ति और शास्त्रोंके उपन्यासकी क्या आवश्यकता है? आगमके रहते हुए अनुमान करनेका प्रयत्न विफल नहीं माना जा सकता, कारण कि 'यतो वा—जिससे कि—' इत्यादि आगम अनुमानसे निर्णीत वस्तुका ही अनुवाद करते हैं। और अनुमानप्रयोग इस प्रकार करना चाहिए—'विमत सभी प्रपञ्च उपादान—समवायी—तथा अन्य निमित्त कारण आदि सब सामग्रीके जाननेवाले कर्तासे रचा गया है, कार्य होनेसे, गृहकी भाँति, ऐसा वैशेषिक कहते हैं।

समाधान—'विमत प्रपञ्च अनेक कर्ताओंसे बनाया गया है, या असर्वज्ञ कर्तासे बनाया गया है, इत्यादि अतिप्रसङ्ग पूर्व अनुमानकी भाँति भली प्रकारसे सिद्ध किया जा सकता है।

'उत्कर्षको प्राप्त होनेवाले ज्ञान, ऐश्वर्य तथा शक्तियां कहींपर चरम वृद्धिको प्राप्त होकर स्थित होती हैं, उत्कर्ष पानेवाले धर्मयुक्त होनेसे परिमाणके तुल्य' इस प्रकार कहनेवाले योग तथा सांख्यवादियोंका और

रत्वादिनां देवादिभिः सिद्धसाधनत्वात् । सर्वविषयज्ञानैश्वर्यशक्तिमति पर्यवसितत्वसाधनेऽपि गुरुत्वरागद्वेषदुःखादिष्वनैकान्तिकता ।

पुण्यपापफलं कर्म तत्फलाद्यभिज्ञेन प्रदीयते, कर्मफलत्वात्, सेवाफलवत्, इति नैयायिका अनुमिमत इति चेद्, नः देवादिभिरेव सिद्धसाधनत्वात् । अतः संभावनाबुद्धिहेतुत्वेनाऽऽगमोपकारिणीमस्मदुक्तां युक्तिमेवाऽज्ञानाद् वैशेषिकादयोऽनुमानं मन्यन्ते । नहि युक्तिरेवाऽनुमानम् । व्याप्त्याभासोऽनुपपत्त्याभास उदाहरणमात्रदर्शनं चेत्येतत्त्रयं संभावनाबुद्धिजनकत्वेन युक्तिरित्युच्यते, अव्यभिचरितव्याप्तिकमर्थनिश्चायकमनुमानम् । अतो

उचित नहीं है' कारण कि निरीश्वरवादीके मतमें देवादिके कारण सिद्धसाधन आ जाता है। [ईश्वरको न माननेवाले तो देवादिको ही परमैश्वर्यादिशाली मानते हैं, इसलिए ज्ञानादिकी उत्कर्षसीमा ईश्वर ही है, ऐसा सिद्ध नहीं हो सकता] सकल-पदार्थ-विषयक ज्ञान तथा ऐश्वर्य एवं शक्तिशालीमें पर्यवसितत्वका—चरम सीमा होनेका—साधन करनेपर भी गुरुत्व (वजन), राग (प्रेम या आसक्ति), द्वेष (अप्रेम) और दुःख आदिमें व्यभिचार आता है। [उक्त गुण ज्ञानादिके तुल्य उत्कर्षशाली होते हुए भी ईश्वरमें पर्यवसित नहीं हैं]। नैयायिकोंका जो यह अनुमान है कि 'पुण्य और पापके फलोंको कर्म तथा उसके फलको जाननेवाला ही देता है, कर्मफल होनेसे, सेवाके फलोंके सदृश', वह भी साधु नहीं है, क्योंकि देव आदिके द्वारा ही इसमें भी सिद्धसाधन आता है, [क्योंकि देवादि भी कर्म तथा फल दोनोंको जानते हैं और कर्मफल देते हैं]। इसलिए सम्भावनाबुद्धिको उत्पादन करनेसे आगमका उपकार करनेवाली [असम्भावनाके निराकरणसे आगममें प्रामाण्यग्रह करानारूप उपकार है।] हमारी कही हुई युक्तिको ही वैशिषिक आदि अन्य वादी अज्ञानसे—भ्रमसे—अनुमान समझ बैठे हैं। केवल युक्तिको अनुमान नहीं कहा जाता। [दोनोंका भेद दिखलानेके लिए प्रथम युक्तिके स्वरूपका उल्लेख करते हैं—] व्याप्ति-सा मालूम पड़ना और अनुपपत्ति-सा प्रतीत होना और उदाहरणमात्र दिखा देना, इन तीनोंको, सम्भावनाबुद्धिके उत्पादक होनेसे, युक्ति कहते हैं। [अनुमानका स्वरूप कहते हैं—] व्यभिचारशून्य, व्याप्तियुक्त और अर्थका निश्चय करनेवाला अनुमान होता है। इस कारण

वैशेषिकादिप्रयोगाणां सत्यप्यनुमानदोषे श्रुतिसिद्धब्रह्मणि संभावनाबुद्धिहेतुत्वेनाऽस्मदुक्तयुक्तित्वमविरुद्धम् ।

एवं तर्हि युक्तिव्याजेन वैशेषिकाद्यभिमतमनुमानमेव जन्मादिसूत्रे ब्रह्मनिश्चायकत्वेनोपन्यस्तमिति चेद्, अनुमानमात्रात्कारणसद्भावमात्रसिद्धावपि सत्यज्ञानादिरूपस्य ब्रह्मण आगममन्तरेणाऽसिद्धेरागमग्रथन एव सूत्रतात्पर्यात् । आगमवाक्यानि हि वक्ष्यमाणसूत्रैः उदाहृत्य तात्पर्यतो निर्णीयन्ते, ब्रह्मसाक्षात्कारस्य शब्दानुसारिभिर्न्यायैर्ब्रह्मणि वेदान्तवाक्यतात्पर्यनिर्णयाधीनत्वात् । नह्यनुमानादिप्रमाणान्तरनिर्णेतॄणां वैशेषिकादीनां

वैशेषिक आदि वादियों द्वारा प्रदर्शित अनुमानप्रयोगोंके अनुमानके हेत्वाभासादि दोषोंसे दूषित रहनेपर भी श्रुतिके द्वारा समर्थित ब्रह्मविषयक सम्भावना-बुद्धिके उत्पादनमें हेतु होनेके कारण हम वेदान्तियों द्वारा दर्शाई गई युक्तिको मानना कोई विरुद्ध नहीं है ।

शङ्का—ऐसा माननेसे तो युक्तिके बहाने वैशेषिक आदि वादियोंके सम्मत अनुमान ही जन्मादि सूत्रमें ब्रह्मके निश्चायक प्रमाणरूपसे कहे गये हैं, यह मान लेना चाहिए ।

समाधान—केवल अनुमानोंके द्वारा कारणकी सत्ता ही सिद्ध हो सकती है [अर्थात् अनुमान इतना ही सिद्ध कर सकता है कि इस दृश्यमान कार्य-जात प्रपञ्चका कोई उत्पादक कारण अवश्य है] परन्तु सत्य-ज्ञानादिस्वरूप ब्रह्मकी तो आगम—श्रुति—के बिना सिद्धि नहीं हो सकती । इसलिए जन्मादिसूत्रका तात्पर्य आगमको ही दर्शानेमें है [आगमसे ही स्वरूप-निश्चय हो सकता है, अतः 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि शास्त्रको ही सूत्रमें जन्मादिपदसे लिया जाना उचित है, अनुमानमात्र नहीं] आगे कहे जानेवाले सूत्रोंमें आगम वाक्योंका उदाहरण देकर तात्पर्यनिर्णय किया गया है, [इसलिए अगले सूत्रोंमें आगम-वाक्योंका उदाहरण देना पुनरुक्त या व्यर्थ नहीं है;] कारण कि ब्रह्मका साक्षात्कार शब्दबोधके अनुकूल (उपक्रमादि) न्यायोंके द्वारा ब्रह्ममें वेदान्तवाक्योंका तात्पर्यनिर्णय करनेसे हो सकता है । केवल अनुमान आदि दूसरे प्रमाणोंसे ब्रह्मनिर्णय करनेवाले वैशेषिक आदि वादियोंको ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं देखा गया है । और

ब्रह्मावगतिर्दृश्यते। न चाऽपौरुषेयस्य पौरुषेयमनुमानं मूलमिति युक्तम्। न चैवमनुमानस्याऽत्यन्तानपेक्षा स्यादिति वाच्यम्, श्रुत्यर्थदार्ढ्याय श्रुत्यविरोधिन्यायस्याऽपेक्षितत्वात्। 'पण्डितो मेधावी' इत्यादिश्रुत्यैवाऽऽगमस्य पुरुषबुद्धिसाहाय्यमङ्गीक्रियते, अन्यथाऽध्ययनादेव ब्रह्मावगतौ 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' इत्युक्तो गुरूपदेशनियमो व्यर्थः स्यात्। आचार्यो हि श्रुत्यनुसारिभिर्दृष्टान्तैः शिष्येभ्यः प्रत्ययदार्ढ्यमुत्पादयति। तच्च प्रत्ययदार्ढ्यं मननरूपत्वादवगतिहेतुः। एतदेव हि मननं यदाचार्ययुक्त्या स्वयुक्त्या च श्रौतप्रत्ययस्य दार्ढ्यापादनम्। मननस्य चाऽवगतिहेतुत्वं 'मन्तव्यः' इति श्रुत्या सिद्धम्।

ननु धर्मजिज्ञासायां वेदस्मृतीतिहासपुराणान्येव प्रमाणं नाऽनुमानादि। तत्राऽपि श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्या निर्णयहेतवः। पदान्तनिर-

---

अपौरुषेय (श्रुति) का पुरुषप्रणीत अनुमानको मूल मानना युक्त भी नहीं है। [पुरुषप्रणीत वाक्योंमें पुरुषके रागादि दोषसे दोष आना सम्भव है, अतः पौरुषेय अनुमान सर्वथा दोषशून्य अपौरुषेयमें प्रमाण नहीं हो सकता]। इससे अनुमानकी बिलकुल अपेक्षा नहीं रह जाती, यह भी नहीं कहा जा सकता, कारण कि श्रुतिसे प्रतिपादित अर्थकी पुष्टिके लिए श्रुतिसे विरोध न रखनेवाले न्याय-वाक्य—अनुमान—की अपेक्षा रहती है। 'पण्डितो मेधावी' इत्यादि श्रुतिसे ही श्रुतिको पुरुषबुद्धिकी सहायता अपेक्षित है, ऐसा स्वीकार किया गया है। यदि ऐसा न माना गया होता, तो पठनमात्रसे ही ब्रह्मका साक्षात्कार हो ही जाता, फिर 'अचार्ययुक्त पुरुष ही जान सकता है' इत्यादिसे कहा गया गुरुके द्वारा उपदेश पानेका नियम निष्फल हो जायगा। आचार्य—गुरु महाराज—श्रुतिके अनुकूल दृष्टान्तोंके द्वारा शिष्योंके ज्ञानकी दृढ़ता उत्पन्न करा देता है। मननरूप होनेसे वह ज्ञानकी दृढ़ता साक्षात्कारका कारण बनती है। यही तो मनन है कि आचार्य द्वारा दिखलाई गई अथवा अपनी ही मेधासे आहित की गई युक्तिसे श्रुतिसे प्राप्त ज्ञानकी दृढ़ता प्राप्त की जाय। और मननमें साक्षात्कार-कारणत्व तो 'मन्तव्य' (मनन करना चाहिए) इस श्रुतिवाक्यसे सिद्ध है।

शङ्का—धर्मजिज्ञासामें वेद, स्मृति, महाभारत आदि इतिहास तथा पुराण ही प्रमाण हैं, अनुमान आदि दूसरे प्रमाण नहीं हैं। उन श्रुति आदि प्रमाणोंमें भी श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या रूप न्याय ही तात्पर्यनिर्णयके

पेक्षः शब्दः श्रुतिः। श्रौतस्याऽर्थस्याऽर्थान्तरेणाऽविनाभावो लिङ्गम्। अन्योन्याकाङ्क्षासंनिधियोग्यतावन्ति पदानि वाक्यम्। वाक्यद्वयसामर्थ्यमारभ्याधीतविषयं प्रकरणम्। क्रमवर्त्तिनां पदार्थानां क्रमवर्त्तिभिः पदार्थैर्यथाक्रमं सम्बन्धः स्थानम्। संज्ञासाम्यं समाख्या। तैरेव ब्रह्मनिर्णयोऽप्यस्त्विति चेद्, न; युक्त्यनुभवयोरपि ब्रह्मजिज्ञासायामपेक्षितत्वात्। युक्त्यपेक्षा पूर्वमेव प्रसाधिता। अनुभवो नाम ब्रह्मसाक्षात्कारफलकोऽन्तःकरणवृत्तिभेदः। न च तमन्तरेण ज्ञानाकाङ्क्षा निवर्त्तते। न च ब्रह्मस्वरूपमनुभवितुमयोग्यमिति शङ्कनीयम्, घटादिवत्सिद्धवस्तुत्वात्। विमतं ब्रह्मवाक्यमनुभवनिरपेक्षफलपर्यन्तज्ञानजनकम्, प्रमाणभूतवेदवाक्यत्वाद्,

---

कारण हैं। इनमें—दूसरे पदकी अपेक्षा न रखनेवाला शब्द ही 'श्रुति' पदका अर्थ है। श्रुतिप्रतिपादित अर्थका दूसरे अर्थके साथ सम्बन्ध लिङ्ग है। परस्पर आकांक्षा (एक-दूसरेके बिना अन्वयाननुभावकता) सन्निधि (विलम्बराहित्य या व्यवधानशून्यत्व) एवं योग्यता (बाधका न होना) वाले पद ही वाक्य कहलाते हैं। दो वाक्योंकी सामर्थ्यको लेकर पढ़ा गया विषय प्रकरण है। क्रमशः आये हुए पदार्थोंका क्रमशः आये हुए पदार्थोंके साथ क्रमके अनुसार होनेवाला सम्बन्ध स्थान पदार्थ है। संज्ञाकी समता समाख्या है। [इन सबका वर्णन विशेष-विशेष उदाहरणोंके साथ प्रथम वर्णकमें किया गया है] इनसे ही ब्रह्मका निर्णय हो जायगा।

समाधान—युक्ति और अनुभव—इन दोनोंकी भी ब्रह्मजिज्ञासामें अपेक्षा रहती है। युक्तिकी अपेक्षा प्रथम ही सिद्ध कर आये हैं। [अनुभवको दिखलाते हैं—] ब्रह्मसाक्षात्कारको उत्पन्न करनेवाली एक प्रकारकी अन्तःकरणकी वृत्ति ही अनुभव है। और इस प्रकारके अनुभवके बिना ज्ञानकी इच्छा निवृत्त नहीं होती [अर्थात् अनुभव—साक्षात्कार—जब तक नहीं होगा, तब तक ब्रह्मजिज्ञासा बनी ही रहेगी]। और यह भी नहीं कह सकते कि ब्रह्मस्वरूप साक्षात्कारके योग्य नहीं है, कारण कि वह घट आदिके सदृश सिद्ध वस्तु है।

शङ्का—'विमत ब्रह्मवाक्य (ब्रह्मतात्पर्यक वेदान्तवाक्य) अनुभवकी अपेक्षासे शून्य फलपर्यन्त ज्ञानका उत्पादक है, प्रमाणभूत वेदवाक्य होनेसे, धर्म-

धर्मवाक्यवदिति चेद्, न; अनुभवायोग्यविषयत्वोपाधिहतत्वात्। न-ह्यनुष्ठानसाध्यो धर्मोऽनुष्ठानात्पूर्वं वाक्यबोधावसरेऽनुभवितुं योग्यः। अनुष्ठानं तु विनाऽप्यनुभवं शाब्दज्ञानमात्रादेव सिध्यतीत्यनपेक्षित एव धर्मानुभवः।

नन्वनुभवयोग्यत्वानुभवसापेक्षत्वाभ्यां विना ब्रह्मणो धर्मेण सह वैषम्यान्तरं नाऽस्ति प्रत्युत वेदप्रमेयत्वं सममेव। ततोऽनुभवकृत-वैषम्यमपि मा भूदिति चेद्, न; धर्मब्रह्मणोः कर्तव्यसिद्धयोः पुरुषा-धीनत्वानधीनत्वादिभूयोवैषम्यसंभवात्। लोके तावद्देवदत्तोऽश्वेन गच्छति न च गच्छति पद्भ्यां वा गच्छतीति कर्त्तव्यस्य गमनस्य करणाकरणान्यथाकरणेषु पुरुषाधीनत्वं दृश्यते। तथा वेदेऽपि 'अतिरात्रे

प्रतिपादक वेदवाक्योंके समान'। [इस अनुमानसे अनुभवकी अपेक्षाका निरा-करण हो जाता है]।

समाधान—उक्त अनुमान अनुभवायोग्यविषयत्वरूप उपाधिसे दूषित है, [उपाधिमें साधनाव्यापकत्वका समन्वय करते हैं—] अनुष्ठानसे होनेवाला धर्म अनुष्ठानसे पहले वाक्यार्थके बोधकालमें अनुभवके लिए योग्य नहीं है। और अनुष्ठान तो अनुभवके विना केवल शाब्दबोधसे भी सिद्ध हो सकता है, इसलिए धर्मका अनुभव (धर्मजिज्ञासामें) अपेक्षित ही नहीं है।

शङ्का—अनुभवके योग्य होना और अनुभवकी अपेक्षा रखना—इन दोनोंसे अतिरिक्त ब्रह्म तथा धर्ममें कोई वैषम्य नहीं है, बल्कि वेद-प्रमेयत्व—वेदका तात्पर्यार्थ होना—दोनोंमें समान ही है। अतः उनमें अनुभव द्वारा की गई विषमता भी नहीं होनी चाहिए।

समाधान—कर्तव्य (क्रियासे उत्पाद्य) तथा सिद्ध (अनुत्पाद्य) स्वरूप धर्म तथा ब्रह्ममें क्रमशः पुरुषके अधीन और पुरुषके अधीन न होना रूप बड़ी विषमता विद्यमान है। [पुरुषाधीनत्वादिका स्पष्टीकरण करते हैं—] लोकमें देखा जाता है कि देवदत्त घोड़ेकी सवारीसे जाता है या नहीं जाता है अथवा पैदल ही यात्रा करता है, इस प्रकार कर्तव्यरूप गमनका करना, न करना या दूसरे ही प्रकारसे करना आदिमें पुरुष स्वाधीन देखा जाता है एवं वेदमें 'अतिरात्रमें

षोडशिनं गृह्णाति नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इति करणाकरणे श्रूयेते। 'उदिते जुहोत्यनुदिते जुहोति' इति करणान्यथाकरणे । 'ज्योतिष्टोमेन यजेत', 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इति विधिप्रतिषेधौ। 'व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा' इतीच्छाविकल्पः । षड्यागानां समुच्चयः। 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि', 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्युत्सर्गापवादौ । प्रकृतेरतिदिष्टानां कुशमयबर्हिषां विकृतावुपदिष्टशरमयबर्हिर्भिर्बाधः । प्रकृतानां नारिष्टहोमानां वैकृतैः उपहोमैः समुचित्याऽनुष्ठानमभ्युच्चयः। 'उदिते जुहोत्यनुदिते जुहोति' इति शाखाभेदेन व्यवस्थितविकल्पः । न चैवं सिद्धे ब्रह्मणि पुरुषाधीनत्वविधिप्रतिषेधेच्छाविकल्पसमुच्चयोत्सर्गापवादबाधाभ्युच्चयव्यवस्थितविकल्पादयः संभवेयुः । सिद्धवस्तुन्यपि स्थाणुर्वा पुरुषो वेति विकल्पोऽस्तीति चेत्, नः पुरुषेच्छाधीनत्वेनाऽवस्तुतन्त्रस्य तस्याऽसम्यक्त्वात् । 'योषा

षोडशीका ग्रहण करे अथवा अतिरात्रमें षोडशीका ग्रहण न करे' इस प्रकार करने या न करनेका प्रतिपादन किया गया है। और 'उदय होनेपर हवन करे अथवा उदय होनेसे पूर्व ही हवन करे' इस प्रकार करना तथा अन्यथा करना कहा गया है। 'ज्योतिष्टोम याग करे', 'कलञ्जका भक्षण न करे' ऐसा विधान और निषेध है। 'व्रीहिसे याग करे अथवा यवसे' इस प्रकार इच्छाका विकल्प कहा है। छः यागोंका समुच्चय दिखलाया है। 'किसी भी प्राणीकी हिंसा न करे', 'अग्नि और सोम देवताके उद्देश्यसे पशुका बलिदान करे' इस प्रकार उत्सर्ग—सामान्यशास्त्र—तथा अपवाद—बाधशास्त्र—दिखलाये गये हैं। प्रकृति यागमें अतिदेशसे प्राप्त कुशमय बर्हियोंका विकृति यागमें उपदेशसे प्राप्त शरमय बर्हियोंसे बाध होता है। प्रकृत नारिष्टोम होमोंका वैकृत उपहोमोंसे समुच्चय करके अनुष्ठान करना अभ्युच्चय है। 'उदय होनेपर हवन करे अथवा उदय होनेसे पूर्व ही हवन करे' ऐसा शाखाभेदसे व्यवस्थित—नियत—विकल्प कहा गया है। परन्तु उक्त रीतिसे सिद्धवस्तुभूत ब्रह्ममें पुरुषकी स्वाधीनता, विधि या निषेध, इच्छाविकल्प, समुच्चय, उत्सर्ग, अपवाद, बाध, अभ्युच्चय, व्यवस्थितविकल्प आदिका किसी प्रकार सम्भव नहीं है।

शङ्का—सिद्धस्वरूप वस्तुमें भी 'स्थाणु है या पुरुष है' इस प्रकार विकल्प होता ही है।

समाधान—पुरुषकी इच्छाके अधीन होनेसे अवस्तुके द्वारा उत्पन्न हुआ

वाव गोतमाग्निः' इत्यादौ पुरुषेच्छाधीनमवस्तुतन्त्रमेव ध्यानमागमिकं सम्यगुपलभ्यत इति चेद् , न; तस्य कर्त्तव्यगोचरत्वात् । अथाऽपि सिद्धवस्तुनः सम्यग्ज्ञानाधीनत्वात् सम्यग्ज्ञानस्य च प्रमातृपुरुषेच्छाधीनत्वाद्वस्त्वपि पुरुषाधीनं भविष्यतीति चेत् , न; सत्यामपि पुरुषेच्छायामिदं रजतमित्यत्र वस्त्वभावे सम्यग्ज्ञानादर्शनात् । तस्मात्सिद्धगोचरसम्यग्ज्ञानस्य वस्त्वेव प्रधानं प्रयोजकम् । तत्रैवं सति सिद्धगोचरं ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेवेति न ज्ञानद्वाराऽपि ब्रह्मणः पुरुषाधीनत्वम् । अतो धर्मादत्यन्तं विलक्षणस्य सिद्धस्य ब्रह्मणो युक्ता युक्त्यनुभवापेक्षा ।

ननु ब्रह्मणः सिद्धवस्तुत्वेन घटादिवन्मानान्तरगोचरत्वाज्जन्मा-

---

वह विकल्प उचित ज्ञान नहीं है अर्थात् भ्रम है । यदि शङ्का हो कि 'हे गोतम ! स्त्रीको अग्नि समझो' इत्यादि पुरुषेच्छाधीन अवस्तुतन्त्र ध्यानका ही आगमसे प्रतिपादन किया गया है और वह उचित—प्रमाण—भी माना गया है' तो, यह शङ्का भी उचित नहीं है, कारण कि वह आगमप्रतिपादित ध्यान कर्तव्यका विषय है ।

शङ्का—सिद्धस्वरूप वस्तु भी प्रमाणभूत ज्ञानके अधीन है और प्रामाणिक ज्ञान प्रमाता पुरुषकी इच्छाके अधीन है, इसलिए सिद्ध वस्तुको भी पुरुषके अधीन मान लिया जायगा ।

समाधान—पुरुषकी इच्छाके रहनेपर भी 'यह रजत है' इस स्थलमें रजतरूप वस्तुके न होनेसे सम्यक्—प्रमाणभूत—ज्ञान नहीं देखा जाता है । [अर्थात् शुक्तिमें 'यह रजत है' इस ज्ञानको प्रामाणिक ज्ञान नहीं कहते, बल्कि भ्रम कहते हैं ।] इसलिए सिद्धवस्तुविषयक प्रामाणिक ज्ञानमें प्रधान प्रयोजक वस्तु ही है । इस सिद्धान्तके स्थिर होनेपर सिद्धवस्तुविषयक ब्रह्मज्ञान भी वस्तुके ही अधीन है । [अर्थात् वस्तु उसका भी प्रधान प्रयोजक है,] इसलिए ज्ञानके द्वारा भी ब्रह्मरूप वस्तु पुरुषके अधीन नहीं है । इससे धर्मकी अपेक्षा अत्यन्त भिन्न सिद्धभूत ब्रह्ममें [ब्रह्मसाक्षात्कारमें] युक्ति और अनुभवकी अपेक्षा कहना उचित ही है ।

शङ्का—यदि ब्रह्म सिद्ध वस्तु है; तो घट आदि सिद्ध वस्तुके समान वह

दिसूत्रमनुमानोपन्यासार्थमेवाऽस्त्विति चेद्, मैवम्; न तावद् ब्रह्म वेदान्तानभिज्ञप्रत्यक्षगम्यम्, रूपादिहीनत्वात्। अनुमानमपि किं यत्कार्यं तत्सकारणमिति सामान्यव्याप्तिकम् उत यत्कार्यं तद् ब्रह्मकारणकमिति विशेषव्याप्तिकम्? नाऽऽद्यः, तावता ब्रह्मासिद्धेः। द्वितीयेऽपि ब्रह्मण इन्द्रियविषयत्वेऽनुमानवैयर्थ्यं तदविषयत्वे व्याप्तिग्रहासिद्धिः।

नन्वेवं सत्यनुमानच्छायोपजीवियुक्तीनामपि ब्रह्म गोचरो न स्यात्, सत्यमेवं तथापि शब्दावगम्ये ब्रह्मणि संभावनाबुद्धिहेतवो युक्तयः। तथाहि—मृदादिदृष्टान्तैरुपादानव्यतिरेकेण कार्यस्याऽनिरूपणाद्द्वितीयता संभाव्यते। स्फटिकलौहित्यदृष्टान्तेनाऽऽत्मनि कर्तृत्वादेरारो-

---

अन्यान्य प्रमाणोंका भी विषय होगा, इस परिस्थितिमें 'जन्मादि' सूत्र अनुमानका उल्लेख करनेके लिए ही है, ऐसा क्यों न मान लिया जाय?

समाधान—सबसे प्रथम तो यही है कि ब्रह्म वेदान्तवाक्योंसे अनभिज्ञ पुरुषके प्रत्यक्षका विषय नहीं हो सकता; कारण कि उस ब्रह्ममें प्रत्यक्षके प्रयोजक रूप आदि नहीं हैं। दूसरा अनुमान रहा, उसे भी क्या 'जो कार्य है उसका कारण अवश्य होता है' इत्याकारक सामान्य-व्याप्ति-घटित मानते हो? अथवा 'जो कार्य है, उसका कारण ब्रह्म है' इस प्रकार विशेष-व्याप्तिघटित मानते हो? प्रथम कल्प साधक नहीं हो सकता, कारण कि उक्त सामान्य-व्याप्तिसे विशेष ब्रह्मकी सिद्धि नहीं हो सकती। दूसरा कल्प माननेमें यदि ब्रह्मको (घटादिके तुल्य) इन्द्रियोंका विषय मानोगे, तो अनुमान करना ही निष्प्रयोजन होगा; यदि इन्द्रियोंका विषय न मानोगे, तो विशेष-व्याप्तिका ज्ञान ही नहीं बन सकता।

शङ्का—उक्त रीतिके अनुसार तो अनुमानकी छायाका (व्याप्त्याभासका) आश्रयण करनेवाली युक्तियोंका भी विषय ब्रह्म नहीं हो सकता।

समाधान—ठीक है, तथापि शब्द—वेदान्तवाक्यों—द्वारा जानने योग्य ब्रह्मके विषयमें युक्तियाँ सम्भावनाबुद्धिको उत्पन्न करती हैं। जैसे कि मिट्टी आदि दृष्टान्तों द्वारा उपादान कारणसे अतिरिक्त कार्यको माननेका खण्डन किया जाता है, इसलिए (कार्य-कारणमें) अद्वितीयता—दूसरेका न होना—अर्थात् अभेदकी ही सम्भावना हो जाती है। और स्फटिक-

पितत्वम् , प्रतिविम्बदृष्टान्तेन जीवब्रह्मैक्यम् , रज्जुसर्पदृष्टान्तेन ब्रह्मव्यतिरिक्तप्रपञ्चस्य स्वातन्त्र्याभावः, घटाकाशदृष्टान्तेनाऽसङ्गताद्वारेण विशुद्धाद्वितीयप्रत्यगात्मता, तप्तपरशुदृष्टान्तेन जीवब्रह्मैक्यसत्यता। तथा च विधिप्रतिषेधवाक्ययोः प्रवर्त्तकत्वनिवर्त्तकत्वाकाङ्क्षितस्तुतिनिन्दार्थवादवत् स्वरूपवाक्यस्य फलपर्यन्ततापेक्षितसंभावनार्थवादतां श्रुतियुक्तयः प्रतिपद्यन्ते। अन्यथा निरर्थकास्ताः स्युः। तस्मादुपकारकयुक्तिसूचनापूर्वकं वेदान्तवाक्यप्रदर्शनार्थमेव सूत्रम् ।

ननु सर्वत्र वेदवाक्ये ब्रह्मपदस्याऽप्रसिद्धार्थत्वान्न तत्पदं स्वार्थं

गत लौहित्यके दृष्टान्तसे आत्मामें कर्तृत्व आदि आरोपित प्रतीत होते हैं, प्रतिविम्बदृष्टान्तसे जीव और ब्रह्मकी एकता दिखलाई जाती है, रज्जुसर्पको दृष्टान्त बनाकर अधिष्ठानभूत ब्रह्मसे अतिरिक्त प्रपञ्चकी स्वतन्त्रताका निराकरण किया जाता है, घटाकाशके दृष्टान्तसे सङ्गराहित्य दिखलाकर विशुद्ध और अद्वितीय प्रत्यगात्माका प्रतिपादन किया जाता है एवं तप्त कुठारके दृष्टान्तसे जीव और ब्रह्मकी एकताका सत्यत्व दिखलाया जाता है। इस प्रकार विधि तथा निषेध वाक्योंमें प्रवृत्त कराने तथा निवृत्त कराने में अपेक्षित स्तुति तथा निन्दारूप अर्थवादके समान स्वरूपवाक्य—सिद्धवस्तुके स्वरूपके प्रतिपादक वेदान्तवाक्य—की फलपर्यन्ततामें अपेक्षित सम्भावनारूप अर्थवादताको श्रुतिमें युक्त युक्तियां प्राप्त हो जाती हैं [विधिवाक्यके श्रवणके बाद अधिकारीको आशङ्का होती है कि इस विधानका फल क्या है ? उस आशङ्काकी निवृत्तिके लिए तथा अधिकारीकी प्रवृत्तिके लिए जैसे विधिवाक्यका प्रशंसात्मक अर्थवाद है, वैसे ही निषेध्यके पालनमें उत्सुकताको उत्पन्न करनेके लिए निषेध्यका निन्दास्वरूप अर्थवाद है। ठीक इसी प्रकार सिद्ध वस्तुके प्रतिपादक वेदान्तवाक्योंकी सार्थकताके लिए तथा सिद्ध वस्तुमें सम्भावनाबुद्धिको उत्पन्न करानेके लिए श्रुतिकथित युक्तियां भी सम्भावनारूप अर्थवाद हैं]। यदि ऐसा न माना जाय, तो वे श्रुति-युक्तियां व्यर्थ हो जायँगी। इसलिए [सम्भावनाबुद्धिको उत्पन्न करानेके लिए] उपकारक युक्तिकी सूचना करता हुआ उक्त सूत्र वेदान्तवाक्योंको दिखलानेके लिए ही है।

शङ्का—सर्वत्र वेदवाक्यमें ब्रह्मशब्दका अप्रसिद्ध अर्थ होनेसे वह

विशेष्यत्वेन विशेषणत्वेन वा वाक्यार्थे समर्पयितुमलम्। ततः किं तद्वेदान्तवाक्यं यत्सूत्रे लिलक्षयिषितमिति। उच्यते—सत्यज्ञानानन्तानन्दप्रत्यगात्मस्वरूपस्य ब्रह्मपदार्थस्याऽप्रसिद्धावपि ब्रह्मत्वमात्रस्य बृहत्यर्थरूपस्य प्रसिद्धत्वात्तदनुवादेन सत्यादिपदार्थपरस्परान्वयसामर्थ्याद्विशिष्टं ब्रह्म प्रतिपत्तुं शक्यत इति लक्षणरूपेण ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरं सत्यादिवाक्यम्। न च प्रमाणान्तरसिद्धस्य लक्षणत्वात्सत्यादीनामपि लक्षणत्वे तद्वाक्यस्य प्रमाणान्तरप्रसिद्धार्थानुवादकत्वप्रसङ्ग इति वाच्यम्, अर्थाल्लक्षणत्वेऽपि मानान्तरानवगतब्रह्मबोधकत्वेन साक्षात्प्रमाणरूपत्वात्। वाक्यं तु 'यस्मादाकाशः संभूतः स आत्मा' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्येवं स्वाध्यायपाठक्रममुल्लङ्घ्य योजनीयम्, प्रसिद्धस्य कारणत्वस्याऽ-

---

(ब्रह्मपद) अपने अर्थको प्रधान या अप्रधानरूपसे वाक्यार्थमें नहीं उपस्थित करा सकता। ऐसी परिस्थितिमें कहिए कि वह कौन वेदान्तवाक्य है ? जिसका सूत्रमें उल्लेख कराना अभीष्ट है।

समाधान—यद्यपि ब्रह्मपदका सत्य, ज्ञान, अनन्त, आनन्द तथा प्रत्यगात्मा रूप अर्थ प्रसिद्ध नहीं है, तथापि 'बृह' धातुका केवल ब्रह्मत्वमात्र अर्थ प्रसिद्ध है, अतः उस प्रसिद्ध अर्थका अनुवाद करके सत्य आदि पदार्थोंके परस्पर अन्वयकी सामर्थ्यसे विशिष्ट ब्रह्म जाना जा सकता है, इसलिए लक्षणके रूपसे ब्रह्मस्वरूपका प्रतिपादन करनेवाला सत्यादि वाक्य है।

शङ्का—प्रमाणान्तरसे सिद्ध पदार्थ ही लक्षण होता है, इसलिए यदि सत्य आदिको लक्षण मानेंगे, तो उनका बोधक सत्यादिवाक्य ('सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि वाक्य) प्रमाणान्तरसे प्रसिद्ध अर्थका अनुवादक हो जायगा।

समाधान—सत्यादिमें अर्थतः लक्षणत्वके सिद्ध होनेपर भी उसका वाक्य प्रमाणान्तरसे न जाने गये ब्रह्मका बोधक होनेसे साक्षात् प्रमाण माना जाता है, [अनुवादक नहीं। सत्यादि ब्रह्मलक्षण है, यह तो अर्थात् सिद्ध होता है।] वाक्यका स्वरूप तो 'यस्मात्' इत्यादि अर्थात 'जिससे आकाश उत्पन्न हुआ, वह आत्मा सत्य, ज्ञान और अनन्त—परिच्छेदरहित—ब्रह्म है' इस प्रकार स्वाध्यायपाठके क्रमको बदलकर पूरा करना चाहिए, कारण कि प्रसिद्ध कारणका ही अनुवाद होता है। न्याय है कि 'प्रसिद्धका अनुवाद

नुवाद्यत्वात् ; प्रसिद्धमनूद्याऽप्रसिद्धं प्रतिपाद्यत इति न्यायात्। अन्यान्यप्युपनिषद्वाक्यान्येवं ब्रह्मप्रतिपादकत्वेन योजनीयानि । तत्रैवं सति 'भृगुर्वै वारुणिः' इत्यारभ्य 'तद् ब्रह्म' इत्येतदन्तं वाक्यं सूत्रद्वयस्योदाहरणम्। तत्राऽपि 'भृगुः' इत्यादि 'तद्विजिज्ञासस्व' इत्येतच्च प्रथमसूत्रस्य। तत्सूत्रप्रतिपाद्ययोरधिकारनिर्णयज्ञानकर्त्तव्यतयोस्तस्मिन्नुदाहरणेऽनुगमात् । 'तद्विजिज्ञासस्व' इत्येतद्विहाय 'यतो वा' इत्यादि 'तद् ब्रह्म' इत्यन्तं वाक्यं द्वितीयसूत्रोदाहरणम्, तयोः सूत्रवाक्ययोरर्थैक्यानुगमात्।

ननु जगत्कारणे नानात्वस्याऽपि प्रतीतिरस्ति, यत इति तसिल्प्रत्ययस्य बहुत्वैकत्वयोः स्मरणात्। तथा च तदनुवादेन कथमद्वितीयं ब्रह्माऽत्र प्रतिपादनीयमिति। उच्यते—'येन जातानि' इति वाक्यशेषादेकत्वविषय एव तसिल्प्रत्ययो निर्द्धार्यते। स च प्रत्ययः कारणैकत्वं प्रमापयति।

करके अप्रसिद्धका प्रतिपादन किया जाता है।' दूसरे उपनिषद्वाक्योंकी भी इसी रीतिसे योजना करनी चाहिए [क्योंकि वे भी ब्रह्मके प्रतिपादक हैं।] इस निर्णयके आधारपर 'वरुणका अपत्य भृगु—' इत्याद्यर्थक वाक्यसे आरम्भ कर 'वह ब्रह्म है' यहांतकके उपनिषद्वाक्य दो सूत्रोंके उदाहरण हैं । उनमें भी 'भृगु—' इत्यादि और 'उसका विचार करो' यह वाक्य प्रथम सूत्रका उदाहरण है, कारण कि उस सूत्रके प्रतिपादनीय विषयोंका—अधिकारका निर्णय तथा ज्ञानकी कर्तव्यता, इन दोनोंका—उस उदाहरणमें अनुगम होता है। 'उस ब्रह्मका विचार करना चाहिए' इसको छोड़कर 'यतो वा—' जिससे—इत्यादि वाक्यसे प्रारम्भ कर 'वह ब्रह्म है' इस वाक्य तक दूसरे जन्मादि सूत्रका उदाहरण है, कारण कि उन वाक्योंमें और सूत्रके अर्थमें एकता—समानता—का अनुगम है।

शङ्का—जगत्के कारणभूत पदार्थका नाना होना भी प्रतीत होता है, क्योंकि 'यतः' इस पदमें 'तसिल्' प्रत्ययका बहुत्व और एकत्व दोनों अर्थोंमें समानरूपसे व्याकरण द्वारा विधान होता है, इसलिए उसके (बहुत्वके) अनुवादसे 'यतः' पदसे अद्वितीय ब्रह्मका प्रतिपादन करना कैसे कहा जायगा ?

समाधान—आपके पर्यनुयोगका उत्तर कहा जाता है—'जिससे उत्पन्न हुए—' इस वाक्यशेषसे एकत्वरूप अर्थमें ही 'यतः' पदके 'तसिल्' प्रत्ययका

यद्यपि यत इत्यत्र प्रातिपदिकार्थस्य जगत्कारणमात्रस्याऽनुमानतोऽपि सिद्धेरनुवाद्यत्वं तथापि प्रत्ययार्थस्यैकत्वस्य मानान्तरासिद्धेः प्रत्ययस्य प्रमापकत्वमविरुद्धम् ।

ननु किमेकत्वमत्र लक्षणं किं वा लक्ष्यम् उताऽन्यत् किंचित् ? आद्ये कारणत्वमेकत्वं चेति लक्षणद्वयं ब्रह्मणो व्यर्थं स्यात् । द्वितीयतृतीययोस्तु वाक्यभेदप्रसङ्गः, एकत्वब्रह्माख्ययोर्द्वयोः प्रतिपाद्यत्वादिति चेद्, मैवम्; आद्ये कारणत्वं तटस्थलक्षणमेकत्वं स्वरूपलक्षणं चेत्युभयोः सार्थकत्वम् । द्वितीये कारणमनूद्यैकत्वविशिष्टं ब्रह्म विधीयत इति न वाक्यभेदः । तृतीये तु यत्कारणं तदेकमिति प्रथमं कारणमनूद्यैकत्वं विधाय

तात्पर्य निर्णीत होता है। [यद्यपि 'तसिल्' प्रत्ययका एकत्व और बहुत्व दोनों अर्थोंमें सामान्यरूपसे प्रयोग होता है; तथापि प्रकृतमें अग्रिम 'येन' इस एक-वचनसे 'तसिल्'को एकत्व अर्थमें ही मानना उचित है]। वह एकत्व अर्थमें आया हुआ 'तसिल्' प्रत्यय कारणकी एकताका निश्चय कराता है। यद्यपि 'यतः' इस पदके 'यत्' प्रातिपदिकका केवल जगत्कारणरूप जो अर्थ है, वह अनुमानसे भी सिद्ध हो सकता है; इसलिए उसका 'यत्' प्रातिपदिकसे अनुवाद ही प्राप्त होता है; तथापि प्रत्ययका एकत्वरूप अर्थ दूसरे प्रमाणसे सिद्ध नहीं है; अतः प्रत्ययको उस अर्थकी प्रमाका जनक मानना विरुद्ध नहीं है।

शङ्का—एकत्व यहाँ लक्षण है ? या लक्ष्य है ? अथवा लक्ष्य और लक्षणसे भिन्न और कुछ है ? प्रथम कल्पमें कारणत्व और एकत्व इस प्रकार ब्रह्मके दो लक्षण व्यर्थ होंगे। दूसरे और तीसरे कल्पमें तो वाक्यभेदका प्रसङ्ग होगा, कारण कि एकत्व तथा ब्रह्म—इन दो लक्ष्योंका उसमें प्रतिपादन करना होगा।

समाधान—उक्त दोष नहीं है, कारण कि प्रथम पक्ष माननेमें कारणत्व तटस्थ लक्षण होगा और एकत्व स्वरूप लक्षण होगा, इसलिए दोनों लक्षणोंकी सार्थकता सिद्ध होती है। दूसरे पक्षमें कारणका अनुवाद करके एकत्वविशिष्ट ब्रह्मका विधान किया जाता है, अतः उसमें वाक्यभेद होनेका प्रसङ्ग नहीं आ सकता। तीसरे पक्षमें तो जो कारण है, वह एक है, इस प्रकार पहले कारणका अनुवाद करके एकत्वका विधान करनेके अनन्तर जो एक कारण है; वह ब्रह्म है,

पश्चाद्यदेकं कारणं तद् ब्रह्मेति कारणमेकत्वसहितमनूद्य ब्रह्मत्वं बोध्यत इति वाक्यैकवाक्यत्वान्न वाक्यभेदः। तथा च सर्वजगत्कारणस्यैकत्वे सृज्यगोचरज्ञानशक्ती विहाय स्रष्टृत्वासंभवात्सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वे अप्यस्मिन्नेव वाक्ये कारणस्याऽर्थात्सिध्यतः ।

ननु 'यो गोसदृशः स गवयशब्दवाच्यः' इतिवद्यदेकं कारणं तद् ब्रह्मशब्दवाच्यमिति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धपरं वाक्यं प्रतिभाति। तथा सति बृहत्यर्थरूपवस्तु प्रतिपादकं न स्यादिति चेद्, न; 'तद्विजिज्ञासस्व' इति जिज्ञास्यत्वेन प्रतिज्ञाय कीदृशं तदित्याकाङ्क्षायां तद् बृहत्यर्थरूपमिति स्वरूपप्रतिपादनात्। संज्ञासंज्ञिसंबन्धस्त्वार्थिको भविष्यति। एवं च सत्येकं सर्वज्ञं सर्वशक्तिकं सर्वतोऽनवच्छिन्नं च जगत्कारणं तच्च ब्रह्मशब्दाभिधेयमिति वाक्यार्थः संपद्यते ।

इस रीतिसे एकत्वविशिष्ट कारणका अनुवाद करके ब्रह्मत्वका प्रतिपादन किया जाता है, इसलिए वाक्यैकवाक्यतान्यायसे वाक्यभेद नहीं आता । इस रीतिसे जगत्के कारणमें एकत्वके सिद्ध होनेपर सृज्यमान जगत्के ज्ञान और शक्तिके बिना कर्ता द्वारा उसकी रचना असम्भव है, इसलिए कारणकी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता भी इसी वाक्यमें सिद्ध होती हैं ।

शङ्का—'जो गऊके सदृश आकारवाला है, वह गवयपदका अर्थ है' इसके समान जो एक कारण है, वह ब्रह्मशब्दका वाच्य (अर्थ) है; ऐसा संज्ञासंज्ञिसम्बन्धमें वाक्यका तात्पर्य प्रतीत होता है। परन्तु संज्ञासंज्ञिभावमें उसका तात्पर्य माना जाय, तो 'बृह' धातुके अर्थभूत वस्तुका प्रतिपादक वह वाक्य नहीं होगा ।

समाधान—'उसका विचार करना चाहिए' इस वाक्यसे ब्रह्म जिज्ञासाका विषय है, ऐसी प्रतिज्ञा की गई है, अनन्तर 'वह कैसा है' ऐसी आकांक्षा होनेपर वह 'बृह' धात्वर्थरूप है, इस प्रकार स्वरूपका प्रतिपादन किया गया है । संज्ञासंज्ञिभावरूप सम्बन्ध तो अर्थात् सिद्ध हो जायगा । इस निर्णयके अनुसार जो एक, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् और किसी प्रकारसे भी अवच्छिन्न न होकर संसारका कारण है; वह ब्रह्मशब्दका वाच्य अर्थ है, ऐसा वाक्यार्थ सम्पन्न होता है ।

ननु निरुपाधिकस्वरूपकथनमन्तरेण सोपाधिकतासर्वज्ञत्वादयो धर्मा न प्रतीयन्ते, यतो यत्सुषिरं तदाकाशं प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इतिवत् स्वरूपलक्षणमेव श्रुत्या किंचिद्वक्तव्यम्। ब्रह्मशब्दाभिधेयमेव स्वरूपलक्षणमिति चेद्, न; बृहत्त्वधर्ममात्राभिधानात्। यथा महान् घट इत्युक्ते महत्त्वस्य निरुपाधिः घटो धर्मितया प्रतीयते तथेहाऽपि वक्तव्यम्। सच्छब्दाभिधेयं लक्षणमिति चेद्, न; महासामान्यमात्राभिधानात्। यथा सन्नित्युक्ते घट इत्यवान्तरसामान्यव्यक्तिरपर्यवसानत्वेन महासामान्येनाऽपेक्ष्यते तथेहाप्यवान्तरसामान्यव्यक्तिर्वक्तव्या। ज्ञानमेव बृहत्त्वसर्वज्ञत्वादिधर्मवत्तया निरुपाधिब्रह्मस्वरूपलक्षणमिति चेद्, न; वेदान्तिमते विज्ञानत्वस्य सुखदुःखरागद्वेषापेक्षया महासामान्यरूपत्वेन तत्राऽप्यवान्तरसामान्याधारव्य-

---

शङ्का—उपाधिशून्य स्वरूपके कथनके बिना उपाधिविशिष्टत्व तथा सर्वज्ञत्व आदि धर्मोंकी प्रतीति नहीं हो सकती, कारण कि जो छिद्ररूप है, वह आकाश है, अधिक प्रकाशवाला चन्द्रमा है, इत्यादि वाक्योंके सदृश किसी स्वरूप लक्षणका ही श्रुतिके द्वारा प्रतिपादन होना चाहिए। केवल ब्रह्मशब्दके वाच्य अर्थको स्वरूप लक्षण नहीं मान सकते; क्योंकि ब्रह्मशब्दसे तो केवल बृहत्त्वधर्म वाच्यवृत्तिसे कहा जाता है। जैसे 'बड़ा घड़ा' ऐसा कहनेसे महत्त्वधर्मका उपाधिशून्य घड़ा ही धर्मीरूपसे प्रतीत होता है; वैसे ही प्रकृतमें भी बृहत्त्वधर्मशाली किसी निरुपाधि विशेष्यकी प्रतीति होती है, ऐसा कहना होगा। 'सत्' पदार्थको भी स्वरूप लक्षण नहीं मान सकते, कारण कि सत्शब्द भी महासामान्य—सत्ता जाति—मात्रका अभिधान करता है। [निरुपाधि धर्मीका नहीं।] जैसे 'सत्' इतना ही कहनेपर महासामान्यका (धर्मीके बिना) पर्यवसान नहीं हो सकता, इसलिए घट आदि महासामान्यके अवान्तर सामान्यवाली व्यक्ति अपेक्षित होती है, वैसे ही प्रकृतमें भी अवान्तर सामान्य व्यक्ति अपेक्षित होती है, ऐसा कहना होगा। बृहत्त्व, सर्वज्ञत्व आदि धर्मोंसे युक्त होनेके कारण ज्ञान ही निरुपाधि ब्रह्मका स्वरूप लक्षण है, ऐसा नहीं मान सकते, कारण कि वेदान्तीके मतमें सुख, दुःख, राग और द्वेषकी अपेक्षा ज्ञानत्व महासामान्य माना जाता है, इसलिए ज्ञानत्वमें भी अवान्तर सामान्यके आश्रयभूत धर्मीकी आकाङ्क्षा निवृत्त नहीं होती है। [इसलिए किसी निरुपाधिको स्वरूप लक्षण कहना आवश्यक ही है]।

त्यपेक्षाया अनिर्वचनादिति। अत्रोच्यते—'आनन्दाद्ध्येव खलु' इति श्रुत्याऽऽनन्द एव निरुपाधिब्रह्मरूपमिति निर्णीयते। श्रुत्यन्तरं च 'यो वै भूमा तत्सुखम्' इति सुखस्यैव ब्रह्मधर्मत्वमाह। एवं तर्हि 'विज्ञानमानन्दम्' इति सामानाधिकरण्याद्विज्ञानं निरुपाधिकं ब्रह्मगुणः स्यादिति चेत्, तत्र वक्तव्यम्—किं विज्ञानानन्दयोः सामानाधिकरण्यं नीलोत्पलवद् गुणगुणिभावविवक्षया किं वा द्रव्यं घट इतिवत्परापरसामान्यभावविवक्षया? नाऽऽद्यः, 'केवलो निर्गुणश्च' इति श्रुतेः। गुणस्य गुणिना भेदाभेदयोरनिरूपणादुपपन्नं निर्गुणत्वम्।

अत्र भेदाभेदवादी न निर्गुणं द्रव्यमस्तीति जल्पति। मा भून्निर्गुणं द्रव्यम्, ब्रह्म तु न द्रव्यम्, प्रमाणाभावात्। समवायिकारणत्वाद्

समाधान—इस आक्षेपके उत्तरमें कहा जाता है—'आनन्दसे ही निश्चय' इत्याद्यर्थक श्रुतिके बलसे 'आनन्द ही ब्रह्मका निरुपाधि स्वरूप है' ऐसा निर्णय किया जाता है। दूसरी श्रुति भी 'जो महान्—बृहत्—है, वह सुख—आनन्द—स्वरूप है, इस प्रकार सुख—आनन्द—को ही ब्रह्मका धर्म कहती है।

शङ्का—ऐसा माननेसे तो 'विज्ञान, आनन्द' इस प्रकार एक विभक्त्यन्त होनेसे विज्ञान ही ब्रह्मका निरुपाधिक गुण माना जायगा।

समाधान—तब इस आशङ्काका उत्तर देते हुए हम प्रश्न करेंगे कि विज्ञान और आनन्दमें सामानाधिकरण्य—एक विभक्तिका होना—क्या 'नीला कमल' इस वाक्यके समान गुणगुणिभावकी विवक्षासे है? अथवा 'द्रव्य घट है' इस वाक्यके समान परापरसामान्यभावकी—सामान्यविशेषभावकी—[द्रव्य यह द्रव्यत्वरूप परसामान्यका बोध कराता है, वह सामान्य हुआ और 'घट' यह घटत्वरूप अवान्तर सामान्यका बोध कराता है, अतः वह विशेष सामान्य हुआ] विवक्षासे है? इनमें प्रथम कल्प युक्त नहीं है, कारण कि श्रुति कहती है कि वह 'केवल और गुणशून्य है'। गुणका गुणीके साथ भेद और अभेदका निरूपण न हो सकनेसे गुण और गुणीमें न तो भेदका और न अभेदका ही निरूपण किया जा सकता है, अतः ब्रह्मका निर्गुण होना युक्तियुक्त है।

इस विषयपर भेदाभेदवादी भास्कर कहता है कि गुणशून्य द्रव्य होता ही नहीं है। इसपर हमारा यह कहना है कि द्रव्य गुणशून्य न होता हो, तो मत हो,

द्रव्यमिति चेद्, न; आरम्भवादानभ्युपगमात् । उपादानकारणत्वात् द्रव्यमिति चेद्, न; गुणादीनामपि स्वगतज्ञेयत्ववाच्यत्वादिधर्मोपादानत्वात्। गुणो नाम धर्मः, तथा च न निर्धर्मकः पदार्थोऽस्तीति चेद्, न; कस्यचिद्धर्मस्यैव निर्धर्मकताया अङ्गीकार्यत्वात् । अन्यथाऽनवस्थापत्तेः । तस्मान्न निर्गुणं ब्रह्मेति वचनं दर्शनप्रद्वेषमात्रम् । द्वितीयपक्षोऽङ्गीकृत एव । विज्ञानं सामान्यपरं तद्विशेष आनन्दः, स एव हि ब्रह्म । न च सर्वज्ञत्वाद्वितीयत्वादिधर्मैः सद्वितीयत्वम्, प्रपञ्चोपाधिकतया तेषामनिर्वचनीयत्वात् । विज्ञानसामान्यमपि दुःखरागाद्युपाधिकत्वादनिर्वचनीयमेव । तादृशसामान्याधारे विज्ञानप्रयुक्तार्थक्रियाकारिण्यानन्दे विज्ञानव्यवहारोऽप्युपपन्न एव ।

परन्तु ब्रह्म तो द्रव्य नहीं है, कारण कि उसके (ब्रह्मके) द्रव्य माननेमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि कहो कि ब्रह्म समवायिकारण है, इसलिए द्रव्य है, [क्योंकि द्रव्यसे इतर समवायिकारण कोई हो ही नहीं सकता] तो ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण कि हम आरम्भवादका स्वीकार नहीं करते हैं। [यह नैयायिक मत है कि परमाणुद्वयसंयोग द्व्यणुकके आरम्भ द्वारा परम्परासे जगत्का आरम्भक है]। उपादान कारण होनेसे भी ब्रह्मको द्रव्य नहीं मान सकते, क्योंकि गुणादि भी अपने ज्ञेयत्व, वाच्यत्व आदि धर्मोंके प्रति उपादान कारण माने ही जाते हैं, [पर वे द्रव्य नहीं कहलाते]। गुण धर्मको कहते हैं, इसलिए धर्मशून्य कोई पदार्थ ही नहीं है, ऐसा भी कहना उचित नहीं है, कारण कि किसी धर्मको निर्धर्मक अङ्गीकार करना ही होगा, अन्यथा अनवस्था होगी। इसलिए निर्गुण ब्रह्म नहीं है, यह कहना एक दर्शनके ऊपर द्वेषका ही प्रदर्शन करना है। उपादानकारण होनेसे द्रव्य है, ऐसा दूसरा पक्ष तो हम मानते ही हैं। विज्ञान सामान्यपरक है, उसका विशेष है—आनन्द, वही ब्रह्म है। सर्वज्ञत्व, अद्वितीयत्व आदि धर्मोंके द्वारा द्वितीयसहित होना भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रपञ्चोपाधिक—प्रपञ्चरूप उपाधि द्वारा प्राप्त—सर्वज्ञत्व आदि सब अनिर्वचनीय (मिथ्या) हैं। विज्ञानसामान्य भी दुःख, राग आदि उपाधिसे युक्त होनेके कारण अनिर्वचनीय ही है। इससे अनिर्वचनीय विज्ञानत्वसामान्यके आधारभूत और विज्ञानप्रयुक्त

ननु यथा कल्पितरजतत्वाधारभूतायां शुक्तावमुख्यो रजतव्यवहारस्तथाऽऽनन्दे विज्ञानव्यवहारः स्यादिति चेद्, न; तद्वदत्र पारमार्थिकसामान्यान्तराभावेन वैषम्यात् । तदेवं विज्ञानस्वभाव आनन्दो ब्रह्मेति स्वरूपलक्षणस्य श्रौतत्वादशेषमतिमङ्गलम् ।

इति विवरणप्रमेयसंग्रहे द्वितीयसूत्रं समाप्तम् ।

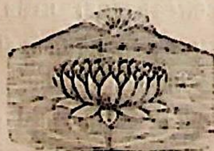


व्यवहारके सम्पादक आनन्दके लिए विज्ञानशब्दका व्यवहार भी सङ्गत होता है ।

शङ्का—जैसे कल्पित रजतत्वके आधारभूत शुक्तिमें अमुख्य (गौण, अवास्तव) रजतव्यवहार होता है, वैसे ही आनन्दमें विज्ञानव्यवहार भी गौण (अवास्तव) ही होगा ।

समाधान—शुक्ति रजतके तुल्य प्रकृतमें दूसरा पारमार्थिक सामान्य न होनेसे विषमता है । [जैसे शुक्तिमें केवल अवास्तव रजत ही नहीं है, किन्तु व्यवहारदृष्टिसे पारमार्थिक शुक्तित्व भी है, वैसे ब्रह्ममें कोई दूसरा पारमार्थिक सामान्य नहीं है] । इस प्रकारके निर्णयसे 'विज्ञानस्वभाव आनन्द ब्रह्म है' ऐसा स्वरूप लक्षण श्रुतिसिद्ध होनेसे सम्पूर्ण अत्यन्त मङ्गलमय है ।

इति श्री पं० ललिताप्रसादडबरालविरचितविवरणोपन्यास-
भाषानुवादमें द्वितीयसूत्र समाप्त ।



अथ तृतीयं सूत्रम्

द्वितीयसूत्रे ब्रह्मणो लक्षणद्वयमभिहितम् । इदानीं सूत्रकारेण ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वे हेतुरुच्यते—'शास्त्रयोनित्वात्' इति । पूर्वसूत्र एव श्रुतियुक्तिभ्यां सर्वज्ञत्वसाधनाद्व्यर्थमेतदिति चेद्, मैवम् ;

शब्दोपादानभावाद् ध्वनिगतविषयद्योतनाशक्तयोन्त-
र्ब्रह्मण्येव स्युरग्नेर्विषयविषयिणी दीपशक्तिः खलूचैः ।
द्रष्टुश्च ज्ञानशक्तिर्ननु न करणता किन्तु दीपप्रभाव-
त्संयुक्तद्योतनैवेत्यपरमिह पुनः साध्यते सर्ववित्त्वम् ॥

तृतीय सूत्र

'जन्माद्यस्य यतः' इस द्वितीय सूत्रमें ब्रह्मके तटस्थ और स्वरूप (जगत्-कारणत्व तथा सत्यज्ञानानन्द) इस प्रकार दो लक्षण कहे गये हैं। अब सूत्रकार ब्रह्मके सर्वज्ञ होनेमें हेतु दिखलाते हैं—'शास्त्रयोनित्वात्' ।

शङ्का—पूर्व सूत्रमें ही श्रुति तथा युक्तिके द्वारा सर्वज्ञत्वका साधन कर ही लिया गया है, इसलिए पुनः उसमें हेतु देना व्यर्थ है ।

समाधान—उक्त आक्षेप उचित नहीं है, कारण कि ध्वनिमें—शब्दमें—विषय-घट, पट आदि अर्थ—का प्रकाश करनेकी जो शक्तियां हैं, वे सब ब्रह्ममें ही हैं, क्योंकि ब्रह्म ही शब्दरूप वेदका उपादान है । [नियम है—कार्यमें कारणसे ही गुण प्राप्त होता है] जैसे विषयको प्रकाशित करनेवाली दीपकी शक्ति अग्निकी ही शक्ति है, इसमें कोई सन्देह नहीं । [इस दृष्टान्तसे सिद्ध हुआ कि शब्दोंमें विषय-प्रकाश-शक्ति अपने उपादानभूत ब्रह्मसे ही प्राप्त है, इसलिए उस शक्तिको ब्रह्मशक्ति ही मानना चाहिए । यदि शङ्का हो कि शब्दोंमें विषयप्रकाश करनेकी कारणता है, अतः ब्रह्ममें भी कारणताका ही अनुमान होगा, इसलिए शास्त्रयोनित्वरूप हेतुसे भी सर्ववित्त्व सिद्ध नहीं हो सकता, तो इस आशङ्काका समाधान उत्तरार्द्धसे करते हैं—] द्रष्टामें—चेतनमें—ज्ञान-शक्तिका ही साधन करना उचित है, केवल कारणताका साधन करना उचित नहीं है । [दृष्टान्तमें समता दिखलाते हैं—] क्योंकि जैसे दीपकी प्रभा अपनेसे संयुक्त सम्पूर्ण पदार्थोंका प्रकाश करती है, वैसे ही ब्रह्म भी अपनेसे संयुक्त सम्पूर्ण

अयमर्थः—साधितमपि पुनर्हेत्वन्तरेण दृढीक्रियते। न च पुनरुक्तिप्रसङ्गः, जगत्कर्तृत्वशङ्कयाऽऽक्षिप्ते सर्वज्ञत्वे समाधीयमानत्वात्। विमतं ब्रह्म वेदगतसर्वविषयप्रकाशनशक्त्याधारः, वेदोपादानत्वाद्, यथा दीपगतप्रकाशनशक्त्याधारो दीपोपादानभूतोऽग्निरिति हि प्रयोगः। यद्यपि वेदे करणशक्तिरप्यस्ति, तथापि चेतनत्वाद् ब्रह्मणो ज्ञानशक्तिरेवाऽनुमेया। नहि चेतनस्य कर्तुः करणशक्तिः संभाव्यते। न चोपादानोपादेययोः

प्रपञ्चका प्रकाश करता है। ब्रह्म सबके प्रति उपादान होनेसे सबके साथ संयुक्त है, इसलिए इस सूत्रमें पूर्व सूत्रकी अपेक्षा विलक्षण ही सर्ववित्त्वका साधन किया जाता है। [अर्थात् पूर्व सूत्रमें जगत्कारणत्वसे सर्ववित्त्व सिद्ध किया गया है और इस सूत्रमें वेदोपादानत्व द्वारा विलक्षण सर्वज्ञत्व सिद्ध किया जायगा, इससे पुनरुक्त या सिद्धसाधनादि दोष नहीं आते। अतएव ब्रह्मके प्रपञ्चकारणत्वसे गृहीत होनेपर भी शास्त्रकारणत्वरूप हेतु दिया गया है। इसका स्वयं व्याख्यान करके स्पष्टीकरण करते हैं—]

तात्पर्य यह है कि सिद्ध किया गया भी 'सर्वज्ञत्व' दूसरे हेतुके द्वारा दृढ़ किया जा रहा है, इससे पुनरुक्ति दोषका प्रसङ्ग नहीं आता, कारण कि दूसरेमें जगत्कारणत्वकी आशङ्कासे सर्वज्ञत्व होनेमें आक्षेप हो सकता है, [अर्थात् ब्रह्म जगत्का कर्ता है, परन्तु वेद तो नित्य पदार्थ है, इसलिए उसका कर्ता तो ब्रह्म नहीं होगा, इसलिए वेदका अकर्ता होनेसे उसका ज्ञान भी उसको नहीं होगा, अतः केवल जगत्कर्तृत्वसे सर्वज्ञत्वमें आक्षेप हो सकता है। इसलिए उसका समाधान करना प्राप्त हो जाता है। [समाधानस्वरूप अनुमानप्रयोग दिखलाते हैं—] 'विमत ब्रह्म वेदमें विद्यमान सम्पूर्ण अर्थजातका प्रकाश करनेमें समर्थ शक्तिका मूल आधार है, कारण कि वह वेदका उपादान है। जैसे दीपकी प्रकाश देनेवाली शक्तिका मूल आधार दीपका उपादानभूत अग्नि है। यद्यपि वेदमें करणशक्ति (साधकत्व-सहायकत्व) भी है, उससे करणशक्तिको ही अनुमान द्वारा उसके उपादानभूत ब्रह्ममें भी मानना होगा। इससे सर्वज्ञत्व सिद्ध नहीं हो सकता, तथापि चेतन होनेके कारण ब्रह्मकी ज्ञानशक्तिका ही अनुमान द्वारा साधन करना उचित है। चेतनरूप कर्ताका करण होना सम्भव नहीं है। [वह तो स्वयं रचयिता ही है, साधनभूत कारक

सर्वशक्त्यनुगत्या भाव्यमिति नियमोऽस्ति, अग्निकार्यभूतायां प्रभायां प्रकाशशक्तेरेवाऽनुगमाद् दाहशक्तेरननुगमात्। एवं वेदोपादानेऽपि ब्रह्मणि बोधशक्तिरेवाऽनुगच्छतु को विरोध इति। न च वेदस्य सर्वप्रकाशकत्वे विवदितव्यम्, पुराणाद्यनेकविद्योपबृंहितेन वेदेनाऽविषयीकृतस्य वस्तुनः सत्त्वे मानाभावात्। न च वेदोपादानत्वमसिद्धम्, वेदस्य नामरूपप्रपञ्चान्तःपातित्वान्नामरूपप्रपञ्चोपादानत्वस्य च ब्रह्मणि सर्वोपनिषत्सिद्धत्वात्। ननु ब्रह्म न वेदोपादानम्, वेदोक्ताखिलाभिज्ञत्वात्, ऋष्यादिवत्, इति चेद्, न; वेदोक्तमात्राभिज्ञत्वस्योपाधित्वात्। ब्रह्म तु वेदोक्तादप्यधिकं जानाति। तथाहि—वेदः स्वविषयविज्ञाना-

---

नहीं हो सकता'। उपादान और उपादेय दोनोंमें सब प्रकारकी शक्तियोंका अनुगम होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है। [इससे शङ्का नहीं कर सकते हैं कि उपादानमें उपादेय वेदगत करणशक्ति भी आनी चाहिए। दृष्टान्त द्वारा नियमका न होना सिद्ध करते हैं—] कारण कि अग्निके कार्यस्वरूप दीपकी प्रभामें (प्रकाशमें) प्रकाशशक्तिका ही अनुवर्तन है, दाहशक्तिका अनुवर्तन नहीं है। इसी प्रकार वेदके उपादानभूत ब्रह्ममें भी बोधशक्ति—ज्ञानशक्ति—का ही अनुगम होता है, यदि ऐसा माना जाय, तो क्या विरोध होगा? वेद सम्पूर्ण पदार्थोंका प्रकाश करता है, इसमें कोई विवाद ही नहीं करना चाहिए, कारण कि पुराण आदि अनेक विद्याओंसे परिपुष्ट किये गये वेदका जो विषय नहीं है, ऐसे पदार्थकी सत्तामें कोई प्रमाण ही नहीं है [अर्थात् वेदमें न आया हुआ पदार्थ आकाशपुष्पके समान है]। ब्रह्ममें वेदोपादानत्व असिद्ध भी नहीं है, कारण कि वेद भी नामरूपात्मक प्रपञ्चके ही अन्तर्गत है और सम्पूर्ण नामरूपात्मक प्रपञ्चका उपादान ब्रह्म ही है, इसका प्रतिपादन सभी उपनिषत् करती हैं।

शङ्का—ब्रह्म वेदका उपादान नहीं माना जा सकता, वेदमें प्रतिपादित सम्पूर्ण विषयोंका अभिज्ञ होनेसे, ऋषि आदिके समान।

समाधान—वेदोक्तमात्राभिज्ञत्वरूप उपाधिसे उक्त अनुमान दूषित है। [ऋषि आदि तो केवल वेदप्रतिपादित ही अर्थ जानते हैं] और ब्रह्म तो वेदप्रतिपादित अर्थसे भी अधिक जानता है। यथा—वेदको अपने विषयके विज्ञानकी अपेक्षा अधिक विषयको जाननेवालेने बनाया है, क्योंकि

दप्यधिकविषयवित्प्रणीतः, वाक्यप्रमाणत्वात्, पाणिनिप्रणीतशास्त्रवत्। संभाव्यते ह्येतत्साध्यम्, लोके वागविषयस्यापि क्षीरगुडादिमाधुर्यविशेषस्याऽनुभवगम्यत्वात्। तथा च वेदस्य व्यवहार्यसर्ववस्तुप्रकाशकत्वात्सर्वज्ञत्वम्। वेदोपादानं ब्रह्म तु व्यवहाशतीतं निजस्वरूपमपि स्वचैतन्येनाऽभिव्यनक्तीति निरतिशयसर्वज्ञम्। अथ वेदोऽपि ब्रह्मस्वरूपं लक्षणया प्रकाशयेत् तथापि वेदः किंचिन्मुख्ययैव वृत्त्या प्रकाशयति किंचिल्लक्षणया किंचित्सामान्येन किंचिद्विशेषेण। ब्रह्म

वेद वाक्यस्वरूप प्रमाण है, पाणिनि द्वारा रचे गये व्याकरणशास्त्रके तुल्य। इस साध्यका सम्भव भी है, क्योंकि लोकमें वाणीके विषय न होनेवाली दूध और गुड़ आदिकी मधुरता (मिठास) का विशेष अन्तर केवल अनुभवसे ही जाना जाता है। [इस दृष्टान्तसे वाणीरूप वेदके विषय ऐसे भी कुछ पदार्थ हैं जिनका अनुभव ब्रह्मको है, यह सिद्ध किया गया। शङ्का उत्पन्न होती है कि अभी कहा गया है कि वेदबाह्य वस्तुके होनेमें कोई प्रमाण ही नहीं है और अब कहा जाता है कि वेदबाह्य भी वस्तु है, जिसका ज्ञान ब्रह्म करता है, इससे आपके कथनमें परस्पर विरोध होता है, इसके समाधानमें उत्तर है कि उक्त विरोध तात्पर्यको न समझनेसे प्रतीत होता है। वेदबाह्य वस्तु न माननेका तात्पर्य यह है कि जो कुछ भी वागिन्द्रियगोचर पदार्थ है, वह सब वेदका विषय है, ऐसा कोई वाग्विषय पदार्थ नहीं है कि जो वेदबाह्य माना जा सके, परन्तु वागविषय पदार्थ ही नहीं है, ऐसा इसका तात्पर्य नहीं है। इसी वागविषय पदार्थका भी ज्ञाता ब्रह्म है, ऐसा कहा गया है, इससे कोई विरोध नहीं आता।] इससे वेद भी व्यवहारके विषय सकल पदार्थोंका प्रकाशक है, इसलिए वह सर्वज्ञ माना जाता है। परन्तु वेदका उपादानभूत ब्रह्म तो वागादिके सम्पूर्ण व्यवहारके अविषय अपने स्वरूपको भी अपने चैतन्य द्वारा प्रकाशित करता है, इसलिए निरतिशय सर्वज्ञ है। [इससे अधिक सर्वज्ञ हो नहीं सकता, यह सर्वज्ञताकी सीमा है]। यद्यपि वेद भी ब्रह्मस्वरूपको लक्षणाके द्वारा ('तत्त्वमसि' आदि वाक्योंमें भागत्यागलक्षणा अथवा शुद्ध लक्षणाके द्वारा प्रातिपदिकार्थमात्र शुद्ध चैतन्यरूप अर्थमें तात्पर्यका निश्चय किया गया है) ब्रह्मके स्वरूपको प्रकाशित कर ही सकता है, तथापि वेद तो कुछ विषयको मुख्यवृत्ति (अभिधानशक्ति) के द्वारा और कुछ विषयको लक्षणावृत्तिके द्वारा प्रकाशित

तु सर्वं सर्वात्मना प्रकाशयतीति वेदादप्यधिकाभिज्ञमेव।

ननु वेदस्य ब्रह्मणा प्रणयनं नामोच्चारणमात्रं चेदुपाध्यायवद् ब्रह्माऽसर्वज्ञं स्यात् । अर्थं बुद्ध्वा रचितत्वे व्याकरणादिवद्वेदः पौरुषेयः स्यात् । अथ मन्यसे प्रमाणान्तरेणाऽर्थमुपलभ्य विवक्षित्वा रचिता व्याकरणादयो मानान्तरसापेक्षतया पौरुषेया भवन्तु नाम वेदस्य तु नित्यज्ञानजन्यनित्येच्छावता ईश्वरेण रचितस्य मानान्तरनिरपेक्षस्य कथं पौरुषेयत्वमिति । नैतत्सारम् , तादृगीश्वरे प्रमाणाभावात् । अनुमानानामीश्वरासाधकत्वस्य पूर्वसूत्रे दर्शितत्वात् । आगमस्तत्साधक इति चेद् , न; उक्तेश्वरसिद्धौ तत्प्रोक्तागमप्रामाण्यसिद्धिः, तत्सिद्धौ चोक्तेश्वरसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयत्वात् ।

कर सकता है, एवं कुछ विषयोंको सामान्यरूपसे और कुछको विशेषरूपसे प्रकाशित करता है, परन्तु ब्रह्म तो सबको ही सर्वस्वरूपसे (सामान्य विशेष सभी प्रकारसे) प्रकाशित करता है, इसलिए वेदकी अपेक्षा उसको अधिक सर्वज्ञ ही मानना उचित है।

यदि केवल ब्रह्म द्वारा शब्दोंका उच्चारणमात्र वेदकी रचना मानी जाय, तो उपाध्यायके—वेदशिक्षकके—समान ब्रह्म भी असर्वज्ञ होगा । अर्थज्ञानपूर्वक यदि वेदकी रचना मानी जाय, तो व्याकरण आदि शास्त्रोंकी भाँति वेद पौरुषेय—पुरुषप्रणीत—माने जायँगे । यदि कहो कि दूसरे प्रमाणोंके द्वारा प्राप्त अर्थकी विवक्षासे रचे गये व्याकरण आदि शास्त्र दूसरे प्रमाणोंकी अपेक्षा रखनेसे पौरुषेय भले ही माने जायँ, परन्तु वेद तो नित्यज्ञानसे उत्पन्न हुई नित्य इच्छावाले ईश्वरसे रचे गये हैं, इसलिए दूसरे प्रमाणकी अपेक्षा न रखनेसे पौरुषेय कैसे माने जा सकते हैं, तो यह भी कथन मूल्यवान् नहीं है, कारण कि नित्यज्ञानजन्य नित्य इच्छावाले ईश्वरके माननेमें कोई प्रमाण नहीं है। कथित अनुमान ईश्वरके साधक नहीं हैं, ऐसा पूर्व सूत्रमें ही प्रतिपादन किया गया है। आगम—शास्त्र—को ईश्वरके साधनमें प्रमाण कहा जाय, तो यह भी नहीं बनता, कारण कि कथित ईश्वरकी सिद्धि होनेके अनन्तर ही उससे कहे गये शास्त्रमें प्रामाण्य सिद्ध हो सकता है और आगममें प्रामाण्यसिद्धिके अनन्तर ही आगम-

वेदस्याऽनपेक्षत्वादेव प्रामाण्यं नेश्वरप्रोक्तत्वाद् अतो नेतरेतराश्रय इति चेद् , एवमपीश्वरेच्छा नित्या ज्ञानजन्या चेति व्याहतिर्दुष्परिहरा । अथाऽर्थं बुद्ध्वा रचितत्वे समेऽपि व्याकरणादीनां वक्त्रभिप्रायप्रयुक्तत्वात्पौरुषेयत्वं वेदानां त्वध्ययनविधिप्रयुक्तत्वादपौरुषेयतेति चेद् , न; विमता वेदा वक्त्रभिप्रायप्रयुक्ता नाऽध्ययनविधिप्रयुक्ता वा, अर्थं बुद्ध्वा रचितत्वाद् , व्याकरणादिवदिति पौरुषेयताया दुर्वारत्वात् । न च वेदानां चैतन्याख्यनिर्विकल्पकज्ञानपूर्वकत्वं व्याकरणादिवैषम्यमिति वाच्यम् , चैतन्यस्याप्यभिलषितसाधनोपरागे सविकल्पकत्वात् ।

नन्वपौरुषेया वेदाः प्रवाहाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वादात्मव-

---

प्रतिपादित ईश्वरकी सिद्धि हो सकती है, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष आ जाता है ।

यदि कहा जाय कि वेद दूसरे प्रमाणोंकी अपेक्षा न रखनेसे ही प्रमाण है, ईश्वररचित होनेके कारण नहीं, इसलिए अन्योन्याश्रय दोष नहीं आ सकता, तो भी ईश्वरकी इच्छा नित्य है और वह ज्ञानसे उत्पन्न होती है, इस प्रकारका व्याघात तो नहीं हटाया जा सकता [अर्थात् नित्यको जन्य मानना विरुद्ध है] ।

शङ्का—अर्थज्ञानपूर्वक रचा जाना यद्यपि समान ही है, तथापि व्याकरण आदि शास्त्रोंका वक्ताके अभिप्रायके अनुसार प्रयोग होनेके कारण वे पौरुषेय माने जाते हैं, परन्तु वेदोंका प्रयोग अध्ययनविधिके द्वारा होता है, अतः वे पौरुषेय नहीं माने जा सकते ।

समाधान—विमत वेद वक्ताके अभिप्रायसे प्रयुक्त हैं अथवा अध्ययनविधिसे प्रयुक्त नहीं हैं, कारण कि व्याकरणादि शास्त्रोंके सदृश वे अर्थज्ञानपूर्वक रचे गये हैं, इस प्रकार अनुमानके प्रयोगसे वेदोंका पौरुषेय होना नहीं हटाया जा सकता । व्याकरण आदि शास्त्रोंकी अपेक्षा वेदोंमें चैतन्यनामक निर्विकल्पज्ञानपूर्वकत्वरूप विषमता भी नहीं कही जा सकती, कारण कि चैतन्यका अभीष्ट उपायके साथ संसर्ग होनेपर उसे सविकल्पक ही मानना होगा । [क्योंकि निर्विकल्पसे कोई भी संसर्ग नहीं हो सकता ।]

शङ्का—वेद पौरुषेय नहीं है, प्रवाहके विच्छेद न होते हुए इनके कर्ताका स्मरण न होनेसे, आत्माके तुल्य । [जैसे आत्माका प्रवाह बरावर

दिति चेत्, किमत्र स्मरणागोचरकर्तृकत्वं हेतुः उताऽप्रमीयमाणकर्तृकत्वम् ? आद्यो जीर्णकूपादावनैकान्तिकः । द्वितीयोऽसिद्धः, वेदो विशिष्टबहुज्ञपुरुषप्रणीतः, बह्वर्थविषयवाक्यप्रमाणत्वाद्, भारतवत्; 'स इदं सर्वमसृजत ऋचो यजूँषि सामानि' इत्यनुमानागमाभ्यां वेदे कर्तुः प्रमीयमाणत्वात् । एवं तर्हि वेदस्य पौरुषेयत्वप्रसङ्ग इष्ट इति चेद्, न; प्रामाण्यभङ्गप्रसङ्गात् । न तावन्नित्येच्छादिमदीश्वररचितत्वात् प्रामाण्यम्, दूषितत्वात् । नापि महाजनपरिग्रहाद् देहात्मभावचन्द्रप्रादेशमात्रत्वादीनां महाजनपरिगृहीतानामेवाऽप्रामाण्यदर्शनात् । स्मृतिपुराणपित्रादिवाक्यवदर्थस्य

चला आ रहा है और उसके कर्ताका ज्ञान नहीं होता, अतः वह किसी पुरुष द्वारा प्रणीत नहीं है, वैसे ही वेदोंका भी प्रवाह बराबर चला आ रहा है, और कर्ताका पता नहीं है, अतः वे पुरुषप्रणीत नहीं माने जा सकते ।]

समाधान—इस अपौरुषेत्वके साधक अनुमानमें क्या कर्ताका स्मरण-विषय न होनारूप हेतु है ? या कर्ताका निश्चय न हो सकनारूप हेतु है ? इनमें प्रथम कल्प तो पुराने कूप आदिमें व्यभिचरित है । [बहुत पुराने कूपादि कार्योंके कर्ताका भी स्मरण नहीं रहता है ।] दूसरा कल्प असिद्धि दोषसे दूषित है, कारण कि 'वेद विशिष्ट और अधिक ज्ञानशाली पुरुष द्वारा रचा गया है, क्योंकि वह भारत ग्रन्थके समान अनेक अर्थोंको विषय करनेवाला वाक्यरूप प्रमाण है', इस अनुमान तथा 'उसने इस दृश्यमान सम्पूर्णको रचा, तथा ऋक्, यजु और साम वेदोंको' इस प्रकारके अर्थवाले आगमसे वेदकी रचनाके विषयमें कर्ताका निश्चय होता ही है ।

शङ्का—तब तो उक्त तर्कके अनुसार वेदमें पुरुषप्रणीतत्वका प्रसङ्ग ही हो जायगा ।

समाधान—नहीं, नहीं होगा, कारण कि ऐसा माननेसे वेदके प्रामाण्यका भङ्ग हो जायगा । नित्य इच्छा आदिवाले ईश्वरके द्वारा रचित होनेसे भी वेदका प्रामाण्य नहीं कह सकते, क्योंकि इसमें पहले ही दोष दे आये हैं । [अर्थात् इस प्रकारका ईश्वर प्रमाणसिद्ध ही नहीं है ।] महाजन—अधिक जनसमुदाय—के सम्मत होनेसे भी प्रामाण्य नहीं आ सकता, कारण कि चन्द्रमाके प्रादेश—बित्ता—मात्र परिमाण आदिका, जो कि महाजनके द्वारा परिगृहीत ही है, अप्रामाण्य देखा गया है ।

मानान्तरसिद्धतया प्रामाण्यं स्यादिति चेद्, मैवम्; किं वेदार्थभूतौ धर्माधर्मौ प्रत्यक्षेणाऽनुभूतौ उताऽऽगमान्तरेण। न चरमः, अनवस्थानात्। प्रथमेऽपि नहि तावदस्मदादिप्रत्यक्षेण धर्माधर्मावुपलभामहे। नापि योगिप्रत्यक्षं तद्ग्राहकम्, तस्य स्वविषयरूपादिष्वेवाऽतिशयकरत्वात्। न चाऽऽत्मसमवेततया धर्माधर्मौ मानसप्रत्यक्षाविति वाच्यम्, वेदसृष्टिकाले धर्माधर्मयोर्भाविनोरवर्तमानत्वात्। पूर्वकल्पानुष्ठितौ धर्माधर्मौ तदा वर्तेते एवेति

शङ्का—स्मृति, पुराण तथा पिता आदिके वाक्योंके सदृश अर्थके दूसरे प्रमाणसे सिद्ध होनेके कारण वेदोंका प्रामाण्य मान लिया जायगा [जैसे प्रमाणान्तरसे सिद्ध अर्थके प्रतिपादक स्मृति आदिके वाक्य प्रमाण होते हैं, वैसे ही वेदवाक्य भी प्रमाण मान लिए जायँगे]।

समाधान—वेदके तात्पर्यार्थस्वरूप धर्म और अधर्म [विधिवाक्यका तात्पर्य धर्ममें है और निषेधका अधर्ममें] क्या प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा जाने गये हैं? या दूसरे (वेदसे इतर) शास्त्र द्वारा?। दूसरा कल्प नहीं बन सकता, कारण कि इसमें अनवस्था दोष आ जाता है। [दूसरेसे आगमके तात्पर्यार्थका ज्ञान तीसरेसे, तीसरेका चौथेसे इत्यादि परम्परा न रुकेगी] प्रथम कल्पमें भी हम ऐसे साधारण मनुष्य प्रत्यक्षसे धर्म और अधर्मका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। योगियोंका प्रत्यक्ष भी धर्म और अधर्मका ज्ञान प्राप्त करानेवाला नहीं हो सकता, कारण कि योगीका प्रत्यक्ष अपने विषय रूप आदिमें ही अतिशय प्राप्त कर सकता है [चक्षुरादिके अगोचर धर्म और अधर्मका दर्शन नहीं कर सकता। 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः—' इस भगवद्वाक्यमें दिव्यपदका भी इतना ही तात्पर्य है—सम्पूर्ण विराट्रूपके दर्शनकी सामर्थ्य उत्पन्न हो जाय। अविषयकी दर्शनसामर्थ्य नहीं हो सकती, अतएव अभियुक्तोंका वचन है—'न रूपे श्रोत्रवृत्तिता']। आत्मसमवेत होनेसे धर्म और अधर्म मानस प्रत्यक्षके विषय भी नहीं हो सकते, कारण कि वेदकी रचनाके अवसरपर आगे होनेवाले धर्म और अधर्म अनुवर्तमान ही नहीं थे। [धर्माधर्म तो वैदिक-प्रमाणगम्य हैं, वेदकी रचनाके पूर्व तो वे सिद्ध ही नहीं थे, अतः वेद-रचनाकालमें उनकी अनुवृत्ति कैसे होगी? अनुवृत्ति तो पूर्वसिद्ध पदार्थकी ही हो सकती है। अतः मानस प्रत्यक्षके विषय भी नहीं हो सकते।] पूर्व कल्पमें किये गये

चेद्, न; पूर्ववेदसृष्टावपि तथेत्यनवस्थायामन्धपरम्पराप्रसङ्गात्। तस्मात्पौरुषेयत्वे वेदस्य प्रामाण्यं दुःसम्पादम्। अत एव सुगता आर्हताश्चाऽप्रमाणं वेदमाहुरिति चेद्, न; तेषां स्वागमेष्वप्रामाण्यप्रसङ्गात्। अत एव लोकायत आगममात्रं नेच्छतीति चेद्, न; तस्य वाक्यमात्राप्रामाण्ये वादानधिकारः, लौकिकवाक्यप्रामाण्ये किमपराद्धं वेदवाक्यैः। तदेवं पौरुषेयत्वे वेदस्येष्टं प्रामाण्यं प्रभज्येत ? अपौरुषेत्वे ब्रह्मण उपाध्यायवदसर्वज्ञत्वं प्रसज्येतेति।

धर्म और अधर्म उस कालमें विद्यमान ही हैं, यह मानना भी उचित नहीं है, कारण कि उस पूर्व कल्पके वेदोंकी रचनाकालमें भी पूर्वोक्त प्रकारका [उससे भी पूर्व कल्पमें अनुष्ठित धर्माधर्मोंकी अनुवृत्ति मानना] समाधान देनेसे अनवस्था दोष आ जानेपर अन्धपरम्पराका प्रसङ्ग आ जाता है। इसलिए वेदको पुरुषप्रणीत माननेसे उसके प्रामाण्यका समर्थन नहीं हो सकता। इसी कारणसे बौद्ध तथा जैनमतावलम्बियोंने वेदको प्रमाण नहीं माना, यह कहना भी उचित नहीं है, कारण कि उनको (वेदको अप्रमाण माननेमें पौरुषेयत्वरूप हेतुसे) अपने (बौद्ध और जैन) शास्त्रोंमें अप्रामाण्य माननेका प्रसङ्ग आ जायगा। [उनके शास्त्र भी तो पौरुषेय हैं, अतः उनको भी अप्रमाण मानना होगा]। यही कारण है कि लोकायत—नास्तिक—आगममात्रको नहीं चाहता। [आगममात्र पुरुषप्रणीत है, अतः वह किसीको भी प्रमाण मानना नहीं चाहता], परन्तु उसका कथन भी उचित नहीं है, कारण कि, वाक्यमात्रको अप्रमाण माननेसे नास्तिकका वादमें—तत्त्वजिज्ञासारूप परस्पर शास्त्रार्थकथामें—अधिकार ही नहीं हो सकता। [वाक्योंको सर्वथा अप्रमाण माननेवाला अपना अभिप्राय किस साधनसे प्रकट कर सकेगा ? और प्रतिवादीका अभिप्राय कैसे समझेगा ? अतः उस प्रलापीके कथनपर कोई भी ध्यान देना उचित न समझेगा।] यदि वह नास्तिक [वादमें अपना अधिकार पानेके लिए] लौकिक वाक्योंमें प्रामाण्य मान ले, तो हम पूछ सकते हैं कि तब वैदिक वाक्योंने क्या अपराध किया है कि वे प्रमाण न माने जायँ ? इस प्रकार वेदको पुरुषप्रणीत माननेमें उसका प्रामाण्य नष्ट होता है। और वेदको पुरुषप्रणीत न माननेसे ब्रह्ममें उपाध्यायके—गुरुके—तुल्य असर्वज्ञत्वका प्रसङ्ग हो जायगा है।

अत्रोच्यते—पौरुषेयत्वं तावन्न सहामहे । तथाहि—किं शब्दार्थतत्संबन्धानां पौरुषेयत्वमुत क्रमावस्थितवाक्यानाम् । आद्येऽपि न तावज्जीवाः कर्तारः । तथा सति कश्चित्सागरं विवक्षित्वा मेरुशब्दमपि वाचकत्वेन प्रयुञ्जीत, स्वतन्त्रत्वात् । नापीश्वरः कर्ता, कल्पादिषु शब्दार्थसंबन्धव्यवहारः पूर्वपूर्वव्यवहारपरम्पराधीनः, अभिधानाभिधेयव्यवहारत्वाद्, इदानीन्तनव्यवहारवत्, इत्यनादित्वानुमानात् । न च डित्थादिसाङ्केतिकशब्देष्वनेकान्तः, तेषां गाव्यादिशब्दवदभिधानाभासत्वात् । न द्वितीयः,

समाधान—इस शङ्काके उत्तरमें कहा जाता है कि वेदकी पुरुष द्वारा रचना हम नहीं सह सकते, क्योंकि प्रश्न हो सकता है कि क्या शब्द, अर्थ, तथा उनके सम्बन्धकी रचना पुरुष द्वारा हुई है, ऐसा मानते हो ? या क्रमसे रखे गये (पौर्वापर्ययुक्त) वाक्योंकी रचना पुरुष द्वारा हुई, ऐसा मानते हो ? [वेद शब्दार्थ तथा उनका सम्बन्ध और पौर्वापर्यविशिष्ट वाक्य दोनों रूपवाला है, इनमें किस रूपकी रचना पुरुष द्वारा मानते हो ?' प्रथम पक्ष माननेमें भी जीव तो उसकी रचनाके कर्ता हो नहीं सकते । यदि जीव कर्ता माना जाय, तो कोई जीव समुद्रका बोध करानेकी इच्छा करके मेरुशब्दको भी समुद्ररूप अर्थका वाचक बनाकर उसे प्रयोगमें लावेगा, कारण कि वह शब्दार्थसम्बन्धकी रचनामें स्वतन्त्र है । ईश्वरको भी कर्ता नहीं मान सकते, कारण कि शब्दार्थसम्बन्धमें अनुमानसे अनादित्व सिद्ध होता है । अनुमानप्रयोग इस प्रकार है—'कल्पादिकालोंमें शब्दार्थसम्बन्धरूप व्यवहार पूर्व-पूर्व व्यवहारपरम्पराके अधीन है, अभिधान-अभिधेय-व्यवहार होनेसे, [अभिधान शब्द है और अभिधेय अर्थ है अर्थात् वाच्यवाचकव्यवहार] इस कालमें होनेवाले वाच्यवाचकव्यवहारके तुल्य । 'जैसे वर्तमानमें घटशब्दार्थसम्बन्ध अनादि है, वैसे ही आदि कालमें भी अनादि ही था । डित्थ आदि संज्ञाशब्दोंमें इसका व्यभिचार नहीं दिया जा सकता, कारण कि वे डित्थादि शब्द गावी आदि अपभ्रंशशब्दोंके तुल्य शब्दाभास माने गये हैं । [साधुशब्द नहीं माने जाते] 'पररीत्या परो बोधनीयः' न्याय लेकर नैयायिक असाधुशब्दोंमें शक्ति नहीं मानते, अतः वे शब्दाभास माने गये हैं । [वस्तुतः डित्थ आदि शब्दोंमें भी अनादि ही वाच्यवाचकभाव है, इसलिए कोई व्यभिचार नहीं आता] । क्रमिक वाक्यरचनारूप द्वितीय

सृष्टिकालीनं वेदाध्ययनं पूर्ववेदाध्ययनानुस्मृतिनिबन्धनम्, वेदाध्ययनत्वाद्, इदानीन्तनवेदाध्ययनवत्, इत्यनादित्वसिद्धेः। न चैवं सर्वेष्वपि ग्रन्थेष्विदमनादित्वं सुसाधमिति वाच्यम्, तैस्तैरेव ग्रन्थैस्तत्कर्तृणां प्रतिपादनात् तदागमविरोधात्। इहाऽपि श्रुत्यैव वेदस्य कर्ता प्रतिपाद्यत इति चेत्, किं हिरण्यगर्भविषयया 'इदं सर्वमसृजत ऋचो यजूँषि' इत्यादिश्रुत्या किं वेश्वरविषयया 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम्, इत्यादिश्रुत्या ? नाऽऽद्यः, 'यो ब्रह्माणं विदधाति' इत्यादिश्रुतौ हिरण्यगर्भोत्पत्तेः प्रागेव वेदसद्भावावगमात्। सतामेव वेदानां हिरण्यगर्भबुद्धौ प्राथमिकमाविर्भावमभिप्रेत्याऽसृजतेति श्रुतिरप्युपपन्ना। न द्वितीयः; उपादानप्रकरणपठिता सा श्रुतिः ईश्वरस्य वेदोपा-

---

पक्ष नहीं कह सकते, कारण कि 'सृष्टिकालका वेदाध्ययन पूर्वकालमें किये गये वेदाध्ययनके स्मरण द्वारा हुआ है, वेदाध्ययन होनेसे, वर्तमानकालके वेदाध्ययनके तुल्य' इस अनुमानके द्वारा पौर्वापर्यविशिष्ट वाक्यरूप वेदमें अनादित्व ही सिद्ध होता है।

शङ्का—तब तो इस प्रकारका अनादित्व सभी ग्रन्थोंमें सरलतासे सिद्ध किया जा सकता है।

समाधान—उन्हीं ग्रन्थोंसे अपने-अपने कर्ताओंका—रचयिताओंका—प्रतिपादन होनेसे उन ग्रन्थरूप आगमोंसे विरोध आ जाता है। [इसलिए सभी ग्रन्थ अनादि नहीं हो सकते] यदि कहो कि प्रकृतमें भी श्रुतिके द्वारा ही वेदके कर्ताका प्रतिपादन किया जाता है, तो यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि यहांपर प्रश्न होगा कि क्या हिरण्यगर्भको विषय करनेवाली 'इस सबको रचा तथा ऋक् और यजुर्वेदको—' इत्याद्यर्थक श्रुतिसे उसका प्रतिपादन होता है ? अथवा ईश्वरका निर्देश करनेवाली 'इस महान् ईश्वरका यह निःश्वास है—' इत्याद्यर्थक श्रुतिसे ? इनमें प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता, कारण कि 'जो ब्रह्म हिरण्यगर्भको रचता है'—इत्याद्यर्थक श्रुतिसे हिरण्यगर्भकी उत्पत्तिसे पहले भी वेदके सद्भावका बोध होता है। पूर्वसिद्ध वेदोंका ही हिरण्यगर्भकी—ब्रह्माकी—बुद्धिमें सबसे पहले प्रादुर्भाव हुआ, इसलिए 'असृजत' (बनाया) यह श्रुति भी उपपन्न हो गयी। [हिरण्यगर्भने ही वेदका प्रथम दर्शन (ज्ञान) पाया, इसलिए उपचारतः 'हिरण्यगर्भने वेदको बनाया' ऐसा श्रुतिमें कहा गया है, नूतन रचना नहीं कही गयी है] दूसरा—ईश्वरको विषय करनेवाली श्रुतिके द्वारा कर्ताका निर्देशरूप—पक्ष भी साधक नहीं है, कारण कि उक्त श्रुति उपादान-

दानत्वमेव ब्रूते न तु वेदकर्तृत्वमपि । ईश्वरोपादनत्वमपौरुषेयत्वं च विरुद्धमिति चेद्, न; एतादृशापौरुषेयत्वस्याऽङ्गीकृतत्वात् । भारतादीनां व्यासादिभिर्मानान्तरेणाऽर्थं बुद्ध्वा रचितत्वं पौरुषेयत्वम् । ततो मूल-प्रमाणापेक्षं तत्प्रामाण्यम् । वेदो नार्थं बुद्ध्वा रचितः, असर्वज्ञवचनत्वाभावे सति धर्माधर्मब्रह्मप्रमाणत्वात्, परपरिकल्पितेश्वरबुद्धिवत् । तथा च ब्रह्मकार्यस्याऽपि वेदस्य स्वतःसिद्धप्रामाण्ये न काचिद्धानिः । ननु प्रमाणदृष्टवादी ह्याप्तः, तददृष्टस्योत्प्रेक्षितस्य च वक्ता नाऽऽप्तः । तथा च वेदो न प्रमाणम्, आप्ताप्रणीतवाक्यत्वाद्, उन्मत्तवाक्यवत्, इति चेद्,

---

कारणके प्रदर्शक प्रकरणमें पढ़ी गई है, इसलिए ईश्वर वेदका उपादान कारण है, ऐसा ही कहती है, वेदका कर्ता है, ऐसा नहीं कहती है। ईश्वरोपादानकत्व और अपौरुषेयत्व दोनोंका एक स्थलमें होना विरुद्ध है [पुरुषप्रणीत कार्यका ही उपादान कारण होता है, इसलिए सोपादानक पदार्थको पुरुषप्रणीत कार्यके विरुद्ध अपौरुषेय नहीं कह सकते], ऐसा भी नहीं माना जा सकता, कारण कि इस प्रकारका अपौरुषेयत्व—ब्रह्मोपादानकत्व होते हुए भी पुरुषप्रणीतत्वका न होना—स्वीकार ही करते हैं, [इसलिए अपौरुषेय होनेसे वेदोंका स्वतःप्रामाण्य है और जो पुरुष-प्रणीत हैं, उनका परतःप्रामाण्य होता है।] जैसे'—भारत आदि ग्रन्थोंका प्रणयन श्रीव्यासजीने दूसरे वेदादि प्रमाणों द्वारा अर्थका निश्चय करके किया है, इसलिए वे ग्रन्थ पौरुषेय माने जाते हैं। अतः मूल (जिसके द्वारा अर्थ ज्ञान करके ग्रन्थोंका प्रणयन किया गया हो, ऐसे) प्रमाणकी अपेक्षा करके उनका प्रामाण्य माना जाता है। 'वेद अर्थज्ञानपूर्वक रचित नहीं है, असर्वज्ञवचन न होता हुआ धर्माधर्ममें प्रमाणस्वरूप होनेसे, नैयायिक आदि दूसरे वादियोंके सम्मत ईश्वरकी बुद्धिके समान'। [इस अनुमानसे वेदमें भारतादिसे वैलक्षण्य सिद्ध होता है] इसलिए ब्रह्मका कार्य होनेपर भी वेदके स्वतःसिद्ध प्रामाण्य माननेमें कोई हानि नहीं है।

शङ्का—प्रमाण द्वारा निश्चित अर्थका वक्ता ही आप्त (शिष्ट) कहलाता है, प्रमाणोंसे अनिश्चित केवल अपनी कल्पनासे कल्पित अर्थका वक्ता आप्त नहीं कहलाता है। इसलिए प्रमाणदृष्ट अर्थका वक्ता न होनेसे वेद प्रमाण नहीं माना जा सकता, कारण कि वह आप्त पुरुष द्वारा नहीं बनाया गया है, उन्मत्त पुरुषके वाक्यके तुल्य।

मेवम् ; वेदः प्रमाणम् , अनाप्तप्रणीतवाक्यत्वात् , मन्वादिवाक्यवत् , इत्यपि प्रयोगात् ।

कथं तर्हि निर्णय इत्युच्यते—प्रामाण्यं स्वतःसिद्धमप्रामाण्यं तु कारणदोषादिति ह्यस्मत्सिद्धान्तः । अत्रोन्मत्तवाक्यस्य भ्रान्त्योत्प्रेक्षया वा दुष्टं ज्ञानं मूलम् , इत्यप्रामाण्यमुचितम् । मन्वादिवाक्यस्य स्वत एव प्रामाण्ये सत्याप्तप्रणीतत्वाख्यो गुणोऽपि प्रतिबन्धककारणदोषनिवारकतयोपयुज्यते । वेदस्य तु प्रतिबन्धासंभवादन्तरेणैव गुणं स्वतः प्रामाण्यं सिध्यति । नन्वाप्तप्रयोगानपेक्षत्वे स्मर्यमाणेनाऽपि घटशब्देन घटः प्रमीयेत ? प्रमीयतां नाम, यत्र-कुत्रचित् पुरोवर्तिनि तु घटरहिते स्थले प्रमाणान्तरविरोधाद् न प्रमास्यते ।

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रतिपक्षी अनुमानसे वेदका प्रामाण्य सिद्ध हो सकता है । [अनुमानप्रयोग दिखलाते हैं—] वेद प्रमाणभूत है, क्योंकि वह अनाप्तसे नहीं बनाया गया है, मनु आदिके वाक्यके समान ।

तब निर्णय कैसे होगा ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर निर्णयका प्रकार कहा जाता है—वेदका प्रामाण्य तो स्वतःसिद्ध है और अप्रामाण्य कारणके दोपसे होता है, यह हम वेदान्तियोंका सिद्धान्त है । इसमें उन्मत्तवाक्यका मूलभूत ज्ञान भ्रम तथा कल्पना रूपसे दोपसे युक्त है, इसलिए उसको अप्रमाण मानना उचित है । यद्यपि मनु आदिके वाक्यका प्रामाण्य स्वतः ही सिद्ध है, तथापि आप्त द्वारा रचितत्वरूप गुण भी प्रामाण्यके प्रतिबन्धक दोपके निवारणका हेतु होनेसे वह प्रामाण्यबोधनमें उपयुक्त होता है । परन्तु वेदमें तो किसी प्रतिबन्धकके न होनेसे गुणके बिना ही प्रामाण्य स्वतःसिद्ध होता है ।

शङ्का—यदि आप्तप्रयोगकी अपेक्षा न होगी, तो स्मृत घटशब्दसे भी घटकी प्रमा—निश्चय—हो जायगी ।

समाधान—उस स्थलमें निश्चय हो जाय, कोई हानि नहीं है, परन्तु घटशून्य किसी भी सामनेके स्थानपर दूसरे प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके साथ विरोध आनेसे 'स्मरणविपयीभूत शब्दसे' घटकी प्रमा न होगी, [इसलिए प्रमाजनक आप्तोपदेश आवश्यक होता है] ।

अथ मतं कस्यचित्कदाचिदसति प्रमाणान्तरोदये तस्मिन्नपि स्थले घटः स्मर्यमाणशब्दाद् प्रमीयते, तर्ह्याप्तप्रयोग एव प्रामाण्ये हेतुरस्तु। स च प्रयोगो द्वेधा निष्पद्यते—मन्वादिवाक्यानि मानान्तरेणाऽर्थमुपलभ्य प्रयुक्तानि । वेदवाक्यानि पूर्वपूर्वप्रयोगाननुस्मृत्य प्रयुक्तानि । उन्मत्तवाक्यानि पुनस्तदुभयाभावादप्रमाणान्येव ।

नन्वेवं वेदे प्रामाण्यमन्धपरम्पराग्रस्तं भवेदिति चेत्तर्ह्येवं व्यवस्थाऽस्तु । स्मर्यमाणशब्देभ्यस्तात्पर्याभावान्नाऽर्थप्रमितिः । वेदे पुनरध्ययनविधितात्पर्यादाप्तप्रयोगाभावेऽपि प्रमितिरुत्पत्स्यत इति। न चाऽध्ययनविधि-

---

शङ्का—यदि कदाचित् किसी देशमें किसी कारणविशेषसे दूसरे विरोधी प्रामाणका उदय नहीं होगा, तो स्मरणविषयीभूत शब्द द्वारा घटादिकी प्रमा हो ही जायगी।

समाधान—उक्त अतिप्रसङ्गका वारण करनेके लिए आप्त पुरुषके प्रयोगको ही प्रामाण्यमें कारण मानिये । और यह प्रामाण्यग्राहक आप्तप्रयोग दो प्रकारका होता है—एक तो प्रमाणान्तरोंसे अर्थज्ञान प्राप्तकर प्रयुक्त हुए मनु आदिके वाक्य अर्थात् मनुस्मृति आदि-स्मृतियाँ तथा पुराण-ग्रन्थ और दूसरा पूर्व पूर्व कल्पके प्रयोगोंका स्मरण करके प्रयुक्त हुए वेदवाक्य । उन्मत्त वाक्योंमें उक्त दोनों प्रकारोंके न होनेसे वे तो अप्रमाण—प्रामाण्य—शून्य—ही हैं ।

शङ्का—इस रीतिसे तो वेदमें अन्धपरम्पराप्राप्त ही प्रामाण्य होगा ।

समाधान—इस दोषके वारणके लिए निम्न प्रकारकी व्यवस्था (निर्णय) मानिये । स्मरणके विषयभूत (स्मृतिमें आये हुए) शब्दोंसे अर्थका निश्चय नहीं हो सकता, कारण कि स्मर्यमाण शब्दोंमें कोई तात्पर्य नहीं रहता। वक्ताका ही तात्पर्य शब्दों द्वारा बोधित होता है, उसके बोधनमें उच्चरित शब्द ही समर्थ होता है, अनुच्चरित नहीं, परन्तु वेदमें तो अध्ययनविधिके द्वारा ही तात्पर्यकी प्रतीति हो जाती है, [अन्यथा तात्पर्यशून्यके अध्ययनविधानका कोई प्रयोजन ही नहीं रह जायगा], इसलिए आप्तप्रयोगके न होनेपर भी प्रामाण्य—निश्चयजनकत्व—का उदय हो जायगा । अध्ययनविधि-

वाक्यस्य तात्पर्याभावादप्रामाण्यं शङ्कनीयम् , स्वेनैव तात्पर्यसिद्धेः । न चैवमात्माश्रयो दोषः, शब्दशब्दवत्स्वपरनिर्वाहकेष्वविरोधात् । अतो ब्रह्मवद्वेदस्याऽपि पर्यालोचनायामनादित्वं पर्यवस्यति, न तु कालिदासादिग्रन्थवत्पौरुषेयत्वम् । न चाऽनादित्वेऽपि पुराणवाक्यवदन्यथासंनिवेशप्रणयनं शङ्कनीयम् , नियतक्रमविशिष्टानामेव वर्णपदवाक्यप्रकरणकाण्डादीनां वेदशब्दवाच्यानां कल्पादिप्रलययोरप्याविर्भावतिरोभावमात्रभाजां कूटस्थनित्यत्वाङ्गीकारात् ।

तर्हि वेदो न ब्रह्मोपादानः, अनादित्वात् , कूटस्थनित्यत्वाच्च, ब्रह्मवदिति चेद् , स्वतन्त्रत्वोपाधिहतत्वात् । वेदस्तु ब्रह्मपरतन्त्रः, ब्रह्मण्यारोपितत्वाद् ,

---

वाक्यके तात्पर्यके अभावसे अप्रामाण्यकी शङ्का नहीं की जा सकती, कारण कि स्वयं अपने ही द्वारा तात्पर्यकी सिद्धि हो जाती है । इसी प्रकार आत्माश्रय दोष भी नहीं देना चाहिए, क्योंकि शब्द-शब्दकी भाँति अपने तथा दूसरेके निर्वाहकोंमें आत्माश्रय दोषसे विरोध नहीं आता । [जैसे शब्द-शब्द अपने स्वरूपका भी स्वयं ग्रह कराता है और घट, पट आदि दूसरे शब्दोंका भी बोध कराता है ।] इससे ब्रह्मके समान वेदमें भी, विचार करनेपर, अनादित्व निश्चित होता है, कालिदास आदिके बनाये हुये ग्रन्थोंके सदृश पौरुषेयत्व सिद्ध नहीं होता । अनादि माननेपर भी पुराणवाक्योंके सदृश पौर्वापर्यक्रम तथा पदोंका परिवर्तन करके पुरुष द्वारा उनकी रचनाकी आशङ्का नहीं की जा सकती, कारण कि निश्चित पौर्वापर्यक्रमसे युक्त वर्ण, पद, वाक्य, प्रकरण तथा काण्ड आदि ही वेदशब्दके अर्थ हैं, इसलिए वे कूटस्थ नित्य माने गये हैं । केवल कल्पके आदिमें वेदका प्रादुर्भाव और प्रलयकालमें तिरोभावमात्र होता है [अर्थात् वेद उत्पत्ति और विनाशसे रहित हैं याने वेदका वर्णादिमें से कोई भी क्रम नहीं बदल सकता । यथानुपूर्वीसे ही वेदका प्रादुर्भाव होता है, अतः उसमें पौरुषेयत्वकी किसी प्रकार भी आशङ्का नहीं हो सकती] ।

शङ्का—तब तो 'वेद ब्रह्मोपादानक अर्थात् ब्रह्मकार्य नहीं हो सकता, अनादि और कूटस्थ नित्य होनेसे, ब्रह्मके तुल्य' इस अनुमानसे वेदका उपादान ब्रह्म नहीं हो सकता ।

समाधान—उक्त अनुमान स्वतन्त्रत्वरूप उपाधि दोषसे दूषित है ।

यथा रज्ज्वामारोपितो रज्जुतन्त्रः सर्पः ।

ननु रज्जुसर्पवद्वेदस्य कथं मिथ्यात्वमुच्यते ? निर्वक्तुमशक्यत्वादिति ब्रूमः । तथाहि—किं वर्णमात्रं वेदः किं वा क्रमसहिता वर्णाः ? नाऽऽद्यः, अक्रमव्युत्क्रमोच्चारितेषु वर्णेषु वेदबुद्ध्यभावात् । द्वितीयेऽपि स क्रमः किं वर्णनिष्ठ उच्चारणनिष्ठो वा उपलब्धिनिष्ठो वा ? वर्णनिष्ठत्वेऽपि तावत्क्रमो न देशकृतः संभवति, वर्णानां सर्वगतत्वात् । नाऽपि कालकृतः, नित्यत्वात् । नाऽपि वस्तुकृतः, विरोधात् । नह्येकदैव राजा जारेति जकारस्य पूर्वापरभावो युक्तः । नाऽप्युच्चारणनिष्ठः क्रमो वर्णेषूपरज्यते, उच्चारणतत्क्रमयोः श्रोत्राविषयत्वात् । वेदस्तु वर्णात्मा श्रोत्रग्राह्यः । उपलब्धिनिष्ठोऽपि किं वर्णानां धर्म उत वर्णेष्वारो-

---

दृष्टान्तभूत ब्रह्म स्वतन्त्र है, पक्षभूत वेद स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि वह उपादानभूत ब्रह्ममें आरोपित है, जैसे उपादानस्वरूप रज्जुमें आरोपित रज्जुसर्प रज्जुके अधीन है ।

शङ्का—वेदको रज्जुसर्पकी भांति मिथ्या पदार्थ कैसे कहते हैं ?

समाधान—निर्वचन करना सम्भव न होनेसे मिथ्या कहा जा रहा है, ऐसा हमारा कहना है, [निर्वचनका असम्भव दिखलाते हैं—] क्योंकि क्या केवल वर्ण ही वेद हैं ? अथवा क्रमविशिष्ट वर्ण वेद हैं ? प्रथम कल्प नहीं हो सकता, कारण कि क्रमके बिना तथा उलट-पुलट उच्चारण किये गये वर्णोंमें वेदबुद्धि नहीं होती है । दूसरे पक्षमें भी क्या वह क्रम वर्णोंमें है ? या उच्चारणमें ? अथवा उपलब्धि (श्रावण प्रत्यक्ष) में ? वर्णोंमें माननेसे भी वह क्रम देशकृत नहीं हो सकता, क्योंकि वर्ण सर्वत्र व्याप्त हैं । कालकृत भी नहीं हो सकता, क्योंकि वर्ण नित्य हैं । वस्तु द्वारा भी नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें विरोध आता है, कारण कि एक ही समयमें राजा—इस क्रमसे युक्त वर्णोंमें—जार ऐसा जकारका आगे पीछे चला जाना युक्तियुक्त नहीं है । उच्चारणमें विद्यमान क्रम वर्णोंमें सम्बन्ध नहीं कर सकता, क्योंकि उच्चारण और उच्चारणका क्रम श्रोत्रेन्द्रियका विषय नहीं है । [वर्ण ही कानके विषय होते हैं, क्रियात्मक उच्चारण नहीं] और वेद तो वर्णस्वरूप और श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य है । उपलब्धिमें विद्यमान भी क्या

प्यते किं वा वर्णानामुपलक्षणम् ? नाऽऽद्यः; अन्यनिष्ठस्याऽन्यधर्मत्वानुपपत्तेः । द्वितीयेऽप्यख्यातिवादिनः क्रममात्रस्य वा वर्णमात्रस्य वा वेदशब्दानर्हत्वाद् विशिष्टप्रत्ययस्याऽनङ्गीकाराद् अविवेकमात्रमेव वेद इति अर्थावबोधो न स्यात् । अन्यथाख्यातौ पुनर्विशिष्टप्रत्ययस्याऽनङ्गीकाराद्, (अविवेकमात्रत्वात्) विशिष्टार्थस्य चाऽभावाद् ज्ञानातिरिक्तो वेदो न स्यात् । न तृतीयः, क्रमविशिष्टवर्णप्रत्ययस्य प्रत्यक्षत्वात् ।

वर्णोंका धर्म है अथवा वर्णोंमें आरोपित किया जाता है ? अथवा वर्णोंका उपलक्षण है ? इनमें प्रथम पक्ष नहीं मान सकते, कारण कि अन्यमें रहनेवाला अन्यका धर्म नहीं हो सकता। दूसरे पक्षके माननेमें भी क्रम-मात्र या वर्णमात्र वेद नहीं माना जाता और अख्यातिवादी—मीमांसकके मतमें विशिष्टज्ञान माना नहीं गया है । अतः अविवेक-मात्र ही वेद कहलायेगा, उससे अर्थबोध नहीं हो सकेगा। [यदि वर्णोंमें उपलब्धिगत क्रमका आरोप माना जाय, तो वह अन्यमें अन्य धर्मका प्रतिभास होनारूप भ्रमज्ञान होगा—और अख्यातिवादी मीमांसक उक्त लक्षणलक्षित भ्रमको परोक्षापरोक्ष दोनों ज्ञानोंका विवेक न होना रूप ही मानता है, जैसे कि प्रथम वर्णकके अध्यासवादमें स्पष्टरूपसे दिखलाया गया है। इससे अतिरिक्त विशिष्ट एक ज्ञान नहीं मानता]। अन्यथाख्यातिवादीके—विज्ञानवादी बौद्धैक-देशी, अथवा नैयायिकके—मतमें यद्यपि विशिष्ट ज्ञानका अङ्गीकार है, [तथापि वह ज्ञान तो भ्रममात्र है।] अतः उक्त विशिष्ट अर्थका अभाव होनेसे विज्ञानसे अतिरिक्त वेद और कुछ न होगा। [बौद्ध आन्तर विज्ञानमय वस्तुका धर्मभूत अनादि वासनासे आरोपित बाह्य वस्तुमें प्रतीत होनेवाले 'इदमिदम्' इत्यादि विशिष्ट ज्ञानको भ्रम मानता है और नैयायिक पुरोवर्ती शुक्ति आदिमें आपणस्थ रजत आदिमें रहनेवाले रजतत्वके आरोप द्वारा उत्पन्न 'यह रजत है' इस विशिष्ट ज्ञानको भ्रम मानते हैं। दोनोंके मतमें बाह्यार्थ शून्य ही भ्रमात्मक विशिष्ट ज्ञान होता है, सामने देशमें वास्तविक बाह्य वस्तुका अभाव ही है। इसलिए यह दूसरा आरोप पक्ष अन्यथाख्याति या अख्याति किसी मतमें भी नहीं बन सकता, इसलिए परिशेषात् उसे अनिर्वचनीय ही मानना होगा]।

तीसरा पक्ष—उपलक्षण मानना—भी उचित नहीं है, कारण कि क्रमविशिष्ट

अतोऽनिर्वचनीयो वेदः। अनिर्वचनीयस्यापि तुच्छव्यावृत्तत्वात् देहात्मवदर्थक्रियासामर्थ्यमविरुद्धम्। तदेवं ब्रह्मविवर्ततयाऽकार्यस्याऽपि वेदस्याऽनादित्वकूटस्थनित्यत्वाभ्यां मानान्तरादर्थोपलब्धिपूर्वकपुरुषेच्छाधीननिष्पाद्यत्वाभावान्न पौरुषेयत्वदोषः, सर्वार्थप्रकाशकवेदोपादानस्य ब्रह्मण उपाध्यायवैलक्षण्यादसर्वज्ञत्वदोषोऽपि न। न च ब्रह्मणः सर्वप्रकाशस्य सर्वसंसर्गित्वादेव सर्वज्ञतासिद्धौ वेदोपादानत्वेन तत्साधनं व्यर्थमिति वाच्यम्, वाय्वाकाशरसगन्धादिसंसर्गिणः सवितृकिरणस्य तत्प्रकाशकत्वा-

वर्णोंका ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। उपलक्षण वह माना जाता है जो कदाचित् रहा हो और इदानीं न रहता हुआ भी परिचायक हो। प्रकृतमें वर्णके साथ क्रमका सम्बन्ध ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि वेदमें सर्वदा क्रमविशिष्ट ही वर्ण रहते हैं, क्रमशून्य वर्ण कभी भी नहीं रहते, जिससे क्रम उपलक्षण * माना जाय। इन सब कारणोंसे वेद अनिर्वचनीय है। अनिर्वचनीय होते हुए भी वेदके तुच्छ—वन्ध्यापुत्र आदि अलीक—पदार्थोंसे विलक्षण तथा व्यावहारिक सत्तावान् होनेसे देहमें आत्माभिमानके समान उसे व्यवहार करने करानेकी सामर्थ्यसे युक्त मानना कोई विरुद्ध नहीं है। इस प्रकार ब्रह्मका विवर्तरूप कार्य (अतात्त्विक परिणाम) होनेसे तथा अकार्य—किसी पुरुष द्वारा नहीं रचे हुए—वेदमें अनादित्व और कूटस्थ नित्यताके सिद्ध होनेके कारण प्रमाणान्तरोंसे अर्थज्ञान प्राप्त करके पुरुषकी इच्छाके अनुसार वेदका रचा जाना नहीं हो सकता, इसलिए वेदमें पौरुषेय—पुरुषप्रणीत—होनेका दोष नहीं आ सकता। और सम्पूर्ण अर्थोंका—विषयोंका—प्रकाश करनेवाले वेदके उपादानस्वरूप ब्रह्ममें उपाध्यायकी—आधुनिक गुरुकी—अपेक्षा विलक्षणता आनेके कारण असर्वज्ञ—अल्पज्ञ—होनेका दोष भी नहीं आता। स्वयंप्रकाश ब्रह्मका सकल अर्थजातके साथ सम्बन्ध होनेसे सर्वज्ञ होना सिद्ध हो ही जाता है, पुनः शास्त्रयोनित्व—वेदोपादानत्व—रूप हेतुके द्वारा उसका समर्थन करना व्यर्थ नहीं कहा जाना चाहिए, कारण कि वायु, आकाश, रस, तथा गन्ध आदि पदार्थोंके

* 'यावत्कार्यमवस्थायिभेदे हेतोरुपाधिता। कादाचित्कतया भेदधीहेतुरुपलक्षणम्" यावत्कार्य पर्यन्त भेदका कारण अनन्वयी होता हुआ उपाधि कहलाता है। और यदि कादाचित्क भेदका कारण हो तो उपलक्षण कहलाता है।

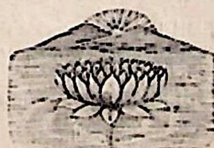
दर्शनात् । तस्मात् सर्वार्थप्रकाशनसमर्थसर्ववेदोपादानतयैव सर्वज्ञत्वं साधनीयमिति सूत्रकाराभिप्रायः ।

इति श्रीविद्यारण्यमुनिप्रणीते विवरणप्रमेयसङ्ग्रहे तृतीयसूत्रस्य प्रथमं वर्णकं समाप्तम् ।



साथ सम्बन्ध रखनेवाली सूर्यकी किरण उन वायु आदि पदार्थोंकी प्रकाशक हो, ऐसा नहीं देखा गया है । [अतः सर्वसंसर्गित्वमात्रसे सर्वज्ञत्व—सर्वप्रकाशकत्व—सिद्ध नहीं हो सकता] इसलिए सम्पूर्ण विषयोंके प्रकाशनमें—ज्ञान करानेमें—समर्थ सम्पूर्ण वेदका उपादान होनेसे ही सर्वज्ञताका साधन करना चाहिए, ऐसा सूत्रकारका अभिप्राय है ।

इति श्री पं० ललिताप्रसादडबराल-विरचित-विवरणोपन्यास-भाषानुवादमें तृतीयसूत्रका प्रथम वर्णक समाप्त ।



अथ तृतीयसूत्रे द्वितीयं वर्णकम्

अथवा द्वितीयसूत्रे लक्षणमभिधायाऽनेन प्रमाणं प्रतिज्ञायते—शास्त्रयोनित्वादिति, वेदप्रमाणकत्वादित्यर्थः। अनेकार्थसूचकत्वं सूत्रस्याऽलङ्कारो न वाक्यदोषमावहति, विश्वतोमुखमिति सूत्रलक्षणे दर्शनात्। ब्रह्मप्रमापकं च वेदवाक्यं 'यतो वा इमानि' इत्यादि। यद्यप्येतत्पूर्वसूत्र एवोदाहृतं तथाप्येतत्सूत्रवैयर्थ्यं नाऽस्ति, एतत्सूत्रप्रतिपाद्यं शास्त्रैकवेद्यत्वं ब्रह्मणोऽभिलक्ष्य पूर्वसूत्रस्याऽऽगमग्रथने तात्पर्याभिधानात्। अन्यथा पूर्वसूत्रस्य युक्त्युपन्यासमात्रे तात्पर्यं को निवारयेत्? युक्त्युपन्यासमात्रत्वे च प्रतिकार्यं

तृतीय सूत्रका द्वितीय वर्णक

[पूर्व वर्णकमें वेदका उपादान कारण होनेके कारण ईश्वर सर्वज्ञ है, ऐसा सिद्ध किया गया, अब द्वितीय सूत्र ही से लक्षणप्रतिपादन द्वारा सर्वज्ञताकी सिद्धि माननेपर भी वस्तुकी सिद्धिके लिए प्रमाणकी भी आवश्यकता होती है, क्योंकि 'लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः', ऐसा न्याय है, इसलिए इस द्वितीय वर्णकसे तृतीय सूत्रका तात्पर्य दिखलानेके लिए कहते हैं—] अथवा दूसरे सूत्रमें लक्षण दिखलाकर इस तीसरे सूत्रसे प्रमाणकी प्रतिज्ञा करते हैं—शास्त्र योनि याने प्रमाण होनेसे अर्थात् ब्रह्ममें वेद प्रमाण होनेसे, ऐसा अर्थ हुआ। सूत्रका यह भूषण ही है कि वह अनेक प्रकारके अर्थोंका सूचन करे, इससे सूत्रमें (अनेकार्थकत्वरूप) वाक्यदोष नहीं आ सकता, कारण कि सूत्रके लक्षणमें 'विश्वतोमुख' चारों ओर दृष्टि रखनेवाला (अर्थात् अनेक अर्थोंका सूचन करनेमें समर्थ), ऐसा विशेषण देखा गया है। ब्रह्ममें प्रमाणभूत वेदवाक्य 'यतो वा इमानि' (जिस ब्रह्मसे यह सब भूत) इत्यादि लेने या समझने चाहिए। यद्यपि 'यतो वा' इत्यादि वेदवाक्य उदाहरणरूपसे पूर्व सूत्रमें ही दिखलाये गये हैं, तथापि इस सूत्रको (पुनः इन वाक्योंको दृष्टान्त देनेके लिए) निष्प्रयोजन नहीं मान सकते, कारण कि ब्रह्मका केवल शास्त्र द्वारा ही बोध होता है, इस प्रकार इस तीसरे सूत्रके प्रतिपादनीय विषयको लक्ष्य करके ही पूर्व सूत्रका 'यतो वा'—इत्यादि श्रुतिवाक्योंका उद्धरण करनेमें तात्पर्य है, अन्यथा पूर्व सूत्रका केवल युक्ति मात्र दिखलानेमें तात्पर्य है इस अतिप्रसङ्गका निवारण कौन कर सकेगा? और

पृथक्कारणजन्यताया अपि संभवात्सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म जगत्कारणमित्ययमर्थो न सिद्ध्येत्। न च बृहतेर्धातोरर्थानुगमात्तत्सिद्धिः, बृहत्यर्थवाचिनो ब्रह्मशब्दस्याऽपि वेद एव प्रयोगात्। नहि लोके जगत्कारणे ब्रह्मशब्दः प्रयुज्यते। अतो जन्माद्यस्य यतः शास्त्रैकप्रमाणं तद् ब्रह्मेत्येतावदिदमेकं सूत्रम्, तावता युक्तिमात्रशङ्कानिवृत्तेः। पृथक्करणं तु शास्त्रोपादानत्वेन सर्वज्ञत्वं सुसंपादमिति व्याख्यानान्तरेण कथयितुम्। तस्माज्जगज्जन्मादिनिमित्तोपादानकारणं सर्वज्ञं ब्रह्म शास्त्रैकगम्यमिति सूत्रद्वयेन सिद्धम्।

तत्र बिम्बस्थानीयं ब्रह्म मायाशक्तिमत्कारणं जीवाश्च प्रत्येकमविद्या-

---

केवल युक्तिके प्रदर्शनमें तात्पर्य माननेसे तो प्रत्येक कार्यके पृथक्-पृथक् कारणोंसे उत्पन्न होनेका भी सम्भव होनेसे 'सर्वज्ञ, सकल शक्तिशाली एक ब्रह्म ही सम्पूर्ण संसारका कारण है' इस अभीष्ट अर्थकी सिद्धि नहीं हो सकेगी। बृहि धातुके अर्थानुगम द्वारा भी उक्त अर्थकी सिद्धि नहीं हो सकती, कारण कि बृहि धातुके अर्थके वाचक ब्रह्मशब्दका प्रयोग भी तो वेदमें ही आया है। संसारके कारणभूत किसी वस्तुके लिए लोकमें ब्रह्मशब्दका प्रयोग नहीं किया जाता है, इसलिए 'जिसके द्वारा इस विश्वके जन्म आदि होते हैं, वह ब्रह्म केवल शास्त्रप्रमाणक है' इतने ही अर्थमें तात्पर्य रखनेवाला यह एक तीसरा सूत्र है। इससे युक्तिमात्रकी शङ्का निवृत्त हो जाती है। पृथक् सूत्र करना तो शास्त्रोपादानस्वरूप हेतुसे ब्रह्मके सर्वज्ञत्वका भली भाँति संपादन किया जा सकता है, ऐसा दूसरे व्याख्यानसे कहनेके लिए है। इस निष्कर्षसे संसारके जन्म आदिका निमित्त तथा उपादान-कारणभूत सर्वज्ञ ब्रह्म केवल शास्त्र द्वारा जाना जा सकता है, ऐसा अर्थ दोनों सूत्रोंसे सिद्ध होता है।

[एक शुद्ध ब्रह्म मायावश जगद्रूपमें परिणत होता हुआ कारण माना जाय, तो विद्याके उत्पन्न होनेपर अविद्याका विनाश हो जानेसे संसारकी निवृत्ति हो जानी चाहिए, इससे एककी ही मुक्तिसे सबकी मुक्ति होगी, इस अतिप्रसङ्गका वारण करनेके लिए मतभेद दिखलाते हैं—] बिम्बस्थानीय मायाशक्तिशाली ब्रह्म प्रपञ्चका कारण है और प्रत्येक जीव अपनी-अपनी (प्रारब्ध कर्मोपार्जित) अविद्यासे घिरे हैं, [इससे जिसमें विद्याका उदय होगा उसीमें

नुबन्धा इति केचित् ।

मायाविद्याप्रतिबिम्बितं जगत्कारणं विशुद्धब्रह्मामृतत्वालम्बनं जीवाश्चाऽविद्यानुबन्धा इत्यन्ये ।

प्रथमे पक्षे मायाविद्ययोर्भेदः ब्रह्मणश्च न प्रतिबिम्बता द्वितीये तु तद्वैपरीत्यमिति विशेषः ।

ब्रह्मसिद्धिकारास्त्वेवमाहुः—जीवा एव स्वाविद्यया प्रत्येकं प्रपञ्चाकारेण ब्रह्मणि विभ्राम्यन्ति, ब्रह्म तु मायाविशिष्टं बिम्बरूपं प्रतिबिम्बरूपं वा न जगत्कारणम् । यत्त्वया दृष्टं तन्मया दृष्टमिति संवादस्तु बहुपुरुषावगतद्वितीयचन्द्रवत्सादृश्यादुपपद्यते ।

अविद्याके नष्ट होनेसे उसका ही संसार विलीन होगा, सबका नहीं] ऐसा कोई वादी मानते हैं ।

दूसरे वादियोंका मत है कि मायारूप अविद्यामें प्रतिबिम्बित ब्रह्म विश्वका कारण है और मायारहित शुद्ध ब्रह्म अमृतत्वका—मुक्तिका—स्थान है और जीव अविद्या ही से आवृत रहते हैं । [इस मतमें भी पूर्व मतकी भाँति अविद्याके नानात्वसे समाधान किया जाता है । दोनों मतोंमें भेद दिखलाते हैं—]

प्रथम मतमें माया और अविद्यामें भेद माना गया है और ब्रह्म प्रतिबिम्बरूप नहीं माना गया है । दूसरे मतमें तो इसके विपरीत है (अर्थात् माया और अविद्यामें भेद नहीं माना गया और ब्रह्मका प्रतिबिम्बरूप होना भी माना गया है)।

[ब्रह्मसिद्धिनामक ग्रन्थके रचयिताका (सुरेश्वराचार्यका) कहना है कि जीव ही अपनी-अपनी अविद्याके बलसे प्रत्येक घट, पट आदि रूप प्रपञ्चके आकारसे ब्रह्मविषयक भ्रममें पड़े रहते हैं (अर्थात् अपनी अविद्या द्वारा ब्रह्मको प्रपञ्चाकारमें प्रकट करते हैं) मायाविशिष्ट बिम्बरूप या प्रतिबिम्बरूप ब्रह्म तो प्रपञ्चका कारण नहीं है । [इस मतमें भी अविद्याका नानात्व और प्रपञ्चभेदसे ही समाधान समझना चाहिए] । [प्रपञ्चभेद माननेमें अतिप्रसङ्गका समाधान करते हैं—] 'जिस (घटादि) को तुमने देखा उस (घटादि) को मैंने देखा' इस प्रकार संवाद—दोनोंके दर्शनके विषय घटादि प्रपञ्चमें एकताकी प्रतीति—तो अनेक पुरुषोंसे ज्ञात हुए दूसरे चन्द्रमाके तुल्य सादृश्यमहिमासे होता है । [जैसे सर्वसम्मतिसे चन्द्रमाका एक होना ही सिद्ध है, परन्तु

स्वरूपेणाऽधिष्ठानत्वमपेक्ष्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वव्यपदेश इतीष्टसिद्धिकाराः प्रकारान्तरेण वर्णयन्ति। ब्रह्मैकमेव स्वाविद्यया जगदाकारेण विवर्त्तते स्वप्नादिवदिति।

सर्वेऽप्येते सिद्धान्ताः, प्रक्रियाणां तत्त्वावबोधाय कल्पितत्वादिति सर्वं निर्मलम्।

इति श्रीविद्यारण्यमुनिप्रणीतविवरणप्रमेयसंग्रहे तृतीयसूत्रस्य
द्वितीयं वर्णकं समाप्तम्।

इति तृतीयसूत्रम्।



पुरुषके अक्षिगत दोषके कारण कभी कभी दो चन्द्रमा दिखलाई पड़ते हैं। वह दूसरा चन्द्रमा केवल दोषसे कल्पित है और दोष सबके पृथक्-पृथक् हैं, इसलिए उन पृथक्-पृथक् दोषोंसे कल्पित चन्द्रमा भी पृथक्-पृथक् ही हैं, परन्तु सादृश्यके बलसे संवाद हो जाता है एवं प्रतिपुरुषस्थ पृथक्-पृथक् अविद्यासे पृथक्-पृथक् जीवोंने अपने आपमें घट, पट आदि विश्वकी कल्पना की, परन्तु उनमें सादृश्यकी महिमासे ही संवाद—व्यवहार—हो जाता है। इष्टसिद्धिकार पूर्वोक्त मतका ही दूसरे प्रकारसे वर्णन करते हैं—]

स्वरूपतः अधिष्ठानत्वकी अपेक्षा करके ब्रह्म विश्वका कारण है, ऐसा व्यवहार होता है। एक—अद्वितीय—ब्रह्म ही अपनी अविद्याके द्वारा प्रपञ्चके आकारसे विवर्तरूप परिणामको प्राप्त होता है, स्वप्नादिके तुल्य। [जैसे स्वप्न केवल मनका ही विवर्तरूप है, वैसे ही विश्व भी ब्रह्मका विवर्त है।] उक्त प्रकारके सभी सिद्धान्त हैं, और उनकी प्रक्रियाओंकी कल्पना तत्त्वका—रहस्यका—ज्ञान होनेके ही लिए की गई है, अतः सब कुछ निर्मल—दोषरहित—है। [इससे सिद्धान्तोंकी रीतिके भेदसे अद्वैततत्त्वमें हानि नहीं आ सकती, क्योंकि ये तो सब तत्त्वज्ञानके उपायभूत कल्पनामात्र हैं, अतः उपायोंमें रहनेवाला भेद उपेयमें भेद नहीं ला सकता।]

इति श्री पं० ललिताप्रसादडबरालविरचितविवरणोपन्यास-
भाषानुवादमें तृतीय सूत्रका द्वितीय वर्णक समाप्त।



अथ चतुर्थं सूत्रम्

तृतीयसूत्रे ब्रह्मणि वेदान्ताः प्रमाणमिति प्रतिज्ञातं चतुर्थसूत्रे तत्प्रामाण्यमुपपाद्यते ।

ननु सूत्रकारवचनविरोधाद्भूतवस्तुप्रतिपादनायोगात्प्रयोजनशून्यत्वादनधिगतार्थत्वाभावाच्च न ब्रह्मणि वेदान्तप्रामाण्यं संभवति । सूत्रकारो हि जैमिनिः 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' इति सूत्रेणाऽक्रियार्थानां वेदान्तानामानर्थक्यमेवाऽऽह । यद्यप्यादिमध्यावसानेषु वेदान्तानां ब्रह्मैक्यतात्पर्यदर्शनाद् नाऽऽनर्थक्यसंभवस्तथापि न प्रामाण्यं घटते । ब्रह्मबोधका वेदान्ता न प्रमाणम्, मानान्तरयोग्यत्वे सति मानान्तरानुपलभ्यस्य ब्रह्मणो बोधकत्वात्,

---

अथ चतुर्थ सूत्र

तीसरे सूत्रमें प्रतिज्ञा की गयी कि ब्रह्ममें वेदान्तवाक्य प्रमाण हैं, अब चतुर्थ सूत्रसे उन वेदान्तवाक्योंका प्रामाण्य सिद्ध किया जाता है ।

शङ्का—ब्रह्मका प्रतिपादन करनेमें वेदान्तवाक्योंका प्रामाण्य नहीं हो सकता, कारण कि सूत्रकार—पूर्वमीमांसाकार—जैमिनि मुनिके वचनसे विरोध आता है और सिद्धस्वरूप वस्तुका प्रतिपादन करनेके लिए अवसर ही नहीं आ सकता एवं उसका प्रतिपादन करनेसे कोई प्रयोजन—अभीष्ट—ही सिद्ध नहीं होता है । [तथा उसका प्रतिपादन किन्हीं अपूर्व-प्रमाणान्तरोंसे अज्ञात विषयका प्रतिपादन स्वरूप नहीं होता । प्रामाण्य उन्हीं वाक्योंका माना जाता है, जिनमें उक्त दोष न आते हों । उक्त दोषोंका क्रमशः समन्वय करते हैं—] सूत्रोंके रचयिता जैमिनि मुनिने 'शास्त्र क्रियाके लिए है'—इत्याद्यर्थक सूत्रके द्वारा जो क्रियार्थक नहीं हैं उन वेदान्तवाक्योंको निरर्थक (प्रयोजनशून्य) ही कहा है । यद्यपि आदि (उपक्रम), मध्य (अभ्यास) और अवसान (उपसंहार) में वेदान्तवाक्योंका ब्रह्मकी अद्वितीयतामें तात्पर्य होनेसे वे निरर्थक नहीं हो सकते, तथापि उनका (वेदान्तवाक्योंका) प्रमाण होना संगत नहीं है, [कारण कि अनुमानसे उनका अप्रामाण्य सिद्ध होता है । अनुमानप्रयोग दिखलाते हैं—] 'ब्रह्मका बोध करानेवाले वेदान्त प्रमाण नहीं माने जा सकते, क्योंकि वे दूसरे प्रमाणोंके योग्य होकर

यथा स्पर्शयोग्यस्य स्पर्शाऽनुपलभ्यस्य चित्रगतनिम्नोन्नतभावस्य बोधकं चाक्षुषज्ञानम्। न च विशेषणासिद्धिः, ब्रह्म मानान्तरयोग्यम्, परिनिष्ठित-वस्तुत्वाद्, घटादिवद्। न च ब्रह्मैकप्रमाणवेद्यम्, परिनिष्ठितत्वात्, गन्धा-दिवदिति वाच्यम्, चक्षुःस्पर्शनग्राह्येषु घटादिद्रव्येष्वनैकान्त्यात्। तथापि प्राभाकराभिमतं कार्यं प्रमाणान्तरयोग्यम्, तुच्छव्यावृत्तत्वाद्, घटवत्, इत्याभाससमानत्वमिति चेद्, न; परिनिष्ठितत्वस्योपाधित्वात्। अनुमेय-

दूसरे प्रमाण द्वारा न जाने गए ब्रह्मके बोधक हैं, जैसे स्पर्श द्वारा जानने योग्य स्पर्श द्वारा न जाने जाते हुए चित्रमें दिखलाये गये निम्नोन्नतभाव—ऊँचाई-निचाई—का बोध करानेवाला चाक्षुष प्रत्यक्ष। [चाक्षुष प्रत्यक्षसे चित्रमें ऊँचाई-निचाईका ज्ञान होता है और ऊँचाई-निचाई स्पर्शके योग्य भी है, परन्तु वह चित्रमें स्पर्शसे ज्ञात नहीं हो सकती। अतः चित्रमें चक्षुसे ऊँचानीचापनका देखना भ्रम है। यदि यथार्थ होता तो स्पर्शसे भी प्रतीत होता एवं सिद्ध वस्तुभूत ब्रह्म शब्दसे अतिरिक्त प्रमाणोंसे भी जाना जा सकता है, परन्तु जाना जा रहा है केवल वेदान्तरूप शब्द ही से, अतः तादृश शब्द प्रमाके जनक नहीं माने जा सकते, सिद्ध वस्तुको केवल शब्दैकगम्य मानना उचित नहीं है, अतः उसको प्रमाणान्तरयोग्य ही मानना चाहिए] 'मानान्तरयोग्यरूप' विशेषणका न हो सकना भी नहीं माना जा सकता, कारण कि ब्रह्म प्रमाणान्तर योग्य—दूसरे प्रमाणोंसे ज्ञात होने योग्य—है, कारण कि वह घटादि पदार्थोंके सदृश परिनिष्ठित—सिद्ध—वस्तुरूप है। 'ब्रह्म केवल एक प्रमाणके ही द्वारा जाना जा सकता है, परिनिष्ठित होनेसे गन्ध आदि परिनिष्ठित पदार्थोंके तुल्य' ऐसा अनुमान भी नहीं हो सकता, कारण कि चक्षु और स्पर्शके द्वारा प्रतीत होने योग्य घटादि द्रव्योंमें व्यभिचार है।

शङ्का—[यद्यपि उक्त अनुमानसे सिद्ध वस्तुमें प्रमाणान्तरयोग्यता प्रतिपादित की गई—] तथापि (उक्त अनुमान) प्रभाकरानुयायियोंका सम्मत कार्य प्रमाणान्तर योग्य है, तुच्छसे पृथक् होनेसे, घट आदिके तुल्य, [जैसे घट आदि तुच्छ—वन्ध्यापुत्र आदि अलीक—पदार्थसे विलक्षण हैं, अतः प्रमाणान्तरयोग्य हैं, वैसे कार्य भी हैं] इस अनुमानाभासके समान है (अर्थात् पूर्वोक्त अनुमान भी सदनुमान नहीं है)।

भविष्यद्वृष्ट्यादौ परिनिष्ठितत्वाभावान्न साध्यव्याप्तिरिति चेद्, एवमपि प्रमाणान्तरयोग्यत्वं प्रति प्रतियोग्यपेक्षस्य तुच्छव्यावृत्तत्वस्य प्रयोजकत्वे गौरवं तन्निरपेक्षस्य परिनिष्ठितत्वस्य प्रयोजकत्वे लाघवमिति नाऽस्त्येव साम्यम्। ब्रह्म शब्दैकगम्यम्, रूपादिभिर्व्याप्तिग्रहादिभिश्च हीनत्वात्, परकीयकार्यवत्, इति चेद्, न; अनुभवगम्यताया अपि भवद्भिरङ्गीकारात्। एवं च सति प्रथमानुमाने हेतुगतं मानान्तरानुपलभ्यस्येति विशेषणमसिद्धमिति चेद्, न; अनुमातॄणां ब्रह्मानुभवासिद्धौ विशेषणासिद्धेः।. अतः

समाधान—इस अनुमानके तुल्य पूर्वोक्त अनुमान नहीं है, कारण कि इस अनुमानमें परिनिष्ठितत्वरूप उपाधि है (अर्थात् दृष्टान्तभूत घटादि परिनिष्ठित भी हैं और प्रमाणान्तरयोग्य भी हैं, परन्तु कार्य परिनिष्ठितस्वरूप नहीं है)। (उपाधिमें साध्यव्यापकत्वका व्यभिचार देते हैं—) अनुमानसे प्रतीत होने योग्य होनेवाली वृष्टि आदिमें परिनिष्ठितत्वके न होनेसे साध्यके साथ व्याप्ति नहीं है, इस प्रकार यदि कहा जाय, तो भी प्रमाणान्तरयोग्यत्वके प्रति प्रतियोगीकी अपेक्षा रखनेवाले तुच्छव्यावृत्तत्वको प्रयोजक माननेमें गौरव है और प्रतियोगीकी अपेक्षासे शून्य परिनिष्ठितत्वको प्रयोजक माननेमें लाघव है, इसलिए पूर्वोक्त अनुमानाभासकी समानता नहीं हो सकती। [इस अनुमानमें प्राणान्तरयोग्यत्वका प्रयोजक तुच्छव्यावृत्तत्व कहा गया है, इसमें तुच्छव्यावृत्तत्वग्रहके लिए प्रतियोगिभूत तुच्छके ज्ञानकी अपेक्षासे गौरव होता है। और पूर्वोक्त अनुमानमें प्रकृत साध्यका प्रयोजक परिनिष्ठितत्वरूप हेतु है, इसमें प्रतियोगीके ज्ञानकी अपेक्षा न होनेसे लाघव है] यदि 'ब्रह्म केवल शब्दप्रमाणसे ही प्रतीत होने योग्य है, कारण कि वह रूप आदि और व्याप्तिग्रह आदिसे रहित है, जैसे कि दूसरेके कार्य हैं' ऐसा कहा जाय, तो भी उचित नहीं है, कारण कि आप तो अनुभवयोग्य भी ब्रह्मको मानते हो। यदि कहो कि ऐसा—अनुभवगम्य—माननेसे प्रथम अनुमानमें दिये गये 'मानान्तरसे न जानने योग्यरूप' हेतुके विशेषणकी सिद्धि नहीं हो सकती, तो ऐसा कहना भी नहीं बनता, कारण कि अनुमान करनेवाले वादीके मतमें ब्रह्मविषयक अनुभवकी सिद्धि न होनेसे उक्त विशेषणकी सि[illegible] हो जाती है, इसलिए संवादक—सदृश अर्थके प्रमापक—मूल

प्रथमानुमानेन संवादकमूलप्रमाणरहितानां वेदान्तानामप्रामाण्यं सिध्यति। अपौरुषेयवचसां न मूलप्रमाणापेक्षेति चेत्, सत्यम्; तथापि 'अहं मनुष्यः' इति प्रत्यक्षेण बाधितत्वात् 'आदित्यो यूपः' इतिवदप्रामाण्यमेव। उक्तप्रत्यक्षस्य दोषजन्यत्वेन श्रुत्यबाधकत्वेऽपि सिद्धे ब्रह्मणि प्रवृत्तिनिवृत्तिसाध्येष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहाररूपप्रयोजनासंभवात् तात्पर्यरहिता वेदान्ता नैव प्रामाण्यं लभन्ते।

अथोच्येत—न प्रयोजनं तात्पर्यं वा प्रामाण्यप्रयोजकं किन्त्वनवगतार्थबोधकत्वमिति। एवमपि मानान्तरायोग्यं कार्यमेव वेदः प्रमापयतु न तु तद्योग्यं सिद्धं ब्रह्म। तस्मादनर्थका वेदान्ताः। अध्ययनविधिपरिगृहीतानामप्रामाण्यमयुक्तमिति चेत्, तर्हि कर्तृरूपस्य जीवस्य देवतारूपस्य ब्रह्मणश्च प्रकाशकत्वेन क्रियाविधिशेषत्वमस्तु, तथा च मन्त्रार्थवादादिवत्प्रामाण्यं सेत्स्यतीति। ब्रह्मविधायकत्वेनैव प्रामाण्यमस्त्विति

प्रमाणोंसे रहित वेदान्तवाक्योंमें प्रामाण्य सिद्ध नहीं होगा। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि अपौरुषेय वाक्योंको मूल प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है, (वे तो स्वतः प्रमाण हैं) तथापि 'मैं मनुष्य हूँ' इस प्रत्यक्षसे बाधित होनेके कारण 'सूर्य यूप—स्तम्भ—है' इस प्रतीतिके समान इनका अप्रामाण्य ही हो जाता है। यद्यपि उक्त 'अहं मनुष्यः' यह प्रत्यक्ष दोषजनित होनेसे श्रुतिका बाधक नहीं हो सकता, तथापि सिद्धभूत ब्रह्मका प्रतिपादन करनेमें प्रवृत्ति और निवृत्तिसे साध्य इष्टप्राप्ति तथा अनिष्टपरिहाररूप किसी भी प्रयोजनका सम्भव न होनेसे वेदान्तवाक्य तात्पर्यशून्य होकर प्रामाण्यको नहीं पा सकते।

यदि कहा जाय कि प्रयोजन या तात्पर्य प्रामाण्यका प्रयोजक नहीं है, किन्तु अनवगत—दूसरे प्रमाणोंसे अज्ञात—अर्थका बोधक होना ही प्रामाण्यका प्रयोजक है, तो भी प्रमाणान्तरके अयोग्य कार्यकी (कर्मकाण्डकी) ही वेद प्रमा करावेगा, प्रमाणान्तरके योग्य सिद्ध ब्रह्मका निश्चयात्मक ज्ञान नहीं करावेगा, इसलिए वेदान्तवाक्य प्रयोजनशून्य ही ठहरे। यदि कहो कि अध्ययनविधिसे प्रयुक्त हुए वेदान्तवाक्योंको अप्रमाण मानना युक्त नहीं है, तो कर्तास्वरूप जीव तथा देवतारूप ब्रह्मके बोधक होनेसे वेदान्तवाक्योंको क्रियाविधिका (अनुष्ठानात्मक कर्मकलापका) अङ्ग मानिये। इससे मन्त्र और अर्थवादके वाक्योंके समान (विधिशेष होनेसे) उनका भी प्रामाण्य सिद्ध हो

चेद्, न; क्रियाविपयस्य विधेः परिनिष्ठतवस्तुन्यसंभवात्। ननु न तावद्वेदान्ता एकस्य विधेः शेपभूताः, 'सोऽरोदीत्' इत्यादिवत्प्रकरणपाठाभावात्। नाऽपि सर्वविधिसमूहस्य, भिन्नवस्तुप्रतिपादकानां सर्वविधीनामेकवाक्यत्वाभावात्। न च धर्मसामान्यमेकमेव सर्वविधिभिः प्रतिपाद्यमिति वाच्यम्, सामान्यस्याऽनुष्ठानानर्हत्वात्। अथोच्येत यथा सर्वक्रतुसंबन्धिन्या जुह्वाः प्रकृतिद्रव्यं समर्पयत्पर्णमयीवाक्यमनारभ्याधीतमपि सर्वक्रतुवाक्यानां प्रत्येकं शेपभावं भजते तथा कर्तुः समर्पका वेदान्ता अपीति। नैतत्सारम्; निर्विशेपप्रधानैर्वेदान्तैरात्मनि स्तूयमाने प्रतिपाद्यमाने वा कर्मप्रवृत्तावनुपयोगात्। न चोपयोगः कल्पयितुं शक्यः, कर्तृत्वादिसर्वविशेपनिराकरणस्य प्रवृत्तिविरोधित्वात्। तस्मान्न क्रिया-

---

जायगा। ब्रह्मके विधायक मानकर (अर्थात् विधिशेप न मानकर) तो उनका प्रामाण्य नहीं बन सकता, कारण कि क्रियाकी विपयभूत विधि सिद्धस्वरूप वस्तुमें नहीं हो सकती। वेदान्तवाक्य किसी एक विधानके अङ्ग तो नहीं माने जा सकते, कारण कि 'वह रोया' इत्याद्यर्थक वाक्यके समान किसी प्रकरणमें उनका पाठ नहीं है। और सम्पूर्ण विधानोंके अङ्ग भी नहीं हो सकते, क्योंकि भिन्न-भिन्न वस्तुके प्रतिपादक सम्पूर्ण विधानोंकी एकवाक्यता नहीं होती। सम्पूर्ण विधियोंसे एक ही धर्मसामान्यका विधान भी नहीं मान सकते, कारण कि सामान्यका अनुष्ठान करना सम्भव नहीं हो सकता, [क्योंकि 'अभियुक्तोंका कथन है—'निर्विशेपं न सामान्यम्' अर्थात् विशेपके बिना सामान्य है ही नहीं।] यदि कहा जाय कि जैसे सम्पूर्ण यागोंसे संबन्ध रखनेवाली जुहूके प्रकृति-द्रव्यका—जिससे वह बनती है उस द्रव्यका—समर्पण करनेवाला 'यस्य पर्णमयी जुहूः' यह वाक्य प्रकरणके बिना यद्यपि पढ़ा गया है, तथापि सम्पूर्ण क्रतुवाक्योंमें वह प्रत्येकका अङ्ग होता है, वैसे ही यज्ञकर्ताका बोध करानेवाले वेदान्तवाक्य भी सब विधियोंके अङ्ग हो जायंगे, तो यह कहना भी सारगर्भित नहीं है, क्योंकि निर्विशेपप्रधान (प्रधानतया विशेपशून्यके प्रतिपादक) वेदान्तवाक्यों द्वारा स्तूयमान अथवा प्रतिपाद्यमान आत्मामें कर्मोंकी प्रवृत्ति होनेपर कोई उपयोग नहीं आता। [कर्मोंकी सफलता और अनुष्ठानयोग्यता तो कर्ता तथा देवता दोनोंके सविशेप होनेसे ही हो सकती है]। उपयोगकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, कारण कि कर्तृत्व आदि सम्पूर्ण विशेपोंका

विधिशेषा वेदान्ताः ।

एवं तर्हि सगुणोपासनाविधिशेषा भवन्तु, न चैवं मन्तव्यम् ; उपासनाविधिशेषैरपि वेदान्तैः सर्वज्ञत्वादिगुणविशिष्टं जगत्कारणं परिनिष्ठितं ब्रह्मस्वरूपं न सिध्यति संवादकमूलप्रमाणाभावात् । अत उपास्यासिद्धौ कथमुपासनाविधिः दूरे तच्छेषत्वं वेदान्तानामिति अनुमानादनिर्दिष्टविशेषे जगत्कारणेऽवगते तस्योपासनाविधौ नित्यशुद्धबुद्धसत्यज्ञानानन्तत्वाद्युपास्यगुणारोपेण वेदान्तानामन्वयात् । ननु वेदान्तानामुपासनाविधिपरत्वेन देवताकाण्डेऽन्वयस्तावन्नाऽस्ति, प्रकरणभेदात्; स्वकाण्डे

निराकरण करना प्रवृत्तिका विरोधी है । इसलिए वेदान्तवाक्य क्रियारूप विधिके अङ्गभूत नहीं हो सकते ।

पुनः वादी अपने मतका समर्थन करता है कि वेदान्त क्रियाकलापात्मक विधिके शेष नहीं हो सकते हों, तो मत हों, परन्तु उन्हें सगुण उपासना (जो क्रियाकलापरूप नहीं है, किन्तु केवल बुद्धिपरिणाममात्र है) रूप विधिके अङ्ग माननेमें क्या हानि है ? समाधान किया जाता है कि ऐसा नहीं मानना चाहिए, कारण कि उपासनाविधिके अङ्गभूत वेदान्तवाक्योंके द्वारा भी सर्वज्ञत्व आदि गुणोंसे युक्त और विश्वके कारण सिद्धवस्तुभूत ब्रह्मका स्वरूप सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें सम्मति देनेवाला (प्रमापक) मूल प्रमाण नहीं है [मूल प्रमाणभूत वेदान्तवाक्य तो उपासनाविधिके अङ्ग हो जाते हैं, इसलिए उनको अतिरिक्त प्रधान प्रमाणकी आवश्यकता होगी] इसलिए उपास्य देवताकी सिद्धि न होनेसे जब उपासनाका विधान ही सङ्गत नहीं हो सकता है, तब उस उपासनाविधिका वेदान्तोंको अङ्ग मानना तो दूर ही रहा (अर्थात् नहीं बन सकता)। इसलिए विश्व-प्रपञ्चका कारण विशेषशून्य है, ऐसा अनुमानसे जान लेनेपर उसमें उपासनाविधिके उपयुक्त नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, ज्ञान, अनन्तत्व आदि गुणोंके आरोपसे वेदान्तवाक्योंका समन्वय होता है । [तात्पर्य यह है कि उपासनाका अङ्ग होनेसे ब्रह्मस्वरूपकी सिद्धि नहीं की जा रही है, किन्तु अनुमान द्वारा ज्ञात उपास्यमें गुणोंके आरोप द्वारा वेदान्तोंका उपासनाविधिमें समन्वय किया जा रहा है]। इस प्रकारका समन्वय, उपासनाविधिपरक माननेसे, किया जाय, तो देवताकाण्डमें अन्वय तो भिन्न प्रकरण होनेसे हो नहीं सकता, केवल ...

तु वस्तुमात्रपर्यवसायिनि न कोऽपि विधिः श्रूयते। न च कल्पयितुं शक्यते, 'पूषा प्रपिष्टभागः' इत्यादौ द्रव्यदेवतासंबन्धवदत्र विधिकल्पकस्याऽश्रुतत्वादिति चेद्, मैवम्; अध्ययनविधिपरिग्रहेण प्रामाण्यं परिकल्प्य तत्प्रामाण्यान्यथानुपपत्त्योपासनाविधेः कल्पयितुं शक्यत्वात्। फलं च 'एतावदरे खल्वमृतत्वम्' इत्याद्यर्थवादगतं मोक्षरूपमवगन्तव्यम्। तस्मान्न ब्रह्मणि वेदान्ताः प्रमाणम्, किन्तूपासनायाम्।

इत्येवं पूर्वपक्षे प्राप्ते सूत्रकार आह—'तत्तु समन्वयात्' इति। तुशब्देन पूर्वपक्षो निषिध्यते। तदिति स्वपक्षे प्रतिज्ञा—तद् ब्रह्म वेदान्तैः प्रमीयते इत्यर्थः। कुतः ? वेदान्तानां ब्रह्मणि तात्पर्येण सम्यगन्वितत्वात्। तात्पर्यं हि पुरुषधर्मः, स च कथं वेदान्तानां स्यादिति चेद्, मैवम्;

मात्रका प्रतिपादन करनेमें तात्पर्यवाले अपने काण्डमें तो किसी विधिका भी श्रवण नहीं है और न उसकी कल्पना करना ही सम्भव है, कारण कि 'सूर्यका प्रपिष्ट द्रव्य भाग है' इत्याद्यर्थक वाक्यमें द्रव्य तथा देवताके सम्बन्धके तुल्य प्रकृतमें विधिका कल्पक वाक्य श्रुतिमें नहीं आया है, समाधान ऐसा नहीं कहा जा सकता, कारण कि अध्ययनविधिके बलसे (वेदान्तवाक्योंके प्रामाण्यकी कल्पना करके उस कल्पित प्रामाण्यकी अन्यथा अनुपपत्तिके आधारपर (अपने काण्डमें भी) उपासनाविधिकी कल्पना की जा सकती है। और उसका फल (अरे उपासक या जिज्ञासु! यही या इतना ही अमृतत्व है) इस अर्थवादके बलसे मोक्षरूप समझना चाहिए। इस निष्कर्षसे सिद्ध होता है कि ब्रह्मका प्रतिपादन करनेसे वेदान्तोंका प्रामाण्य नहीं हो सकता, किन्तु उपासनामें तात्पर्य माननेसे ही हो सकता है।

इस प्रकार पूर्वपक्ष होनेपर सूत्रकार कहते हैं—'तत्तु समन्वयात्' अर्थात् वह ब्रह्म तो वेदान्तवाक्योंसे प्रतिपादित होता है, कारण कि उनका तात्पर्य ब्रह्ममें ही भली भाँति घटता है। 'तु' शब्दसे उक्त पूर्वपक्षका निषेध किया गया है। 'तत्' पदसे अपने पक्षमें प्रतिज्ञा दिखलाई गई है—वह ब्रह्म वेदान्तवाक्योंसे यथार्थज्ञानका विषय किया जाता है, क्योंकि वेदान्तोंका ब्रह्ममें तात्पर्य द्वारा उचित अन्वय किया गया है।

शङ्का—तात्पर्य तो पुरुषका धर्म है, अतः वह पुरुषधर्मस्वरूप तात्पर्य वे[illegible]का धर्म कैसे हो सकता है?

नहि विवक्षैव तात्पर्यम्, सत्यामपि विवक्षायामप्रयुक्ते शब्दे तात्पर्यव्यवहाराभावात्। नाऽपि पुरुषप्रयोगमात्रम्, उन्मत्तादिप्रयोगे तदभावात्। अतस्तदर्थप्रमितिशेषत्वं तात्पर्यम्। तच्च शब्दधर्म एव। न च तस्मिन्नपि विवक्षैव तत्प्रयोजिकेति वाच्यम्, केवलव्यतिरेकाभावात्। सत्यपि[1] तादर्थ्ये विवक्षाभावापराधेन तात्पर्याभावादर्शनात्। न च विवक्षाव्य-

समाधान—ऐसी शङ्का नहीं की जा सकती, क्योंकि विवक्षा—कहनेकी इच्छामात्र—ही तात्पर्य नहीं कहलाती है, (जिससे कि वह वेदान्तधर्म न हो सके) कारण कि विवक्षाके रहते भी शब्दप्रयोगके बिना तात्पर्यव्यवहार नहीं हो सकता। [वक्ताकी इच्छा है घटादिबोधके तात्पर्यसे घटादि पदोंका उच्चारण करे, परन्तु जब तक वह घटादि पदका प्रयोग न करेगा तब तक उसकी विवक्षा तात्पर्यके रूपमें परिणत न होगी, अतः केवल विवक्षा तात्पर्य नहीं है] और पुरुषका—वक्ताका—शब्दप्रयोगमात्र भी तात्पर्य नहीं है, क्योंकि उन्मत्त—प्रमादी—आदि वक्ताके प्रयोगमें तात्पर्य नहीं रहता। इसलिए तदर्थप्रमितिशेषत्व—उस विवक्षित अर्थका यथार्थ ज्ञान करानेकी सामर्थ्य—ही तात्पर्य है। ['स चासौ अर्थः तदर्थस्तस्य प्रमितौ शेषः समर्थः उपकारक इति यावत्, तस्य भावः' इस विग्रहसे उक्त अर्थ सिद्ध होता है।] और इस प्रकारका तात्पर्य शब्दोंका ही धर्म है, [कारण कि अर्थबोधकी विवक्षासे ही उसके अनुसार अर्थबोध करानेके लिए शब्दप्रयोग किया जाता है, अतः तात्पर्य शब्दधर्म है।]

[यद्यपि विवक्षाके अनुसार अर्थबोध करानेके लिए किया हुआ प्रयोग शब्दोंका ही धर्म है, परन्तु शब्दप्रयोगकी नियामिका तो विवक्षा ही है, इस आशयसे शङ्का करते हैं—] उस प्रकारके प्रयुक्त रूप शब्दधर्ममें भी तो विवक्षा ही नियामिका है। [इससे विवक्षाको ही तात्पर्य कहना चाहिए और वह पुरुषधर्म है, शब्दधर्म नहीं है]।

समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिए, कारण कि इसमें केवलव्यतिरेकका अभाव है। (केवलव्यतिरेकका अभाव दिखलाते हैं—) तादर्थ्यके—अर्थकी प्रमिति करानेमें समर्थ शब्दप्रयोगके—रहते (भी) विवक्षाके अभाव रूपी अपराधसे तात्पर्यका अभाव नहीं देखा गया है। [इसलिए 'विवक्षाके

1 मूलमें अपि पाठ अधिक ही आ गया है।

तिरेकेण तात्पर्यगमकाभावः, उपक्रमादीनां भावात्। न च प्रमेयस्य कार्यत्वमेव तात्पर्यगमकम्, 'पुत्रस्ते जातः' इत्यादिष्वसत्यपि कार्यत्वे तात्पर्यदर्शनात्। तत्राऽपि तात्पर्यादेव प्रमेयस्य कार्यपर्यवसानमनुमीयतामिति चेद्, न; कार्यत्वप्रमितितात्पर्ययोरन्योन्याश्रयप्रसङ्गात्। कार्यविषयप्रमितौ सत्यां तत्प्रमितिजननसामर्थ्यलक्षणं तात्पर्यं सिध्यति, सिद्धे च तस्मिँस्तत्प्रमितिसिद्धिरिति। ननु तात्पर्याभावः प्रतीतिप्रतिबन्धकः, 'विषं भुङ्क्ष्व' इत्यादौ वाक्यादेव प्राप्ताया विषभोजनप्रमितेस्तात्पर्याभावेन प्रतिबध्यमानत्वात्। तत्प्रतिबन्धनिवारकं च तात्पर्यम्। तथा च प्रथमतो वाक्यादेव कार्यप्रमितौ सत्यां पश्चात्तथैव कार्यप्रमित्या प्रतिबन्धनिरासि-

---

अभावमें तात्पर्यका अभाव' ऐसा व्यतिरेक नहीं है।] विवक्षाके अतिरिक्त किसी तात्पर्यकी प्रतीति करानेवालेका अभाव भी नहीं कहा जा सकता, कारण कि तात्पर्यके प्रत्यायक उपक्रमादि विद्यमान हैं। प्रमेयका केवल कार्य होना ही तात्पर्यका सूचक नहीं माना जा सकता, [जिससे कि सिद्धवस्तुप्रमेयक वेदान्तवाक्योंका तात्पर्य न होनेसे उनमें अप्रामाण्य माना जाय], कारण कि 'तेरा पुत्र उत्पन्न हुआ' इत्यादि वाक्यप्रयोगस्थलमें कार्यरूप प्रमेयके न होते हुए भी तात्पर्यकी उपलब्धि होती है। यदि कहो कि ऐसे स्थलोंमें भी तात्पर्यरूप हेतुसे ही प्रमेयमें कार्यत्व अनुमान द्वारा सिद्ध होगा, तो यह कहना उचित नहीं है, कारण कि ऐसा माननेसे कार्यत्वका निश्चय और तात्पर्य –इन दोनोंमें अन्योन्याश्रय दोष आ जायगा, क्योंकि कार्यविषयक प्रमिति—यथार्थ निश्चय—हो जानेके अनन्तर उसकी प्रमितिके उत्पन्न करनेके सामर्थ्यरूप तात्पर्यकी सिद्धि हो सकती है और तादृश तात्पर्यकी सिद्धि हो जानेपर ही कार्यत्वकी प्रमिति हो सकती है।

[अन्योन्याश्रय दोषके परिहारके आशयसे शङ्का करते हैं—] तात्पर्यका अभाव प्रमितिका प्रतिबन्धक होता है [जिसमें तात्पर्य नहीं रहता उसकी प्रमा नहीं हो सकती] जैसे 'विषको खा जाओ' इत्यादि वाक्योंमें केवल वाक्यसे प्राप्त हुई विषभक्षणकी प्रमितिका, उसमें तात्पर्य न होनेसे, प्रतिबन्ध हो जाता है, इसलिए तात्पर्य प्रतिबन्धका निवारण करनेवाला माना गया है। इस सिद्धान्तके अनुसार [प्रथ]म वाक्यश्रवणमात्रसे कार्यज्ञान हो जाता है, अनन्तर उसी प्रकार उस

तात्पर्यमप्यस्तीत्यवगम्यते। न पुनस्तात्पर्येण कार्यप्रमितिर्भाव्यते ततो नाऽन्योन्याश्रय इति चेत्, सत्यम्; तथापि कार्यत्वं न तात्पर्यलिङ्गम्, 'जर्तिलयवाग्वा वा जुहुयात्', 'गवीधुकयवाग्वा वा' इत्यादिषु सत्यपि कार्ये तात्पर्याभावात्। 'अनाहुतिर्वै जर्तिलाश्च गवीधुकाश्च' इत्युत्तरवाक्येनाऽऽरण्यतिलानां गवीधुकानां च निराकरणात्। तस्मादुपक्रमादीन्येव तात्पर्यलिङ्गानि,

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिश्चये॥

इत्युक्तत्वात्। प्रसिद्धानि हि सर्वेष्वपि वेदान्तेषु ब्रह्मण उपक्रमा-

---

वाक्यसे कार्यप्रमितिके द्वारा प्रतिबन्धको दूर करनेमें समर्थ तात्पर्य भी प्रकृतमें है, ऐसा निश्चय किया जाता है। तात्पर्य द्वारा कार्यप्रमितिकी भावना नहीं की जाती, इसलिए अन्योन्याश्रय दोष नहीं आया। ['विष भक्षण करो' इत्यादि स्थलमें प्रथम प्रथम उत्पन्न कार्यप्रमिति अनन्तर बाधित होती है, अतः वह तात्पर्यके उन्नयनमें समर्थ नहीं है, परन्तु अन्यत्र 'घटमानय' (घड़ा लाओ) इत्यादि स्थलमें प्रथम उन्नीत कार्यप्रमितिका अनन्तर भी बाध नहीं होता है, अतः प्रतिबन्ध विनाशक तात्पर्यके प्रत्यायनमें वह स्वतः समर्थ है, अपनी सत्तामें तात्पर्यावगतिकी अपेक्षा नहीं रखती]।

समाधान—वादीकी शङ्का ठीक है, परन्तु इस प्रकार अन्योन्याश्रयका परिहार हो जानेपर भी कार्यत्व तात्पर्यका अनुमापक हेतु नहीं माना जा सकता, कारण कि (अथवा जर्तिल यवागूसे—जंगली तिलोंसे सिद्ध की गई लपसीसे—हवन करे) अथवा (गवीधुक यवागूसे हवन करे) इत्यादि वाक्योंमें कार्यकी प्रतीतिके रहनेपर भी तात्पर्य नहीं है, कारण कि 'जङ्गली तिलसे आहुति नहीं होती है' इस अगले वाक्यसे जङ्गली तिल और गवीधुकका निषेध किया गया है [और अजाक्षीरसे हवनके उपक्रमसे भी विरोध आता है। इसलिए उपक्रम आदि ही तात्पर्यके प्रत्यायक हेतु हैं, (कार्यत्व नहीं)।

शास्त्रमें उपक्रम (प्रारम्भ, प्रतिज्ञा, अधिकार तथा प्रकरण), उपसंहार (निबर्हण या समाप्ति), अभ्यास (पुनः पुनः आवृत्ति), अपूर्वता (प्रमाणान्तरसे असिद्ध अर्थका प्रतिपादन), फल (प्रयोजन), अर्थवाद (स्तुति-प्रशंसा कचित् निन्दारूप) और उपपत्ति—(युक्तियां) ये तात्पर्यके निर्णायक हेतु (प्रयोजक) हैं, ऐसा कहा गया है।

दीनि । ततस्तात्पर्येण वेदान्ता ब्रह्मणि समन्विताः ।

अन्वयस्य सम्यक्त्वं नामेतरवैलक्षण्येनाऽर्थप्रतिपादनम् । इतरत्र हि 'गामानय' इत्यादिशब्दाः क्रियाकारकसंसर्गं प्रतिपादयन्ति । 'उद्भिदा यजेत' इत्यत्रोद्भिद्यागशब्दयोरेकार्थत्वेऽपि नियोगाकाङ्क्षा विद्यते । 'नीलमुत्पलम्' इत्यत्र गुणगुणिनोर्भेदाभेदौ प्रतिपाद्यौ । एकार्थप्रतिपादकेष्वप्यन्येपु शब्देपु लिङ्गसंख्ये अवर्जनीये । वेदान्तास्तु न तथा संसर्गं वा साकाङ्क्षार्थं वा भेदाभेदौ वा लिङ्गसंख्याविशिष्टं वा प्रतिपादयन्ति, किन्त्वभिधावृत्त्या लक्षणयोपाधिद्वारा वाऽखण्डैकरसमेव जगत्कारणसामान्यानुवादेन प्रतिपादयन्ति ।

तत्र ज्ञानशब्दोऽनेकविकारयुक्तान्तःकरणवृत्तिप्रतिविम्बितचैतन्ये व्युत्पन्नः । आनन्दशब्दश्च शुद्धसात्त्विकान्तःकरणवृत्त्यभिव्यक्तायाम-

---

सम्पूर्ण वेदान्तोंमें ब्रह्मके उपक्रम आदि प्रसिद्ध ही हैं। इसलिए तात्पर्य द्वारा वेदान्त ब्रह्ममें भली भाँति अन्वयको प्राप्त होते हैं।

दूसरे शब्दोंकी अपेक्षा विलक्षण रीति—सरलता—से अर्थ-बोध करा देना ही अन्वयकी सम्यक्ता है। [इतर वाक्योंकी अपेक्षा वेदान्तवाक्योंमें विलक्षणता दिखलाते हैं—] 'गाय ले आवो' इत्यादि शब्द क्रियाकारकभावरूप सम्बन्धात्मक (गाय कर्म और लाओ क्रिया) वाक्यार्थका प्रतिपादन करते हैं। 'उद्भिद् यागसे अपूर्व साधन करे' इत्यादि स्थलमें उद्भिद् और यागका समान अर्थ होनेपर भी नियोगकी आकाङ्क्षा बनी ही रहती है। 'नील कमल' इस वाक्यमें गुण और गुणीका भेद तथा अभेद दोनोंका प्रतिपादन है। एक ही अर्थके प्रतिपादक दूसरे शब्दोंमें भी लिङ्ग और संख्याकी अपेक्षा छोड़ी ही नहीं जा सकती। वेदान्तवाक्य तो उक्त अन्य वाक्योंके समान संसर्ग या आकाङ्क्षायुक्त अर्थ तथा भेदाभेद अथवा लिङ्ग और संख्यासे विशिष्ट अर्थका प्रतिपादन नहीं करते, किन्तु अभिधावृत्ति—प्रथम शब्दशक्ति—से अथवा लक्षणावृत्तिसे उपाधि द्वारा अखण्ड तथा एकरस सर्वात्मा लिङ्ग, संख्यादि रूप विशेषणोंसे भी रहितका ही विश्वके कारणसामान्यके अनुवादसे प्रतिपादन करते हैं।

इसमें ज्ञानशब्द अनेक विकारोंसे युक्त अन्तःकरणकी वृत्तिमें प्रतिबिम्बित रूप अर्थका वाचक व्युत्पत्तिसिद्ध है और आनन्द शब्द अन्तःकरणकी

त्यनुकूलतया स्फुरन्त्यां कस्यांचिद्व्यक्तौ लोके प्रसिद्धः। तावेतौ ज्ञानानन्दशब्दौ वाक्यान्तरेण नित्यत्वप्रतिपादकेन विरोधाद् वृत्त्यंशं परित्यज्याऽनुकूलतया स्फुरन्तीं व्यक्तिं प्रतिपादयतः। तथा च वृत्तित्यागांशे लक्षणा, इतरांशे तु मुख्यवृत्तिः। एकसत्यानन्तशब्दाः स्वगतभेदाभावमिथ्यात्वाभावसजातीयविजातीयद्वितीयाभावाभिधानद्वारेण तत्र लक्षणया वर्तन्ते। सर्वज्ञः सर्वशक्तिरित्यादिशब्दाश्चाऽनिर्वचनीयप्रपञ्चोपाधितया तत्र वर्तन्ते। 'अयमात्मा ब्रह्म', 'तत्त्वमसि' इत्यादिशब्दाश्च भागत्यागलक्षणया ब्रह्मण्येव वर्त्तन्ते। तदेवं सर्वे वेदान्ता अखण्डैकरसब्रह्मप्रतिपादकाः।

ननु सत्यज्ञानादिशब्दानां भिन्नार्थत्वे कथमखण्डैकरसे वृत्तिः ? एकार्थत्वे पुनरुक्तिप्रसङ्गः, नैष दोषः; तात्पर्येण प्रतिपाद्यस्यैकत्वेऽपि व्यावर्त्यानामसत्यजडादीनामनिर्वचनीयार्थानामनेकत्वात्। न चाऽनिर्वच-

---

शुद्ध सात्त्विक वृत्तिमें अभिव्यक्त अनुकूल—सुखास्पद—रूपसे प्रतीत होनेवाली किसी एक चिद्व्यक्ति (चैतन्य) रूप अर्थका वाचक है, ऐसा लोकमें प्रसिद्ध है। कथित ज्ञान और आनन्द शब्द नित्यत्वके प्रतिपादक दूसरे वाक्योंसे विरोध होनेके कारण वृत्तिरूप भागका त्याग करके अनुकूलरूपसे प्रतीत होनेवाली चित्व्यक्तिका ही प्रतिपादन करते हैं। इसलिए वृत्तिभागका त्याग करनेमें लक्षणा और चिद्व्यक्तिरूप दूसरे अंशमें मुख्यवृत्ति—अभिधा—का ही व्यापार है। एक, सत्य और अनन्त शब्द अपनेमें भेदका अभाव, मिथ्यात्वका अभाव, तथा सजातीय-विजातीय-रूप द्वितीयका अभाव प्रतिपादन करते हुए लक्षणा द्वारा उसी चिद्व्यक्तिरूप अर्थके वाचक हैं। सर्वज्ञ और सर्वशक्ति आदि शब्द भी अनिर्वचनीय प्रपञ्चरूप उपाधिके द्वारा उसी चैतन्यके समर्पक हैं। 'यह आत्मा ब्रह्म है वही तुम हो' इत्यर्थक 'अयमात्मा ब्रह्म', 'तत्त्वमसि'—आदि शब्द भी भागत्यागलक्षणासे ब्रह्मके ही वाचक हैं। इस रीतिसे सम्पूर्ण वेदान्त अखण्ड एकरस ब्रह्मके ही प्रतिपादक हैं।

शङ्का—सत्य, ज्ञान आदि शब्दोंका उक्त रीतिसे यदि भिन्न-भिन्न अर्थ है, तो अखण्ड एकरसरूप अर्थमें उनकी शक्ति कैसे होगी ? और यदि इनका भिन्न-भिन्न अर्थ न मानकर एक ही अर्थ माना जाय, तो पुनरुक्ति दोषका प्रसङ्ग आ जायगा।

समाधान—यह दोष नहीं आता, कारण कि तात्पर्य द्वारा सबका प्रतिपाद्य अर्थ यद्यपि एक ही है, तथापि व्यावृत्ति—निषेध—के विषयभूत [illegible]

नीयपदार्थेन तदभावेन वा परमार्थभावरूपाद्वैतस्य काचित् क्षतिरस्ति। तस्मात् तत्त्वमस्यादिमहावाक्यानि 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादिवाक्यवदखण्डैकरसं प्रतिपादयन्ति । तथाहि—एकं देवदत्तमेकस्मिन् देशे काले च द्वौ पुरुषौ दृष्टवन्तौ, पुनर्देशकालान्तरे तमेव तावेव ददृशतुः । तयोर्मध्ये 'सोऽयं देवदत्तः' इति प्रत्यभिजानात्येकः। अपरस्तु पूर्वदृष्टाद् देवदत्ताद्भिन्नं पश्चाद् दृष्टं मन्यते । तं प्रत्यभिज्ञाहीनमितरो बोधयति 'सोऽयं देवदत्तः' इति । तत्र बोधयिता स्पष्टं भेदेन प्रतीयमानयोस्तत्तद्देशकालयोस्तद्विशिष्टयोर्वा देवदत्तयोरैक्यं न प्रत्यभिजानाति, विरोधात् ; किन्तु विशिष्टद्वयोपलक्षित एको देवदत्तः प्रत्यभिज्ञागोचरः ।

जड आदि अनिर्वचनीय (मिथ्याभूत) अर्थ अनेक हैं, [इसलिए अनेक व्यावर्त्योंका निषेध करनेके लिए पृथक्-पृथक् सत्य, ज्ञान आदि शब्दोंका उपादान है, इससे पुनरुक्त दोष भी नहीं आता और तात्पर्य द्वारा एक ही अर्थके प्रतिपादक होनेमें असामञ्जस्य भी नहीं रहता]। अनिर्वचनीय (मिथ्या) पदार्थ अथवा उसके अभावके कारण परमार्थ भावरूप अद्वैतकी कोई हानि नहीं हो सकती। इस निष्कर्षकी रीतिसे 'वह तुम हो' इत्याद्यर्थक महावाक्य 'वह यह देवदत्त है' इत्यादि प्रत्यभिज्ञावाक्यके सदृश अखण्ड एकरस (ब्रह्मरूप) अर्थका ही प्रतिपादन करते हैं। समता दिखलाते हैं—जैसे एक देवदत्तको दो पुरुषोंने एक ही देश और एक ही समयमें देखा। कुछ समय बीतनेपर उसी देवदत्तको उन दोनों (पूर्वद्रष्टाओं) ने ही देशकालान्तरमें पुनः देखा। उनमें से एक तो जानता है कि 'यह वही देवदत्त है'। परन्तु दूसरा पुरुष (भूल जानेसे) पूर्व कालमें देखे हुए देवदत्तसे इस समय देखे गये देवदत्तको दूसरा ही समझता है। प्रत्यभिज्ञा (जानकारी) से रहित उस दूसरे पुरुषको ज्ञाता दूसरा पुरुष बोध कराता है कि यह (सामने दिखलाई देनेवाला) देवदत्त वही (पहले देखा हुआ ही) देवदत्त है। ऐसे स्थलमें दूसरेको बोध करानेवाला दूसरा पुरुष भिन्न-भिन्न रूपसे स्पष्ट प्रतीत होनेवाले देश तथा कालका एवं भिन्न-भिन्न देशकालविशिष्ट दोनों देवदत्तोंकी एकताकी प्रत्यभिज्ञा नहीं कर रहा है, कारण कि इसमें प्रत्यक्ष विरोध है, [परोक्ष और ...रोक्ष एक नहीं हो सकता।] किन्तु उसकी प्रत्यभिज्ञा देशकालरूपी दो ...नोंसे उपलक्षित एक ही देवदत्तको विषय करती है। [दोनों भिन्न-भिन्न

तत्र प्रत्यभिज्ञानं देवदत्तस्वरूपैक्यम् । विशिष्टाभिधायिभ्यां 'सोऽयम्' इति पदाभ्यां स्वार्थैकदेशपरित्यागेनैकदेशलक्षणया परस्मै प्रतिपादयति ।

ननु 'सोऽयम्' इति पदार्थयोर्यद्देवदत्तैक्यं तदेव वाक्येनाऽपि प्रतिपाद्यते उताऽन्यत् ? आद्येऽनुवादप्रसङ्गः । न द्वितीयः; ऐक्यान्तरस्याऽभावादिति चेद्, न; प्रत्यभिज्ञाया अप्यनेन न्यायेनाऽप्रामाण्यप्रसङ्गात् । अभिज्ञावगतस्यैवैक्यस्य बोधनेऽनुवादकत्वम्, ऐक्यान्तरं तु नाऽस्तीत्यत्रापि सुवचत्वात् । एकस्य कालद्वयसंबन्धः प्रत्यभिज्ञाप्रमेयमिति चेद्, न; तस्याऽप्यभिज्ञाद्वयेनैव सिद्धत्वात् । अथ प्रत्यभिज्ञा-

---

देश और कालका वैशिष्ट्य उसमें उपलक्षणमात्र है, उपाधि या विशेषण नहीं है, जिससे विरोधियोंकी एककालमें उपस्थिति बाधित हो सके)। वहांपर उक्त प्रत्यभिज्ञासे देवदत्तके स्वरूपकी एकताका, विशिष्ट देवदत्तको कहनेवाले 'सः' (वह), 'अयम् (यह) इन दो पदोंसे स्वार्थके एक भागका त्याग करके एक देशकी लक्षणाके द्वारा, दूसरेके प्रति प्रतिपादन कर रहा है।

शङ्का—वह और यह—इन दो पदार्थोंमें जो देवदत्तकी एकता प्रतीत हो रही है, वही एकता क्या वाक्यसे भी प्रतिपादित होती है ? या इससे भिन्न दूसरी ? प्रथम पक्षके माननेमें वाक्य अनुवादक हो जायगा। (जिससे उसका प्रामाण्य ही विनष्ट होगा)। दूसरा पक्ष नहीं माना जा सकता, कारण कि दूसरा (भिन्न) ऐक्य है ही नहीं।

समाधान—उक्त शङ्का उचित नहीं है, कारण कि इस प्रकारके न्यायसे (विकल्प करनेपर) तो प्रत्यभिज्ञामें भी अप्रामाण्यका अवसर आ जायगा, कारण कि प्रत्यभिज्ञा भी अभिज्ञा (प्रथम ज्ञान) से ही प्रतीत हुए एकत्वका बोध करानेमें अनुवादक कहलायेगी और दूसरा भिन्न ऐक्य तो है ही नहीं, ऐसा प्रत्यभिज्ञाके विषयमें भी कहा जा सकता है। भूत तथा वर्तमान दोनों कालोंसे एक वस्तुके सम्बन्धका बोध कराना ही प्रत्यभिज्ञाका प्रमेय—विषय—नहीं माना जा सकता, कारण कि वह दोनों कालोंका सम्बन्ध भी दोनों अभिज्ञाओंसे (भूतकालिक ज्ञान तथा वर्तमानकालिक ज्ञानसे) ही सिद्ध हो जाता है। यदि कहा जाय कि प्रत्यभिज्ञा अपूर्व अर्थकी बोधिका नहीं है, ...

नस्याऽनधिगतार्थगन्तृत्वाभावेऽपि भेदभ्रमव्युदासित्वादभिज्ञाभ्यां भेदभ्रमाव्युदासिनीभ्यां फलतो विशेषसद्भावात् प्रामाण्यं तर्हि 'सोऽयम्' इति वाक्यस्याऽप्येवमेव पदाभ्यां विशेषसद्भावात् प्रामाण्यमस्तु। एवं च तत्त्वमसिवाक्यमपि त्वंपदार्थे कर्तृत्वाद्यंशं विरोधिनं परित्यज्य साक्षिमात्रमुपादाय तत्पदार्थे परोक्षाद्यंशपरित्यागेनाऽवशिष्टेन चिन्मात्रेणैक्यं पदार्थप्रतीतिसमये प्रतिपन्नमपि भेदभ्रमव्युदासाय प्रतिपादयति। तदयं प्रयोगः—तत्त्वमस्यादिवाक्यं अखण्डार्थनिष्ठम्, कार्यकरणव्यतिरिक्तद्रव्यनिष्ठत्वे सति समानाधिकरणत्वात्, सोऽयं देवदत्त इति वाक्यवद् इति।

नतु मृद्घटो नीलमुत्पलमित्यादौ पदार्थयोः प्रत्येकमसाधारणमैक्यमेकैकपदप्रमेयं पदार्थयोरितरेतरैक्यं तु वाक्यप्रमेयमित्यनधिगतार्थगन्तृ-

---

भेदरूप भ्रमका निराकरण करती है, इसलिये भेदभ्रमको दूर करनेमें असमर्थ दोनों अभिज्ञाओंसे प्रत्यभिज्ञा विलक्षण है, अतः प्रत्यभिज्ञाका प्रामाण्य माना जाता है, तो 'सोऽयम्—वह यह' इस वाक्यका भी इसी भांति (भेदभ्रम दूर करना रूप विशेष होनेसे) पदों (पदार्थों) की अपेक्षा विशेष होनेके कारण प्रामाण्य मान लिया जायगा। इससे ही 'तत्त्वमसि—वह तू है' यह वाक्य भी त्वं पदार्थमें विद्यमान कर्तृत्वरूप विरोधी अंशका त्याग करके साक्षी (चेतन) मात्र अर्थका ग्रहण करके तत् पदार्थमें परोक्ष आदि अंशको छोड़कर पदार्थप्रतीति कालमें ज्ञात हुए भी शेष चिन्मात्र (चैतन्यमात्र) अर्थके साथ एकत्वका—अभेदका—भेदभ्रम दूर करनेके लिए प्रतिपादन करता है। इससे यों अनुमानके प्रयोगका स्वरूप होता है—'तत्त्वमसि' आदि वाक्य अखण्ड अर्थके बोध करानेमें तात्पर्यवाले हैं, कार्यकारणसे अतिरिक्त द्रव्यपरक होते हुए समानविभक्त्यन्त या एकार्थके प्रतिपादक होनेसे, 'सोऽयं देवदत्तः'—वह यह देवदत्त है' इस प्रत्यभिज्ञा वाक्यके समान।

शङ्का—'मिट्टी घड़ा, नील कमल' इत्यादि स्थलमें मिट्टी और घड़ा आदि पदार्थोंमें प्रत्येकगत असाधारण एकत्व एक-एक पदका प्रतिपाद्य [illegible]य है, दोनों पदार्थोंका परस्पर एकत्व तो वाक्यका ही प्रतिपाद्य प्रमेय [illegible]इसलिए प्रकृत स्थलमें जैसे अपूर्व अर्थका बोधन करनेसे ही उक्त

त्वादेव यथा वाक्यप्रामाण्यं तथाऽत्राप्यस्तु । तथा च भेदभ्रमव्युदास-मात्रविशेषात् प्रामाण्यमित्येषा कष्टकल्पना न भविष्यतीति चेद्, न; वैषम्यात् । तत्र हि कार्यकारणयोर्द्रव्यगुणयोश्च भिन्नयोरैक्यं प्रतिपाद्यते 'व्यवहारे भट्टनयः' इति न्यायेन भेदाभेदाभ्युपगमात् । अत्र त्वखण्डैकरसं प्रतिपाद्यत इत्यस्ति महद्वैषम्यम् ।

अत्र केचिदाहुः—'य आत्मनि तिष्ठन्' 'एष त आत्मा सर्वान्तरः' इत्यादिशास्त्राज्जीवब्रह्मणोरपि भेदाभेदावभ्युपेयौ । अन्यथा पदार्थवाक्यार्थयोः साङ्कर्यादिति, ते प्रष्टव्याः—तत्र भेदो ज्ञानेन निवर्त्यते न वेति ? न चेन्मोक्षो न स्यात् । निवर्त्यते चेत्, तदाऽपि भेदाभेदविषयमेव

वाक्योंका प्रामाण्य माना जाता है, वैसे ही प्रकृत ('तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य अथवा 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि प्रत्यभिज्ञावाक्यमें) भी माना जाना चाहिये । इससे भेदभ्रमके दूरीकरणमात्ररूप विशेषके द्वारा इनका प्रामाण्य होता है, ऐसी क्लिष्ट कल्पना नहीं करनी होगी ।

समाधान—उक्त कथन उचित नहीं है, कारण कि 'मृद्घटः' इस वाक्यकी अपेक्षा (प्रत्यभिज्ञा और महावाक्योंमें) विषमता है, क्योंकि 'मृद्घटः' इत्यादि वाक्योंसे भिन्न-भिन्न कार्य-कारण तथा गुण-द्रव्यका एकत्व प्रतिपादन किया जाता है । [परस्पर भिन्नोंकी एकताके प्रतिपादनमें आनेवाले विरोधका परिहार करते हैं—] 'व्यवहारमें मीमांसक कुमारिलभट्टका मत माना जाता है' इस न्यायसे (कार्य-कारण और गुण-गुणीमें) भेद और अभेद दोनों माने गये हैं । और प्रकृतमें (महावाक्योंसे) तो अखण्ड एकरस—सर्वथा भेदशून्य—का प्रतिपादन किया जाता है, इसलिए अधिक वैषम्य है ।

इस विषयमें भेदाभेदवादी भास्कर आदि किसी व्याख्याताओंका कहना है कि—'जो आत्मामें स्थित होता है', वह यह आत्मा सर्वान्तर—सबका अन्तर्यामी है—' इत्यर्थक शास्त्रसे जीव और ब्रह्ममें भी भेद और अभेद मानना चाहिए—अन्यथा पदार्थ और वाक्यार्थका सांकर्य हो जायगा । इनसे प्रश्न करना है कि यह भेद क्या अभेदज्ञान द्वारा निवृत्त होता है या नहीं ? यदि निवृत्त नहीं होता, तो मोक्षकी उपपत्ति नहीं हो सकती और यदि निवृत्त होता है, तो भी प्रश्न होगा कि भेदाभेदविषय[illegible]

ज्ञानं तन्निवर्त्तकम् उताऽभेदमात्रविषयं ज्ञानान्तरम्। नाऽऽद्यः, ज्ञानस्य स्वविषयनिरास्यत्वायोगात्। न द्वितीयः, अभेदज्ञानजनकप्रमाणाभावात्। त्वन्मते शास्त्रस्य भेदाभेदविषयत्वात्। शास्त्रजन्यभेदाभेदज्ञानाभ्यासादभेदज्ञानं जायत इति चेद्, एवमपि ज्ञाननिवर्त्यत्वे भेदस्य मिथ्यात्वं स्यात्। ज्ञानेनाऽज्ञानं निवर्त्यते, भेदस्तु कर्मभिर्विनश्यतीति चेद्, नः 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्येवकाराभिधेयभेदनिरासस्य ज्ञानप्रयुक्तत्वावगमात्। अथ ज्ञानप्रागभाववद्भेदस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वेऽपि न मिथ्यात्वं तथापि किं येनैवाऽऽकारेण जीवस्य ब्रह्मणो भेदस्तेनैवाऽभेदोऽपि उताऽऽकारान्तरेण ? आद्ये भेदनिवृत्तावभेदोऽपि निवर्तेत, तत्प्रयोजकाकारस्यैक्यात्। द्वितीये

ज्ञान उसकी निवृत्ति कर देता है ? अथवा अभेदमात्रविषयक दूसरा ज्ञान उसकी निवृत्ति करता है ?। इनमें प्रथम पक्ष नहीं बन सकता, कारण कि ज्ञान अपने विषयका निवारक नहीं हो सकता है (अर्थात् ज्ञानसे ज्ञानविषयका निराकरण नहीं हो सकता)। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, कारण कि अभेद-विषयक अतिरिक्त ज्ञानको उत्पन्न करानेवाला प्रमाण नहीं है। तुम्हारे (भेदाभेदवादीके) मतमें शास्त्रका तो भेदाभेद विषय है। शास्त्र द्वारा उत्पन्न हुए भेदाभेदज्ञानके अभ्यास—पुनः पुनः परिशीलन—से अभेद-विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा मान लेनेपर भी तो भेदको, ज्ञान द्वारा निवर्त्य मान लेनेसे, मिथ्या मानना होगा। ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति की जाती है और कर्मोंके द्वारा भेदका विनाश हो जाता है, ऐसा मानना उचित नहीं है क्योंकि 'ब्रह्म जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है—' इत्यर्थक वाक्यमें एवकार (एवपद) का वाच्य अर्थभूत भेदका विनाश ज्ञानके द्वारा होता है, ऐसा पाया जाता है। यद्यपि कहा जाय कि ज्ञानके प्रागभावके सदृश भेद ज्ञानसे नष्ट होता है, ऐसा माननेपर भी मिथ्या नहीं कह सकते, तथापि प्रश्न होता है कि जिस आकारसे जीव और ब्रह्मका भेद है, उसी आकारसे अभेद भी है ? अथवा दूसरे आकारसे ? इनमें प्रथम पक्षके माननेमें भेदकी निवृत्ति होनेपर ही अभेद की भी निवृत्ति हो जायगी [दोनोंका एक ही आकार ...ो एककी निवृत्ति होनेपर दूसरे की भी निवृत्ति हो जायगी], कारण ...सका प्रयोजक आकार एक ही है (जो नष्ट हो चुका)।

निरवयवब्रह्मभूतस्य जीवस्य धर्मभूतो भेदो न तावत्कर्मणा निवर्तयितुं शक्यते। ज्ञानेन तन्निवृत्तावपि यदि तेन भेदेनोपलक्षितो जीवस्तदा ब्रह्मैव जीवः स्यात्। अथ भेदविशिष्टस्तर्हि भेदनाशे जीवोऽपि नश्येत्। अथ विशिष्टाकारनाशेऽपि विशेष्यांशो जीवो ब्रह्मैक्यरूपं मोक्षमनुभवेत्, तर्हि संसारदशायामपि ब्रह्मतादात्म्यापन्नः स एव विशेष्यांशो जीव इत्यभ्युपेयम्; संसारमोक्षयोर्वैयधिकरण्यायोगात्। एतेनैतदप्यपास्तं यदमृतानन्देनोच्यते न युगपज्जीवब्रह्मणोर्भेदाभेदौ विरोधात्, किन्तु पदार्थत्वदशायामतिरेको वाक्यार्थत्वदशायां चाऽखण्डत्वमिति। 'एकधैवानुद्रष्टव्यं नेह नानाऽस्ति किं चन' इत्यादिश्रुतिविरोधश्च। न च 'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्यादिश्रुतिर्भेदाभेदौ प्रतिपादयति, किन्तु भ्रान्तिप्रसिद्धं भेदमनूद्याऽभेदमेव बोधयति। कथं तर्हि पदार्थवाक्यार्थयोः साङ्कर्यपरिहार इति

दूसरे पक्षके माननेमें अवयवशून्य ब्रह्मात्मक जीवका धर्मभूत भेद कर्म द्वारा तो निवृत्त नहीं किया जा सकता। और ज्ञान द्वारा उसकी निवृत्ति होनेपर भी यदि उस भेदसे उपलक्षित जीव माना जाय, तो ब्रह्म ही जीव कहलायेगा। और यदि भेदविशिष्ट जीव है, तो भेदके नष्ट होनेपर जीवका भी विनाश हो जायगा। यदि कहो कि विशिष्ट आकारका नाश होनेपर भी विशेष्यभूत जीवरूप अंश ब्रह्माभेदरूप मोक्षका भागी हो जायगा, तो संसार-दशामें भी ब्रह्मके साथ तादात्म्यको प्राप्त हुआ वही विशेष्यभूत अंश जीव है, ऐसा मानना होगा। कारण कि संसार और मोक्षका वैयधिकरण्यसे सम्बन्ध नहीं हो सकता। (अर्थात् जिसको संसार है, उसको ही मोक्ष भी प्राप्त होता है, अन्यथा मोक्ष पुरुषार्थ नहीं माना जायगा)। इससे यह कहना भी खण्डित हो जाता है कि जो अमृतानन्द ने कहा है 'जीव और ब्रह्मका एक कालमें ही विरोध होनेसे भेद और अभेद नहीं हो सकते, किन्तु पदार्थदशामें भेद और वाक्यार्थदशामें अखण्डत्व—अभेद—है, और 'एक ही प्रकारका दर्शन—साक्षात्कारात्मक ज्ञान—करना चाहिए, इसमें अनेक—भेद—कुछ नहीं है' इत्यर्थक श्रुतिसे भी विरोध आता है। 'जो आत्मामें स्थित हो—' इत्यर्थक श्रुति भी भेदाभेदका प्रतिपादन नहीं करती है। किन्तु भ्रमसिद्ध भेदका अनुवाद करके अभेदका ही बोधन करती है।

पदार्थ तथा वाक्यार्थका सङ्कर होना कैसे हटाया जायगा यदि ऐसा प्रश्न

चेद्, उच्यते—तत्र न तावत् पदवाच्यस्य वाक्यार्थेन साङ्कर्यप्रसङ्गोऽस्ति। वाच्यस्याऽविद्याकल्पितोपाधिविशिष्टत्वात्। पदलक्ष्यस्य तु वाक्यार्थत्वमिष्टमेव। तस्मान्महावाक्यस्याऽखण्डार्थतायां न कदाचिदनुपपत्तिः।

तथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्याद्यवान्तरवाक्यमप्यखण्डार्थनिष्ठम्, लक्षणवाक्यत्वात्, प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इति वाक्यवत्। तत्र कश्चिच्चन्द्रप्रातिपदिकार्थानभिज्ञः कंचित्पप्रच्छ अस्मिन् ज्योतिर्मण्डले कश्चन्द्रो नामेति? सोऽपि चन्द्रप्रातिपदिकमात्रार्थविवक्षया प्रयुङ्क्ते प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इति। तत्र प्रकाशशब्दः प्रकाशत्वसामान्याभिधानमुखेन लक्षणया व्यक्तिविशेषे वर्तते। प्रकृष्टशब्दश्च प्रकर्षगुणाभिधानमुखेन लक्षणया प्रकाशविशेषे वर्तते। तत्र गुणसामान्ययोश्चन्द्रपदानभिधेयत्वात्तदुभयं व्युदस्य तत्समवायिप्रकाशविशेष एव चन्द्रपदाभिधेयतया समर्प्यत इति प्रकृष्टप्रकाश-

---

तो उत्तर कहा जाता है—उसमें पदके वाच्यभूत अर्थके साथ तो वाक्यके अर्थका साङ्कर्य प्रसंग नहीं है, कारण कि वाच्य अर्थ अविद्याकल्पित उपाधिसे विशिष्ट है। और पदके लक्ष्यभूत अर्थका वाक्यार्थ होना तो अभीष्ट ही है, इसलिए महावाक्यको अखण्डार्थपरक माननेमें कोई अनुपपत्ति नहीं हो सकती।

[एवं 'सत्य, ज्ञान, और अनन्त ब्रह्म है' इत्याद्यर्थक महावाक्योंका भी अखण्डरूप अर्थके बोधनमें ही तात्पर्य है, कारण कि ये लक्षणवाक्य हैं, 'अधिक प्रकाशवाला चन्द्रमा' इस लक्षणवाक्यके सदृश। (दृष्टान्तमें दिये गये लक्षणवाक्यका अखण्ड अर्थमें तात्पर्य दिखलाते हैं—) चन्द्रपदार्थको न जाननेवाला कोई पुरुष किसीसे प्रश्न करता है कि इस प्रकाशमान ग्रहनक्षत्रमण्डलमें चन्द्रमा कौन है। वह भी (उत्तर देनेवाला पुरुष) चन्द्ररूप प्रातिपदिकके ही अर्थको प्रकट करनेकी इच्छासे कहता है कि इनमें सबसे अधिक प्रकाशवाला चन्द्रमा है। इस वाक्यमें प्रकाशपद प्रकाशत्वसामान्यको कहता हुआ लक्षणाके द्वारा व्यक्तिविशेषका बोधक हो जाता है, और प्रकृष्ट शब्द प्रकर्ष—आधिक्य—गुणका बोध कराता हुआ लक्षणासे प्रकाशविशेषका बोध कराता है। इनमें गुण तथा सामान्य ये दो चन्द्रपदके अभिधेय अर्थ नहीं हैं, इसलिए इन दोनोंका त्यागकर उसमें रहनेवाले प्रकाशविशेषका ही चन्द्रपदके अभिधेय अर्थके रूपमें समर्पण किया जाता है, इसलिए प्रकृष्ट,

चन्द्रशब्दानामेकार्थता सिध्यति। न चैवं पदद्वयवैयर्थ्यम्, अप्रकाश-मेघादिव्यावृत्तौ प्रकाशपदस्याऽल्पप्रकाशनक्षत्रादिव्यावृत्तौ प्रकर्षपदस्य चोपयोगात्। एवं सत्यज्ञानादिवाक्येऽप्यखण्डार्थता योजनीया।

यत्तूक्तं ब्रह्मणः परिनिष्ठितवस्तुतया मानान्तरयोग्यस्याऽपि मानान्तरेणाऽनुपलभ्यमानत्वात्तद्बोधकानां वेदान्तानां चित्रगतनिम्नोन्नतभावबोधकचक्षुर्वदप्रामाण्यमिति। तत्र वक्तव्यं किं प्रमाणान्तरयोग्यत्वे सति तदनुत्पत्तौ विषयस्याऽभावे निश्चिते तत्र शब्दमिथ्यात्वमाशङ्क्यते किं वा प्रमाणान्तरसंभिन्नार्थविषयत्वात् पौरुषेयवचोवत्सापेक्षं प्रामाण्यमिति उत प्रमाणान्तरयोग्यार्थविषयतया तत्सिद्धार्थानुवादाशङ्केति? नाऽऽद्यः, मानान्तरानुदयमात्रेण तथात्वे सर्वत्राऽतिप्रसङ्गात्। पौरुषेयवचसां मानान्तर-

---

प्रकाश तथा चन्द्र—इन तीनों शब्दोंका एक ही अर्थ सिद्ध होता है। और दो पदोंका देना भी व्यर्थ नहीं हो सकता, कारण कि प्रकाशशून्य मेघ आदिकी व्यावृत्तिके लिए प्रकाशपदका और कम प्रकाशवाले नक्षत्र आदिकी व्यावृत्तिके लिए प्रकर्षपदका उपयोग है। इसी प्रकार सत्य, ज्ञान आदि वाक्यमें सब पदोंका एक ही अखण्डरूप अर्थके बोधनमें तात्पर्य समझना चाहिए।

पूर्वमें जो यह कहा गया था कि परिनिष्ठित—सिद्ध—वस्तु होनेके कारण प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तरके योग्य होते हुए भी ब्रह्मका दूसरे प्रमाणोंसे उपलम्भ (ज्ञान) नहीं होता है, अतः चित्रगत रेखात्मक निम्नोन्नत भावको दिखलानेवाले चक्षुके तुल्य ब्रह्मबोधक वेदान्तवाक्य भी अप्रमाण हैं। यहांपर पूछना यह है कि क्या प्रमाणान्तरके योग्य होते हुए उसके प्रमाणान्तरसे उपलब्ध नहीं हो सकनेपर विषयके अभावका निश्चय हो जानेसे शब्दमिथ्यात्व—अर्थात् वेदान्तवाक्यरूप शब्द प्रमाणके मिथ्या होने—की आशङ्का की जा रही है? या प्रमाणान्तरयोग्य अर्थ-विषयक होनेसे उनका पुरुष द्वारा कथित वचनके सदृश सापेक्ष प्रामाण्य है? अथवा प्रमाणान्तरयोग्य विषय होनेसे उस प्रमाणान्तरसे सिद्ध अर्थके अनुवादक होनेकी आशङ्का है? इनमें प्रथम पक्ष नहीं बनता, कारण कि दूसरे प्रमाणका केवल उदय न होनेसे ही वैसा (विषयका अभाव) माननेपर सर्वत्र अतिप्रसङ्ग आ जाता है (अर्थात् जिस स्थलमें प्रमाणान्तरकी प्रसिद्धि न होगी वहींपर विषयका अभाव कह देना होगा)। पुरुषकथित वचनों

सापेक्षत्वेऽपि वेदवचसस्तदयोगात्। न द्वितीयः, मानान्तरसंभिन्नार्थत्वाभावात्। विमतं वेदान्तवाक्यं मानान्तरसंभिन्नार्थम्, भूतार्थविषयत्वाद् नदीतीरफलसत्तावाक्यवदिति चेद्, न; पौरुषेयवचनत्वस्योपाधित्वात्। अनुभूतार्थस्मृतिवदिति निदर्शनेऽपि स्वार्थप्रवृत्तज्ञानान्तरजन्यत्वमुपाधिः। नहि वेदवाक्यं मानान्तरेणाऽर्थमुपलभ्य विरचितं येन साधनव्यापकता स्यात्। अथ मन्यसे—वेदान्तवाक्यस्य भूतार्थविषयत्वान्मानान्तरयोग्यार्थत्वं साधयित्वा तेन च संभिन्नार्थता साधनीयेति, तर्हि विधिवाक्या-

---

मानान्तरकी अपेक्षा रहते हुए भी 'अपौरुषेय वेदवाक्योंमें सापेक्षत्वका सम्बन्ध नहीं आ सकता। दूसरा पक्ष नहीं हो सकता, कारण कि वेदवाक्योंमें मानान्तरसम्भिन्नार्थत्व—दूसरे प्रमाणसे सिद्ध पदार्थका प्रतिपादक होना—नहीं है।

शङ्का—'विमत वेदान्तवाक्य दूसरे प्रमाणसे सिद्ध अर्थका प्रतिपादन करनेमें तात्पर्यवाले हैं, कारण कि उनका विषय सिद्ध वस्तु है, जैसे कि नदीके तीरमें फलोंकी सत्ताका बोधन करनेवाला वाक्य [इस अनुमानसे वेदान्तवाक्य मानान्तरसंभिन्नार्थताके ही प्रतिपादक माने जायँगे]।

समाधान—उक्त अनुमानमें पौरुषेयवचनत्वरूप उपाधि है। [दृष्टान्तभूत नदीके तीरमें फलोंकी सत्ताका बोधक वाक्य तो पुरुषवचन है और दार्ष्टान्तिक पक्षभूत वेदान्तवाक्य पुरुषवचन नहीं हैं, इससे साधानाव्यापकत्व हुआ]। यदि नदीतीरफलसत्तावाक्यवत्के स्थानपर अनुभूत अर्थके स्मरणके तुल्य ऐसा दृष्टान्त भी दिया जाय, [क्योंकि स्मरणमें पुरुषवचनत्व नहीं है, इससे साध्यव्यापकत्व न होनेसे उक्त उपाधिका अवसर नहीं रहता] तो भी स्वार्थप्रवृत्तज्ञानान्तरजन्यत्व—अपने अर्थका प्रतिपादन करनेके लिए प्रवृत्त दूसरे ज्ञानसे उत्पन्न होना—उपाधि है। [स्मरणमें तो ज्ञानान्तरजन्यत्व (अनुभवजन्यत्व) है] परन्तु वेदवाक्य तो दूसरे प्रमाणों द्वारा विषयका ज्ञान प्राप्त करके नहीं रचे गये हैं, जिससे (उपाधिकी [illegible]घटक) साधनव्यापकता आ सके। यदि ऐसा भी मानो कि वेदान्त-[illegible]यका विषय सिद्ध वस्तु है, अतः उसमें मानान्तरयोग्यार्थत्व—दूसरे प्रमाणोंके [illegible]के विषयवाला होना— सिद्ध करके उससे ही सम्भिन्नार्थता सिद्ध की

नामपि तुच्छव्यावृत्तार्थत्वान्मानान्तरयोग्यविषयतया संभिन्नार्थता केन वार्यते ? न च विधिवाक्यत्वादेव मानान्तरयोग्यार्थत्वाभावः, लौकिकविधिवाक्येषु मानान्तरयोग्यार्थत्वदर्शनात्। तत्राऽपि तदयोग्यार्थत्वे कार्यसंबन्धग्रहणासंभवाद्वेदेऽपि तत्प्रतिपत्तिर्न स्यात् । अथ वैदिककार्यस्य कालत्रयातीतस्वभावत्वाद् न मानान्तरयोग्यता तर्हि ब्रह्मणोऽपि रूपादिहीनस्वभावत्वादेव मानान्तरयोग्यता न भविष्यति । अस्ति

जायगी, तो विधिवाक्य भी तुच्छसे व्यावृत्त अर्थवाले हैं, अतः मानान्तरयोग्य विषयवाले ही हो जायँगे, इससे इनकी संभिन्नार्थताका वारण कैसे किया जा सकता है। [यहांपर मानान्तरयोग्य और मानान्तरसम्भिन्न दो पद पृथक्-पृथक् दिये गये हैं। मानान्तरयोग्यपदसे केवल इतना ही अर्थ लेना चाहिये कि जिस विषयका प्रतिपादन वेदान्तवाक्य कर रहे हैं, वह विषय चक्षुरादिसे भिन्न प्रमाणोंसे भी जाना जा सकता है, क्योंकि वेदान्तवाक्यका विषय घट, पट आदिके सदृश सिद्धवस्तुभूत ब्रह्म है और घट, पट आदि सिद्ध वस्तु केवल शब्दगम्य नहीं हैं, किन्तु मानान्तरगम्य भी हैं। दूसरे मानान्तरसम्भिन्नपदसे वह अर्थ लिया जाता है जो कि दूसरे प्रमाणोंसे—संभिन्न—सम्बद्ध अर्थात् गृहीत है, वह अर्थ केवल योग्यमात्र ही नहीं, किन्तु उसका ग्रहण भी किया गया है। इससे विधिवाक्योंके विषय केवल शब्दैकगम्य ही माने जायँ, तो शब्दोपकल्पितमात्र वन्ध्या पुत्रादिके समान हो जायँगे। उनसे भेद दिखलानेके लिए मानान्तरयोग्यस्वरूप वैलक्षण्य विधिवाक्यप्रतिपाद्य विषयमें मानना आवश्यक है और जो मानान्तरयोग्य है, उसका मानान्तरसम्भिन्न होना कथमपि असम्भव नहीं है, प्रत्युत सुतरां सम्भव है, इसलिए विधिवाक्योंका भी तात्पर्य मानान्तरगृहीतार्थके बोधनमें ही माननेका अतिप्रसङ्ग आ जायगा, जो इष्ट नहीं है]। विधिवाक्य होनारूप हेतुमात्रसे मानान्तरयोग्यार्थत्वका अभाव नहीं कहा जा सकता, कारण कि लौकिक विधिवाक्यमें (घटमानय इत्यादि स्थलमें) मानान्तरयोग्यार्थत्व देखा जाता है। यदि लौकिक वाक्योंमें मानान्तरयोग्यार्थत्वका अभाव हो, तो कार्यके सम्बन्धज्ञानका होना असम्भव हो जायगा, इससे वेदमें भी उसकी—कार्यसम्बन्धग्रहकी—प्रतिपत्ति न हो सकेगी। यदि वेदविहित कार्यका कालत्रयातीत (तीनों कालोंके अगोचर) स्वभाव होने[से] मानान्तरयोग्य होना नहीं माना जा सकता यह कहा जाय, तो ब्रह्मका स्वभा[व] (स्वरूप भी) रूपादिसे विहीन ही है, इसलिए उसमें मानान्तरके

ब्रह्मणि मानान्तरं स्वरूपचैतन्याख्यमिति चेद्, न; तस्यैव ब्रह्मत्वाद्। स्वरूपचैतन्यस्य ब्रह्मप्रमापकत्वेऽपि तत्संभिन्नार्थत्वमात्रेण न तत्सापेक्षत्वदोषः। स्वप्रकाशपुरुषान्तरसंवेदनगोचरानुमानस्य तत्सापेक्षत्वदोषादर्शनात्। नाऽपि तृतीयः, स्पर्शज्ञानयोग्यद्रव्यविषयस्य चक्षुषोऽनुवादकत्वादर्शनात्। शब्द एवेयमनुवादकतेति चेत्, तथापि विधिवाक्ये तामाशङ्कां कथं परिहरिष्यसि। लौकिकस्य विध्यर्थस्य मानान्तरयोग्यत्वेऽपि वैदिकस्य तदयोग्यत्वादिति चेद्, भूतार्थेऽपि तत्समानम्। न च शब्द-

---

होनेकी योग्यता प्राप्त न होगी। ब्रह्ममें विद्यमान स्वरूपचैतन्यनामक मानान्तर भी नहीं कह सकते, कारण कि वही स्वरूपचैतन्य ब्रह्मरूप है। स्वरूपचैतन्यके ब्रह्मनिश्चायक होनेपर भी उसके सिद्धभूत अर्थ होनेसे ही उससे सापेक्ष होनेका दोष नहीं आ सकता (अर्थात् यद्यपि ब्रह्मप्रमा स्वरूपचैतन्य द्वारा ही होती है, इसलिए स्वरूपचैतन्यरूप अन्य प्रमाणसे सिद्धका ही प्रतिपादन वेदान्तवाक्योंसे होता है, ऐसा मानना ही होगा, तथापि वेदान्तवाक्यसे प्रतिपाद्य ब्रह्मको स्वरूपचैतन्यकी अपेक्षा नहीं है); कारण कि स्वप्रकाशभूत दूसरे पुरुषके ज्ञानविषयक अनुमानमें उससे सापेक्ष होना दोष नहीं देखा गया है। [जैसे सांख्यमतमें परपुरुषविषयक अनुमान स्वप्रकाशरूप पुरुषको विषय करता हुआ भी उसके स्वरूपभूत प्रकाशसे सापेक्ष नहीं माना जाता एवं प्रभाकरमतमें परज्ञान-विषयक अनुमान भी स्वप्रकाशरूप ज्ञानको विषय करता हुआ भी स्वरूपभूत स्वप्रकाशज्ञान-सापेक्ष नहीं है, वैसे ही प्रकृतमें भी ब्रह्मप्रमा स्वरूपचैतन्यको विषय करती हुई भी स्वरूपचैतन्यापेक्ष नहीं है।] तीसरा पक्ष (मानान्तरके योग्य अर्थको विषय करनेसे अनुवादक होनेकी आशङ्कारूप पक्ष) भी नहीं बनता, कारण कि स्पर्शज्ञानके योग्य घटादि द्रव्यको विषय करनेवाले चक्षु आदि प्रमाण अनुवादक नहीं देखे गये हैं। यदि शब्दरूप प्रमाणस्थलमें श ही उक्त रीतिसे अनुवादकता मानी जाती है, ऐसा कहो, तो भी विधिवाक्यस्थलमें [illegible] आशङ्काका परिहार कैसे किया जा सकेगा। [विधिवाक्य भी शब्द-[illegible] ही है।] लौकिकविधिवाक्यके प्रतिपाद्य विषयके मानान्तरयोग्य होनेपर [illegible]वैदिक-विधिप्रतिपाद्य अर्थ मानान्तरयोग्य नहीं हो सकता, यदि ऐसा कहा

स्यैवाऽनुवादकत्वशङ्केति नियन्तुं शक्यम्, शब्दावगतेऽर्थे मानान्तरमेवाऽनुवादकमित्यस्याऽपि सुवचत्वात्। तस्माद्भूतार्थनिष्ठमपि वैदिकं वचो निरपेक्षं प्रमाणम्।

ननु सर्वत्रोत्तमवृद्धो मानान्तरेणाऽर्थमुपलभ्य तत्र शब्दं प्रयुङ्क्ते। मध्यमवृद्धश्च तस्माच्छब्दात्तमर्थमवगत्य तत्र प्रवर्त्तते। तां च प्रवृत्तिमुपलभ्य बालो व्युत्पद्यते यथाव्युत्पत्ति च शब्दस्य बोधकत्वम्। ततो मानान्तरसंभिन्नस्यैवाऽर्थस्य शब्दप्रमेयतया कथं वचसो निरपेक्षं प्रामाण्यम्? नैष दोषः; बालो हि स्वयं मानासंभिन्नं घटादिप्रमेयमात्रं प्रत्यक्षादि-

---

जाय, तो सिद्धवस्तुविषयक वेदान्तवाक्योंमें भी उक्त कथन समानरूपसे संगत हो सकता है। [और दूसरा समाधान यह भी हो सकता है कि] शब्दप्रमाण ही अनुवादक है, इस आशङ्काका नियमन नहीं किया जा सकता अर्थात् ऐसा नियम नहीं बनाया जा सकता कि शब्दप्रमाण ही अनुवादक है, क्योंकि ऐसा भी कहा जा सकता है कि शब्दप्रमाणसे ज्ञात अर्थका अन्य प्रमाण ही अनुवादक है। इसलिए सिद्धभूत ब्रह्मके प्रतिपादक वेदान्तवचन निरपेक्ष (दूसरे प्रमाणोंकी अपेक्षा न रखते हुए स्वतन्त्र) प्रमाण हैं।

[शब्द प्रमाणको सापेक्ष सिद्ध करनेके लिए शङ्का करते हैं—] शब्दप्रयोगस्थलमें सर्वत्र देखा गया है कि उत्तम वृद्ध प्रत्यक्षादि दूसरे प्रमाणोंके द्वारा अर्थकी उपलब्धि करके उसका बोध करानेके लिए शब्दका प्रयोग करता है। और मध्यम वृद्ध अर्थात् जिसके प्रति शब्दप्रयोग किया जाता है, वह उस शब्दसे प्रतिपाद्य अर्थका बोध करके उसके अनुसार कार्य करनेमें प्रवृत्त होता है। मध्यम वृद्धकी प्रवृत्तिको देखकर बालकको उस अर्थमें शब्दकी व्युत्पत्तिका ग्रह होता है और व्युत्पत्तिके अनुसार ही शब्द अर्थका बोधक होता है। [व्युत्पत्ति प्रवृत्तिदर्शनसे होती है, प्रवृत्ति शब्दप्रयोगसे होती है और शब्दप्रयोग प्रमाणान्तरसे ज्ञात अर्थकी विवक्षासे किया जाता है, इस परम्परासे शब्द प्रमाण प्रमाणान्तरकी अपेक्षा रखता है, यह सिद्ध होता है—इस आशयसे शङ्काका उपसंहार करते हैं—] इसलिए प्रमाणान्तरसे सिद्ध अर्थ ही शब्दका प्रतिपाद्य प्रमेय होनेसे शब्दप्रमाणमें निरपेक्ष (स्वतन्त्र) प्रामाण्य कैसे हो सकता है?

समाधान—उक्त दोष नहीं आ सकता अर्थात् शब्दमें निरपेक्ष प्रा...

भिरवगत्य तत्र प्रवर्त्तमानः स्वदृष्टान्तेन मध्यमवृद्धस्याऽपि मानान्तरामिश्रितशुद्धप्रमेयज्ञानपूर्विकां प्रवृत्तिमनुमाय तस्मिन् प्रमेयमात्रे शब्दस्योत्तमवृद्धप्रयुक्तस्य सामर्थ्यमवगच्छति। न च वाच्यं कार्यस्य केवलस्य शब्दशक्तिविषयत्वेऽपि सिद्धार्थस्य मानान्तरसंभिन्नस्यैव तद्विषयतेति। तत्र तावत् कार्यवाक्यगतसिद्धपदानि मानान्तरासंभिन्नेऽर्थे शक्तिमन्ति कार्यवाक्यगतत्वात्, कार्यपदवत्। तथा च तद्दृष्टान्तेनेतरेषामपि सिद्ध-

कारण कि बालक स्वयं दूसरे प्रमाणोंके द्वारा न जाने गये घटादि प्रमेयजातको प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे जानकर उन अर्थोंमें प्रवृत्त होता हुआ अपनेको दृष्टान्त बनाकर दूसरे प्रमाणोंसे असंबद्ध शुद्ध प्रमेय ज्ञानके अनन्तर ही मध्यम वृद्धकी भी होनेवाली प्रवृत्तिका अनुमान करके उस प्रमेयमात्रमें (मात्रपदसे मानान्तरसम्भेदका वारण है) उत्तम वृद्ध द्वारा युक्त शब्दकी सामर्थ्य (अर्थबोध करना) समझ लेता है। [व्युत्पित्सु बालक शब्दप्रयोगरूप अथवा घटाहरणादिरूप व्यवहार देखता हुआ स्वयं मानान्तरासंभिन्न शुद्ध घट, पट आदि विषयोंका ज्ञान प्राप्त कर लेता है और यथावसर प्राप्त हुए ज्ञानके बलपर घटाहरणादि अथवा घट आदि शब्दके व्यवहारमें प्रवृत्त होता है एवं मध्यम वृद्धिकी प्रवृत्ति देखकर वह निश्चय कर लेता है कि इस मध्यम वृद्धकी प्रवृत्ति भी मेरे समान ही उत्तम वृद्धके शब्दसे मानान्तरासंभिन्न अर्थको जान करके ही हुई है, अतः उत्तम वृद्धका शब्द केवल मानान्तरासम्भिन्न अर्थका ही प्रतिपादक है, ऐसा निश्चय करता है। इस प्रक्रियासे शब्दका निरपेक्ष प्रामाण्य सिद्ध होता है]। केवल कार्यरूप अर्थको शक्तिका (शब्दशक्तिका) विषय मान भी लें, तो भी सिद्धभूत पदार्थ तो प्रमाणान्तरसे सिद्ध होकर ही शब्दशक्तिका विषय हो सकता है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, [कारण कि अनुमानसे शब्दोंकी मानान्तरासिद्ध अर्थके बोधनमें सामर्थ्य सिद्ध होती है। [अनुमानप्रयोग दिखलाते हैं—) 'कार्यके प्रतिपादक वाक्यमें पढ़े गये सिद्ध वस्तुपरक पद (पक्ष) मानान्तरसे असम्भिन्न अर्थमें शक्तिशाली (वाचक) हैं (साध्य), कार्यप्रतिपादक वाक्यमें पठित होनेसे (हेतु), कार्यबोधक पदके सदृश (दृष्टान्त)। इस प्रकार उस कार्यपरक वाक्यगत सिद्धवस्तु-

पदानां तत्साधनीयम्। यत्तूत्तमवृद्धस्याऽर्थोपलब्धिहेतुभूतं मानान्तरं तद्विवक्षोत्पादनद्वारा शब्दप्रयोगे हेतुर्न तु शब्दप्रमेयेऽन्तर्भवति तच्च बालस्तदाऽवगमिष्यति यदा स्वयमुत्तमवृद्धो भूत्वा शब्दप्रयोगं करिष्यति।

अत्र केचिच्चोदयन्ति—व्यर्थोऽयं व्युत्पत्तिनिरूपणप्रयासः। शब्दस्याऽर्थासंस्पर्शित्वात्। नह्यङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्त इत्यादिशब्दैः कश्चिदर्थः प्रमीयते। यत्राऽप्याप्तवाक्ये प्रमीयते तत्राऽपि मानान्तरनिबन्धना सा प्रमितिर्न शब्दनिबन्धनेति।

तदेतच्चोद्यं प्राभाकरः परिहरति। यद्यपि पौरुषेयवाक्यैर्नाभिधेयसंसर्गः प्रमीयते तथाप्येवमयं पुरुषो वेदेति वक्तृज्ञानविशेषः प्रमीयते

परक पदको दृष्टान्त करके अन्य भी सिद्ध पदोंका मानान्तरासम्भिन्न अर्थमें शक्तिका होना अनुमान द्वारा सिद्ध कर लिया जायगा। इससे पूर्व उत्तम वृद्धका अर्थज्ञान करनेमें कारणभूत मानान्तरका जो निर्देश किया गया है, वह विवक्षाको उत्पन्न करा कर शब्दप्रयोग करनेमें कारण है। शब्द प्रमेय कोटिमें नहीं आ सकता [विवक्षाके अधीन ही शब्दप्रयोग होता है, और विवक्षा ज्ञात अर्थकी ही होती है, इसलिए मानान्तरसम्भिन्नार्थत्व विवक्षोत्पादन द्वारा प्रयोगमात्रमें हेतु है, शब्द द्वारा अर्थबोध करानेमें हेतु नहीं है] और उस मानान्तरको बालक तब जान सकेगा जब वह स्वयं उत्तम वृद्ध होकर शब्द प्रयोग करेगा।

शब्दप्रमाणके विषयमें कोई कोई वादी कहते हैं कि उक्त प्रकारसे व्युत्पत्तिके निरूपणका परिश्रम करना व्यर्थ है, कारण कि शब्दका अर्थके साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता है। जैसे कि 'अङ्गुलीके अग्रभागमें सैकड़ों हाथियोंका झुंड है' इत्यादि शब्दोंके द्वारा किसी अर्थकी प्रमिति (अबाधित ज्ञान) नहीं होती और जिस आप्त पुरुषके वाक्य-स्थलमें अर्थका अबाधित ज्ञान होता है, उस स्थलमें भी दूसरे प्रमाणोंके द्वारा ही वैसा ज्ञान होता है, शब्दोंके द्वारा नहीं।

गुरुमतानुयायी इस पूर्वपक्षका समाधान करते हैं कि पौरुषेय वाक्योंसे [illegible] सम्बन्ध यद्यपि निश्चित नहीं हो सकता, तथापि 'यह पुरुष ऐसा ज[illegible]

एव। अङ्गुल्यग्रादिवाक्येष्वप्यव्यभिचारात्। स च ज्ञानविशेषो ज्ञेयविशेषं कल्पयतीति।

सोऽयं परिहारोऽनुपपन्नः, वैयधिकरण्यात्। शब्दस्याऽर्थासंस्पर्शित्वे चोदिते लिङ्गस्य तत्संस्पर्शित्वं प्रतिपाद्यत इति किं केन सङ्गच्छेत। वक्तृज्ञानद्वारा शब्दार्थसंस्पर्शः प्रतिपाद्यत इति चेद्, नः वक्तृज्ञानस्य शब्दप्रमेयत्वायोगात्। 'गामानय' इत्यादिवाक्येषु वक्तृज्ञानवाचकपदाभावात्। वाक्यार्थस्य पदार्थानतिरेकात्। अतिरेकेऽपि किं वक्तृज्ञानमात्रं वाक्यार्थं उत ज्ञेयविशिष्टम्। आद्ये लौकिकवाक्यादप्रमिते ज्ञेये व्यवहारो न स्यात्। ततो व्युत्पत्त्यभावाद्वैदिकवाक्यस्याऽप्यबोधकत्वप्रसङ्गः। द्वितीये

इस प्रकार वक्ताको ज्ञान विशेषका निश्चय होता ही है। 'अङ्गुलीके अग्रभाग—' आदि वाक्योंमें भी व्यभिचार नहीं है और तादृश ज्ञानविशेष ज्ञेयविशेषकी कल्पना करता है। [जिस पुरुषने 'अङ्गुलीके अग्रभागमें सैकड़ों हाथी रहते हैं', ऐसा वाक्य कहा हो, उसका तो ज्ञान ऐसा मानना ही होगा और उस अनुमित ज्ञानविशेषसे ज्ञेयविशेषका अनुमान द्वारा सम्बन्ध सिद्ध हो ही जाता है, इसलिए शब्दोंका अर्थसे सम्बन्ध हो जानेके कारण व्युत्पत्तिके प्रकारका प्रदर्शन उचित ही है]।

गुरुमतानुयायियोंका उक्त परिहार युक्तियुक्त नहीं है, कारण कि इस समाधानमें वैयधिकरण्य दोष आ जाता है। शब्दका अर्थके साथ सम्बन्धाभावका तो प्रश्न किया गया और हेतुभूत ज्ञानविशेषका अर्थके साथ सम्बन्ध दिखलाया गया, इसलिए किससे कौन सङ्गत हो सकता है। वक्ताके ज्ञान द्वारा शब्द और अर्थके सम्बन्धका प्रतिपादन किया जाता है, ऐसा कहना भी नहीं बनता, कारण कि वक्ताका ज्ञान शब्दका प्रमेयभूत अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि 'गाय ले आओ' इस वाक्यमें वक्ताके ज्ञानका वाचक कोई पद (शब्द) नहीं है, वाक्यका अर्थ पदके अर्थसे अतिरिक्त नहीं होता है ? यदि अतिरिक्त मान भी लिया जाय, तो भी प्रश्न होता है कि केवल वक्ताका ज्ञान वाक्यार्थ है ? या ज्ञेयसे विशिष्टज्ञान वाक्यार्थ है ? प्रथम विकल्पके माननेमें लौकिक वाक्य द्वारा प्रमित न हुए ज्ञेयमें व्यवहारकी सिद्धि नहीं होगी। इससे व्युत्पत्ति न होनेके कारण वैदिक वाक्य भी अर्थबोधक न हो सकेंगे। दूसरे विकल्पके माननेमें भी

ज्ञेयमेव वाक्यात् प्रमीयताम्, वक्तृज्ञानस्य शब्दप्रयोगलक्षणलिङ्गानुमेयतयाऽन्यथासिद्धेः। ननु ज्ञेयमप्यन्यथासिद्धम्, श्रोता हि पदेभ्यः पदार्थानवगत्य नूनमेषां संसर्गोऽस्तीति सहप्रयोगबलादुत्प्रेक्षत इति चेद्, मैवम्; उत्प्रेक्षाया एवाऽत्र वाक्यजन्यप्रमितित्वात्। न तावदियमुत्प्रेक्षा स्मृतिसंशयविपर्यासेष्वन्तर्भवति, संस्कारजन्यत्वकोटिद्वयबाधानामभावात्। प्रमितित्वेऽपि प्रत्यक्षादिकारणान्तराभावाद् वाक्यजन्यत्वं परिशिष्यते। न च वक्तृज्ञानेनाऽनुमितेन ज्ञेयमन्तरेणाऽनुपपद्यमानेन पदार्थसंसर्गः कल्पयितुं शक्यः, तथा सति वेदे वक्तुरभावात्संसर्गप्रमित्यसिद्धेः। तस्माच्छाब्दमेव संसर्गज्ञानम्। अङ्गुल्यग्रादिवाक्यानां त्वनाप्तसंसर्गादर्थास्पर्शित्वम्। अर्थसंस्पर्शिनोऽपि

ज्ञेय अर्थकी ही वाक्यसे प्रमिति मानिये, क्योंकि वक्ताका ज्ञान तो शब्दप्रयोगरूप हेतुसे अनुमेय होनेके कारण अन्यथासिद्ध है।

शङ्का—ज्ञेय अर्थ भी अन्यथासिद्ध है; क्योंकि श्रोता पुरुष पदोंसे पदार्थका ज्ञान करके 'निश्चय इन पद-पदार्थोंका सम्बन्ध है' इस प्रकार सहप्रयोगके बलसे सम्भावना कर लेता है।

समाधान—प्रकृतमें सम्भावनाकी ही वाक्य द्वारा प्रमिति होती है। और उक्त सम्भावना स्मरण, संशय तथा विपर्यय (भ्रम) कोटिमें नहीं आ सकती, कारण कि उसमें संस्कारसे उत्पन्न होना, दो कोटियोंका होना एवं बाधज्ञान—इनमें से कोई भी नहीं है। [यदि उक्त वाक्यसे प्रमित सम्भावना संस्कारजन्य होती, तो स्मरणके अन्तर्गत आ सकती, यदि उसमें (यह वा वह) ऐसी दो कोटियां होती, तो संशय आता तथा उत्तरकालमें 'ऐसा नहीं' इस प्रकार बाधज्ञान होता, तो उसे भ्रम माननेका अवसर आता, इनमें से एक भी नहीं है, अतः वह वाक्यजन्य प्रमिति ही है।] प्रमितिके माननेपर भी वहाँ प्रत्यक्ष आदि दूसरे कारणोंका अभाव है, अतः उसे वाक्यजन्य मानना ही शेष रहता है। यदि कहो कि अनुमानसे सिद्ध वक्ताका ज्ञान ज्ञेयके बिना उपपन्न नहीं होता, अतः वह पदार्थके संसर्गकी कल्पना करता है, तो ऐसा कहना भी उचित नहीं है, कारण कि ऐसी कल्पना करनेपर वेदमें किसी भी वक्ताके न होनेसे पदार्थसंसर्गके निश्चयकी असिद्धि हो जायगी। इसलिए शब्द द्वारा ही संसर्ग-ज्ञान होता है। और 'अङ्गुलीके अग्रभाग है' इत्यादि वाक्योंका तो आप्तके साथ संसर्ग न होनेसे अर्थके साथ—स्पर्श—सम्बन्ध

प्रत्यक्षस्य कारणदोषे सति शुक्त्याद्यर्थासंस्पर्शित्वदर्शनात् । नह्यपौरुषेयस्याऽद्वैतागमस्य कश्चिद्दोषसंसर्गः संभवति येनाऽर्थासंस्पर्शित्वमाशङ्क्येत । यदि द्वैतावभासीनि प्रत्यक्षादीनीति तेन विरुध्येरन् तदा तान्येव बाध्यन्ताम् । 'इन्द्रो मायाभिः' इत्यादिना मायाख्यदोषजन्यत्वश्रवणात् । दोषजन्यत्वेऽपि स्वप्नवद्व्यवहाराविसंवादे प्रामाण्यलाभात् । अद्वैतागमोऽपि प्रत्यक्षादिविषयस्य द्वैतस्य तत्त्वांशमेव बाधते न व्यवहारसंवादांशम् । एवं च सति यथा मायाकार्याणामपि प्रत्यक्षादीनां स्वस्वविषयेषु व्यावहारिकपदार्थेषु प्रामाण्यं तथैवाऽद्वैतागमस्य मायाकार्यत्वेऽप्यद्वैते स्वविषये प्रामाण्यं किं न स्यात् ? न चैवं शुक्तिरजतादिज्ञानेऽतिप्रसङ्गः शङ्कनीयः, तत्राऽपि यावद्बाधं प्रातिभासिकेषु रजतादिषु ज्ञानस्य स्वतः प्रामाण्यानिवारणात्, अन्यथा प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । विशेषदर्शनकालीनबाध-

---

नहीं है । अर्थसे सम्बन्ध रखनेवाले प्रत्यक्ष प्रमाणका भी इन्द्रियदोष होनेपर शुक्ति आदि अर्थके साथ सम्बन्ध नहीं देखा जाता है । अपौरुषेय अद्वैत शास्त्रमें कोई भी दोषका सम्बन्ध तो है नहीं, जिससे कि अर्थसम्बन्धके अभावकी आशङ्का की जा सके । यदि कहो कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण द्वैतका ज्ञान कराते हैं, अतः प्रत्यक्षादि विरोधी होंगे, तो उन विरुद्ध होनेवाले प्रत्यक्ष आदिका ही बाध कीजिये, क्योंकि 'इन्द्र मायाओंके द्वारा' इत्यादि वाक्योंमें द्वैतका मायानामक दोषसे जन्य होना कहा गया है । दोषके कारण उत्पन्न होनेपर भी स्वप्नके समान व्यवहारका विसंवाद न होनेसे प्रामाण्यका लाभ हो जाता है । अद्वैत-शास्त्र भी प्रत्यक्षादि प्रमाणके विषयभूत द्वैतकी यथार्थताका (सत्यताका) ही बाध करता है, व्यवहारवादका बाध नहीं करता । इस दशामें जैसे मायाके कार्यभूत प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका अपने-अपने विषयभूत व्यावहारिक घट, पट आदि पदार्थोंमें प्रामाण्य माना जाता है, वैसे ही मायाकार्य होते हुए भी अद्वैत आगमका अपने विषय अद्वैतमें प्रामाण्य क्यों नहीं माना जायगा ? इस रीतिसे शुक्तिरजतादि (प्रत्यक्ष भ्रमात्मक) ज्ञानमें प्रामाण्य माननेका अतिप्रसङ्ग नहीं दिया जा सकता, कारण कि वहांपर (भ्रमस्थलमें) बाधज्ञानका जबतक उदय न होगा, तबतक प्रतिभाससे सिद्ध रजतादिमें ज्ञानका स्वतःप्रामाण्य नहीं हटाया जा सकता । इसके (ज्ञानका स्वतःप्रामाण्य न माननेसे) रजतार्थीकी रजतमें प्रवृत्ति

पर्यालोचनयैवाऽप्रामाण्यव्यवहारात् । न चाऽद्वैतज्ञानस्य कदाचिद्बाधोऽस्ति, येनैतादृशमप्रामाण्यमुच्येत ।

ननु चित्रगतनिम्नोन्नतविषयचाक्षुषज्ञानस्य विषयगतश्यामादिरेखा-संनिवेशविशेषाख्याद्दोषादप्रामाण्यं यथा दृष्टं तथाऽत्राप्यद्वैताख्याद्विषय-दोषादप्रामाण्यमिति चेद् , न; तत्राऽपि स्पर्शज्ञानबाधादेवाऽप्रामाण्यात् । अनधिगतार्थगन्तृत्वलक्षणस्य प्रामाण्यस्य न संवादापेक्षा शङ्कितुमपि शक्या । न चाऽऽम्नायस्य सर्वस्य क्रियार्थत्वाद्विधिवाक्यानामेव प्रामाण्य-मिति वाच्यम् , इतरेतराश्रयत्वात् । विधिवाक्यानामेव प्रामाण्ये सिद्धे

नहीं बनेगी । विशेषज्ञानकालमें उत्पन्न हुए बाधकी पर्यालोचनासे ही पूर्व ज्ञानमें अप्रामाण्यका व्यवहार होता है । और अद्वैतज्ञानका कभी बाध ही नहीं होता, जिससे कि [अद्वैतज्ञानमें] उक्त प्रकारका अप्रामाण्य कहा जा सके ।

शङ्का—जैसे चित्रमें निम्नोन्नतभावका ज्ञान करानेवाले चाक्षुष प्रत्यक्षका अप्रामाण्य उसके विषय—निम्नोन्नत चित्र—गत श्यामादि वर्णकी रेखाओंका विशेष प्रकारसे खींचा जानारूप दोषके द्वारा प्राप्त है, वैसे ही प्रकृतमें भी अद्वैत-नामक विषयके दोषसे ही [अद्वैतप्रतिपादक वेदान्तवाक्योंका] अप्रामाण्य होगा ।

समाधान—उक्त कथन युक्त नहीं है, कारण कि दृष्टान्त-स्थलमें भी स्पर्श-ज्ञान द्वारा बाधका उदय होनेपर ही अप्रामाण्य माना जाता है । अनधिगतार्थ-गन्तृत्व—अपूर्व अर्थका बोधन कराना—रूप प्रामाण्यमें संवादकी अपेक्षा करनेकी शङ्का भी नहीं की जा सकती । [कारण कि प्रमाणका विषयभूत अर्थ यदि दूसरे प्रमाणसे सिद्ध है, तो वह विषय अपूर्व ही नहीं रहा, यदि अपूर्व—दूसरे प्रमाणोंसे अज्ञात—अर्थके बिना उसका बोध किया जा रहा है, तो वह प्रमाण ही नहीं माना जा सकता, इसलिए प्रमाण-प्रमेयमें संवादकी अपेक्षाका अवसर ही नहीं आता] यदि कहो कि वेद-शास्त्र सम्पूर्ण ही क्रियाकलापात्मक कर्मकाण्डका ही प्रतिपादन करनेके लिए हैं, इसलिए विधिवाक्योंका ही प्रामाण्य माना जाय, तो यह कहना भी नहीं बनता, कारण कि ऐसा माननेसे इतरेतराश्रय दोष आता है । [इतरेतराश्रय दिखलाते हैं—] विधिवाक्योंका प्रामाण्य सिद्ध होने...

सर्वस्याऽऽम्नायस्य क्रियार्थत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ चेतरसिद्धिरिति। न च प्रवृत्ति-निवृत्तिसाध्ययोरिष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरभावादपुरुषार्थे ब्रह्मणि कथं वेदान्तप्रामाण्यमिति शङ्कनीयम्; लोको हीष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारावेव साक्षात् प्रार्थयते न प्रवृत्तिनिवृत्ती, तयोरायासात्मकत्वात्। अप्राप्तग्रामादिप्राप्तावपरिहृतरोगादिपरिहारे चाऽऽयासमन्तरेणाऽभिलषितसिद्ध्यभावादायासं पुरुषः सहेताऽपि, यत्र तु प्राप्तमेव कण्ठचामीकरादिकमजानानः पुरुषः पुनः प्राप्तुमिच्छति परिहृतमेव च रज्जुसर्पादिकं परिजिहीर्षति तत्र ज्ञानमात्रादभीष्टसिद्धौ कुत आयासं सहेत। नहि तत्राऽऽयासोऽपेक्ष्यते, प्रत्युत ज्ञाने सति पूर्वोऽप्यायासः परिह्रियते। एवं च सति नित्यप्राप्तस्य ब्रह्मणः प्राप्तौ नित्यनिवृत्तस्य संसारस्य परिहारे च हेतुभूतं तत्त्वज्ञानं जनयतां

सम्पूर्ण वेदशास्त्रका विधिमें तात्पर्य सिद्ध होगा। और सम्पूर्ण वेदका विधिमें तात्पर्य निर्णीत होनेपर केवल विधिवाक्योंका प्रामाण्य सिद्ध होगा।

शङ्का—प्रवृत्ति और निवृत्तिके द्वारा की जानेवाली अभीष्टकी प्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्ति—इन दोनोंके न होनेसे पुरुषार्थशून्य सिद्धभूत ब्रह्मके प्रतिपादनमें वेदान्तवाक्योंका प्रामाण्य कैसे माना जा सकता है?

समाधान—उक्त शङ्का उचित नहीं है, कारण कि संसारमें सभी लोग साक्षात् इष्ट-प्राप्ति और अनिष्टका निराकरण ही चाहते हैं, प्रवृत्ति तथा निवृत्तिको नहीं चाहते; क्योंकि प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों परिश्रमस्वरूप हैं। [और परिश्रम कोई नहीं चाहता।] यद्यपि यह हो सकता है कि प्राप्त न हुए गाँवकी प्राप्ति तथा न छूटे हुए रोगको दूर करनेके लिए परिश्रमके बिना अभीष्टकी सिद्धि (ग्रामप्राप्ति और अनभीष्ट रोगकी निवृत्ति) नहीं हो सकती, अतः भले ही वहांपर पुरुष परिश्रम कर ले, तथापि जहां गलेमें पड़ा हुआ सुवर्णका हार प्राप्त ही है, परन्तु उसे न जानकर पुरुष फिर उसको प्राप्त करना चाहता है और जहाँ रज्जुसर्प वस्तुतः है ही नहीं याने वह परिहृत ही है, तथापि उसको भगाना (परिहृत करना) चाहता है, वहाँ तो ज्ञान हो जानेसे ही अभीष्टकी सिद्धि हो जाती है; फिर उसके लिए उस स्थलमें पुरुष परिश्रम क्यों सहेगा? ऐसे स्थलोंमें परिश्रम करनेकी अपेक्षा नहीं रहती, बल्कि ज्ञान हो जानेपर पहलेसे आरम्भ किया गया परिश्रम भी छोड़ दिया जाता है। इस सिद्धान्तके अनुसार नित्यप्राप्त ब्रह्मकी प्राप्तिमें और नित्यनिवृत्त संसारके त्यागमें कारणभूत

वेदान्तानां कुतोऽपुरुषार्थपर्यवसायित्वशङ्का । तस्माद्वेदान्तानां ब्रह्मणि प्रामाण्यं केनाऽपि वारयितुं न शक्यम् ।

किञ्च, पुरुषार्थस्य प्रामाण्यप्रयोजकत्वे नित्यनैमित्तिकवाक्यानां प्रामाण्यं गुरुमते दुःसम्पादम् । नहि तत्र फलमस्ति, किन्त्वनुष्ठाने प्रयास एव, अननुष्ठाने तु प्रत्यवायः स्पष्टः । तत उभयथाऽप्यनर्थहेतूनां तेषां कथं प्रामाण्यसिद्धिः । तस्मात्प्रत्यक्षादिवच्छब्दस्याऽप्यनधिगताबाधितासंदिग्धार्थबोधकत्वमात्रं प्रामाण्यनिमित्तम् । तच्च कार्यब्रह्मवाक्ययोः समानम् । तथा च सति पूर्वपक्षिणा वेदान्तानामप्रामाण्यसिद्धये महता प्रयासेन यद्विधिपरत्वकल्पनं तदकाण्डे ताण्डवितम् , तस्मात्सिद्धं ब्रह्मणि वेदान्तानां प्रामाण्यमिति ।

इति श्रीविद्यारण्यमुनिप्रणीते विवरणप्रमेयसंग्रहे चतुर्थसूत्रे
प्रथमं वर्णकं समाप्तम् ।

तत्त्वज्ञानके उत्पादक वेदान्तवाक्योंका तात्पर्य पुरुषार्थशून्य पदार्थका बोधन करानेमें कैसे माना जा सकता है ? इसलिए वेदान्तवाक्योंका ब्रह्ममें प्रामाण्य मानना किसीसे भी दूर नहीं किया जा सकता ।

[प्रकारान्तरसे भी समर्थन करते हैं—] और यह भी है कि यदि पुरुषार्थको ही प्रामाण्यका प्रयोजक माना जाय, तो गुरुमतमें (प्रभाकरमतमें) नित्य तथा नैमित्तिक कर्म-बोधक वाक्योंका प्रामाण्य सिद्ध नहीं किया जा सकेगा, कारण कि उनका कोई फल नहीं है, किन्तु उनके करनेमें केवल परिश्रम है और न करनेमें प्रायश्चित्त लगता है। इसलिए करने या न करने—दोनों तरहसे भी अनर्थके उत्पादक उन नित्य-नैमित्तिक विधिवाक्योंका प्रामाण्य कैसे सिद्ध हो सकता है ! इसलिए प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंके सदृश अनधिगत (प्रमाणान्तरागृहीत-अपूर्व), अबाधित (बाधज्ञानरहित) तथा असंदिग्ध (सन्देहसे व्यावृत्त) अर्थका बोधक होना ही प्रामाण्यका प्रयोजक है । ऐसा प्रयोजक विधिवाक्य और ब्रह्मबोधकवाक्य दोनोंमें एक-सा ही है। इस दशामें पूर्वपक्षी लोग वेदान्तोंके अप्रामाण्यकी सिद्धिके लिए इतने बड़े प्रयासके साथ जो यह कल्पना करते हैं कि वेदान्तोंका विधिमें तात्पर्य है, वह तो [illegible] अनवसरमें नृत्य करनेके समान है । इसलिए वेदान्तवाक्योंका ब्रह्ममें ही प्रामा[illegible]

चतुर्थ सूत्रमें प्रथम वर्णक समाप्त ।

द्वितीयं वर्णकम्

शब्दानां सिद्धार्थे शक्तिमङ्गीकृत्याऽपि ब्रह्मणि वेदान्तप्रामाण्यं न संभवतीति ये मन्यन्ते तेषां मतं पूर्ववर्णके निरस्तम्। ये पुनः कार्यान्वितस्वार्थे एव शब्दशक्तिरिति मन्यमानाः कार्यशेषतयैव ब्रह्म वेदान्तैः प्रमीयते इति कथयन्ति, तेषां मतमस्मिन्वर्णके निरस्यते।

ते ह्येवमाहुः—उत्तमवृद्धेन गामानयेत्युक्तेऽनन्तरं मध्यमवृद्धेन क्रियमाणं गवानयनं व्युत्पित्सुर्बालो गवानयनकार्यमनेन वाक्येन बोधितमित्यवगत्य पुनरश्वमानय गां बधानेत्यादिप्रयोगेष्वावापोद्धाराभ्या-

---

द्वितीय वर्णक

सिद्ध अर्थमें शब्दोंकी शक्तिका स्वीकार करनेपर भी ब्रह्ममें वेदान्त-वाक्योंका प्रामाण्य नहीं हो सकता, इस प्रकार जो मानते हैं, उनके मतका खण्डन पूर्व वर्णकमें किया जा चुका है। अब उन प्राभाकरानुयायियोंके मतका खण्डन किया जाता है, जो कार्यसे सम्बद्ध स्वार्थमें ही शब्दकी शक्ति मानकर विधिके अङ्गरूपसे ही वेदान्तवाक्यों द्वारा ब्रह्मका प्रतिपादन होता है, ऐसा कहते हैं।

वे यों कहते हैं—उत्तम वृद्धने (आज्ञा देनेवाले प्रयोजक पुरुषने) 'गऊ लाओ' ऐसा कहा, तदनन्तर मध्यम वृद्ध (जिससे काम करनेको कहा गया उस पुरुष) द्वारा किये गये गऊके आनयन (लाना) रूप कार्यको देखकर व्युत्पत्तिग्रहकी (जाननेकी) इच्छा रखनेवाला बालक निश्चय करता है कि उक्त वाक्यसे गाय लानारूप कार्य (क्रिया) ही बोधित होता है। तदनन्तर 'घोड़ा लाओ' और 'गाय बांधो' इत्यादि प्रयोगोंमें आवाप और उद्वापसे [अर्थात् अन्वयव्यतिरेकसे पूर्व वाक्यमें जो 'गाय' और 'लाओ' पद थे उन दोनों पदोंके श्रवणसे गायका लाना कार्य किया गया। 'अब घोड़ा लाओ' कहनेसे दूसरे पदार्थका लाना हुआ, और 'गाय बांधो' वाक्यसे गायके साथ दूसरी क्रिया हुई, इस तरह 'गाय लाओ' और 'गाय बांधो' इन दोनों वाक्योंमें 'गाय' पद समान है, क्रियाका ...पदार्थ भी गायरूप समान है, इसलिए 'गाय' पदका अर्थ यही सास्नादि- ...पदार्थ है, परन्तु दोनों स्थलोंमें वह कार्यान्वित ही दीख पड़ता है, अतः ...नवाले बालकने निश्चय किया कि कार्यान्वितमें ही शब्दोंकी शक्ति होती

मेकैकस्य पदस्य कार्यान्वितस्वार्थे सामर्थ्यं प्रतिपद्यते। न चेष्टसाधने व्युत्पत्तिः संभवति, अतीते इष्टसाधनादौ मध्यमवृद्धप्रवृत्त्यभावात्। कृतियोग्ये इष्टसाधने प्रवृत्तिरस्तीति चेत्, तर्ह्यव्यभिचारात्कार्यमेव व्युत्पत्तिप्रयोजकं भविष्यति। अव्यभिचारित्वमात्रेण कार्यस्य प्रयोजकत्वे कार्यगतलौकिकत्वस्याप्यव्यभिचाराद् व्युत्पत्तौ प्रयोजकत्वं प्रसज्येत। तथा च वेदे नियोगप्रतिपत्तिर्न स्यादिति चेद्, न; कार्यं परित्यज्याऽन्वितस्वार्थमात्रस्य प्रयोजकत्वाङ्गीकारे केनाऽन्वित इति साकाङ्क्षत्वप्रसङ्गात्। न च लौकिकत्वपरित्यागे बाधोऽस्ति। ननु सिद्धपदानां कार्यान्वितस्वार्थसंभवेऽपि कार्यपदस्य न तत्संभवः कार्यान्तराभावादिति चेद्, न; धात्वर्थस्याऽपि कार्यतया तदन्वितयोगे कार्यपदस्य व्युत्पत्तेः। यद्यपि

है, एवं 'आनय' पदमें आवाप और उद्वापको देखकर उसका भी अर्थनिर्णय किया, इससे] एक एक पदकी कार्यान्वित स्वार्थमें सामर्थ्यका (शक्तिका) निर्द्धारण करता है। इष्टसाधनमें व्युत्पत्तिग्रह नहीं हो सकता, कारण कि भूतकालिक इष्टसाधनमें मध्यम वृद्धकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यदि कृति (क्रिया) के योग्य इष्टसाधनमें प्रवृत्ति होती है, ऐसा माना जाय, तो व्यभिचारशून्य होनेसे कार्य ही व्युत्पत्तिका प्रयोजक (शब्दकी शक्तिका ग्राहक) मान लिया जायगा।

शङ्का—यदि व्यभिचारशून्य होनेसे ही कार्यको व्युत्पत्तिका प्रयोजक माना जाय, तो कार्यमें लौकिकत्वका भी व्यभिचार नहीं है, अतः उस कार्यमें रहनेवाले लौकिकत्वको भी व्युत्पत्तिका प्रयोजक मानना होगा। इससे वेदमें नियोगकी प्रतीति नहीं हो सकेगी।

समाधान—यदि कार्यको छोड़कर अन्वित स्वार्थमात्रमें (लौकिकत्वमें) ही प्रयोजकत्व माना जाय, तो वह किससे अन्वित है ? इस प्रकार साकाङ्क्ष होनेका प्रसङ्ग आ जायगा। और लौकिकत्वके छोड़नेमें कोई बाध भी नहीं है।

शङ्का—सिद्ध पदार्थके प्रतिपादक 'गो' आदि पदोंकी शक्ति कार्ययुक्त स्वार्थमें सम्भव होनेपर भी कार्यबोधक 'लाओ' आदि पदका वैसा—कार्यान्वित अर्थका बोधन करना—सम्भव नहीं है।

समाधान—धातुका अर्थ कार्यरूप होनेसे उस कार्यसे युक्त नियोगमें

लोके 'फलितो द्रुमः' इत्यादिवाक्यानि कार्यरहितान्यपि प्रयुज्यन्ते तथापि तत्र 'तं पश्य'इत्यादिकार्याध्याहारोऽवगन्तव्यः, कार्यान्विते व्युत्पन्नस्य पदस्य कार्यमन्तरेणाऽबोधकत्वात् । अतः प्रवृत्तिनिवृत्तिसाध्यप्रयोजनमन्तरेण वाक्यप्रयोगानुपपत्तेर्नियोगनिष्ठा वेदान्ताः । न च रज्जुसर्पकण्ठचामीकरादाविव तत्त्वज्ञानमात्रेण प्रयोजनमुपलभामहे । न चैतच्छास्त्रीयम्, तथा सति श्रवणोत्तरकालीनयोर्मनननिदिध्यासनयोरविधिप्रसङ्गात् । न च सर्वस्य वेदस्य विधिनिष्ठत्वे सत्येकैव मीमांसा षोडशलक्षणी स्यादिति शङ्कनीयम्, क्रियाविधिप्रतिपत्तिविधिरूपाभ्यां तद्भेदसिद्धेः । यानि वेदान्तवाक्यानि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादकानि 'सदेव सोम्येदम्' इत्यादीनि तानि सर्वाणि 'सोऽन्वेष्टव्यः' इत्यादिविधिषु कोऽसावात्मेत्याकाङ्क्षायां तच्छेषतयैवाऽऽत्मविशेषं समर्पयन्ति । तस्मादनन्यशेषाद्वितीयप्रतिपादकत्वं वेदान्तानां नाऽस्तीति ।

कार्यपदकी व्युत्पत्ति सिद्ध हो सकती है । यद्यपि लोकमें (फला हुआ पेड़) इत्यादि वाक्य कार्यशून्य अर्थका भी प्रतिपादन करते ही हैं, तथापि ऐसे वाक्योंमें 'उसको (फलित पेड़को) देखो, इत्यादि प्रकारसे कार्यका अध्याहार समझना चाहिए, कारण कि कार्यान्वित पदार्थमें शक्तिशाली पद कार्यके विना बोधक नहीं हो सकते । इसलिए प्रवृत्ति या निवृत्तिसे साध्य प्रयोजनके विना वाक्यका प्रयोग नहीं हो सकनेसे नियोगके बोधनमें ही वेदान्तोंका तात्पर्य है । रज्जुसर्प या गलेके हारके समान तत्त्वज्ञानमात्रसे ही प्रयोजनका सिद्ध होना नहीं माना जा सकता, कारण कि उक्त प्रयोजन शास्त्रका तात्पर्यविषय नहीं है । यदि इसको शास्त्रीय प्रयोजन मान लिया जाय, तो श्रवणके बाद होनेवाले मनन और निदिध्यासनको विधि न माननेका प्रसङ्ग आ जायगा । यदि कहो कि सभी वेद विधिपरक होंगे, तो सोलह अध्यायकी एक ही मीमांसा हो जायगी, तो यह कहना भी उचित नहीं है, कारण कि क्रियाविधि और प्रतिपत्ति (ज्ञान) विधिके भेदसे उन दोनोंका भेद ही है । 'सदेव सोम्य०' इत्यादि जो ब्रह्मस्वरूपके प्रतिपादक वाक्य हैं, वे सब 'सोऽन्वेष्टव्यः' इत्यादि विधियोंमें 'आत्मा कौन है ?' इस प्रकारकी आत्मविषयक जिज्ञासा होनेपर 'उसके अङ्गरूपसे ही आत्माका समर्पण करते हैं ? इससे वेदान्त अनन्यशेष अद्वितीय आत्माके प्रतिपादक नहीं हैं ।

अत्रोच्यते—न तावन्नियोगब्रह्मणी उभे अपि वेदान्तैः प्रमातुं शक्येते, विरुद्धत्रिकद्वयापत्तिप्रसङ्गात् । तच्च प्रथमसूत्रद्वितीयवर्णके विस्तृतम् । नाऽपि नियोगमात्रं प्रमातुं शक्यम् , विधेयानिरूपणात् । न तावच्छाब्दं ब्रह्मज्ञानं विधेयम् , तस्याऽऽपातिकस्याऽध्ययनादेव निष्पत्तेः । निर्णयश्च विचारजन्यः । अन्यथाऽग्निहोत्रादिज्ञानस्याऽपि तद्वावाक्याध्ययनतद्विचाराभ्यामसिद्धिप्रसङ्गात् । नाऽपि शब्दावगते ब्रह्मणि स्मृतिसन्तानो विधेयः, तद्विधेरदृष्टफलत्वे स्वर्गादिवन्मोक्षस्याऽपि कर्मजन्यत्वेनाऽनित्यत्वप्रसङ्गात् । अथाऽङ्गमर्दनप्रवाहेण शरीरे सुखप्रवाहोत्पत्तिवदभीष्टब्रह्मविषयस्मृतिसन्तानेनाऽपि सुखसन्तानो दृष्टफलं भवेत् , तर्ह्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां तत्सिद्धेर्विधिवैयर्थ्यम् । अस्तु तर्हि स्मर्यमाणस्य साक्षात्करणं स्मृति-

इस प्रकारके पूर्वपक्षके उत्तरमें कहा जाता है—नियोग और ब्रह्म—इन दोनोंका निश्चय तो वेदान्तवाक्योंके द्वारा नहीं किया जा सकता, कारण कि इसमें विरुद्ध दो त्रिकोंकी आपत्तिका प्रसङ्ग होगा । इसका वर्णन विस्तारपूर्वक प्रथम सूत्रके द्वितीय वर्णकमें किया गया है। केवल नियोगका निश्चय भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस नियोगके विधेयका निरूपण नहीं होता—शब्द द्वारा उत्पन्न ब्रह्मज्ञान तो विधेय हो नहीं सकता, कारण कि विचारके पूर्व भी वेदान्तवाक्योंके केवल पठनसे शब्दजनित ब्रह्मज्ञानकी सिद्धि हो सकती है । और निर्णय तो विचारसे उत्पन्न होता है। यदि ऐसा न माना जाय, तो उन अग्निहोत्रादिके प्रतिपादक वाक्योंके पढ़ने तथा विचार करने से अग्निहोत्रादिके ज्ञानकी भी असिद्धिका प्रसङ्ग आ जायगा । [इसलिए शब्दज्ञानका पठनसे ही और निर्णयका विचारसे ही अस्तित्व मानना होगा] और शब्द द्वारा जाने गये ब्रह्ममें स्मृतिसन्तान (ब्रह्मकी निरन्तर स्मृतिकी उत्पत्ति होते रहना) भी विधेय नहीं हो सकता, कारण कि उस ब्रह्मविषयक स्मृतिसन्तानविधिके अदृष्टफलक होनेके कारण स्वर्गादिके तुल्य मोक्षमें भी, कर्मजन्य होनेसे, अनित्यत्वका प्रसङ्ग आ जायगा । शरीरकी मालिसके निरन्तर चालू रहनेसे शरीरमें जैसे सुखप्रवाहकी उत्पत्ति होतीरहती है, वैसे ही अभीष्ट ब्रह्मविषयक स्मृतिके सन्तानसे (प्रवाहसे) भी निरन्तर सुख होते रहनारूप इष्ट फल यदि उस विधिका कहा जाय, तो यह फल अन्वय-व्यतिरेक द्वारा ही सिद्ध हो सकता है, इसलिए उस फलकी सिद्धिके लिए विधिवाक्यका होना

संतानविधेः प्रयोजनमिति चेत्, तदापि किं स्मृतिसन्तानः स्वयमेव साक्षात्कारं जनयेत् उताऽदृष्टद्वारा अथवा विज्ञानान्तरद्वारा ? नाऽऽद्यः, नहि स्मृतिरूपस्य परोक्षज्ञानस्य सन्तानो विषयसाक्षात्कारं जनयितुमुत्सहते । अन्यथाऽनुमानज्ञानसन्तानोऽप्यनुमेयसाक्षात्कारमुत्पादयेत् । द्वितीयेऽपि न तावत् स्मृतिसन्तानजन्यमदृष्टमात्रं साक्षात्कारोत्पादने प्रभवति; साक्षात्कारस्य प्रमाणजन्यत्वात् । प्रमाणस्याऽप्यदृष्टसहकारित्वे प्रमाणेनैव साक्षात्कारोत्पत्तावदृष्टवैयर्थ्यम् । न तृतीयः, स्मृतिसन्तानजन्यं तद्विज्ञानान्तरं स्वयमेव साक्षात्कारजनकम् उताऽदृष्टद्वारेत्यादिविकल्पदोषप्रसङ्गात् ।

ननु तर्हि शब्दावगते ब्रह्मणि ध्यानं विधीयताम् । न च स्मृति-

व्यर्थ है । [वही विधिवाक्य चरितार्थ होता है, जो अनन्यसिद्ध फलकी सिद्धिके लिए विधानका प्रतिपादन करे] । यदि कहो कि स्मृतिके विषयभूत (ब्रह्मका) साक्षात् (प्रत्यक्ष दर्शन) करना ही स्मृतिसन्तानविधिका फल माना जाय, तो इसपर विकल्प होंगे कि क्या स्मृतिसन्तान स्वयं साक्षात्कारको उत्पन्न करेगा ? अथवा अदृष्टके द्वारा या दूसरे विज्ञानके द्वारा ? इनमें प्रथम विकल्प नहीं हो सकता, कारण कि स्मृतिस्वरूप परोक्ष ज्ञानका सन्तान (प्रवाह) विषयके साक्षात्कारको (प्रत्यक्ष ज्ञानको) उत्पन्न करनेका साहस नहीं कर सकता । अन्यथा (यदि परोक्ष ज्ञानको प्रत्यक्ष ज्ञानके उत्पादनमें समर्थ मान लिया जाय, तो) अनुमानस्वरूप ज्ञानप्रवाह भी अपने विषय अनुमेयका साक्षात्कार करा देगा । दूसरे विकल्पके माननेमें भी प्रथम तो स्मृतिप्रवाहसे उत्पन्न हुआ अदृष्ट ही साक्षात्कारको उत्पन्न करानेमें समर्थ नहीं हो सकता, कारण कि साक्षात्कार तो प्रमाण द्वारा उत्पन्न होता है । प्रमाणका भी यदि अदृष्ट उपकारी माना जाय, तो प्रमाण द्वारा ही साक्षात्कारकी उत्पत्ति हो जानेपर उसके लिए अदृष्टका मानना ही व्यर्थ है । तीसरा विकल्प भी नहीं बन सकता, क्योंकि इसमें भी स्मृतिप्रवाहसे उत्पन्न हुआ वह दूसरा विज्ञान या स्वयं ही साक्षात्कारका उत्पादक है ? या अदृष्टके द्वारा ? इत्यादि विकल्पोंका प्रसङ्ग विद्यमान ही है ।

शङ्का—तब तो शब्द द्वारा जाने गये ब्रह्ममें ध्यानका विधान करना

सन्तान एव ध्यानम्, स्मृतिसन्तानस्य वस्तुगोचरत्वाद् ध्यानस्याऽऽरोपितविषयतयाऽपि संभवात्। न च प्रयोजनाभावः, ब्रह्मापरोक्षस्य प्रयोजनत्वात्। दृश्यते हि ध्यानाभ्यासप्रचयसामर्थ्यान्मृतपुत्राद्यापरोक्ष्यम्। न च तद्वदेव ब्रह्माऽऽपरोक्ष्यस्य भ्रान्तत्वप्रसङ्गः, शब्दप्रमाणसंवादसद्भावात्। स्वप्नवस्तुसाक्षात्कारस्याऽपि कस्यचिज्जागरणज्ञानसंवादे प्रामाण्यदर्शनात्, नैतत्सारम्; स्वतःप्रामाण्यहानिप्रसङ्गात्। न च स्वप्ने चक्षुरादिप्रवृत्तिमन्तरेण वस्तुसाक्षात्कारः संभवति। जागरणसंवादस्तु सादृश्यादुपपद्यते। अथ स्मृतिसन्तानध्यानयोरविधेयत्वेऽपि

उचित है। और स्मृतिप्रवाह ही ध्यान नहीं कहा जा सकता, कारण कि स्मृतिसन्तान तो वास्तव वस्तुको विषय करता है और ध्यानका विषय तो आरोपित (अवास्तव) भी हो सकता है। प्रयोजनका अभाव भी (अर्थात् ध्यानका कोई फल नहीं है, ऐसा भी) नहीं कह सकते, क्योंकि उससे ब्रह्मसाक्षात्काररूप फल हो सकता है। ध्यानके अभ्यासके आधिक्यसे मरे हुए पुत्र आदिका साक्षात्कार देखा भी जाता है। और मृतपुत्र आदिके ध्यानके बलसे उत्पन्न साक्षात्कारकी भाँति ब्रह्मसाक्षात्कारको भ्रम माननेका प्रसङ्ग भी नहीं आ सकता, कारण कि ब्रह्मसाक्षात्कारमें वेदान्तवाक्यरूप शब्द-प्रमाणका संवाद सम्भव है। [और मृत पुत्र आदिके साक्षात्कारमें ध्यानसे अतिरिक्त प्रमाणान्तरका संवाद नहीं मिलता] स्वप्नमें उत्पन्न हुए प्रत्यक्षका जागरणावस्थाके ज्ञानके साथ संवाद मिलनेसे प्रामाण्य देखा गया है।

समाधान—ध्यानका विधान करनेवाली युक्तियाँ सारभूत नहीं हैं, कारण कि इससे ज्ञानके स्वतःप्रामाण्यकी हानिका प्रसङ्ग होता है। और स्वप्नमें तो चक्षु आदि प्रमाणोंके व्यापारके बिना वस्तुका साक्षात्कार सम्भव ही नहीं है। जागरणमें संवाद तो केवल सादृश्यसे होता है। [आशय यह है कि यदि ध्यानसन्तानाधिक्यसे उत्पन्न हुआ साक्षात्कार (प्रत्यक्षज्ञान) शब्दप्रमाणके साथ संवाद मिलनेसे प्रमाण माना जाय, तो ज्ञानोंके स्वतःप्रामाण्यकी हानि होगी। यदि प्रमाणान्तर-संवादसे प्रमाणित न किया जाय, तो वह मृत पुत्र आदिके साक्षात्कारके तुल्य भ्रम माना जायगा। इस प्रकार उक्त युक्तियाँ उभयथा दोषग्रस्त हैं। स्वप्नसाक्षात्कारको प्रमाणान्तरके संवादसे प्रमाण माननेका

शाब्दज्ञानादन्यदेव ज्ञानमलौकिकं श्रवणमननादिकरणकं वेदानुवचनादीतिकर्त्तव्यताकं ब्रह्मापरोक्ष्यफलकं मोक्षकामः कुर्यादिति विधीयत इति चेद्, मैवम्; वेदान्तानां ब्रह्मप्रमापके विधेयज्ञाने प्रामाण्यकल्पनाद् ब्रह्मण्येव साक्षात्प्रामाण्यकल्पनाया लघीयस्त्वात्। न च विधिसंस्पर्शित्वं प्रामाण्यकारणम्, किन्तु प्रमितिजननम्। अन्यथा अग्निहोत्रादिवाक्यं दर्शपूर्णमासविधिनिष्ठमपि स्याद्, विधिसंस्पर्शाविशेषात्। प्रमितिश्च सत्य-

---

प्रतिपादन करना तो बनता ही नहीं, क्योंकि स्वप्नमें वस्तुका साक्षात्कार होता ही नहीं, साक्षात्कार तो चक्षुरादि इन्द्रियोंसे जन्य ही हो सकता है, स्वप्नमें बहिरिन्द्रियाँ निर्व्यापार रहती हैं, अतः स्वप्नमें प्रतीयमान सब भ्रम ही है, जागरणसंवाद तो केवल सादृश्य द्वारा है।]

शङ्का—यद्यपि स्मृतिसंतान और ध्यान विधेय नहीं हैं, तथापि शब्दजनित (शाब्दबोधरूप) ज्ञानकी अपेक्षा दूसरे अलौकिक श्रवण, मनन आदि साधनोंसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानका, जिसकी इतिकर्त्तव्यता वेदानुवचनादि हैं, और ब्रह्मका साक्षात्कार फल है, मोक्षकी इच्छा रखनेवाला विधान करे, इस प्रकारकी ज्ञानविधि मानेंगे।

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि वेदान्तोंका ब्रह्मनिश्चायक विधेयरूप ज्ञानमें प्रामाण्यकल्पनाकी अपेक्षा साक्षात् ब्रह्ममें ही प्रामाण्यकी कल्पना करनेमें लाघव है, विधिके साथ सम्बन्ध होना प्रामाण्यका कारण नहीं है, किन्तु प्रमितिका (निश्चयात्मक ज्ञानका) उत्पन्न करना ही प्रामाण्यका कारण है, [इससे ब्रह्मनिश्चायक होनेसे ही वेदान्तोंका प्रामाण्य हो सकता है, उसमें प्रामाण्य माननेके लिए विधिके संसर्गकी कल्पना करनेकी आवश्यकता नहीं है] अन्यथा (यदि विधिके सम्बन्धसे ही वाक्योंका प्रामाण्य माना जाय, तो) अग्निहोत्रवाक्य दर्शपूर्णमासके विधेयवाक्यमें भी माना जायगा, विधिके साथ सम्बन्ध समान है। [अग्निहोत्र-वाक्यमें दर्शपौर्णमासके नियोगकी प्रतीति तो होती नहीं, इसलिए उसमें उसका प्रामाण्य भी नहीं माना जा सकता, इसलिए जिस वाक्यमें जिस नियोगकी प्रतीति हो वह उसमें ही प्रमाण हो सकता है, इसलिए दर्शपूर्णमासनियोग-बोधक वाक्यमें ही अग्निहोत्रका प्रामाण्य होना चाहिए।] और निश्चयात्मक ज्ञान तो सत्य, ज्ञान

ज्ञानादिवाक्येभ्यो ब्रह्मण्येव जायते, न विधौ। न च लौकिकात् प्रामाण्यादन्यदेव वैदिकं प्रामाण्यं विधिसंसृष्टमिति शङ्कनीयम्, यथा शब्दार्था य एव लौकिकास्त एव वैदिकास्तथा प्रामाण्यस्याऽपि लोकवेदयोरेकत्वात्। तदेवं वेदान्तेषु न किञ्चिद्विधेयं निरूपयितुं शक्यम्।

नाऽपि नियोगः सुनिरूपः। लोके ह्याचार्यः शिष्यं नियुङ्क्ते इत्यादावुत्कृष्टस्य पुरुषस्याऽवरपुरुषप्रेरणात्मकोऽभिप्रायभेदो नियोगत्वेनाऽभिमतः। न चाऽसावपौरुषेये वेदे संभवति। ननु नियोगो नाम प्रवर्त्तकः, प्रवर्त्तकत्वं कार्यबुद्धिगम्ये वस्तुनि प्रतिष्ठितमिति चेत्, किमिदं कार्यं नाम किं कृतिसंसृष्टं किंवा कृतियोग्यम् अथवा कृतियोग्यत्वे सति क्रियाकारकफलविलक्षणं किञ्चिदलौकिकम्? नाऽऽद्यः, कृतिर्हि पुरुषप्रवृत्तिः, कार्यं च प्रवृत्तिनिमित्तम्। न च प्रवृत्तिसंसृष्टस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वं

आदि वाक्योंसे ब्रह्मविषयक ही होता है, विधिविषयक नहीं होता। लौकिक प्रामाण्यकी अपेक्षा भिन्न ही विधिसे सम्बद्ध वैदिक प्रामाण्य है, ऐसा मानना भी नहीं बन सकता, कारण कि जो लौकिक शब्दार्थ हैं, वे ही वैदिक शब्दार्थ हैं, इस प्रकारका प्रामाण्य भी लोक और वेद दोनोंमें समान (एक ही) है, इसलिए वेदान्तोंमें किसी विधेयका निरूपण नहीं किया जा सकता।

और नियोगका निरूपण करना भी सरल नहीं है, कारण कि लोकमें 'आचार्य शिष्यको नियुक्त करता है' इत्यादि स्थलमें उत्तम पुरुषका अपकृष्ट पुरुषकी प्रेरणारूप एक अभिप्रायविशेष ही नियोग माना गया है। इस अभिप्रायविशेषरूप नियोगका अपौरुषेय वेदमें सम्भव नहीं हो सकता।

शङ्का—नियोग तो प्रवृत्ति करानेवालेको कहते हैं और प्रवर्तकत्व (प्रवृत्ति कराना) तो कार्यबुद्धिसे प्रतीयमान वस्तुमें स्थित रहता है।

समाधान—इस कार्यबुद्धिमें कार्य क्या वस्तु है? कृतिसे (क्रियासे) सम्बन्ध रखनेवाला कार्य है या कृतिके (क्रियाके) योग्यको कार्य कहते हो अथवा कृतिके योग्य होते हुए क्रिया-कारकफलसे विलक्षण कुछ अलौकिक ही कार्य है? इनमें प्रथम पक्ष नहीं बन सकता, कारण कि कृति तो पुरुषकी प्रवृत्ति—व्यापार—है और कार्य प्रवृत्तिका निमित्त है। और प्रवृत्तिके साथ

संभवति। अंशतः, आत्माश्रयत्वात्। न द्वितीयः; दुःखसाधनानामपि कृतियोग्यतया कार्यत्वे सति प्रवर्त्तकत्वप्रसङ्गात्। न तृतीयः, तस्य प्रत्यक्षाद्यगोचरस्य व्युत्पत्त्ययोग्यस्य शब्दप्रतिपाद्यत्वासंभवात्। न च पराभिमतकार्यानङ्गीकारे प्रवर्त्तकाभावः, कृतियोग्येष्टसाधनस्य प्रवर्त्तकत्वात्। कृतियोग्यत्वविशेषणोपादानान्न चन्द्रोदयादौ व्यभिचारः। यद्यपि कृतियोग्यस्य फलस्याऽपि प्रवर्त्तकत्वमस्ति, तथापि बालस्य व्युत्पत्तिनिमित्ततया मध्यमवृद्धप्रवृत्तिहेतुभूतं गवानयनादिलक्षणमिष्टसाधनमेव। अतश्च येयं महता प्रयासेन कार्यव्युत्पत्तिः साधिता सा नाऽस्माकमनिष्टा, इष्टसाधनस्यैव कृतियोग्यस्य कार्यत्वाभ्युपगमात्। एकमेव हि वस्तु

संसर्गवाली वस्तु प्रवृत्तिका निमित्त नहीं हो सकती, कारण कि इसमें अंशतः आत्माश्रय दोष आ जाता है। (अर्थात् कार्यबुद्धिके अनन्तर ही क्रियासंसर्गकी प्रतीति होगी और क्रियासंसर्गकी बुद्धि होनेपर ही कार्यबुद्धि हो सकती है, इस प्रकार अन्योन्याश्रय ही अंशतः आत्माश्रय कहा गया है)। दूसरा कल्प भी संगत नहीं है, कारण कि दुःखके साधनीभूत आघात आदि भी कृतिके योग्य हो सकते हैं। अतः उनके प्रवर्तक होनेका प्रसङ्ग आ जायगा। तीसरा पक्ष भी नहीं बनता, कारण कि प्रत्यक्ष आदिका विषय न होनेसे तथा व्युत्पत्तिके योग्य न होनेसे उस कार्यका शब्द द्वारा प्रतिपादन करना सम्भव नहीं हो सकता। मीमांसकके माने हुए कार्यका अङ्गीकार न करनेसे प्रवृत्तिजनकका अभाव भी नहीं हो सकता, कारण कि कृतियोग्य इष्टसाधन प्रवृत्तिका जनक माना जा सकता है। 'कृतियोग्य' ऐसा विशेषण देनेसे चन्द्रोदय आदिमें व्यभिचार नहीं आ सकता, क्योंकि चन्द्रोदयादि इष्टसाधन होते हुए भी कृतियोग्य नहीं हैं।] यद्यपि कृतियोग्य फल भी प्रवृत्तिजनक हो सकता है, तथापि बालककी व्युत्पत्तिका निमित्त होनेसे मध्यम वृद्धकी प्रवृत्तिका कारण गायका ले आना आदिरूप इष्टसाधन ही प्रवर्तक है। इसलिए यह जो आपने बड़े परिश्रमके साथ कार्यको व्युत्पत्तिका साधन कहा, उससे हमारा कोई अनिष्ट नहीं सिद्ध होता, कारण कि उससे कृतियोग्य इष्टसाधन ही कार्यका स्वरूप माना गया है। एक ही वस्तु

कृतिनिरूप्यतया कार्यमित्युच्यते इष्टनिरूप्यतया चेष्टसाधनमिति। न च पराभिमतालौकिककार्ये इवेष्टसाधनेऽपि कृतियोग्येऽननुभूते प्रमाणाभावः शङ्कनीयः, अतीतेष्वन्नपानादिष्वन्वयव्यतिरेकाभ्यामिष्टसाधनत्वमवगत्याऽनागतेष्वपि तेषु तदनुमानात्। न चैवं परकीयकार्यमनुमातुं शक्यम्, अलौकिकत्वव्याघातात्। तस्मात् कृतियोग्येष्टसाधनमेव विध्यर्थो न तु नियोगः। न चैतादृशोऽपि विधिर्वेदान्तेषु सम्भवति। तत्राऽविद्यानिवृत्तिलक्षणो मोक्ष इष्टस्तस्य च साधनं ब्रह्मात्मैक्यतत्त्वज्ञानम्। सोऽयं साध्यसाधनभावो लोकसिद्धः। शुक्तित्वज्ञानेन तदविद्यानिवृत्ति-

---

कृतिके द्वारा निरूप्यमाण होनेसे कार्य कहलाती है और वही वस्तु इष्टसे निरूपित होनेपर इष्टसाधन कही जाती है। वस्तु एक ही है।

शङ्का—मीमांसकके अभीष्ट अलौकिक कार्यके समान इष्टसाधनमें भी, जिसका कि कृतियोग्यरूपसे अनुभव नहीं हो सकता, प्रमाणाभाव है।

समाधान—अन्न, पान आदिरूप किये गये भूतकालिक उपभोगोंमें अन्वय-व्यतिरेक द्वारा इष्टसाधनत्वकी प्रतीति करनेके अनन्तर आगामी उपभोगोंमें भी इष्टसाधनत्वका अनुमान हो सकता है। और उक्त रीतिके अनुसार दूसरेके कार्योंका अनुमान नहीं किया जा सकता है, कारण कि इस प्रकार अनुमानसे कार्यज्ञान करनेपर उसकी अलौकिकताका व्याघात हो जायगा। [जैसे हम अन्वयव्यतिरेक द्वारा उपभुक्त अन्न, पान आदिमें अनुभूत इष्टसाधनत्वका आगामी अन्न, पानादिमें भी अनुमान द्वारा ग्रह करके प्रवृत्ति मानते हैं, वैसे ही यदि आप भी कार्यके विषयमें युक्ति कहें, तो आपको अपसिद्धान्त दोष लगेगा, क्योंकि आप तो उस कार्यको अलौकिक मानते हैं और उक्त प्रकारसे तो वह अलौकिक सिद्ध नहीं हो सकता है।] इसलिए कृतियोग्य इष्टसाधन ही विधिका अर्थ हो सकता है, नियोग नहीं। और इस प्रकारका (कृतियोग्य इष्टसाधनरूप) भी विधान वेदान्तोंमें नहीं हो सकता, कारण कि उनमें अविद्याकी निवृत्तिरूप ही मोक्ष इष्ट है और उसका साधन—कारण—जीव ब्रह्मको एक तत्त्व समझना (अद्वैत ज्ञान) ही है। इस रीतिका कार्यकारण—साध्यसाधन—भाव तो लोकसे ही सिद्ध है, क्योंकि शुक्तिके तत्त्व (यथार्थ) ज्ञानसे (उसमें रजतज्ञानकी उत्पादिका)

दर्शनात्। अतस्तद्विधिपरत्वे वेदान्तानामनुवादकत्वप्रसङ्गः। ननु सिद्धे व्युत्पत्त्यभावाद् ब्रह्मपरत्वमपि न सम्भवतीति चेद्, न; 'प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति' इत्यादावप्रसिद्धमधुकरपदार्थस्य पुरुषस्य प्रसिद्धपदसमभिव्याहारेण सिद्धार्थेऽपि व्युत्पत्तिदर्शनात्। न च तत्र कार्याध्याहारः कल्पनीयः, प्रयोजनप्रमाणयोरभावात्। न च व्युत्पत्तेः कार्याव्यभिचारः प्रयोजनम्, तस्यैवाऽद्याप्यसम्प्रतिपत्तेः। तस्माद् ब्रह्मण्येव वेदान्तप्रामाण्यम्।

अत्र केचिन्मन्यन्ते—न खलु जीवब्रह्मणोरैक्यमस्ति, 'यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' इति ज्योतिःशब्दाभिधेयस्य ब्रह्मणो ब्रह्माण्डाद्बहिरवस्थानश्रवणात्। यदि सर्वगत्वश्रुतिः कुप्येत, तर्हि सर्वत्र

अविद्याकी निवृत्ति देखी जाती है। इसलिए उसके विधानमें तात्पर्य माननेसे वेदान्तोंमें अनुवादकत्वका प्रसङ्ग होता है, वह इष्ट नहीं है।

शङ्का—सिद्ध पदार्थमें व्युत्पत्तिका सम्भव न होनेसे वेदान्तोंका ब्रह्ममें भी तात्पर्य नहीं माना जा सकता।

समाधान—उक्त कथन उचित नहीं है, कारण कि 'खिले हुए कमलके बीचमें मधुकर मधुका पान करता है' इत्यादि वाक्योंमें मधुकर पदार्थको न जाननेवाले व्युत्पित्सु पुरुषको मधु आदि प्रसिद्ध पदके समभिव्याहार (सांनिध्य) से (भ्रमररूप) सिद्ध अर्थमें भी व्युत्पत्ति होती है, यह देखा जाता है। उक्त स्थलमें कार्यका अध्याहार करना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि कार्यके अध्याहार करनेका उसमें कोई प्रयोजन या प्रमाण नहीं है। व्युत्पत्तिका कार्यके साथ व्यभिचार न होना भी फल नहीं माना जा सकता, कारण कि उसकी (व्युत्पत्तिका कार्यके साथ व्यभिचार न होनेकी) अब तक सिद्धि नहीं हो पायी है। [इसलिए व्युत्पत्तिका कार्याव्यभिचार स्वीकृत नहीं हो सकता] अतएव ब्रह्ममें ही वेदान्तवाक्योंका प्रामाण्य मानना चाहिए।

इस विषयमें कुछ एकवादियोंका मत है—जीव और ब्रह्मका अभेद (ऐक्य) हो ही नहीं सकता, कारण कि 'जो इस ब्रह्माण्डसे अन्यत्र ज्योति दीप्त हो रही है' इत्यादि श्रुतिमें 'ज्योतिः'शब्दवाच्य पदार्थस्वरूप ब्रह्मकी ब्रह्माण्डसे बाहर अवस्थिति प्रतीत होती है। यदि इसमें ब्रह्मको सर्वत्र व्यापक

वर्त्तमानमपि ब्रह्म जीवैर्वा प्रपञ्चेन वा न संस्पृश्यते, 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतेः। 'अहं ब्रह्मास्मि' इति श्रुतिस्त्वारोपिततादात्म्यरूपेणोपासनं विदधाति। तस्माच्चोपासनान्मोक्षः फलिष्यति यागादिव स्वर्गः। न च वेदान्तानामुपासनाविधिपरत्वे ब्रह्मस्वरूपासिद्धिः, देवताधिकरणन्यायेन मानान्तरसिद्धिविरोधयोरभावे स्वार्थेऽपि प्रामाण्यसम्भवात्। न च जीवाद्भिन्ने ब्रह्मण्यद्वैतश्रुतिव्याकोपः, तस्याः श्रुतेर्विकारातीतब्रह्मविषयत्वात्। तस्य चैकत्वाभ्युपगमात्। न च नैयोगिकफलत्वे मोक्षस्य स्वर्गादिवदनित्यता, 'न स पुनरावर्त्तते' इति श्रुत्याऽनुमानस्य बाधादिति।

नैतत्सारम्, आद्यन्तशून्यस्य मोक्षस्योपासनात्मकक्रियासाध्यत्वायोगात्। 'विमुक्तश्च विमुच्यते', 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' इत्यादिश्रुतिर्मोक्ष-

---

कहनेवाली श्रुतिसे विरोध आता हो, तो सर्वत्र वर्तमान (व्यापक) भी ब्रह्म जीव अथवा प्रपञ्चसे सम्बद्ध नहीं होता, कारण कि श्रुति कहती है—'वह ब्रह्मरूप पुरुष असङ्ग—सङ्गवर्जित—है'। 'मैं ब्रह्म हूँ' इत्यर्थक श्रुति तो आरोपित अभेद द्वारा उपासनाका विधान करती है, इसलिए जैसे याग द्वारा स्वर्ग फलित होता है, वैसे ही उपासनासे मोक्षकी सिद्धि होती है। वेदान्त-वाक्योंका उपासनाविधिमें तात्पर्य माननेसे ब्रह्मस्वरूपकी असिद्धि होनेका दोष भी नहीं आ सकता, कारण कि देवताधिकरणन्यायसे दूसरे प्रमाणोंसे सिद्धि और विरोधके न आनेसे स्वार्थमें (ब्रह्मस्वरूपमें) भी प्रामाण्य मानना सम्भव हो सकता है। जीवसे ब्रह्मको भिन्न माननेसे अद्वैतकी प्रतिपादक श्रुतिसे विरोध भी नहीं आता, कारण कि उस श्रुतिका विषय विकारशून्य ब्रह्म है और उसका एक होना माना ही गया है, मोक्षको नियोगका फल माननेसे स्वर्गादिके तुल्य वह अनित्य होगा, इस प्रकार दोष भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'वह ब्रह्मज्ञानी पुनः इस संसारमें नहीं लौटता' इत्यर्थक श्रुतिसे अनुमानका बाध हो जायगा।

[इस मतका खण्डन करते हैं—] उक्त कथन सार—युक्ति—शून्य है। आदि—प्रारम्भ—और अन्त—विनाश—से शून्य मोक्ष उपासनारूप क्रियाके द्वारा साध्य है, ऐसा माननेका अवसर नहीं आ सकता, क्योंकि 'विमुक्त—मोक्षको प्राप्त हुआ—मुक्त हो जाता है', 'ब्रह्म ही होता हुआ ब्रह्मको प्राप्त करता है' इत्याद्यर्थक

स्याऽनादितामाह। 'विद्ययाऽमृतमश्नुते', 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इत्यादिका चाऽविनाशितां प्रतिपादयति। तथा तदनुग्राहको न्यायोऽप्यनुसंधेयः। सादित्वे च मोक्षस्याऽन्तवत्त्वं स्यात्। अन्तवत्त्वे च पुनर्बन्धान्मोक्षशब्दस्योपचरितार्थत्वप्रसङ्गः। तथा क्रियासाध्यत्वेऽभ्युदयफलवच्छरीरेन्द्रियादिसम्बन्ध उपचयापचयत्वं च केन वार्येत। कर्मफलस्य वैचित्र्यदर्शनाच्छरीरादिरहितो मोक्षोऽपि तत्फलं भविष्यतीति चेद्, न; शरीरादिराहित्यस्य स्वाभाविकत्वात्। तथाहि—न तावदात्मनो देहेन संयोग उपपद्यते, निरवयवत्वात्। नाऽपि समवायः, देहं प्रति समवायिकारणत्वाभावात् सामान्यादिरूपत्वाभावाच्च। एवं तादात्म्यादिनिराकरणमूह्यम्। ततो वास्तवसम्बन्धाभावे सत्यशरीरत्वं स्वाभाविकं सशरीरत्वं तु मिथ्याज्ञानकृतमित्यभ्युपेयम्।

श्रुतियाँ मोक्षको अनादि कहती हैं। और 'विद्या द्वारा अमृतत्वका (मरणशून्यत्वका) उपभोग होता है', 'ब्रह्मनिष्ठ अमृतत्वको प्राप्त करता है' इत्याद्यर्थक श्रुतियाँ मोक्षको विनाश रहित कहती हैं। एवं इन श्रुतियोंके द्वारा प्रतिपादित अर्थके पोषक न्यायका (अनुमानादिका) अनुसन्धान भी करना चाहिए। यदि मोक्ष सादि माना जाय, तो उसको विनाशी भी मानना होगा। और उसको अन्तवान् (विनाशशाली) माननेसे मोक्षशब्दमें उपचरितार्थकत्वका (लाक्षणिक अर्थका प्रतिपादक होनेका) प्रसङ्ग आ जायगा। एवं मोक्षको क्रियासाध्य माननेसे अभ्युदयरूप फलके ऐसे शरीरेन्द्रियादिका सम्बन्ध होनेसे उसमें उपचय या अपचय होनेका प्रसङ्ग कौन हटा सकेगा? कर्मके फलोंकी विचित्रता देखनेसे शरीरादिसे रहित मोक्ष भी उसका फल हो सकेगा, यह कहना भी नहीं बनता, कारण कि उसका शरीरादिसे शून्य होना स्वाभाविक है। आत्माका देहके साथ संयोग होना उपपन्न नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा अवयवशून्य है। [और निरवयवसे संयोग नहीं बनता]। समवाय सम्बन्ध भी नहीं हो सकता, कारण कि आत्मा शरीरके प्रति समवायी कारण नहीं है और आत्मा सामान्यादिरूप भी नहीं है। [समवाय सम्बन्ध या तो समवायिकारणसे होता है अथवा जाति, गुण पदार्थोंसे ही हो सकता है, आत्मा देहका दोनों पदार्थ नहीं है]। इसी रीतिसे तादात्म्य आदि सम्बन्धोंका भी न हो सकना समझना चाहिए। इसलिए संयोगादि वास्तव सम्बन्ध न हो सकनेसे आत्माका शरीर रहित होना

न च मिथ्याज्ञानं कर्मभिर्निवर्त्तते ? नाऽप्यशरीर एव मोक्षः कर्मभिरन्यथा परिणम्यत इति वक्तुं शक्यम् , कूटस्थस्य परिणामायोगात् । नन्वेवमप्युपासनासाध्यत्वमात्रेण मोक्षस्य कथमुपचयादिप्राप्तिरिति चेद् , उच्यते—तत्रोपासनस्य स्वरूपतः संख्यातः कालतो वा परिमितिरस्ति न वा ? न चेत् , तर्ह्यनिर्धारितविशेषस्योपासनस्याऽनुष्ठानमशक्यं स्यात् । अस्ति चेत् , तर्हि सा प्रदर्शनीया ? नहि साङ्गदर्शपूर्णमासपरिमितिवदेतावदिदमित्युपासनास्वरूपपरिमितिः प्रदर्शयितुं शक्यते । न च संख्यातः परिमाणमस्ति । सहस्रं लक्षं वा प्रत्ययानां मोक्षसाधनमित्येतादृशस्य नियामकस्याऽदर्शनात् । नाऽपि कालतः परिमाणमस्ति, एकं शतं सहस्रं वा संवत्सराणामुपासीनस्य मोक्ष इति नियमप्रमाणाभावात् । मरण-

---

स्वभावसिद्ध है । और शरीरसे सम्बन्धका होना तो मिथ्या अज्ञानके द्वारा हुआ है, यह समझना चाहिए ।

और वह मिथ्या (अवास्तव) अज्ञान कर्मकलापके अनुष्ठाताओंके द्वारा नहीं नष्ट किया जा सकता और शरीरके सम्बन्धसे विरहित मोक्षको ही कर्मकाण्डी अन्यथा परिणत कर सकते हैं, क्योंकि कूटस्थका—निर्विकार अर्थात् परिणामशून्यका परिणाम होना सम्भव नहीं है ।

शङ्का—ऐसा माननेपर भी उपासनासे ही साध्य होनेके कारण मोक्षमें उपचयादिकी प्राप्ति कैसे संगत हो सकती है ?

समाधान—कहा जाता है कि उस उपासनाका स्वरूप, संख्या तथा कालके द्वारा परिच्छेद है या नहीं ? यदि नहीं है, ऐसा मानो, तो विशेषरूपसे निर्द्धारण न हो सकनेसे उस उपासनाका अनुष्ठान करना असम्भव होगा । [विशेषशून्य सामान्यमात्रका तो परिज्ञान भी असम्भव है, इस परिस्थितिमें अनुष्ठान तो दूर रहा] । यदि है, तो वह परिच्छेद दिखलाना होगा । अङ्गसहित दर्शपूर्णमासके परिच्छेदकी भाँति 'इतना यह है' इस प्रकार उपासनाके स्वरूपका परिमाण नहीं किया जा सकता । और संख्याके द्वारा भी परिमाण नहीं है, क्योंकि हजार या लाख उपासनात्मक ज्ञान मोक्षके साधन हैं, ऐसा कोई नियम करनेवाला प्रमाण नहीं है । एवं कालके कारण भी परिच्छेद नहीं हो सकता, कारण कि एक या सौ अथवा हजार वर्षों तक उपासना करनेवालेको मोक्षरूप फल मिलेगा, ऐसा कोई नियम-

मेवाऽवधिरिति चेत्, तथापि दर्शपूर्णमासवदेकाकारा साधनपरिमितिर्न लभ्यते। एकेन दशभिः शतेन सहस्रेण वा कालेन कस्यचिन्मरणात् पुरुषभेदेषूपचयापचयप्रसङ्गात्। उपास्यापरोक्ष्यमवधिरिति चेत्, तथापि कस्यचित्केनचित्कालेनाऽऽपरोक्ष्यात्साधनोपचयापचयौ तदवस्थावेव। अतस्तत्फले मोक्षेऽप्युपचयापचयौ दुर्वारौ। लोके वेदे च क्रियातारतम्यात् तत्फलेऽपि तारतम्यदर्शनात्। न चोपासनैकरूप्याभावेऽपि फलैकरूप्यं शास्त्राद्भविष्यतीति शङ्कनीयम्, शास्त्रस्याऽन्यथाऽनुपपत्तौ न्यायविरुद्धकल्पनायोगात्। अतो 'यत्कृतकं तदनित्यम्' इत्यादिन्यायानुसारेणाऽनित्यत्वादिकं मोक्षस्य प्राप्नोति।

कारक प्रमाण नहीं मिलता। यदि मरण (देहावसान) कालकी अवधि—परिच्छेद—माना जाय, तो भी दर्शपूर्णमासके तुल्य एक आकारसे ही साधनका परिमाण नहीं पाया जा सकता। और एक, दस या हजार (दिन, मास या वर्ष आदि) कालमें किसीका मरण होनेसे पुरुषभेदोंमें उपचय और अपचय आनेका प्रसङ्ग आ ही जायगा। (अर्थात् किसी पुरुषका एक, किसीका दो एवं किसीका सौ तथा हजार वर्षमें मरण होनेसे इस प्रकार पुरुषविशेषोंमें कालकृत परिमिति माननेसे कालकृत उपचय तथा अपचय अवश्य आ जायगा। यदि उपास्य (उपासनाका कर्मभूत) ब्रह्मका साक्षात्कार ही अवधि माना जाय, तो भी किसीको कुछ कालमें उपास्यका आपरोक्ष्य होत है, अतः पूर्वोक्त रीतिसे (पूर्वोक्त दोषके तुल्य) साधनगत उपचय तथा अपचयके होनेका प्रसङ्ग बना ही है। इस रीतिसे उस साधनके फलभूत मोक्षमें भी उपचय तथा अपचय आनेका दोष नहीं हटाया जा सकता, कारण कि लोक या वेद दोनों स्थलोंमें क्रियाके तारतम्यसे उसके फलमें तारतम्य (उपचय-अपचय—कमी-वेशी) देखा जाता है। उपासनाका एक-सा रूप (आकार) न होनेपर भी फलकी एकता (एकाकारता) शास्त्र द्वारा सिद्ध हो जानेकी आशङ्का भी नहीं की जा सकती। शास्त्रकी दूसरे प्रकारसे भी सङ्गति होनेपर न्यायविरुद्ध कल्पना करनेका अवसर नहीं आ सकता, इसलिए (जो कृतक—क्रियाजन्य—है वह अनित्य है) इस व्याप्तिसे केवल मोक्षमें अनित्यत्व आदि दोषोंका प्रसङ्ग प्राप्त होता है।

यत्तूक्तमपुनरावृत्तिश्रुतिबाधितोऽयं न्याय इति, तदसत्। तत्र किं 'ब्रह्म लोकमभिसंपद्यते' 'न स पुनरावर्त्तते' इत्येषा श्रुतिर्बाधिका उत 'एषैव देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्त' इत्येषा श्रुतिः ? नाऽऽद्यः, अप्रसक्तप्रतिषेधात्। नहि ब्रह्मलोकाभिसंपत्तिसमये पुनरावृत्तिः प्रसक्ता, अथ न स पुनरावर्त्तिष्यत इति वाक्यार्थः कल्प्येत, तन्न; 'तद्यथेह कर्मजितः' इत्यादिश्रुत्याऽनुमानेन च विरोधे सति श्रुतार्थपरित्यागेनाऽश्रुतार्थकल्पनाऽसम्भवात्। द्वितीये त्विममिति विशेषणं मानवान्तरे पुनरावृत्तिं दर्शयति। नन्वस्मिन् कल्पेऽनावृत्तिं प्रतिपादयतो वाक्यस्य कल्पान्तरे पुनरावृत्ति-

---

यह जो कहा गया कि पुनरावृत्तिका निषेध करनेवाली श्रुतिसे यह न्याय (मोक्षमें कृतकत्वरूप हेतुसे अनित्यत्वप्रतिपादक अनुमानप्रयोगरूप न्याय) बाधित हो जाता है। [अर्थात् उस श्रुतिके बलसे मोक्षके कृतकत्व माननेपर भी अनित्यत्व आदि दोष नहीं आ सकते], यह भी सङ्गत नहीं है, कारण कि इसमें विकल्प किया जायगा कि उक्त न्यायका 'ब्रह्मलोकको प्राप्त करता है और वह पुनः लौटता नहीं' इत्यर्थक 'ब्रह्मलोकम्'— इत्यादि श्रुतिसे बाध होता है ? अथवा 'यही देव मार्ग है यही ब्रह्ममार्ग है, इस मार्गसे जानेवाले मानवसृष्टिमें पुनः नहीं आते) एतदर्थक श्रुति उस न्यायका बाध होता है ? इसमें प्रथम कल्प युक्त नहीं है, कारण कि ऐसा माननेसे अप्राप्तका ही निषेध प्राप्त होता है, क्योंकि ब्रह्मलोककी प्राप्तिकालमें पुनः आवृत्ति (लौटना) प्राप्त ही नहीं है। (ब्रह्मलोककी प्राप्तिके कालमें लौटनेकी प्रसक्ति कैसे हो सकती है ?) यदि 'वह पुनः नहीं लौटेगा' इस प्रकार (भविष्यमें पुनरावृत्ति करना निषेधपरक) वाक्यकी कल्पना करना भी उचित नहीं है, कारण कि 'जैसे कर्मोंसे अर्जित'—इत्यादि अर्थवाली श्रुति और अनुमान (पूर्वोक्त कृतकत्वरूप-हेतुमूलक) से विरोध होनेपर श्रुत अर्थका परित्याग करके अश्रुत अर्थकी कल्पना करना सम्भव नहीं है। दूसरे कल्पमें तो 'इमम्' यह विशेषण दूसरी मानव-सृष्टिमें पुनरावृत्तिका प्रदर्शन करा रहा है। [अर्थात् इस मानवसृष्टिमें (जिससे वह गया है, उसमें) नहीं आता। परन्तु इससे दूसरे मानवमें नहीं लौटना तो सिद्ध नहीं होता]।

शङ्का—इस कल्पमें पुनरावृत्तिका निषेध करनेवाले वाक्यका दूसरे

प्रतिपादनेऽपि तात्पर्ये वाक्यभेद इति चेद्, न; पुनरावृत्तेरार्थिकत्वात्। अन्यथा सर्वत्र सविशेषणवाक्येष्वस्य चोद्यस्य दुष्परिहरत्वात्। नन्वेषा श्रुतिः कल्पे कल्पे प्रवर्त्तमाना तत्र तत्राऽऽवृत्तिं निषेधति ततोऽर्थादनावृत्तेरात्यन्तिकत्वसिद्धिरिति चेद्, न; प्रतिपत्तृभेदात्। अस्मिन् कल्पे प्रतिपन्नानामागामिकल्पे पुनरावृत्तिस्तत्र प्रतिपन्नानां तत उपरिकल्पे पुनरावृत्तिरित्यभ्युपेयम्। अन्यथा विशेषणवैयर्थ्यात्।

कल्पमें आवृत्ति (लौट आने) के प्रतिपादनमें भी तात्पर्य होनेसे वाक्यभेद होनेका प्रसङ्ग आता है। [इसलिए कल्पान्तरमें पुनरावृत्तिपरक वाक्य नहीं माना जायगा।]

समाधान—उक्त दोष नहीं आ सकता, कारण कि पुनरावृत्ति अर्थात् सिद्ध हो जाती है। [अर्थात् सिद्ध हुए अर्थके लिए वाक्यभेदकी कल्पनाकी आवश्यकता नहीं है] अन्यथा (यदि आर्थिक अर्थका बोध करानेके लिए अतिरिक्त वाक्यकी आवश्यकता हो, तो) विशेषणविशिष्ट सभी वाक्योंमें उक्त दोषका (वाक्यभेद होनेका) समाधान नहीं हो सकता। [किसीने कहा 'मधुर वचन कहा करो' इस वाक्यमें मधुर विशेषणसे अर्थात् प्रतीत होता है कि 'कटु वचन न कहना'। यदि वाक्यके विना इसकी प्रतीति न हो सके, तो इसके लिए भी 'कटु वचन न कहो' वाक्यभेदका प्रसङ्ग आ जायगा, अतः आर्थिक अर्थकी प्रतीतिके लिए वाक्यभेदकी आवश्यकता नहीं होती और ऐसा भी नहीं है कि अर्थतः प्रतीत होनेवाला कोई अर्थ ही नहीं है, वह तो प्रतीत होता ही है।

शङ्का—यह पुनरावृत्तिका निषेध करनेवाली श्रुति प्रतिकल्पमें प्रवृत्त होती हुई (अपना अर्थबोध कराती हुई) पुनरावृत्तिका प्रत्येक कल्पमें निषेध करती है, इस प्रकार अर्थतः सिद्ध हो जाता है कि पुनरावृत्तिका निषेध नित्य (अव्यभिचरित) है।

समाधान—उक्त युक्ति उचित नहीं है, कारण कि इसमें प्रतिपत्ताओंका (मुक्तोंका) भेद है। (ऐसी व्यवस्था माननी ही होगी) इस कल्पमें ब्रह्मप्राप्ति करनेवालोंकी आनेवाले कल्पमें पुनरावृत्ति होगी और आनेवाले कल्पमें ब्रह्मप्राप्ति करनेवालोंकी उससे आगेके कल्पमें पुनरावृत्ति होगी, ऐसा मानना ही होगा। नहीं तो 'इमम्' या 'इह' दोनों विशेषण व्यर्थ होंगे।

नन्वस्तु तर्ह्यनित्य एव मोक्षः, अनित्यस्याऽपि स्वर्गादेः पुरुषार्थत्वदर्शनात्। तथा चोपासनक्रियासाध्यो मोक्षो भविष्यतीति चेत्, किं न्यायानुसारेणैवमुच्यते किंवा श्रुत्यनुसारेण ? नाऽऽद्यः, न्यायविद्याभिमा-

शङ्का—अच्छा तो अनित्य ही मोक्ष रहे। अनित्य होते हुए भी स्वर्गादिको पुरुषार्थ मानना देखा ही गया है, इसलिए उपासनारूप क्रियाका साध्य फल मोक्ष माना जायगा।

समाधान—ऐसा मानना क्या न्यायका अनुसरण करके कहा जा रहा है ? अथवा श्रुतिका अनुसरण करके ? प्रथम पक्ष नहीं माना जायगा, कारण कि न्यायोंका परिज्ञान रखनेके अभिमानशाली सांख्य, योग, वैशेषिक, नैयायिक,

---

(१) सांख्य तथा योगशास्त्रकी प्रक्रिया है—द्रष्टा-पुरुष-और दृश्य-अनात्मा प्रकृतिका-अविवेक-पार्थक्येन ज्ञान न होना—ही अविद्या है। वह अनादि कालसे प्रवृत्त है, उसका विनाश तत्त्वज्ञान (विवेकज्ञान) द्वारा ही होता है। उसके विनाशके अनन्तर—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेशरूप क्लेश नष्ट हो जाते हैं। तदन्तर किसी प्रकारकी प्रवृत्ति न होनेसे मोक्ष होता है। इन मतोंमें अविद्यानिवृत्ति ही नित्य मोक्ष होना माना गया।

एवं वैशेषिककी प्रक्रियासे भी सिद्ध है—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवायरूप पदार्थोंमें साधर्म्य और वैधर्म्य द्वारा यथार्थ ज्ञानके न हो सकनेसे प्रवृत्त हुआ अनादि मिथ्याज्ञान यथार्थरूपसे तत्त्वज्ञान होनेसे निवृत्त होता है। तदनन्तर नैयायिकप्रक्रियाके अनुसार दोषादिकी निवृत्तिसे क्रमशः मोक्षसिद्धि होती है।

नैयायिकोंकी प्रक्रिया संक्षेपमें इस प्रकार है—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, पृथ्वी आदि विषय, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, मरण, सुख, दुःख और अपवर्ग—इन बारह पदार्थोंमें अनादि-प्रवाहरूपसे चला हुआ अज्ञान तत्त्वज्ञानके द्वारा निवृत्त हो जाता है। तदनन्तर उसके कार्यस्वरूप राग-द्वेष-मोहात्मक दोषोंकी निवृत्ति हो जाती है और दोषोंकी निवृत्ति हो जानेसे सुख-दुःखको उत्पन्न करनेवाली तन्मूलक प्रवृत्ति या निवृत्तिरूप प्रवृत्तियोंका होना सम्भव नहीं हो सकता। तदनन्तर प्रवृत्ति-निवृत्ति द्वारा उत्पन्न होनेवाले शुभाशुभ-कर्म-जनित स्थावर जङ्गम किसी भी योनिमें जन्म नहीं मिलता। इसलिए शरीरसम्बन्ध न होनेसे आत्यन्तिक दुःखका ध्वंस सुतरां सिद्ध हो जाता है। इससे नैयायिक मतमें भी तत्त्वज्ञानसे मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति ही प्रधानरूप मोक्षकी प्रयोजक सिद्ध होती है।

बौद्धोंकी प्रक्रिया है कि—स्थायी माननेकी कल्पनाके द्वारा प्रवृत्ति या प्रवृत्तिजनित सुख, दुःख, जन्म, बन्ध आदि फल पर्यन्त राग, द्वेष आदि दोषोंसे विज्ञान दूषित हो जाते हैं। उन दूषित विज्ञानोंमें क्षणिकत्व तथा शून्यत्व रूप दुःखात्मत्वरूप अपने यथार्थ स्वरूपका परिचिन्तन करनेसे स्थायित्व आदि सब विभ्रम मिथ्याज्ञान निवृत्त हो जाते हैं। तदन्तर विशुद्ध विज्ञानके अन्तिम क्षणका उदय होता है, उसीका नाम मोक्ष है। इस मतमें भी मिथ्याज्ञानकी निवृत्तिसे ही मोक्ष माना गया है।

निभिरेव सांख्ययोगवैशेषिकनैयायिकबौद्धादिभिः सर्वैः स्वस्वप्रक्रियानुसारेणाऽनादिमिथ्याज्ञानस्य तत्त्वज्ञानेन निवृत्तौ मोक्षो भवति स च नित्य इत्येवाऽङ्गीकारात्। न द्वितीयः, 'य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति', 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे', 'त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि', 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः', 'य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति' इत्याद्याः श्रुतयो ब्रह्मात्मत्वदर्शनसमकालमेवाऽविद्यानिवृत्तावविनाशिनं मोक्षं दर्शयन्त्यो न क्रियानुप्रवेशशङ्कामपि सहन्ते।

ननु अहं 'ब्रह्मास्मि' इत्यादिशास्त्रं न ब्रह्मात्मैकत्वपरं किन्तु जीवविलक्षणे प्रमाणान्तराविरुद्धे ब्रह्मणि शास्त्रप्रतिपन्ने सम्पदध्यासक्रियायोगसंस्कारेष्वन्यतममपरं भविष्यति। तत्र संपद् नामाल्पे वस्तुन्यालम्बने महद्वस्तुदर्शनम्। यथाऽल्पे मनसि वृत्त्यनन्तत्वसाम्येनाऽनन्तविश्वेदेवसंपादनं कृत्वा

तथा बौद्ध आदि सभी वादियोंने अपनी अपनी प्रक्रियाके अनुसार 'अनादि मिथ्याज्ञानकी तत्त्वज्ञानसे निवृत्ति होनेपर मोक्ष होता है और वह नित्य है' ऐसा सिद्धान्त माना है। दूसरा पक्ष नहीं बनता, कारण कि 'जो ऐसा जानता है कि मैं ब्रह्म हूँ वह यह सब कुछ हो जाता है', 'यह समझकर वामदेव ऋषिको प्राप्त हुए', 'तुम हमारे पिता (शोकनिवारक) हो जो अविद्याके उस पारको पहुँचा देते हैं। (अर्थात् अविद्या—मिथ्या अज्ञानकी अत्यन्त निवृत्ति करा देते हैं) 'अन्तमें बिलकुल (सर्वात्मना) यह विश्वमाया—प्रपञ्चजात—की निवृत्ति हो जाती है' और 'जो इसको जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं' इत्याद्यर्थक श्रुतियां ब्रह्मसाक्षात्कारके समान कालमें ही अविद्याकी निवृत्ति होनेसे अविनाशी मोक्षका प्रतिपादन करती हुई क्रियाके सम्बन्धको नहीं सह सकतीं।

शङ्का—'मैं ब्रह्म हूँ' एतदर्थक अनेक वेदान्तवाक्योंका तात्पर्य जीव और ब्रह्मके अभेदबोधनमें नहीं है, किन्तु जीवसे विलक्षण—अतिरिक्त और दूसरे प्रमाणसे विरुद्ध न होनेवाले तथा शास्त्रसिद्ध ब्रह्ममें सम्पद्, अध्यास, क्रियायोग तथा संस्कार इनमें से किसी एकका प्रतिपादन करनेमें तात्पर्य होगा। इनमें से छोटी वस्तुमें बड़ी वस्तुका दर्शन करना सम्पद् कहलाता है। जैसे छोटेसे मनमें वृत्तियोंके अनन्तत्वकी समानता लेकर अनन्त विश्वेदेवों-

अनन्तलोकजयः । 'अनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति' इति श्रुतेः । तथा जीवे चिद्रूपसाम्येन ब्रह्मरूपसम्पादनं कृत्वा ब्रह्मफलमवाप्यते । अध्यासस्त्वन्यस्मिन्नन्यत्वदृष्टिः । यथा 'आदित्यो ब्रह्म' इति श्रुतिवशादब्रह्मरूप आदित्ये ब्रह्मदृष्टिस्तथाऽत्राप्यब्रह्मरूपे जीवे ब्रह्मदृष्टिः । तत्राऽऽलम्बनमविद्यमानसमं कृत्वा सम्पाद्यस्यैव प्राधान्येन चिन्तनं संपद्, आलम्बनस्यैव प्राधान्येन चिन्तनमध्यास इति तद्विवेकः । क्रियायोगस्तु यथा 'वायुर्वाव संवर्गः' इति श्रुतावग्न्यादीन् संवृणोतीति संवरणक्रिया-सम्बन्धाद् द्वयोः संवर्गगुणत्वेनोपासनं तथा जीवस्य स्वगतेन बृहत्यर्थ-योगेन ब्रह्मगुणतयोपासनम् । संस्कारश्च कर्माङ्गस्य व्रीह्याज्यादेः प्रोक्षणा-वेक्षणादिना यथा भवति तथा कर्तृतया कर्मगुणभूतस्याऽऽत्मनो ब्रह्मदृष्ट्या संस्कारः क्रियत इति ।

की सम्पत्ति करके अनन्त लोकोंका जय होता है, क्योंकि 'मन अनन्त है और विश्वेदेव भी अनन्त हैं, अतः उसके द्वारा वह अनन्त लोकका जय करता है' ऐसी श्रुति है । एवं चिद्रूपसे जीवमें ब्रह्मकी समानता होनेसे उसमें ब्रह्मरूपकी सम्पत्ति करके ब्रह्मरूप फल पाया जाता है । और दूसरे पदार्थमें दूसरे पदार्थकी बुद्धि होना तो अध्यास कहलाता है । जैसे 'सूर्य ब्रह्म है' इत्यर्थक श्रुतिके बलसे ब्रह्मस्वरूपसे भिन्न सूर्यमें ब्रह्मबुद्धि की जाती है, वैसे ही ब्रह्मसे अतिरिक्त स्वरूपवाले जीवमें ब्रह्म-दृष्टि की जाती है । इनमें आलम्बनभूत वस्तुको अविद्यमानके समान करके (जिसकी उस आलम्बन-भूत वस्तुमें सम्पत्ति की हो) उस सम्पाद्यका ही प्रधानरूपसे चिन्तन करना सम्पद् है और आलम्बनका ही प्रधानरूपसे चिन्तन करना अध्यास है, ऐसा दोनोंका विवेक है । क्रियायोग तो जैसे 'वायु ही संवर्ग है' इत्यर्थक श्रुतिमें वायु, अग्नि आदिका संवरण करता है, अतः संवरण क्रियाके सम्बन्धसे दोनोंकी संवर्गरूप गुणसे उपासना होती है, वैसे ही जीवकी अपनेमें रहनेवाले बृंहणरूप बृह धातुके अर्थके सम्बन्धसे ब्रह्मगुणरूपसे उपासना होती है । और संस्कार जैसे कर्मके अङ्गभूत व्रीहि तथा घृत आदिके प्रोक्षण तथा अवेक्षण आदिसे होता है, वैसे ही कर्ता होनेके कारण कर्मके अङ्गभूत आत्माका ब्रह्मदृष्टिके द्वारा संस्कार किया जाता है ।

नैतत्सारम् ; किं जीवब्रह्मभेदप्रतिभासविरोधभयात् सम्पदादिपरत्वं वेदान्तानां कल्प्यते ? किं वा जीवब्रह्मैक्ये तात्पर्याभावाद् ? उत फलानुसारात् ? नाऽऽद्यः, अभेदेऽपि बिम्बप्रतिबिम्बवद्भेदप्रतिभासोपपत्तेः । न द्वितीयः, 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्युक्तस्यैक्यस्य 'स एष इह प्रविष्टः' इति प्रवेशार्थवादेन 'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद' इति भेदनिन्दया चोपपादितत्वात् । एवं सर्वश्रुतिष्वप्यैक्यतात्पर्यलिङ्गप्रवेशादिकमवगन्तव्यम् । न तृतीयः, अविद्यानिवृत्तिब्रह्मात्मभावश्च फलं श्रूयते । न च संपदादिपरत्वे तदुपपद्यते, संपदादीनामयथावस्तुत्वेनाऽप्रमाणज्ञानानामविद्यानिवर्त्तकत्वासम्भवात् । अन्यस्याऽन्यात्मत्वविरोधाच्च । तस्मादैक्यपरं शास्त्रम् ।

अत्र कश्चिदाह—ब्रह्मणो भिन्नाभिन्नो जीवः । ततश्च ब्रह्मणो

समाधान—उक्त कथन सारगर्भित नहीं है; क्या आप जीव और ब्रह्मके भेदकी प्रतीतिके विरोधके भयसे वेदान्तवाक्योंका सम्पद् आदिमें तात्पर्य माननेकी कल्पना करते हैं ? अथवा जीव और ब्रह्मके अभेदमें उनका तात्पर्य न होनेसे ? या फलके बलसे ? इनमें प्रथम कल्प उचित नहीं है, कारण कि अभेद रहनेपर भी बिम्ब और प्रतिबिम्बके समान भेदप्रतीतिकी उपपत्ति हो सकती है। दूसरा कल्प भी युक्त नहीं है, कारण कि 'मैं ब्रह्म हूँ' इत्यर्थक श्रुतिसे प्रतिपादित ऐक्यका (अभेदका)—'वह यह इसमें प्रविष्ट हो गया' इत्याद्यर्थक प्रवेशके अर्थवादसे और 'जो अन्य देवताकी उपासना करता है (अर्थात् यों भेद मानता है) कि वह दूसरा है और मैं दूसरा हूँ वह ज्ञानी नहीं कहा जा सकता' इस प्रकार भेदकी निन्दासे—उपपादन किया गया है। इस रीतिसे सब श्रुतियोंमें भी ऐक्यमें तात्पर्यके लिङ्ग, प्रवेश आदि समझने चाहिएँ। तीसरा पक्ष भी नहीं बनता, कारण कि अविद्यानिवृत्ति और ब्रह्मभावापत्तिरूप फलका श्रवण है। वेदान्तोंका सम्पद् आदिमें तात्पर्य माननेसे उक्त फलकी उपपत्ति नहीं हो सकती, कारण कि सम्पद् आदि सभी मिथ्याभूत वस्तु हैं, इसलिए अप्रमाण ज्ञान अविद्याका निवर्तक नहीं हो सकता और दूसरेके दूसरेका स्वरूप होनेमें भी विरोध आता है, इसलिए सिद्ध है कि वेदान्तशास्त्रका तात्पर्य जीवब्रह्मकी एकतामें—अभेदमें—ही है।

किसीका (भास्करका) कहना है कि जीव ब्रह्मसे भिन्न और अभिन्न दोनों

नित्यमुक्तता जीवस्य नित्यबद्धता च व्यवस्थामश्नुते । अत्यन्ताभेदे तु ब्रह्मैव स्वसंसराय कथं जगदुत्पादयेत् । विरुद्धा च विशुद्धस्याऽशुद्धताप्रतिपत्तिरिति ।

अत्रोच्यते—न तावत् जीवब्रह्मणोर्जातिव्यक्तिभावो गुणगुणिभावः कार्यकारणभावो विशिष्टस्वरूपत्वमंशांशिभावो वा विद्यते, मानाभावात् । न च तदभावे क्वचिद्भेदाभेदौ दृश्येते, 'ममैवांशो जीवलोके' इति स्मृतेरंशांशितेति चेद्, न; 'निष्कलम्' इति निरंशत्वप्रतिपादकश्रुतिविरोधात् । 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' इति श्रुतिर्नांशांशिभावं ब्रूते, किन्तु ब्रह्मानन्त्यप्रतिपादनाय जीवस्याऽल्पतामात्रमाह । अन्यथा सांशस्य ब्रह्मणो घटादिवदवयवारभ्यत्वप्रसङ्गात् । ननु स्वाभाविकी निरवयवता बुद्ध्याद्युपाधिनिमित्तं सांशत्वमिति नोक्तदोष इति चेद्, एवमपि वास्तवभेदो न सिध्येत् ।

प्रकारका है । इससे ब्रह्मका नित्यमुक्त रहना और जीवका नित्यबद्ध रहना व्यवस्थित हो सकता है । यदि ब्रह्मका और जीवका अत्यन्त अभेद माना जाय, तो स्वयं ब्रह्म अपने संसार—बन्धन—के लिए संसारको क्यों उत्पन्न करेगा ? और विशुद्ध ब्रह्मका अशुद्ध होना विरुद्ध भी होता है ।

इस भास्करके कथनपर कहा जाता है कि जीव और ब्रह्ममें जातिव्यक्तिभाव, गुणगुणिभाव, कार्यकारणभाव या विशिष्टस्वरूपत्व तथा अंशांशिभाव नहीं हैं, क्योंकि इनके होनेमें कोई प्रमाण नहीं है । और इनके न रहनेपर कहीं भी भेद और अभेद नहीं देखे जाते हैं । यदि शङ्का हो कि 'यह जीव संसारमें मेरा (ब्रह्मका) ही अंश है' इस स्मृतिसे जीव और ब्रह्ममें अंशांशिभाव सिद्ध होता है, तो यह भी उचित नहीं है, कारण कि इसमें 'वह निष्कल—निरवयव—है' इत्यर्थक अवयवशून्यताप्रतिपादक श्रुतियोंसे विरोध आता है । 'सम्पूर्ण भूत इसके पाद हैं' एतदर्थक श्रुति तो अंशांशिभाव—अवयवावयविभाव—का बोध नहीं करा रही है, किन्तु ब्रह्मकी अनन्तताका प्रतिपादन करनेके लिए जीवकी केवल अल्पताको कहती है । अन्यथा (ब्रह्मको सावयव माननेमें) सावयवय ब्रह्ममें भी घटादिके सदृश अवयवोंसे आरम्भ होनेका प्रसङ्ग आ जायगा । यदि ब्रह्ममें स्वभावसिद्ध अवयवशून्यता और बुद्धि आदि उपाधिके कारण सावयवता है ऐसा माननेपर उक्त दोष नहीं है, तो भी वास्तविक भेद

नहि निरवयवमाकाशं खड्गधारादिभिर्वस्तुतो भेत्तुं शक्यम् । अथाऽन्तःकरणोपाधीनां वस्तुतो ब्रह्मविदारणसामर्थ्यमस्ति तर्हि ब्रह्म स्वस्याऽनर्थाय कथमुपाधीन् सृजेत् । न च जीवार्था तत्सृष्टिः, तत्सृष्टेः प्राग् जीवविभागासिद्धेः । न च कर्माविद्यासंस्कारा अन्तःकरणोत्पत्तेः प्राग्विद्यमाना अपि जीवं विभजन्ते, अन्तःकरणद्रव्यस्यैव जीवोपाधित्वाङ्गीकारात् । ननु नीलपीतादिवद्भेदः स्वाभाविको द्रव्यत्वादिजातिनिबन्धनश्चाऽभेद इति चेत्, तर्हि 'अयमात्मा ब्रह्म' इति सामानाधिकरण्यं न स्यात्, नीलं पीतमिति सामानाधिकरण्याभावात् । अथ न निष्पन्नो भेदो नाऽप्यनादिः किन्तूपाधिनिबन्धनः केवलं ब्रह्मणि प्रकाशते । स तर्ह्यतस्मिंस्तदारोपो विभ्रम एव

सिद्ध नहीं होता, क्योंकि खड्गकी धारसे अवयवरहित आकाशके वस्तुतः टुकड़े नहीं किये जा सकते। यदि कहा जाय कि अन्तःकरणमें ऐसी सामर्थ्य है कि वह ब्रह्मका वस्तुतः विदारण—टुकड़े—कर सकता है, तो ब्रह्म अपने अनर्थके लिए उपाधिकी सृष्टि क्यों करेगा ? उपाधिकी सृष्टि जीवके लिए भी नहीं मान सकते, कारण कि उपाधिकी सृष्टिके पूर्व जीवरूप भेदकी ही सिद्धि नहीं है। [अर्थात् उपाधिके द्वारा ही जीव और ब्रह्म ऐसा विभाग बनता है, इससे पूर्व तो अद्वैत ब्रह्म ही है।] अन्तःकरणकी उत्पत्तिसे पूर्वमें रहनेवाले कर्म, अविद्या तथा संस्कार द्वारा भी जीवरूप विभागकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि अन्तःकरणरूप द्रव्य ही जीवभेदमें प्रयोजक उपाधि माना गया है।

शङ्का—नील, पीत आदि भेदोंके सदृश जीवभेद भी स्वभावसिद्ध ही है (इससे उपाधिसृष्टिके पूर्व भी जीव विद्यमान रह सकता है) और द्रव्यत्व आदि जातिके कारण अभेद होगा।

समाधान—ऐसा माननेपर 'यह जीवात्मा ब्रह्म है' ऐसा सामानाधिकरण्य नहीं बनेगा। [द्रव्यत्व आदि जातिके कारण सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता] क्योंकि 'नील पीत है' ऐसा सामानाधिकरण्य कहीं नहीं देखा जाता। (नील, पीतके साथ घटत्वादि या पदार्थत्वका सम्बन्ध है ही)। यदि कहा जाय कि भेद सिद्ध नहीं है और अनादि भी नहीं है, किन्तु उपाधिके कारण केवल ब्रह्ममें प्रकाशित होता है, तो वह भेद अन्यमें अन्यका आरोप-

स्यात् । प्रामाणिकस्य भेदस्य कथं विभ्रमत्वमिति चेद्, न; जीवब्रह्मभेदे प्रत्यक्षादीनामप्रसरात् । आगमस्तु न भेदं प्रतिपादयति प्रत्युत 'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत' इत्यभेदं प्रतिपाद्य 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इति भेदं प्रतिषेधति । न च संसारित्वासंसारित्वव्यवस्थानुपपत्तिर्भेदे मानम्, अभेदस्याऽप्यङ्गीकृतत्वेनाऽव्यवस्थातादवस्थ्यात् । नह्याकाशं घटेनाऽवच्छिद्य तदन्तर्धूमादिसमावेशे सत्याकाशस्य धूमादिसंयोगः परिहर्तुं शक्यते, घटावच्छिन्नभागसहितस्यैवाऽऽकाशत्वात् । अथाऽपि भेदांशमुपजीव्य व्यवस्थोच्येत तर्ह्यस्मन्मतेऽपि ब्रह्मण्यविद्यादिसंसर्गासंसर्गाभ्यां व्यवस्था किं न स्यात् । एकस्मिन्नेव वस्तुनि संसर्गस्य

रूप (बिना भेदवालेमें भेदका आरोपरूप) भ्रममात्र ही होगा । प्रमाणसिद्ध भेद भ्रम नहीं हो सकता, यह कहना भी उचित नहीं है, कारण कि जीव और ब्रह्मके भेदमें प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंका प्रसङ्ग नहीं है । शास्त्र तो भेदका प्रतिपादन नहीं करता, परन्तु उसके विपरीत 'यह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृतरूप है' इस प्रकार अभेदका प्रतिपादन करके 'इससे अतिरिक्त कोई द्रष्टा नहीं है' इन वाक्योंसे भेदका निषेध करता है । संसारित्व—बद्ध—और असंसारित्व—मुक्त—की व्यवस्थाका न बनना ही भेदकी सिद्धिमें प्रमाण है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता; कारण कि अभेदका भी अङ्गीकार कर लेनेसे व्यवस्थाका न बनना वैसे ही है । आकाशको घटरूप उपाधिके द्वारा भिन्न करके (महाकाशसे घटाकाशका भेद सिद्ध करके) उस उपाधिके अन्दर धूमादिका समावेश होनेपर उस उपाध्यवच्छिन्न आकाशके साथ भी धूमादिके संयोगका परिहार नहीं किया जा सकता, क्योंकि घटावच्छिन्न भाग सहित ही आकाश है । [अर्थात् अवश्य ही घटान्तर्गत आकाशके साथ धूमका संयोग होनेसे शुद्ध अवच्छिन्नका अभेद माननेवालेके मतमें आकाशसे भी धूमका संयोग है ही । एवं ब्रह्मका अन्तःकरणरूप उपाधिके द्वारा जीवभेद होनेके अनन्तर उस अवच्छिन्नसे संसारका सम्बन्ध होनेसे अवश्य ही ब्रह्मका भी संसारसे सम्बन्ध हो गया । इससे ब्रह्म नित्यमुक्त है यह व्यवस्था नहीं बनेगी ।] यदि भेदभागको लेकर व्यवस्था बनायी जाय, तो हमारे मतसे भी ब्रह्मके साथ अविद्याके संसर्ग तथा संसर्गके अभावसे व्यवस्था क्यों नहीं हो सकेगी । [ब्रह्मके साथ अविद्याका सम्बन्ध होनेसे संसारित्व और संसर्ग छूटनेसे मुक्तत्व व्यवस्था होनेमें कोई असामञ्जस्य नहीं है ।] एक ही पदार्थमें संसर्ग-सम्बन्धका होना और न होना दोनों

भावाभावौ विरुद्धाविति चेद्, न; भेदस्य भावाभावयोरेकत्र त्वयाऽभ्युपगमात्। अभेदो नाम न भेदाभावः, किन्त्वैक्याख्यं धर्मान्तरमिति चेत्, तथापि भेदाभेदौ विरुद्धावेव परस्परनिवर्तकत्वात्। 'अहं मनुष्यः' इति प्रतीतं देहात्मैक्यं 'नाऽहं मनुष्योऽपि तु ब्रह्मास्मि' इत्यनेन देहात्मभेदभानेन निवर्त्तते। तथा द्वौ चन्द्राविति प्रतीतो भेदश्चन्द्रैक्यज्ञानेन निवर्त्तते। अतो विरोधभीतस्त्वं कथं भेदाभेदावङ्गीकुर्वीथाः। तदङ्गीकारे वा ब्रह्मण्यविद्यासंसर्गेण तयोर्बिम्बप्रतिबिम्बदृष्टान्तेनोपपादयितुं सुशकयोः कस्तव प्रद्वेषः। न चांऽशभूते जीवे संसारिणि सत्यंशिनो ब्रह्मणस्तदभावे तवाऽस्ति कश्चिद् दृष्टान्तः। नहि वस्त्रैकदेशे देहैकदेशे वा चण्डालप्रतिकादिभिरुपस्पृष्टे कृत्स्नौ वस्त्रदेहाव-प्रक्षालनीयौ भवतः। अतो न त्वन्मते ब्रह्मणोऽसंसारित्वं प्रत्युत सर्वजीवैः

विरुद्ध नहीं रह सकते, यह कहना भी उचित नहीं है, कारण कि एकमें ही भेदका होना और न होना दोनों तुम भी मानते आये हो। यदि कहा जाय कि अभेद भेदका अभावरूप पदार्थ नहीं है, किन्तु (अधर्मके सदृश) अभेद एक दूसरा धर्म ही है। तथापि भेद और अभेद एक दूसरेके विरोधी तो हैं ही, कारण कि इनमें एक दूसरा एक दूसरेका निवर्तक है। 'मैं मनुष्य हूँ' इस प्रतीतिसे सिद्ध हुआ देह और आत्माका अभेद 'मैं मनुष्य नहीं हूँ, प्रत्युत ब्रह्म हूँ' इस प्रतीतिके द्वारा देह और आत्मामें भेदका प्रतिभास होनेसे निवृत्त हो जाता है; इसी प्रकार दो चन्द्र हैं, इस प्रकार प्रतीत हुआ चन्द्रमाका भेद चन्द्रके ऐक्यज्ञानसे निवृत्त होता है। इसलिए विरोधसे भयभीत तुम भेद और अभेद दोनोंकी एकमें स्थिति कैसे मान रहे हो? और यदि विरोधसे न डरकर परस्पर विरुद्धोंकी भी एकमें स्थिति मान सकते हो, तो ब्रह्ममें अविद्याके सम्बन्धसे उन दोको—ब्रह्ममें अविद्याके संसर्ग और उसके अभावको जिनका बिम्बप्रतिबिम्बदृष्टान्तसे उपपादन करना सरल है, माननेमें कौन तुम्हारा द्वेष है। और अंशभूत जीवके संसारी होते हुए अंशी—अवयवीस्वरूप—ब्रह्म संसारी नहीं है, इसमें तुम्हारे पास कौन-सा दृष्टान्त है। ऐसा नहीं देखा गया कि वस्त्रका एक भाग अथवा देहके किसी एक अवयवसे चाण्डाल आदि अस्पृश्य जातिका स्पर्श हो जानेसे वह सारा वस्त्र और सम्पूर्ण देह शुद्ध न की जाय। [एक देशमें भी अशुद्धि आ जानेसे सम्पूर्ण अवयवीको ही अशुद्ध मान कर उस अवयवी भरकी शुद्धि की जाती है।] इसलिए तुम्हारे मतमें ब्रह्ममें असंसारित्व (नित्यमुक्तत्व) नहीं बन सकता। प्रत्युत इसके विपरीत

सर्वप्रपञ्चेन चाऽभिन्नतया सर्वं दोषजातं स्वात्मन्येव ब्रह्म पश्येत्। तथा च तादृशब्रह्मप्राप्तेरपुरुषार्थतया शास्त्रारम्भादिकमनुपपन्नं स्यात्। नहि ज्ञानध्यानादिभिः स्वोपाधौ कथंचित्प्रविलापितेऽप्यशेषजीवोपाधयः प्रविलापयितुं शक्यन्ते येन ब्रह्मणि सर्वो दोषः परिह्रियेत। अस्मन्मते तु ब्रह्मणि न कश्चिद्दोषः, प्रतिबिम्बश्यामत्वादीनां बिम्बसंबन्धादर्शनात्। तत्त्वज्ञानेन सर्वोपाधिविनिर्मोक्षश्चोपपद्यते। स्वप्नकल्पितवस्तूनां सर्वेषामपि प्रबोधे निवृत्तिदर्शनात्। शुकवामदेवादितत्त्वज्ञानेन सर्वोपाधिनिवृत्ताविदानीं संसारानुपलब्धिः प्रसज्येतेति चेद्, न; त्वत्पक्षेऽपि समानत्वात्। एकैकस्य जीवस्यैक-

---

समस्त जीव तथा सम्पूर्ण प्रपञ्चके साथ अभेद होनेसे ब्रह्म सम्पूर्ण दोषसमूहको अपनेमें ही समझेगा। इस परिस्थितिमें नित्यबद्ध ब्रह्मकी प्राप्तिमें पुरुषार्थत्व सङ्गत न होनेसे उसके लिए वेदान्त या विचारशास्त्रोंका आरम्भ करना युक्तियुक्त न होगा। ज्ञान या ध्यान आदिसे अपनी उपाधिका किसी प्रकार विलय (विनाश) कर देनेपर सम्पूर्ण जीवोंकी उपाधियोंका विनाश नहीं किया जा सकता, जिससे कि ब्रह्ममें दिये जानेवाले समस्त दोषोंका परिहार हो सके। [जिसको ज्ञान हुआ है और जिसने ध्यानादि या मनन किया है, उसकी उपाधियोंकी निवृत्ति होनेसे अन्य पामर प्राणियोंकी सब उपाधियां नष्ट नहीं हो सकतीं और वे प्राणी भी ब्रह्माऽभिन्न ही हैं, अतः उनके द्वारा ब्रह्म दूषित बना ही रह जायगा, ब्रह्म तो प्राणियोंके भेदसे भिन्न नहीं है, जिससे कि ज्ञानी और ध्यानीके द्वारा प्राप्त ब्रह्मको निर्दोष कह सकें एवं सदोषकी प्राप्ति कथमपि पुरुषार्थ नहीं हो सकती।] और हमारे मतमें तो ब्रह्ममें कोई दोष ही नहीं है, क्योंकि प्रतिबिम्बगत श्यामत्व आदि दोषोंका सम्बन्ध बिम्बके साथ नहीं देखा जाता है। [इससे उपाधिकृत दोषका संसर्ग प्रतिबिम्बस्थानीय जीवके साथ ही होगा ब्रह्मके साथ नहीं होगा।] और तत्त्वज्ञानके द्वारा समस्त उपाधियोंसे छुटकारा पा जाना सम्भव है। देखा जाता है कि स्वप्नमें कल्पित सभी पदार्थोंका (जागरणावस्थामें) बोध होनेपर विनाश हो जाता है। हमको श्रीशुकदेवजी तथा श्रीवामदेव मुनिजीको हुए तत्त्वज्ञानके द्वारा समस्त उपाधिके विलय हो जानेपर इस समय संसारकी उपलब्धि नहीं होनी चाहिए, इस प्रकार दूषण देना भी उचित नहीं है, कारण कि यह दोष तो तुमको भी समान ही है। [जो दोष दोनोंको समान होता है, उसका उत्तर करनेके लिए एक ही वाच्य

स्मिन् कल्पे मुक्तावप्यनन्तजीवानामतीतानन्तकल्पेषु मुक्तौ कथं संसार उपलभ्येत । अनुभवमवलम्ब्येदानीन्तनसंसारसमाधानमुभयोः समानम् । उपपत्तिस्त्वेकात्मवादिभिरस्माभिरेव कथञ्चिद्वक्तुं शक्यते । तथाहि— यस्त्वं मां प्रति बन्धमोक्षव्यवस्थां पृच्छसि स त्वमेक एव सर्वकल्पनाधिष्ठानभूतश्चिदेकरस आत्मा त्वदन्ये मुक्ता मुच्यमाना मोक्ष्यमाणाश्च सर्वे जीवास्त्वदविद्यया स्वप्न इव कल्पिताः । वामदेवादिमुक्तिश्रुतिश्च त्वत्प्ररोचनाय ब्रह्मविद्याप्रशंसार्था । एवं च सति कस्य बन्धमोक्षावित्येष संदेहस्तव तावत् संसारदशायां मोक्षदशायां वा न जायते । एवं प्रत्येकं तत्तत्पुरुषदृष्ट्या

नहीं होता ।] क्योंकि तुम्हारे मतमें भी एक एक जीवकी (ज्ञानी ध्यानीकी) एक-एक कल्पमें मुक्ति हो जानेसे अनन्त जीवोंकी अनन्त कल्पोंमें मुक्ति हो जानेके कारण संसार कैसे उपलब्ध हो सकेगा ? अनुभवके बलपर इस समय यदि दीख पड़नेवाले इस संसारकी स्थितिका समाधान किया जाय, तो यह समाधान दोनोंके लिए एक-सा ही होगा (अर्थात् हम भी अनुभवके बलसे संसारकी स्थिति कहेंगे)। [यदि दोनों पक्षोंमें शङ्का और समाधान समान ही हैं, तो आपका ही मत क्यों माना जाय ? इस आशङ्कासे अपने मतके समर्थनमें विनिगमक देते हैं—] एकात्मवादी हमारे मतमें ही उपपत्ति हो सकती है। [वस्तुतः हमारे मतमें अनिर्वचनीय ख्याति है, परन्तु यज्ञानुरूप एवं बलि तुष्यतु दुर्जनन्यायसे कुछ भी निर्वचन हो सकता है, तो हमारे ही मतमें हो सकता है, इस आशयसे 'कथञ्चित्' कहा' उपपत्ति इस प्रकार है—] जो तुम हमसे बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था पूँछ रहे हो, वह तुम अकेले ही समस्त कल्पनाओंके अधिष्ठानभूत चिद्रूप आत्मा हो और तुमसे अतिरिक्त मुक्त हुये या मुक्त होनेकी अवस्थाको प्राप्त हुए अथवा आगे मुक्त होनेवाले सभी जीव तुम्हारी अविद्यासे स्वप्न सदृश कल्पित हैं। और वामदेव आदिकी मुक्ति कहनेवाली श्रुति तो तुमको प्ररोचन करनेके लिए या ब्रह्मविद्याकी प्रशंसाके निमित्त है। इस प्रकार सिद्धान्त निश्चित होनेपर किसको बन्ध तथा मोक्ष होता है, यह सन्देह तुमको तो न संसारदशामें और न मोक्षदशामें हो सकता है। इस प्रकार तत्-तत् पुरुषकी दृष्टिसे वही वही (स्वयं) आत्मा है।

---

१ यश्चोभयोः समो दोषः परिहारस्तयोः समः । नैकस्तत्राऽनुयोक्तव्यः ।

स स एवाऽऽत्मेति गुरुशास्त्राभ्यां बोधिते सति न कस्याऽपि संदेह उदेतीति किमत्राऽनुपपन्नम् । अतोऽखण्डैकरसात्मवादेऽनुपपत्त्यभावात् तत्तत्परेण शास्त्रेणाऽऽत्मतत्त्वे बोधिते सद्य एवाऽविद्यातत्कार्ययोः स्वप्नवत् प्रविलीनयोः सतोरद्वितीये ब्रह्मणि संपदादिरूपेणोपास्तिक्रियायाः कोऽवसरः । अत एव श्रुतिर्ब्रह्मण उपास्यत्वं निषेधति—'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतं तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' इति । न च वेद्यत्ववदुपास्यत्वमपि स्यादिति मन्तव्यम्, 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' इति श्रुत्या वेद्यत्वस्याऽपि निषेधात् । अवेद्यत्वेऽप्यखण्डैकरसब्रह्माकारान्तःकरणवृत्त्या चैतन्याभिव्यक्तियुक्तया शास्त्रजन्यया विद्ययाऽविद्यातत्कार्यनिवृत्तेर्ब्रह्मणः शास्त्रवेद्यत्वमुपचर्यते । एतां वृत्तिं प्रति संनिधिमात्रेणाऽखण्डैकरसत्व-

---

ऐसा गुरु तथा शास्त्र द्वारा उपदेश होनेपर किसीको भी सन्देह नहीं हो सकता, फिर कहो कि इसमें क्या अनुपपत्ति है ? इसलिए आत्माके अखण्ड (निरवयव) और एकरस माननेके पक्षमें किसी प्रकारकी अनुपपत्ति न होनेसे तादृश आत्माके बोधनमें तात्पर्यवाले शास्त्र द्वारा आत्मतत्त्वका बोधन हो जानेपर तुरत ही स्वप्नकी भाँति अविद्या तथा उसके कार्यभूत प्रपञ्चका विलय हो जानेसे अद्वितीय ब्रह्ममें पूर्वोक्त, सम्पदादि रूपसे उपासना क्रियाका अवसर कैसे आ सकता है ? इसीलिए तो श्रुति ब्रह्मके उपासनाविषय होनेका निषेध करती है। 'जिसका मनसे मनन नहीं किया जाता, प्रत्युत जिसके द्वारा मन मनन करनेवाला कहलाता है, वही ब्रह्म है, उसको तुम ब्रह्म जानो, यह ब्रह्म नहीं है, जिसकी कि उपासना की जाती है' इत्यर्थक श्रुति उपासनाका निषेध करती है। वेद्यत्व (ब्रह्म-विद्याविषयत्व) की भाँति ब्रह्मका उपासना विषय होना भी नहीं मानना चाहिए, कारण कि 'वह ब्रह्म ज्ञानविषयसे भी अतिरिक्त है और ज्ञानके अविषयसे भी परे है' एतदर्थक श्रुतिसे ब्रह्मका वेद्य—ज्ञानविषय—होना निषिद्ध किया गया है। [ब्रह्ममें शास्त्रवेद्यत्वकी उपपत्ति दिखलाते हैं—] ब्रह्मके वस्तुतः अवेद्य होनेपर भी चैतन्यकी अभिव्यक्तिसे युक्त तथा शास्त्रसे उत्पन्न ब्रह्मविद्यात्मक अखण्डैकरस ब्रह्माकार अन्तःकरणकी वृत्तिके द्वारा अविद्या तथा उसके कार्यस्वरूप प्रपञ्चकी निवृत्ति होनेसे ब्रह्ममें शास्त्रवेद्यत्वका गौण व्यवहार होता है। इस पूर्वोक्त अखण्डैकरस ब्रह्माकारवृत्तिके प्रति

लक्षणस्वाकारसमर्पकतया स्वस्वाकारसमर्पकघटादिवद्वृत्तिव्याप्यत्वलक्षणं विषयत्वं ब्रह्मणोऽभिप्रेत्य 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्', 'एषोऽणुरात्मा वेदितव्यः', 'तं त्वौपनिषदं पुरुषम्' इत्याद्याः श्रुतयः प्रवृत्ताः । जडेषु घटादिष्विव प्रमाण-

अपने केवल सन्निधानसे अखण्डैकरसस्वरूप अपने आकारका समर्पण करनेसे अपने अपने आकारका समर्पण करनेवाले घटादिके सदृश वृत्तिव्याप्यत्वरूप विषयत्व ब्रह्ममें मानकर 'मनके द्वारा ही साक्षात्कार करना चाहिए', 'यह अणु सूक्ष्मातिसूक्ष्मरूप आत्मा ज्ञेय—जानने योग्य—है' और उस उपनिषदोंके द्वारा जानने योग्य पुरुष—चेतनशक्ति—को' एतदर्थक श्रुतियां प्रवृत्त होती हैं। [यद्यपि ब्रह्म अप्रमेय एवं अवेद्य और अव्यपदेश्य है, इसलिए वह वास्तवमें न तो श्रुतिसे वेद्य और न गुरुके उपदेशसे ज्ञेय हो सकता है। ऐसी दशामें ब्रह्मको शास्त्रवेद्य कैसे कहा जाय ? इस शङ्काके समाधानका आशय है कि वस्तुतः ब्रह्म वेद्य नहीं है, परन्तु जैसे स्वप्रकाश भी सूर्य घनीभूत बादलों या धूलीपटलसे आच्छन्न हुआ प्रकाशित नहीं होता, परन्तु उस आवरक मेघमण्डल एवं धूलीपटलके प्रचण्ड वायु द्वारा या अन्य कारणोंसे हट जानेपर अपने स्वरूपसे प्रकाशित होता हुआ दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही स्वप्रकाश तथा विशुद्ध भी ब्रह्मात्मा अनादि अविद्या तथा उसके कार्यों द्वारा आच्छन्न हुआ अप्रकाशित-सा रहता है । उस आवरणके अपनयनके लिए प्रचण्ड वायुस्थानीय अन्यविषयव्यावृत्त अन्तःकरणकी शुद्ध वृत्तिकी अपेक्षा होती है। यह वृत्ति अत्यन्त निर्मल होनेसे सन्निहितकी अभिव्यक्ति करती है और उसके आकारको भी ग्रहण कर लेती है, ब्रह्म सर्वव्यापक होनेसे सर्वत्र सन्निहित है, श्रवण, मनन आदि अन्तःकरणकी वृत्तिमें कोई अन्य विषयोंका ज्ञेय शेष नहीं रहता, अतः स्वच्छ अखण्डैकरसकी अभिव्यक्ति तथा उसका आकार लेना ही उस वृत्तिको स्वतः प्राप्त हो जाता है । यही ब्रह्मका विषय होता है, जिसके कारण सम्पूर्ण आवरण नष्ट हो जाते हैं और स्वरूपसिद्ध स्वतःप्रकाश ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है, एतावता ब्रह्म शास्त्रवेद्य भी कहा गया है । जड़ पदार्थ घटादिकी वृत्ति द्वारा प्रकाश और ब्रह्मप्रकाशमें भेद दिखलाते हैं—] जड़ पदार्थ घट आदिमें प्रमाण द्वारा उत्पन्न

कृतस्फुरणातिशयस्य स्वप्रकाशे ब्रह्मण्यसंभवात् फलव्याप्यत्वाभावलक्षणमविषयत्वं च 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते' इत्याद्याः श्रुतयः प्रत्यपीपदन्। न चात्राऽत्यन्तं फलाभावः, अन्तःकरणवृत्त्यभिव्यक्तत्वोपाधिना ब्रह्मचैतन्यस्यैव फलत्वोपचारात्। घटादिष्वप्यस्यैव फलत्वव्यवहारात्। तदुक्तम्—

'परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन संमता।
संवित् सैवेह मेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः ॥' इति ॥

अतो ब्रह्मचैतन्यमुपान्त्यक्षणेऽवच्छिन्नतया फलावस्थं भूत्वा चरमक्षणे स्वावच्छेदिकां वृत्तिं निवर्त्तयति। तत उपर्यवच्छेदकाभावात् फलावस्थतां परित्यज्य निर्विकल्पकचैतन्यमात्रं मोक्षदशायां परिशिष्यते। एवं च सति नित्यमुक्तं ब्रह्मैव स्वाविद्यादिप्रतिबिम्बितं सज्जीव-

किये गये प्रकाशरूप अतिशयका स्वप्रकाशरूप ब्रह्ममें सम्भव नहीं है [क्योंकि ब्रह्म तो स्वयंप्रकाशरूप है, उसमें प्रकाशरूप अतिशय उत्पन्न करानेके लिए किसी प्रमाणजनित वृत्ति आदि दूसरे कारणकी अपेक्षा नहीं है]। इसलिए फलव्याप्यत्वरूप विषयत्वके अभावका भी 'जिस ब्रह्मरूप अवधिसे वाणी निवृत्त हो जाती है' एतदर्थक श्रुतियोंने प्रतिपादन किया है। यहाँ फलका अत्यन्त अभाव है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता; कारण कि अन्तःकरणकी उक्त वृत्तिमें अभिव्यक्त होना रूप उपाधिके द्वारा ब्रह्मचैतन्यमें ही फलत्वका गौणरूपसे व्यवहार होता है, क्योंकि घटादि स्थलोंमें भी इसीका फलरूपसे व्यवहार होता है [अर्थात् घटाकार अन्तःकरणकी वृत्तिमें अभिव्यक्त चैतन्य ही घटावच्छिन्न चैतन्यके नामसे फल कहलाता है]। इस विषयमें कहा भी गया है—

'बहिर्भूत घट, पट आदि विषयस्थलोंमें जिस संवित्‌को फल माना गया है, वही संवित् ही प्रकृत वेदान्तवाक्यरूप शब्द प्रमाण द्वारा प्रमेय अर्थ है [अर्थात् वेदान्तवाक्योंका भी घटावच्छिन्न चैतन्यप्रकाशके तुल्य संविद्रूप ब्रह्मचैतन्य प्रकाश ही प्रमेय है]।

इसलिए ब्रह्मचैतन्य अन्तिम क्षणके पूर्वक्षणमें अवच्छिन्न होनेसे फलावस्थामें विद्यमान होकर अन्तिम क्षणमें अपनी अवच्छेदिका—उपाधिरूप—वृत्तिमात्रको भी नष्ट कर देता है। तदनन्तर अवच्छेदकारक उपाधिके न रह जानेसे फलावस्थाका त्यागकर निर्विकल्पक चैतन्यमात्र मोक्ष-दशामें अवशिष्ट रह जाता है। इस सिद्धान्तके निर्णीत होनेपर (इस प्रकार व्यवस्था बननेपर) नित्य-

भावमापाद्य संसरति स्वविद्यया च विमुच्यत इत्युक्तं भवति ।

नन्वेवं जीवस्यैव ब्रह्मत्वे 'तत्त्वमसि' आदिमहावाक्येषु पदद्वयस्य पुनरुक्तिः स्यात्, तत्परिहाराय भेदाभेदावभ्युपेयाविति चेद्, न; तथा सति वाक्यार्थज्ञानेन शरीरेन्द्रियादिसंसारस्य निवृत्त्यसिद्धेः। तथाहि—किमुपपत्तितस्तन्निवृत्तिः साध्यते ? उत 'भिद्यते हृदयग्रन्थि०' इत्याद्यागमात् ? नाऽऽद्यः, त्वन्मते देहादिविशिष्टस्यैव जीवस्य ब्रह्मणा सह भेदाभेदयोर्वास्तवयोर्महावाक्यार्थतया तद्गोचरज्ञानेन देहादिनिवृत्त्ययोगात् । न द्वितीयः, वर्त्तमानापदेशिन आगमस्य योग्यानुपलब्धिविरोधेऽर्थवादत्वात् । अथ मोक्ष-

---

मुक्तस्वरूप ब्रह्म ही अपनी अविद्या आदिमें प्रतिबिम्बित होता हुआ जीवभावको प्राप्त कर संसारी हो जाता है और पुनः वही अपनी ही विद्याके द्वारा मुक्त हो जाता है, ऐसा निष्कर्ष निकलता है ।

शङ्का—यदि उक्त रीतिसे जीवको ही ब्रह्मभाव प्राप्त है, तो 'वह तू है' इत्याद्यर्थक महावाक्योंमें (वह तू) ऐसे दो पदोंका देना पुनरुक्त होगा (जो कि दोष माना जाता है) इस दोषका वारण करनेके लिए भेद और अभेद दोनोंका माना जाना उचित ही है ।

समाधान—ऐसा (भेद और अभेद दोनोंके) माननेपर वाक्यार्थज्ञान द्वारा शरीरेन्द्रिय आदि संसारकी निवृत्तिकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि विकल्प हो सकते हैं—क्या उपपत्ति—अनुमानप्रयोग—से देहादिकी निवृत्ति सिद्ध की जायगी ? अथवा 'हृदयग्रन्थि टूट जाती है' एतदर्थक शास्त्रके द्वारा ? इनमें प्रथम विकल्प युक्त नहीं हो सकता, क्योंकि तुम्हारे मतमें देहेन्द्रिय आदिसे विशिष्ट जीवका ही ब्रह्मके साथ वास्तव भेदाऽभेद महावाक्योंका अर्थ माना गया है, इस दशामें उन महावाक्योंके वास्तविक भेदाऽभेदविषयक ज्ञानसे देह आदिकी निवृत्तिका होना सम्भव नहीं है । दूसरा कल्प भी युक्त नहीं है, कारण कि 'भिद्यते' इस वर्तमान पदसे व्यवहार करनेवाले शास्त्रको योग्यकी अनुपलब्धिके कारण विरोध आनेसे अर्थवाद माना जायगा । [शास्त्र वर्तमानमें निवृत्ति कहता है और इस कालमें योग्यानुपलब्धिरूप निवृत्ति है नहीं, इसलिए विरोध आनेसे शास्त्रको ब्रह्मविद्याका प्रशंसक ही मानना होगा, स्वार्थपरक नहीं मान सकते । यद्यपि मोक्षावस्थामें देहादिकी निवृत्तिके बोधनमें शास्त्रका तात्पर्य

दशायां देहादिनिवृत्तावागमस्य तात्पर्यं तथापि यदि मोक्षदशायां जीवस्य भेदांशो न निवर्तेत तदा तन्निर्वाहाय देहेन्द्रियान्तःकरणाद्युपाधिरप्यभ्युपेयः । ततो न संसाराद्विशेषः । यदि च भेदांशनिवृत्तिः, तदापि न तत्त्वज्ञानात्तन्निवृत्तिः, तस्य स्वविषयानिवर्तकत्वात् । त्वन्मते भेदस्याऽपि तत्त्वज्ञानविषयत्वात् । नाऽपि कर्मभिस्तन्निवृत्तिः; आगमविरोधात् । आगमस्य सार्वकालिकभेदाभेदप्रतिपादकत्वाङ्गीकारात् । न च भेदाभेदवादे तत्त्वंपदार्थौ सुनिरूपौ, तत्र कोऽसौ त्वंपदार्थो जीवः ? किं भेदाभेदाभ्यामंशाभ्यामंशी किं वांऽशद्वयसमुदाय उतांऽशद्वयमेव ? आद्येऽपि यद्यभेदांशो

माना जा सकता है, तथापि यदि मोक्षावस्थामें जीवके भेदरूप अंशकी निवृत्ति नहीं होती, तो उस अवस्थामें उस भेदकी स्थितिके निर्वाहके निमित्त देह, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण आदि उपाधिका सद्भाव मानना ही होगा। [इससे मोक्षावस्थामें भी निवृत्तिबोधनमें तात्पर्य माननेसे शास्त्र अबाधित नहीं हो सकता] ऐसी दशामें संसारावस्था तथा मोक्षावस्थामें कोई भेद नहीं आ सकता। और यदि भेदरूप अंशकी निवृत्ति मान भी ली जाय, तो भी तत्त्वज्ञानके द्वारा उस भेदकी निवृत्ति नहीं हो सकती 'अर्थात् उस कालमें भेदका निवर्तक न होनेसे भेदकी निवृत्ति हो नहीं सकती, कारण कि वह तत्त्वज्ञान अपने विषय भ्रमात्मक भेदका निवर्तक नहीं बन सकता। तुम्हारे मतमें भेद भी तत्त्वज्ञानका विषय है। और कर्मोंके द्वारा भी भेदकी निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि इसमें शास्त्रोंका विरोध आता है। कारण कि तुम्हारे मतमें सदैव रहनेवाले भेद और अभेद दोनोंका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र माने गये हैं। और यह भी दोष आता है कि भेदाऽभेदवादीके मतमें 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थोंका निरूपण करना भी सरल नहीं होगा, कारण कि इस अवसरपर पूछा जायगा कि यह जीवरूप 'त्वं' पदार्थ कौन वस्तु है ? क्या भेद और अभेद—इन दोनों अंशोंसे युक्त एक अतिरिक्त अवयवी है या केवल दोनों अंशोंका समुदायरूप ? अथवा केवल दोनों अंश ही है ? प्रथम कल्प माननेमें भी यदि अभेद अंश ब्रह्मरूप है, तो

१—यद्यपि प्रथम सूत्रमें ही कई-एक स्थानपर जीवस्वरूपका वर्णन किया गया है, तथापि त्वंपदार्थभूत जीवके स्वरूपका मोहवश भेदाऽभेदको माननेवाले भास्करके मतका निरूपण करना असम्भव होनेसे उसका मत असङ्गत है, ऐसा प्रतिपादन करनेके लिए जीवस्वरूपविषयक प्रश्नका अवसर आता है।

ब्रह्म तदा ब्रह्मणो जीवांशत्वं जीवस्य च सावयवत्वमापद्येत। अथाऽभेदांशो न ब्रह्म तर्ह्यत्यन्तभेद एव स्यात्। न द्वितीयः; जीवस्याऽवस्तुत्वप्रसङ्गात्। समुदायिव्यतिरिक्तसमुदायानिरूपणात्। तृतीयेऽपि किमभेदांश एव जीवः किं वा भेदांश एव उतांऽशद्वयं प्रत्येकम् अथवांऽशद्वयं परस्परमभिन्नम् अहोस्वित्परस्परमपि भिन्नाभिन्नम्? नाऽऽद्यः, ब्रह्मण एव जीवत्वप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, अत्यन्तभेदप्रसङ्गात्। तथाच तत्त्वज्ञानेन मोक्षादिव्यवहारासिद्धिः। न तृतीयः, जीवद्वयप्रसङ्गात्। न चतुर्थः, तदा ब्रह्मैव जीव इति बन्धमोक्षव्यवहारासिद्धेः। न पञ्चमः, भेदाभेदानवस्थाप्रसङ्गात्। कस्य चाऽयं शास्त्रोपदेशः। न तावदभेदांशस्योपदेशः, ब्रह्म-

---

ब्रह्ममें जीवकी अंशताका और जीवमें सावयवताका प्रसङ्ग आ जायगा। और यदि अभेद अंश जीवका ब्रह्मरूप नहीं माना जाता, तो जीव और ब्रह्मका अत्यन्त भेद ही सिद्ध होगा (अभेद नहीं)। दूसरा पक्ष भी संगत नहीं है, कारण कि इसके माननेसे जीव वास्तव पदार्थ नहीं रह जायगा, कारण कि समुदायीसे—अवयवीसे—अतिरिक्त समुदायका निरूपण नहीं किया जा सकता। तीसरा पक्ष माननेमें भी क्या अभेद अंश ही जीव है? या भेदरूप ही अंश? अथवा पृथक् पृथक् दोनों अंश अथवा परस्पर अभिन्न दोनों अंश हैं? अथवा परस्पर भी भिन्नाभिन्न जीव है? इनमें प्रथम पक्ष नहीं हो सकता, कारण कि ब्रह्ममें ही जीवत्वका प्रसङ्ग आ जायगा। द्वितीय पक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि इससे तो जीव ब्रह्मके अत्यन्त भेदका प्रसङ्ग होगा। इन दोनों पक्षोंके माननेसे तत्त्वज्ञान और मोक्षादि व्यवहारकी असिद्धि हो जायगी। तीसरा कल्प नहीं बनता, क्योंकि इससे भी दो जीव होनेका प्रसङ्ग आ जायगा। चतुर्थ कल्प भी उचित नहीं, कारण कि उस पक्षमें ब्रह्म ही जीव है, इससे बन्ध और मोक्षका व्यवहार नहीं बन सकता, [नित्यमुक्तमें बन्धन होना सम्भव नहीं और बन्धनके विना मोक्षव्यवहार नहीं बनता]। पांचवां कल्प नहीं हो सकता, कारण कि इसके माननेसे भेद तथा अभेदकी अनवस्था होनेका प्रसङ्ग आ जाता है। [अनवस्थाका उपपादन करते हैं—] यह शास्त्रोपदेश किसके लिए होगा? अभेद अंशके लिए तो उपपन्न नहीं हो सकता, कारण कि अभेदांशके ब्रह्मस्वरूप होनेसे उसको उपदेशकी अपेक्षा नहीं है। और भेदरूप अंशको भी शास्त्रोपदेश प्राप्त नहीं होता, कारण कि उस भेद अंशको

स्वरूपतया तस्योपदेशानपेक्षत्वात् । नाऽपि भेदांशस्योपदेशः । 'अहं ब्रह्मास्मि' इति प्रतिपत्त्ययोगात् । मोक्षावस्थायामभिन्नतया युज्यते सा प्रतिपत्तिरिति चेद्, न भेदांशस्य पुनरभेदः सम्भवति, विरोधात् । अविद्यादिदोषोऽपि न तावदभेदांशस्य युक्तः, ब्रह्मण्येव प्रसङ्गात् । नाऽपि भेदांशस्य, उपाधिजननात् प्राग्भेदाभावात् । अथोपाधिमनपेक्ष्य स्वत एव भिन्नोंऽशोंऽशी वा जीवस्तथापि तदंशविनाशे जीवविनाशात् कस्य मोक्ष उपदिश्येत, अभेदांशस्य ब्रह्मणो नित्यमुक्तत्वात् । मोक्षोऽपि भिन्नाभिन्नश्चेत् तर्हि 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्येवकारविरोधः संसारादविशेषश्च स्यात् । न च स्वर्गनरकबन्धमोक्षादिव्यवस्थासिद्धये भेदाभेदावपेक्षितौ, भेदेनैव कथंचित्तत्सिद्धेः । न च तावेकत्र युक्तौ ।

'मैं ब्रह्म हूं' इस प्रकार अभेदका निश्चय नहीं हो सकता । यदि मोक्षावस्थामें अभिन्न हो जानेसे 'मैं ब्रह्म हूं' इत्याकारक प्रतीति होना सम्भव है, ऐसा कहा जाय, तो यह कैसे सम्भव हो सकता है कि भेदरूप अंश अभेदके रूपमें हो जाय, कारण कि इनमें परस्पर विरोध है । और अविद्या आदि दोषका भी अभेद अंशमें सम्भव नहीं है अन्यथा ब्रह्ममें भी उन दोषोंका प्रसङ्ग आ जायगा ।

भेदरूप अंशके भी (अविद्या आदि दोष) नहीं हो सकते, कारण कि उपाधिके उत्पन्न होनेसे पूर्व भेदरूप अंश ही नहीं है । यदि उपाधिकी अपेक्षा न रखकर ही जीव भिन्न अंशरूप या अंशी है, ऐसा माना भी जाय, तो भी उस जीवात्मक अंश या अंशीका विनाश होनेसे जीवका भी नाश होगा, इससे किसको शास्त्र द्वारा मोक्षका उपदेश किया जायगा । अभेद अंशरूप तो नित्यमुक्त ही है । यदि मोक्ष भी भिन्नाभिन्नरूप माना जाय, तो 'ब्रह्म जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है' एतदर्थक वाक्यमें आये हुए निर्धारणार्थक 'एव' पदसे विरोध होगा । ('एव' पदके बलसे तो मोक्ष अभेदरूप ही प्रतीत होता है) और संसारदशासे (मोक्षदशामें) कोई विशेषता भी न रह जायगी । (भेदाऽभेद तो संसारमें है और वही भेदाभेद मोक्षमें भी रहा) । स्वर्ग, नरक, बन्ध और मोक्ष आदि व्यवस्थाके लिए भी भेदाऽभेद माननेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भेदको मानकर भी कथंचित् उक्त व्यवस्था बन सकती है । [स्वर्ग, नरक या बन्ध और मोक्षका सांकर्य दूर करनेके लिए भेदाभेद दर्शाते हो, परन्तु इसके

भेदस्य धर्मिप्रतियोगिसापेक्षत्वादभिन्ने चैकस्मिन् वस्तुनि तदयोगात् । शास्त्रं पुनर्नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा इति भेदोपमर्देनैष त आत्मेत्यभेदमेव प्रतिपादयति, न तु भेदाभेदौ । अथ जीवब्रह्मणोः स्वभावाद्भेदः स त्वद्रव्यत्वादिसामान्यमेव दर्शयति । सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मेति विकारसंस्पर्शपरिहारायैवं कल्प्यत, इति चेद्, न; विकारान्तर्वर्तित्वेऽप्यसङ्ग-

---

विपरीत जीव ब्रह्मका अभेद भी माननेसे यदि जीवको नरक या बन्धन है, तो ब्रह्मको भी नरक तथा बन्धका होना सुतरां प्राप्त हो जाता है, इस दशामें असांकर्य कैसे हो पाया । यदि भेद ही दोनोंका माना जाय, तो कथंचित् व्यवस्था बन सकती । अपने (सिद्धान्तीके) मतमें तो भेद वास्तव नहीं है, इसलिए कथंचित् कहा गया । अवास्तव भेदसे अवस्तुभूत बन्ध तथा नरकका होना कोई असङ्गत नहीं है] । उन दोनों भेदाऽभेदोंको एक अधिकरणमें मानना भी युक्तियुक्त नहीं है, कारण कि भेद तो अपने धर्मीके प्रतियोगीकी अपेक्षा रखनेवाला है [जैसे पटमें घटका भेद' । यह भेद अपने धर्मीरूप पटके प्रतियोगी घटकी अपेक्षा रखकर ही चरितार्थ होता है] । अतः भेदशून्य एक ही पदार्थरूप अधिकरणमें उस भेदके होनेका अवसर नहीं आ सकता और शास्त्र तो 'इससे अतिरिक्त भिन्न द्रष्टा कोई नहीं है' इस प्रकार भेदको तिरस्कृत करके 'यह तुम्हारा आत्मा है' इस रीतिसे अभेदका ही प्रतिपादन करता है, भेदाभेद दोनोंका नहीं ।

शङ्का—जीव और ब्रह्मका यदि स्वभावसिद्ध अभेद है, तो सत्त्व तथा द्रव्यत्व आदि सामान्यका ही प्रदर्शन करता है । 'सर्वव्यापी और सब भूतोंका अन्तरात्मा' इस प्रकारकी कल्पना तो केवल विकारजातसे सम्बन्ध परिहारके ही लिए हैं । *

समाधान—विकारके मध्यमें रहनेसे भी असङ्ग स्वभाव होनेके कारण

---

* भास्करके मतमें स्वभावतः भेद और स्वभावतः अभेद दोनों हैं । भेदसे तो स्वर्ग, नरक आदिकी व्यवस्था बनती है और सत्त्वादि सामान्यसे सुवर्णादिका कटक, कुण्डलादिके साथ जैसे अभेद है वैसे स्वभावतः अभेद भी है । भेद इतना ही है सुवर्णादि तो कटक, कुण्डलादिरूपसे परिणामको प्राप्त हो जाता है और ब्रह्ममें उक्त प्रकारसे विकारका संसर्ग नहीं होता है, क्योंकि उसमें वास्तव भेद भी है । नहीं तो विकारमध्यवर्ती होनेसे उसका संसर्ग होना अनिवार्य हो जाता ।

स्वभावतया तत्संस्पर्शाभावात् । अन्यथा मध्यमपरिमाणत्वेन सावयवत्वप्रसङ्गात् ।

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यादिप्राप्तिश्रुतिबलाद् ब्रह्मणो दूरदेशवर्त्तित्वमिति चेत्, काऽसौ प्राप्तिः ? न तावद् ब्रह्मभावः, दूषितत्वात्। नाऽपि जीवब्रह्मभ्यामारभ्यमाणं द्रव्यान्तरम् , मोक्षस्य विनाशित्वप्रसङ्गात् । मोक्षस्य नित्यत्वाद् ब्रह्मणः सर्वगतत्वाङ्गीकारे सावयवत्वायोगाद् द्रव्यान्तरारम्भकत्वमेव न स्यात् । जीवब्रह्मणोः संबन्धः प्राप्तिरिति चेद् , मैवम् ; न तावत् तादात्म्यम्, अणुमहतोर्विरुद्धयोस्तदयोगात् । नाऽपि समवायादिः, भिन्नद्रव्ययोः संयोगातिरिक्तसम्बन्धाभावात् । संयोगस्य च विप्रयोगावसानतया

विकारका सम्बन्ध नहीं हो सकता । [इसके लिए कोई कल्पना करनेकी आवश्यकता न थी] अन्यथा याने केवल मध्यवर्तित्वसे उनका संस्पर्श प्राप्त होता, तो [सब भूतोंका अन्तरात्मा (मध्यवर्ती) होनेके कारण] मध्यम परिमाणवाला होनेसे आत्मामें भी सावयवत्वका प्रसङ्ग आ जायगा ।

शङ्का—'ब्रह्मज्ञानी पर ब्रह्मकी प्राप्ति करता है' एतदर्थक प्राप्तिको दिखलानेवाली श्रुतिकी सामर्थ्यसे ब्रह्मका दूर देशमें रहना प्रतीत होता है ।

समाधान—यह प्राप्ति कौनसा पदार्थ है ? [जिसके बलपर ब्रह्मका दूर देशमें रहना कहा जा रहा है] ब्रह्मभावको तो प्राप्ति नहीं कह सकते, कारण कि इस ब्रह्मभावकी प्राप्तिमें प्रथम ही दोष दे आये हैं । जीव और ब्रह्म—इन दोनोंके द्वारा बननेवाले अतिरिक्त द्रव्यको भी प्राप्ति नहीं कह सकते, कारण कि (उसका आरम्भ होनेसे) मोक्षमें विनाशित्वका प्रसङ्ग आ जायगा। मोक्ष नित्य पदार्थ है एवं ब्रह्मको सर्वत्र व्यापक माननेसे वह अवयवविशिष्ट नहीं हो सकता, इसलिए ब्रह्म अतिरिक्त द्रव्यका आरम्भक ही नहीं बन सकता । जीव और ब्रह्मके सम्बन्धको भी प्राप्ति नहीं कह सकते, कारण कि इनका सम्बन्ध तादात्म्य, तो हो नहीं सकता, क्योंकि परस्पर विरुद्ध अणुपरिमाण तथा महत्परिमाणवाले जीव और ब्रह्मका तादात्म्य (अभेद) सम्बन्ध हो नहीं सकता । समवाय आदि अन्य सम्बन्ध भी नहीं बन सकते, कारण कि भिन्न-भिन्न द्रव्योंके संयोग सम्बन्धसे अतिरिक्त समवाय आदि सम्बन्ध नहीं हो सकते । और संयोगका अन्त विप्रयोगमें होता है, इसलिए [यदि ब्रह्मप्राप्तिको जीव और ब्रह्मका

पुनरावृत्तिप्राप्तेः। शास्त्रबलादपुनरावृत्तिरिति चेत्, तर्हि 'स स्वराड् भवति' इति ब्रह्मप्राप्त्यनन्तरं स्वराड्भावप्राप्तिश्रवणादनेकेश्वराः प्रसज्येरन्। तस्माद् ब्रह्मप्राप्तिश्रुतिरविद्यानिवृत्तौ जीवस्य स्वरूपभूतब्रह्माभिव्यक्तिविषया।

कथं तर्हि 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इति मूर्धन्यया नाड्या गमनं मोक्षाय श्रूयत इति चेद्, मैवम्; नाऽमृतत्वं नाम मोक्षः, किन्तूत्तमलोके चिरकालावस्थानम्। 'आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते' इति स्मृतेः। अन्यथा मूर्धन्यनाड्या निर्गच्छतां प्रतीकोपासकानामपि मोक्षप्रसङ्गात्। न चैतदिष्टम्, तेषामाविद्युल्लोकमेव गमनमित्येकस्मिन्नधिकरणे निर्णीतत्वात्। अथाऽपि 'स एव तान् ब्रह्म गमयति' इति श्रुत्या

संयोग सम्बन्ध माना जाय, तो] पुनरावृत्तिकी प्राप्तिका प्रसङ्ग हो जायगा। यदि शास्त्रकी सामर्थ्यसे पुनरावृत्तिका होना न माना जाय, तो 'वह स्वराट् होता है' इत्याद्यर्थक ब्रह्मप्राप्तिके अनन्तर स्वराट् होनेकी श्रुतिके आधारपर अनेक ईश्वरोंका प्रसङ्ग आ जाता है। इसलिए ब्रह्मप्राप्तिकी प्रतिपादक श्रुतिका अविद्याकी निवृत्ति होनेपर जीवकी अपने स्वरूपभूत ब्रह्मकी अभिव्यक्तिमें ही तात्पर्य है।

शङ्का—तब तो 'उस शिरोनाड़ीके मार्गसे ऊपर जानेवाला अमृतभाव (मोक्ष) को प्राप्त करता है' इत्यर्थक श्रुतिमें शिरोगत नाडीमार्गसे गमनरूप फलका श्रवण कैसे सङ्गत हो सकता है? [क्योंकि तुम्हारे (वेदान्तीके) मतमें ब्रह्मप्राप्तिके लिए कहीं आने-जानेकी आवश्यकता तो है ही नहीं, वह तो केवल ब्रह्माभिव्यक्ति है]।

समाधान—उक्त दोष देना उचित नहीं है, कारण कि जो अमृतत्व पदार्थ है, वह मोक्ष नहीं है, किन्तु अधिक समय तक उत्तम लोकोंमें स्थिति ही मोक्ष है। स्मृतिमें कहा भी गया है कि 'प्रलय तक स्थायी स्वर्गादि स्थानको अमृत कहते हैं'। अन्यथा (यदि अमृतत्वपदार्थ मोक्षरूप माना जाय, तो) शिरोनाड़ीके द्वारा निकलनेवाले प्रतीक-उपासकोंको भी मोक्षकी प्राप्तिका प्रसङ्ग हो जायगा, जो कि इष्ट नहीं है, उनका तो 'विद्युत्-लोक तक ही गमन होता है, ऐसा एक अधिकरणमें निर्णय किया गया है।

शङ्का—इस उक्त सिद्धान्तके रहते भी 'वही अमानुष पुरुष उन उपासकोंको ब्रह्म प्राप्त कराता है' एतदर्थक श्रुतिके द्वारा कोई अमानव दिव्य पुरुष

कश्चिदमानवः पुरुषः संमुखमागत्य ब्रह्मोपासकान् गृहीत्वा विद्युल्लोकादुपरितनान् वरुणेन्द्रप्रजापतिलोकानतिक्रम्य ब्रह्म प्रापयतीत्येवं गमनमेव मोक्षाय प्रतीयत इति चेद्, न; तस्य गमनस्य कार्यब्रह्मविषयत्वात्। न च बृहत्यर्थानुगमात् परमेव ब्रह्माऽत्र ग्राह्यमिति शङ्कनीयम्, ब्रह्मशब्दस्य कार्यब्रह्मणि रूढत्वात्। रूढिश्च योगवृत्तेर्बलीयसी, शीघ्रप्रतिपत्तिहेतुत्वात्। परब्रह्मण्यपि रूढिरस्तीति चेत्, तथापि श्रुत्यन्तरे समानप्रकरणे 'ब्रह्मलोकान् गमयति' इति भोगभूमिविशेषवाचिलोकशब्दश्रवणादन्यास्वपि शाखासु तटाकाश्वत्थराजगृहद्वारपालवेश्मसभापर्यङ्कादीनां भोग्यवस्तूनां प्रतीयमानत्वात् कार्यब्रह्मैवेति निश्चीयते। किञ्चाऽर्चिरादिमार्गेण गच्छतां निर्गुणब्रह्मप्राप्तिश्चेत्तर्हि पञ्चाग्निविद्यावतां गृहस्थानामपि सा स्यात्। न च 'स एतान् ब्रह्म गमयति' इत्येतच्छब्दः पञ्चाग्निविद्व्यतिरिक्तान् परामृशतीति

सामने आ कर ब्रह्मकी उपासना करनेवालोंको साथ लेकर विद्युत्-लोकसे ऊपरवाले वरुण, इन्द्र और प्रजापतिके लोकोंको पार कराकर ब्रह्मको प्राप्त करा देता है, इस प्रकार वर्णनसे मोक्षकी प्राप्तिके लिए गमनकी प्रतीति होती ही है।

समाधान—वह गमन तो कार्यब्रह्मकी (हिरण्यगर्भरूप ब्रह्मकी) प्राप्तिको विषय करता है। बृह्धातुके अर्थका अनुगम हो, इसलिए पर ब्रह्मका ही ग्रहण होता है, ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिए, कारण कि ब्रह्मपद कार्यब्रह्ममें रूढ़ है। योगार्थकी अपेक्षा रूढिप्राप्त अर्थ बलवान् होता है, कारण कि रूढि—प्रसिद्धि—शीघ्र अर्थका बोध करा देती है। यद्यपि परब्रह्मरूप अर्थमें भी रूढि हो सकती है, तथापि समान प्रकरणमें—उपासनाकी फलश्रुतिरूप प्रकरणमें—पढी गई दूसरी 'ब्रह्मलोकमें पहुँचाया जाता है' इस अर्थका बोधन करनेवाली श्रुतिमें भोगके योग्य भूमिविशेषके वाचक लोकशब्दके श्रवणसे और अन्य शाखाओंमें भी तटाक (तालाब) पीपल, राजभवन, द्वारपाल, घर, सभा, पलङ्ग आदि भोगके योग्य वस्तुओंकी प्रतीतिसे कार्यब्रह्मका ही निश्चय होता है। किञ्च, यदि अर्चि आदि मार्गसे जानेवाले उपासकोंको निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, तो पञ्चाग्निविद्याके उपासक गृहस्थोंको भी निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति होनी चाहिए। यदि शङ्का हो कि 'वह (दिव्य पुरुष) इनको ब्रह्म प्राप्त कराता है' इस वाक्यमें 'एतत्' (इनको) शब्द पञ्चाग्निविद्वानोंसे अतिरिक्त ज्ञानियोंका परामर्श करता है, तो यह कहना भी युक्ति-

युक्तं वक्तुम्, पञ्चाग्निविदामेव प्राधान्येन प्रकृतत्वात् तेपामनिर्दिष्टफलत्वप्रसङ्गात्। किञ्च, ब्रह्मोपासनानां सर्वेपामपि यद्येकरूपं फलं तदा गुणोपचयापचयाभ्यामुपासनोपचयापचयौ व्यर्थौ स्याताम्। तथा च कर्मभूयस्त्वात् फलभूयस्त्वमिति न्यायविरोधः। अथोपचयापचयवत्तत्फलं तर्हि न विकारासंस्पर्शिब्रह्मप्राप्तिः, तत्र तदभावात्। किञ्च, वैश्वानरोपासनफलं त्रैलोक्यशरीरापत्तिर्यदीष्यते तदा विकारासंसृष्टे ब्रह्मणि कथं तदुपपाद्येत। अथ नेष्यते, तदा 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' इति श्रुतिविरोधः स्यात्। किञ्च पित्रादिसङ्कल्पैर्विकारासंसृष्टे ब्रह्मण्युपभोगो न स्यात् चेत्, पित्रादिसङ्कल्पश्रुतिविरोधः।

सङ्गत नहीं है, कारण कि पञ्चाग्निविद्याके विद्वान् ही प्रधानरूपसे प्रकरणप्राप्त हैं। [यदि उनके प्रकरणप्राप्त होनेपर भी ब्रह्मप्राप्तिरूप फलके सम्बन्धकी योग्यता न होनेसे उनसे अतिरिक्त ही लिए जायँ, तो] पञ्चाग्निविद्याके ज्ञाताओंके लिए फलनिर्देशके अभावका प्रसङ्ग आ जायगा। किञ्च, ब्रह्मकी उपासनाके साधनीभूत शाण्डिल्य आदि सम्पूर्ण विद्याओंका यदि एक ही (ब्रह्मप्राप्तिरूप) फल माना जाय, तो गुणोंके उपचय तथा अपचयसे उपासनामें प्राप्त उपचय तथा अपचय निष्प्रयोजन हो जायँगे। [यदि उपासना और कर्मोंके उपचयापचय व्यर्थ माने जायँ, तो 'कर्मोंके आधिक्यसे फलोंका भी आधिक्य होता है' इस न्यायसे विरोध होगा। यदि फलको एकरूप न मानकर उपचयापचयसे युक्त मानो, तो 'वह फल' विकारके सम्बन्धसे विरहित ब्रह्मकी प्राप्तिरूप नहीं हो सकता, कारण कि उस विकारशून्य ब्रह्मप्राप्तिमें उपचय तथा अपचय नहीं हो सकते। और यदि वैश्वानरविद्याका फल त्रैलोक्यशरीरका पाना माना जाय, तो विकारशून्य ब्रह्ममें वह फल कैसे उपपन्न किया जा सकता है? यदि वह फल इष्ट नहीं है, तो 'उसकी जो जिस प्रकारसे उपासना करता है वह वही होता है' एतदर्थक श्रुतिसे विरोध होगा। एवं पित्रादिसंकल्पोंके द्वारा विकारशून्य ब्रह्ममें यदि उपभोगकी प्राप्ति न मानी जाय, तो पित्रादिसंकल्पकी श्रुतिसे, जिसमें कहा गया है कि 'संकल्प द्वारा ही इसको पितृलोक उपस्थित होते हैं, विरोध आ जायगा। और यदि उपभोगकी प्राप्ति

स्याचेद्विकारावर्त्ति ब्रह्म पित्रादियुक्तं स्यात् । किञ्च, विकारावर्त्ति-ब्रह्मप्राप्तोऽपि 'ब्रह्मैवैति मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते तेन पितृलोकेन संपन्नो महीयते' इत्यादिश्रुतौ ब्रह्मण एव भोगः साधनैर्दर्शितः स्यात् । तथा चाऽऽप्तकामता विरुध्येत । स्वार्थप्रयुक्ता च सृष्टिः स्यात् । अथोच्येत न पित्रादिसङ्कल्पैर्ब्रह्मणि भोगोऽभिधीयते, किन्तु ब्रह्मानन्दे निखिलविषयानन्दान्तर्भावादैश्वर्यविशेष उपचर्यत इति, तन्न; बहूनां श्रुतीनामुपचारकल्पनायोगात् । तन्निर्णायकचतुर्थाध्यायचतुर्थपादवैफल्य-प्रसङ्गाच्च । किञ्च, विकारावर्तिब्रह्मप्राप्तस्य लिङ्गशरीरमस्ति चेत्, कला-प्रलयश्रुतिर्बाध्येत । नाऽस्ति चेद्, 'मनसैतान्' इति श्रुतिर्बाध्येत । किञ्च, तस्य

मानी जाय, तो विकारशून्य ब्रह्मके पित्रादिसे युक्त हो जानेका प्रसङ्ग होगा । और भी दोष आता है कि विकारशून्य ब्रह्मके प्राप्त होनेपर भी 'इन सब कामों--उपभोगों--का मन--बुद्धि--के द्वारा ब्रह्मदृष्टि रखकर उपभोग करता है और पितृलोककी सम्पत्तिको प्राप्त हुआ पूजित होता है' एतदर्थक श्रुतिमें साधनोंके द्वारा ब्रह्मका ही भोग दिखलाया गया है, यह कहना होगा । इस दशामें आप्तकामता—सम्पूर्ण भोगोंको प्राप्त कर लेना—विरुद्ध होती है, [अर्थात् ब्रह्ममें भी साधनोंके द्वारा भोगोंकी प्राप्ति मानी जाय, तो ब्रह्ममें कही गई आप्तकामता उपपन्न नहीं हो सकेगी] । और अपने स्वार्थ—उपभोग—के लिए ही राजादिके समान ब्रह्म, कृतार्थ होनेपर भी, सृष्टि करता है, यह मानना होगा ।

शङ्का—पित्रादिसङ्कल्परूप साधनोंसे ब्रह्ममें भोगकी प्राप्ति नहीं दिखलाई जा रही है, किन्तु ब्रह्मरूप आनन्दमें समस्त विषयोंका आनन्द अन्तर्गत होता है, अतः ऐश्वर्य विशेषका उपचार किया जा रहा है ।

समाधान—उक्त कथन संगत नहीं है, कारण कि अनेक श्रुतियोंको उप-चारार्थक माननेकी कल्पना करना युक्त नहीं है । और उसका निर्णय करनेके लिए प्रवृत्त चतुर्थ अध्यायका चतुर्थ पाद विफल हो जायगा । और भी दोष आता है कि विकाररहित ब्रह्मको प्राप्त हुए पुरुषका यदि लिङ्ग शरीर माना जाय, तो कलाप्रलयश्रुति बाधित होगी । [क्योंकि कलाप्रलयश्रुति कहती है कि पुरुषसे सम्बन्ध रखनेवाली सोलह कलाएँ पर पुरुषको पाकर

लिङ्गशरीरविलयनिमित्तं विद्यैव चेत्, तर्ह्युत्क्रान्तिकाले विलयः स्यात्। लिङ्गशरीरारम्भककर्मणः क्षीणत्वात्। अमानवपुरुषकरसंस्पर्शश्चेत्, तदापि विद्युल्लोके स्यात्। उभयथाऽपि न ब्रह्माण्डादुपरि लिङ्गशरीरविलयः। किञ्चौपाधिकजीवपक्षे जीवस्य न विकारावर्त्तिब्रह्मगमनं संभवति। निरवयवावच्छेदस्य घटाकाशस्येवोद्धृत्याऽऽनयनायोगात्। उद्धरणे च ब्रह्मशून्योऽयं प्रदेशः स्यात्। उपरिष्टाच्च ब्रह्मोपचयः प्राप्नुयात्। तस्मात् उपाधिगमनादात्मनि गमनविभ्रमः। ननूपाधेरपि गमनं न संभवति, तदुपादानस्य ब्रह्मणश्चलनशून्यत्वात्। नहि मृदि निश्चलायां घटस्य

लीन हो जाती हैं]। यदि उसका लिङ्ग शरीर नहीं है, तो 'मनके द्वारा इन उपभोगोंको' एतदर्थक पूर्वोक्त श्रुति बाधित होगी। और यदि ब्रह्मके लिङ्ग शरीरके लीन होनेमें विद्याको ही निमित्त मानें, तो उत्क्रान्ति कालमें याने शरीरसे छुटकारा पानेके समयमें उसका लय होना चाहिए, कारण कि उस समय लिङ्ग शरीरके आरम्भक कर्म्मोंका क्षय हो जाता है। यदि कहो कि अमानव दिव्य पुरुषके हाथका स्पर्श यदि (लिङ्ग शरीरके विनाशमें) कारण है, तो भी विद्युत्-लोकमें उसका विलय होना चाहिए, [क्योंकि विद्युत्-लोकमें ही अमानव पुरुष मिलता है] कुछ भी हो, दोनोंमें से कोई भी कारण माना जाय, तब भी ब्रह्माण्डसे आगे लिङ्ग शरीरका विलय होना प्राप्त नहीं होता। और भी कहा जा सकता है कि जीवको औपाधिक माननेके पक्षमें विकारशून्य ब्रह्ममें जीवका गमन सम्भव नहीं है, कारण कि अवयवरहित अवच्छेदवाले घटाकाशको जैसे निकाल कर ले आना सम्भव नहीं है। [वैसे ही उपाधिमें से अवयवशून्य ब्रह्मको निकाल लेना भी सम्भव नहीं है, जिससे ब्रह्ममें गमन बन सके।] और यदि उससे ब्रह्मका उद्धरण हो जाय, तो वह देश ब्रह्मशून्य हो जायगा और आगे बाहर निकलकर ब्रह्मका उपचय होना प्राप्त हो जायगा। इसलिए उपाधिके गमनसे ही आत्मामें भी गमनका भ्रम होता है।

शङ्का—उपाधिका भी गमन सम्भव नहीं है, कारण कि उस उपाधिका उपादानभूत ब्रह्म गमनक्रियासे रहित है, मृत्तिकाके चलनक्रियासे रहित होनेपर घटके गमनका होना सम्भव नहीं है।

गमनमस्तीति चेद्, एवं तर्हि स्वाप्नगमनवत् मायाविजृम्भितो गमनादिप्रतिभासः। तदेवमाप्तिरपि क्रियापूर्विका परब्रह्मणि नोपपद्यत इति सिद्धम्।

संस्कृतिपक्षेऽपि न तावद् ब्रह्मणि गुणाधानलक्षणः संस्कारः संभवति, अनाधेयातिशयरूपत्वात्। नाऽपि दोषापनयनलक्षणः, नित्यशुद्धस्वभावे दोषाभावात्। अथ मन्यसे निर्मलस्वभावेऽपि दर्पणेऽन्यसंपर्ककृतमलस्याऽपनयनं यथा निघर्षणक्रियया भवति, तथाऽऽत्मन्यप्यविद्याकृतदोषस्याऽपनयनं क्रिययाऽस्त्विति; तत्र वक्तव्यम्—किमात्माश्रितया क्रियया दोषापनयः किं वाऽन्याश्रितया? नाऽऽद्यः, सर्वगते निरवयव

समाधान—ऐसा मानो, तो स्वप्नावस्थाके गमनसदृश मायाके द्वारा ही गमनकी प्रतीति मानो, (वास्तविक गमन नहीं हो सकता)। इस प्रकारके निष्कर्षसे क्रिया द्वारा होनेवाली प्राप्ति भी परब्रह्मविषयक नहीं हो सकती, ऐसा मत सिद्ध होता है [अर्थात् यदि ब्रह्म कहीं दूर देशमें रहनेवाला हो, तो उसकी प्राप्तिके लिए साधनीभूत क्रियाकलापका विधान सङ्गत हो सकता, परन्तु ब्रह्म तो सर्वत्र व्याप्त है, इसलिए उसकी प्राप्तिके लिए क्रियाके विधानकी आवश्यकता नहीं है]।

[क्रियाकलाप द्वारा यदि प्राप्तिका सम्भव नहीं है, तो क्रिया द्वारा दर्पणगत मलापनयनरूप संस्कारके तुल्य उपासनादि क्रियाके द्वारा ब्रह्मगत अनादि अविद्यारूप मलके द्वारा प्राप्त अभिव्यक्तिके प्रतिबन्धका निराकरण करनेके लिए ब्रह्ममें संस्कारविशेषकी उपपत्तिकी सम्भावनाका भी खण्डन करते हैं—] संस्कारपक्षमें भी क्रियाके द्वारा ब्रह्ममें गुणोंकी उत्पत्ति करना तो सम्भव नहीं है, कारण कि ब्रह्मका स्वभाव है कि उसमें कोई भी अतिशय उत्पन्न नहीं हो सकता। (अर्थात् वह स्वतः सर्वातिशयपूर्ण है) एवं दोषोंका निराकरणरूप संस्कार भी नहीं हो सकता, क्योंकि नित्य तथा शुद्ध स्वभाववाले ब्रह्ममें दोष नहीं आ सकते। यदि तुम्हारा मत हो कि शुद्ध (चमकदार स्वभाववाले) दर्पणमें भी हस्तादिके सम्बन्धसे उत्पन्न हुए मलको निघर्षण (मलकर साफ करना) क्रियासे जैसे दूर करते हैं, वैसे ही आत्मामें (ब्रह्ममें) भी अनादि अविद्याके कारण प्राप्त हुए दोषका निवारण क्रियाके द्वारा सम्भव है, तब भी हम उक्त कथनपर प्रश्न करेंगे कि क्या ब्रह्मगत क्रियाके द्वारा दोषका निराकरण होता है ? या अन्याश्रित क्रियाके

आत्मनि क्रियानुपपत्तेः । न द्वितीयः, प्रत्यगात्मनोऽन्यद्रव्यैः संयोगाभावेन तत्तदाश्रितक्रियां प्रत्यविषयत्वात् । अथाऽऽत्मनि परिस्पन्दपरिणामयोरभावेऽपि मन्त्रदेवताभिधानाद्विषनिरासवदीश्वराभिधानाद्दोषापनयः स्यादिति चेद्, न; तस्य दोषस्य पारमार्थिकत्वे स्वाश्रयविकारमन्तरेणाऽपसारणायोगात् । न चाऽऽत्मनो विकारः संभवति, 'अविकार्योऽयमुच्यते' इति स्मृतेः । दोषस्याऽविद्यात्मकत्वे विद्ययैव निवृत्तिः स्यान्न तु क्रियया । ननु शास्त्रीयैः स्नानाचमनादिकर्मभिरात्मनो गुणाधानलक्षणः संस्कारः श्रूयत इति चेद् , अन्तःकरणविशिष्टस्यैवाऽऽत्मनस्तच्छ्रवणात् । नहि निरुपाधिकस्याऽऽत्मनो धर्माधर्मावनुतिष्ठतस्तत्फलं संभवति । तस्मान्न संस्कृतिरप्यात्मनि संभवति । ततश्चोत्पत्त्यादिचतु-

---

द्वारा ? इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, कारण कि सर्वत्र व्याप्त अवयवरहित आत्मामें क्रियाका होना युक्तिसे संगत नहीं है । दूसरा विकल्प भी नहीं बन सकता, क्योंकि प्रत्यगात्माका (ब्रह्मका) अतिरिक्त द्रव्योंसे संयोग नहीं हो सकता, इसलिए उन उन अतिरिक्त द्रव्योंमें आश्रित क्रियाके प्रति ब्रह्मका विषय होना सम्भव नहीं है।

शङ्का—यद्यपि परमात्मामें परिस्पन्द 'किसी भी प्रकारकी गमनादि क्रिया' तथा परिणाम—विकार—होना सम्भव नहीं है, तथापि मन्त्र या देवताओंके नामका उच्चारण करनेसे जैसे चढ़ा हुआ विष उतर जाता है, वैसे ही ईश्वरके नामके उच्चारणसे दोषोंका निराकरण हो जायगा ।

समाधान—उक्त आशङ्का नहीं बन सकती, कारण कि यदि ब्रह्ममें प्राप्त हुए उस दोषको परमार्थ—सत्य—मानो, तो अपनेमें किसी भी प्रकारके विकारके हुए बिना उस दोषका दूर करना नहीं बन सकता । और आत्माका तो कोई भी परिणाम होना सम्भव नहीं है, क्योंकि स्मृतियोंमें वह विकारशून्य कहा गया है, और यदि दोष अविद्यारूप (मिथ्या) माना जाय, तो उसकी निवृत्ति विद्याके ही द्वारा हो सकती है, क्रियाके द्वारा नहीं । यदि शास्त्रविहित स्नान, आचमन आदि क्रियात्मक कर्मोंके द्वारा आत्मामें गुणोत्पत्तिरूप संस्कारका होना शास्त्रोंमें सुना जाता है, ऐसा कहा जाय, तो वह संस्कार भी अन्तःकरणविशिष्ट (सोपाधिक) आत्माका ही होता सुना जाता है । धर्म तथा अधर्मका अनुष्ठान करते रहनेपर भी उपाधिशून्य आत्माको उनके पुण्यपापरूप फलका मिलना सम्भव नहीं है । [अतएव अभियुक्तोंका वचन है कि—'निस्त्रैगुण्यो

विधफलस्य मोक्षे दुःसम्पादत्वात् तदतिरेकेणाऽन्यस्य क्रियाफलस्याऽभावाच्च विज्ञानस्यैव मोक्षो गोचरो न क्रियायाः । ननु ज्ञानमपि ध्यानवत् मानसक्रियेति चेद्, नः फलतः कारणतश्च ज्ञानक्रिययोर्वैलक्षण्यात्। वस्तुस्फुरणं हि ज्ञानफलं तच्चाऽऽत्मस्वरूपत्वादजन्यम्। तज्जन्मप्रतिभासस्तु तदभिव्यञ्जकान्तःकरणवृत्तिजन्मोपाधिकः । न चैवं ध्यानक्रियाफलमजन्यम्, गरुडदेवतादिध्यानाद्विषनिर्हरणवश्याकर्षणादिफलस्य पूर्वमविद्यमानस्यैव जन्मदर्शनात् । कारणं च ध्यानक्रियायाश्चोदनाजन्यपुरुषेच्छापूर्वकः प्रयत्नो न विषयसद्भावः, असत्यपि विषये विधितो योषिदग्न्यादिध्यानदर्शनात् । ज्ञानं तु प्रमाणप्रमेयजन्यं न पुरुषेच्छा-

---

भवाऽर्जुन !' 'तथा निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः' आदि। इन वाक्योंसे गुणातीत मार्गमें विचरण करनेवालोंके लिए विधि-निषेधमें अधिकारका अभाव कहा गया है]। इसलिए आत्मामें संस्कारका होना भी नहीं बनता। इससे पूर्व ग्रन्थमें दिखलाये गए उत्पत्ति आदि चारों फलोंका मोक्षमें सम्पादन करना असम्भव है और उनसे अतिरिक्त कोई दूसरा क्रियाका फल है ही नहीं, इसलिए मोक्ष विज्ञानका (तत्त्वनिश्चयका) ही विषय हो सकता है, क्रियाका नहीं।

शङ्का—ज्ञान भी तो ध्यानके सदृश मनकी क्रिया ही है।

समाधान—नहीं, नहीं है, कारण कि ज्ञान और क्रियामें फलरूपसे तथा कारणरूपसे परस्पर भेद है, [इसलिए दोनों एक नहीं माने जा सकते। ज्ञान और क्रियामें फल तथा कारणका भेद दिखलाते हैं—] वस्तुका प्रकाश ज्ञानका फल है और वह (वस्तुप्रकाश) आत्माका स्वरूप होनेसे जन्य (क्रियासे उत्पन्न कराने योग्य) ही नहीं है। आत्मस्वरूप प्रकाशके जन्मकी जो प्रतीति होती है, वह तो उस आत्मस्वरूप वस्तुप्रकाशकी अभिव्यञ्जक अन्तःकरणकी तदाकारवृत्तिके जन्मसे ही होती है। और ध्यानरूप क्रियाका फल तो पूर्वोक्त ज्ञानफलके तुल्य अजन्य नहीं है (अर्थात् जन्य ही है), कारण कि गरुड़, देवता आदिके ध्यानसे विषका अपसरण, वशीकरण तथा आकर्षण आदि पूर्वकालमें अविद्यमान ही फलोंका जन्म देखा जाता है। और ध्यानरूप क्रियाका कारण चोदनासे उत्पन्न हुई पुरुषकी इच्छाके द्वारा उत्पन्न हुआ प्रयत्न ही है, विषयकी सत्ता नहीं है, क्योंकि विषयके न रहनेपर भी चोदनाके द्वारा स्त्रीमें अग्नि आदिका ध्यान देखा गया है। ज्ञान तो इससे

मनुवर्त्तते, अनिच्छतोऽपि दुर्गन्धादिज्ञानदर्शनात् । यद्यप्यनुमान-शब्दादिपु ज्ञानस्य न प्रमेयजन्यत्वनियमः, अतीतानागतवस्तुज्ञानेपु तदसम्भवात् , तथापि लिङ्गशब्दादितन्त्रमेव तत्राऽपि ज्ञानम् , न पुरुपेच्छा-तन्त्रमिति क्रियातो विलक्षणमेव ।

ननु संयोगविभागपरम्पराव्यतिरेकेण क्रियैव नाऽस्ति, यतो वैलक्षण्यं ज्ञानस्योपपाद्येत । सर्वत्र संयोगविभागपरम्परावति हि श्येनादौ चलतीति प्रत्ययो जायते । न चैवं स्थाणावपि श्येनसंयोग-विभागवति चलनप्रत्ययः प्रसज्येतेति वाच्यम् , आकाशप्रदेशविशेप-संयोगविभागं प्रत्येव तदङ्गीकारात् । नहि स्थाणुराकाशप्रदेशविशेपैः

विपरीत प्रमाण (ज्ञानके जनक इन्द्रियादि साधन) तथा प्रमेय (विपय) से उत्पन्न होता है, अतः वह पुरुपकी इच्छाका अनुवर्तन नहीं करता, क्योंकि इच्छाके न रहने-पर भी पुरुपको दुर्गन्ध आदि अनिष्ट विपयोंका ज्ञान हो ही जाता है, ऐसा देखा गया है। [इसलिए ज्ञानमें विपयसद्भाव और विपयग्रहणमें समर्थ इन्द्रियोंका विपयसे संनि-कर्पमात्र अपेक्षित है ।] यद्यपि अनुमान तथा शब्द आदि प्रमाणोंके स्थलमें ज्ञान प्रमेयके (विपयके) द्वारा उत्पन्न होता है, ऐसा नियम नहीं है, (अर्थात् उक्त स्थलमें विपयके सद्भावके बिना भी ज्ञानकी उत्पत्ति देखी जाती है) । कारण कि भूत तथा आगामी पदार्थोंके ज्ञानमें विपयका सद्भाव नहीं रहता, तथापि उक्त स्थलोंमें हेतु तथा शब्द आदिके अधीन ही ज्ञान रहता है, पुरुपकी इच्छाके अधीन नहीं रहता (अर्थात् हेतु तथा शब्द ही ज्ञानको उत्पन्न करते हैं, इच्छा नहीं करती) । [ज्ञान इच्छाके अधीन नहीं है, ऐसा कहनेमें कहीं भी व्यभिचार नहीं है], इसलिए क्रियाकी अपेक्षा ज्ञान विलक्षण (भिन्न) ही है ।

शङ्का—संयोग तथा विभागकी परम्परासे अतिरिक्त कोई क्रिया पदार्थ ही नहीं है, जिससे कि ज्ञानमें क्रियासे वैलक्षण्यका उपपादन किया जाय, कारण कि संयोग और विभागकी परम्परावाले [पूर्व देशसे विभाग और उत्तर देशसे संयोग यों लगातार जिनमें संयोग-विभाग चलते हों, ऐसे] श्येन आदिमें ही 'चल रहा है (गमन क्रियायुक्त है), ऐसा व्यवहार होता है। यदि कहो कि श्येनके संयोग और विभागशाली स्थाणु आदिमें भी गमन क्रियाकी प्रतीतिका प्रसङ्ग होगा, तो यह भी नहीं कह सकते, कारण कि आकाशरूप देशविशेपके साथ

संयुज्यते विभज्यते वा । तस्मादतिप्रसङ्गाभावान्नाऽस्ति संयोगविभाग-प्रचयातिरेकिणी क्रियेति चेद्, मैवम्; बहुलान्धकारावृते नभस्यप्रतीयमाने तत्प्रदेशविशेषसंयोगविभागानामप्यप्रतीतौ खद्योतो चलतीति प्रत्यय-सद्भावात्। तस्मात् संयोगाद्यतिरिक्ता क्रिया प्रत्यक्षसिद्धा।

प्राभाकरस्तु क्रियाया नित्यानुमेयतां मन्वान इत्थं प्रयुङ्क्ते—'विमतावाद्यसंयोगविभागौ, स्वाश्रयगतेनाऽव्यवहितपूर्वक्षणोत्पन्नेनाऽतिशयेन जन्यौ, व्यवस्थितद्रव्ये कादाचित्कत्वात्, संयोगविभागजन्यकार्यवत्' इति। तत्र योऽसावतिशयः स एव क्रिया भविष्यति । ईश्वरेच्छया सिद्ध-साधनता मा भूदित्युत्पन्नेनेत्युक्तम् । आत्ममनःसंयोगजन्यादृष्टव्य-

---

होनेवाली संयोग-विभागकी परम्परा ही क्रिया मानी गई है, [वृक्षादि नहीं।] आकाशरूप देशविशेषसे स्थाणु न तो संयोगको ही प्राप्त करता रहता है और न विभागको ही प्राप्त करता रहता है। [श्येन आदि पक्षी तो आकाशरूप देशविशेषसे संयोग तथा विभागकी परम्पराको प्राप्त करते रहते हैं, अतः श्येनादि पक्षी ही क्रियावान् कहे जा सकते हैं, स्थाणु आदि नहीं।] इसलिए अतिप्रसङ्गका सम्भव न होनेसे संयोग और विभागकी परम्परासे अतिरिक्त क्रिया नामकी कोई वस्तु नहीं है ।

समाधान—उक्त कथन सङ्गत नहीं है, कारण कि घने अन्धकारसे आच्छन्न आकाशकी प्रतीति न होनेपर और उस देशविशेषमें विद्यमान संयोग-विभागकी परम्पराकी प्रतीति न होनेपर भी 'खद्योत (जुगनू) गमन करता है' ऐसा ज्ञान होता है । इसलिए क्रियाको संयोग-विभाग-परम्परासे अतिरिक्त मानना प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध है ।

इस विषयमें क्रिया नित्य अनुमानसे ही प्रतीत होती है, ऐसा माननेवाला प्रभाकरमतानुयायी इस प्रकार अनुमानप्रयोग करता है—'विवादग्रस्त प्रथम संयोग तथा प्रथम विभाग, उस प्रथम संयोग और विभागके आश्रयमें विद्यमान [उस आद्य संयोगविभागके] पूर्व क्षणमें उत्पन्न हुए अतिशयसे जन्य हैं, कारण कि वे व्यवस्थित द्रव्यमें कदाचित् होते हैं, संयोग और विभागसे उत्पन्न हुए कार्यके तुल्य' । उसमें जो अतिशय है, वही क्रियापदसे कहा जायगा । ईश्वरकी इच्छाको लेकर सिद्धसाधन दोष न आ जाय, इसलिए 'उत्पन्नेन' यह पद साध्यमें दिया गया है । [ईश्वरेच्छारूप

वच्छेदायाऽव्यवहितपूर्वक्षणेति। द्रव्येण सहोत्पन्ने शौक्ल्यादावनैकान्तिकत्वव्यवच्छेदाय व्यवस्थिते द्रव्ये इति।

मैवम्; किमत्र सयोगिनोर्द्वयोरप्यतिशयः साध्यते किं वाऽन्यतरस्मिन्नेव उताऽविशेषितमतिशयमात्रम्? नाऽऽद्यः, श्येनस्थाणुसंयोगादावभावात्, तस्याऽन्यतरकर्मजन्यत्वात्। न द्वितीयः, उभयकर्मजन्ये मल्लमेषसंयोगादौ साध्यासम्भवात्। तृतीयेऽपि किमसौ क्रियाख्योऽतिशयः स्थिरादेव द्रव्यादुत्पद्यते उताऽतिशयान्तरात्? आद्ये संयोगविभागयोरेव तस्माद् द्रव्यादुत्पत्तिरस्तु किमनेनाऽतिशयेन। द्वितीयेऽनवस्थापातः।

अतिशय सभी कार्यके पूर्वक्षणमें विद्यमान रहता है, अतः उक्त अनुमानमें उसको लेकर सिद्धसाधन दोष होगा, उसका वारण करनेके लिए 'उत्पन्न' पद दिया गया है, ईश्वरेच्छा किसीसे उत्पन्न नहीं होती।] आत्मा तथा मनके संयोगसे उत्पन्न हुए अदृष्टका वारण करनेके लिए 'अव्यवहितपूर्वक्षण' पद दिया गया है। [क्योंकि अदृष्टसे अतिशय होता है और अतिशयसे आद्य संयोगादि होते हैं, इससे अदृष्ट संयोगादिके अव्यवहित पूर्वक्षणमें नहीं रहता।] एवं द्रव्यके साथ उत्पन्न हुए शुक्ल आदि गुणमें व्यभिचारका वारण करनेके लिए 'व्यवस्थित द्रव्य' कहा गया है।

प्रभाकर का उक्त मत उचित नहीं है, [कारण कि उसमें कोई विकल्प नहीं बन सकता, क्योंकि हम विकल्प करेंगे कि] क्या उक्त अनुमानमें दोनों संयोगाश्रयोंमें अतिशय सिद्ध किया जा रहा है? अथवा संयोगाश्रय दोमें से किसी एकमें ही? या विशेषशून्य (साधारण) अतिशयमात्र? इनमें प्रथम पक्ष नहीं बन सकता, कारण कि श्येन (बाज पक्षी) और स्थाणुके संयोग आदिमें उस (दोनोंमें विद्यमान) अतिशयसे जन्य होनेका अभाव है, कारण कि स्थाणुश्येनसंयोग इनमें से एक ही के कर्मसे उत्पन्न हुआ है। दूसरा भी युक्त नहीं है, क्योंकि दोनोंके कर्मसे उत्पन्न हुए दो मल्ल—पहलवान्—तथा दो भेड़ोंके संयोग आदिमें (एकमें ही अतिशयरूप) साध्यका सम्भव नहीं है। तीसरा पक्ष माना जाय, तो प्रश्न होगा कि यह क्रियानामक अतिशय स्थिर (व्यवस्थित) द्रव्यसे उत्पन्न होता है? या दूसरे अतिशयसे? इसमें प्रथम पक्ष माना जाय, तो उस स्थिर द्रव्यसे संयोग और विभागकी ही उत्पत्ति क्यों न साक्षात्

अथ मतं भूमिपादयोः संयोगः पादाश्रितकर्मणा जायते । तच्च कर्म न कर्मान्तरेण जायते, किन्तु प्रयत्नवदात्मपादसंयोगेन, ततो नाऽनवस्थेति, तर्हि प्रयत्नवदात्मपादसंयोगस्यैव भूपादसंयोगारम्भकत्वमिप्यपि वक्तुं शक्यतया न कर्म सिध्येत् , तस्मान्नाऽनुमेया क्रिया किन्तु प्रत्यक्षैव । न च क्षणिकस्य कर्मणः कथमिन्द्रियसंयोगज्ञानलक्षणक्षणद्वयावस्थानमिति वाच्यम् , शब्दविद्युदादिवदविरोधात् । अतश्च प्रत्यक्षसिद्धक्रियातो वैलक्षण्यं ज्ञानस्योपपन्नम् ।

नन्वन्तःकरणपरिणामरूपत्वाद् ज्ञानमपि क्रियैव। सत्यम् , तथापि ध्यान-

---

मान ली जाय ? बीचमें इस अतिशयके माननेका क्या प्रयोजन ? 'अर्थात् मध्यमें अतिशय रखनेसे किस प्रयोजनकी सिद्धि करनी होगी । दूसरे पक्षमें अनवस्था दोप आ जाता है ।

शङ्का—यदि माना जाय कि पृथ्वी और पैरोंका संयोग पैरोंमें रहनेवाले कर्मके द्वारा उत्पन्न होता है । और वह कर्म दूसरे कर्मसे उत्पन्न नहीं होता, किन्तु प्रयत्नके समान आत्मा और पैरके संयोगसे होता है; इसलिए अनवस्था नहीं आती ।

समाधान—तब तो प्रयत्नके सदृश आत्मा और पैरका संयोग ही पृथ्वी तथा चरणके संयोगका भी आरम्भक है, ऐसा कहा जा सकता है। इससे अतिरिक्त कर्मकी सिद्धि नहीं हो सकेगी । इसलिए क्रियाको अनुमानका विपय नहीं मान सकते, किन्तु क्रिया प्रत्यक्ष गोचर ही है ।

शङ्का—क्षणिक कर्मका इन्द्रियसंयोग और ज्ञानरूप दो क्षण तक अवस्थित रहना कैसे हो सकता है ?

समाधान—शब्द और विद्युत् आदिके तुल्य कोई विरोध नहीं है। [जैसे उच्चरितप्रध्वंसी शब्द श्रोत्रेन्द्रियसंयोग तथा शाब्द प्रत्यक्षरूप क्षणोंमें अवस्थित रहता है तथा क्षणचञ्चला बिजलीकी चमक जबतक चाक्षुप ज्ञान होता है तभी तक स्थित रहती है वैसे ही कर्म भी आशुविनाशी होता हुआ उक्त दोनोंमें अवस्थित रह सकता है ।] इसलिए प्रत्यक्षसिद्ध क्रियाकी अपेक्षा ज्ञानकी विलक्षणता सङ्गत ही है ।

यदि कहो कि अन्तःकरणका परिणामस्वरूप होनेसे ज्ञान भी क्रिया ही है,

त्पुरुषतन्त्रत्वाभावाद्विधियोग्यक्रियातो वैलक्षण्यमस्त्येव । यथा योषित्यग्निध्यानं विधिजन्यपुरुषेच्छावशात् कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा वा कर्त्तुं शक्यम्, न तथा प्रसिद्धेऽग्नावग्निज्ञानं विधातुं पुरुषेच्छयाऽनुष्ठातुं वा शक्यम् । सत्यामपीच्छायां मनःसहकृतस्य चक्षुषः स्पर्शनेन्द्रियस्य वाऽग्निसंयोगमन्तरेण तज्ज्ञानानुदयात् । सति तु तत्संयोगे विनाऽपीच्छां ज्ञानोदयात् । अन्यथाकरणं तु दूरापास्तम् । नहि पुरोवस्थितोऽग्निर्निपुणतरेणाऽपि स्तम्भाद्याकारेणाऽवगन्तुं शक्यते । कथं तर्हि रज्जौ सर्पज्ञानमिति चेत्, तस्य ज्ञानाभासत्वात् । न च सोऽप्याभासः पुरुषतन्त्रः अनिच्छतः

तो यह यद्यपि कहना सत्य है तथापि ध्यानके समान ज्ञान पुरुषव्यापारके अधीन नहीं है, अतः उसका विधान करनेके योग्य क्रियासे वैलक्षण्य (भेद) है ही । जैसे स्त्रीमें अग्निके ध्यानको विधिके द्वारा उत्पन्न हुई पुरुषकी इच्छासे करना या न करना अथवा भिन्न प्रकारसे करना सर्वथा सम्भव है, वैसे ही प्रसिद्ध (महानस आदिमें विद्यमान लोकप्रसिद्ध) अग्निमें अग्निज्ञानके लिए विधान करना या पुरुषकी इच्छावश उस ज्ञानका अनुष्ठान करना सम्भव नहीं है । इच्छाके रहते हुए भी मनसे संयुक्त चक्षुरिन्द्रिय अथवा त्वगिन्द्रियके साथ अग्निका संयोग हुए बिना अग्निके ज्ञानका उदय नहीं हो सकता । और अग्नि तथा इन्द्रियका संयोग हो जानेपर तो इच्छाके बिना भी ज्ञान उत्पन्न हो जाता है । अन्यथा करनेकी कथा तो दूर रही । (अर्थात् प्रसिद्ध वस्तुको अन्यथा करना तो हजार इच्छाके रहते भी बन नहीं सकता), कारण कि सामने विद्यमान अग्निको अत्यन्त प्रवीण भी पुरुष स्तम्भ आदिके आकारसे ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं हो सकता । यदि ज्ञान अन्यथा नहीं हो सकता, तो रज्जुमें सर्प-ज्ञान कैसे होता है ? [इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं—] वह (रज्जुसर्पज्ञान ज्ञान नहीं है, किन्तु) ज्ञानके समान प्रतीत होता है । और वह ज्ञानाभास भी पुरुषके यत्नके अधीन नहीं है; कारण कि इच्छाके न रहते हुए भी तथा डरके कारण काँपते हुए पुरुषको भी रज्जुमें सर्पाभास हो जाता है [यह कोई नहीं चाहता कि मैं भयकम्पित होऊँ, परन्तु यह उसके अधीन नहीं है कि कारणसामग्रीके रहते भयजनित कम्पका कारणभूत रज्जुसर्पज्ञानका उदय न हो] ।

कम्पमानस्याऽपि जायमानत्वात्। ननु लोकेऽमुमग्निं पश्येति केनचेद्विहिते सत्यन्योऽपि स्वेच्छया तदभिमुखो भूत्वा तं पश्यति असत्यां त्विच्छायां विमुखो भूत्वा चक्षुषी निमील्य वा न पश्यति तथा शास्त्रवशादाहवनीयाद्यग्नीन् करणाद्युपेतानवलोकयति । अतः कथं पुरुषस्य ज्ञानविषयकरणाऽकरणाऽन्यथाकरणेषु स्वातन्त्र्याभावः ।

उच्यते—अभिमुख्यवैमुख्ये दर्शनादर्शनयोः सामग्र्यौ । तत्र तत्सम्पादनलक्षणक्रियायामेव पुरुषस्य स्वातन्त्र्यं न ज्ञानाज्ञानयोः । अतः पश्येत्युक्ते सामग्रीं सम्पादयेत्ययमर्थः सम्पद्यते । यदि ज्ञानं पुरुषप्रयत्नजन्यं

शङ्का—लोकमें देखा जाता है कि 'इस अग्निकी ओर देखो' ऐसी आज्ञा पानेपर दूसरा (जिसको आज्ञा दी गई है, वह) पुरुष भी अपनी इच्छासे उस अग्निके संमुख होकर उसकी ओर देखता है और यदि इच्छा नहीं करता, तो उस अग्निकी ओर विमुख होकर (मुँह फेरकर) या आँखें बंद कर नहीं देखता एवं शास्त्रवश (शास्त्रीय आज्ञाका पालन करनेकी इच्छासे) हस्त, पाद आदि करणयुक्त आहवनीय आदि अग्निओंका दर्शन (ध्यान) करता है । [यदि वह पुरुष शास्त्रीय आज्ञा-पालनकी इच्छासे प्रेरित होकर उनके अभिमुख होनेकी चेष्टा न करे, तो आहवनीय आदिका दर्शन नहीं हो सकता । और यदि करणसहितोंकी भावना करनेकी इच्छा न करे, तो अन्यथा-दर्शन भी कर सकता है] । इसलिए कैसे कहा जा सकता है कि ज्ञानके विषयमें करने, न करने या अन्यथा करनेकी पुरुषमें सामर्थ्य नहीं है ?

समाधान—अभिमुख (सामने मुख करना अथवा आँख खोले रखना) तथा विमुख (मुख फेर लेना अथवा आँख बंद कर लेना) दोनों देखने और न देखनेकी क्रमशः सामग्रियाँ (कारण) हैं । इसमें इस सामग्रीको सम्पन्न करनेकी क्रियामें ही पुरुषका स्वातन्त्र्य है, ज्ञानकी उत्पत्ति करने या न करनेमें नहीं है । (सामग्रीके जुटनेपर ज्ञान अवश्य होगा और सामग्रीके अभावमें ज्ञान कथमपि नहीं हो सकता) इस सिद्धान्तके अनुसार 'देखो' इस आज्ञा देनेवाले वाक्यका तात्पर्यार्थ होता है कि देखनेकी सामग्री (अभिमुख होना आदिको) सम्पन्न करो । [इससे अतिरिक्त ज्ञानोत्पत्ति करनेकी आज्ञा देना उक्त वाक्यका अर्थ नहीं है] यदि ज्ञान पुरुषके प्रयत्नसे उत्पन्न होनेवाला माना जाय, तो

स्यात् तदा धारावाहिकद्वितीयतृतीयादिज्ञानानामुत्पत्तिर्न स्यात्। प्रथमज्ञानस्यैव प्रयत्ननान्तरीयकत्वात् । नहि प्रयत्नजन्यगमनादिक्रियायाः परम्परा सकृत्प्रयत्नमात्रादुत्पद्यमाना दृश्यते। अथ बाणविमोकचक्रभ्रमणादौ प्रथमप्रयत्नादेव क्रियापरम्परा जायत इत्युच्येत, तन्न; तत्रोत्तरोत्तरक्रियाणां वेगाख्यसंस्कारजन्यत्वात्। न च धारावाहिकज्ञानेषु तथा संस्कारोऽस्ति। न च प्रथमज्ञानजन्यसंस्कारादुत्तरोत्तरज्ञानपरम्परा जायतामिति वाच्यम् ; तथा सति स्मृतित्वप्रसङ्गात्। स्मृतित्वे चेन्द्रियसंयोगाद्यनपेक्षत्वप्रसङ्गः। तस्मात् द्वितीयतृतीयादिज्ञानानां प्रमाणतन्त्रत्वात् प्रथमज्ञानस्याऽपि तथात्वे वक्तव्ये प्रयत्नान्वयव्यतिरेकौ प्रमाणसामग्रीसम्पादनविषयतयोपपद्येते।

धाराप्रवाहसे होनेवाले दूसरे या तीसरे ज्ञानोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, कारण कि प्रथम ज्ञान ही प्रयत्नका नान्तरीयक है। [अर्थात् यदि ज्ञानकी उत्पत्तिके लिए प्रयत्न अपेक्षित माना जाय, तो वह प्रयत्न प्रथम ज्ञानको उत्पन्न करके नष्ट हो जायगा। पुनः दूसरे प्रयत्नके विना ज्ञानान्तरकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, इसलिए प्रथम प्रयत्न और प्रथम ज्ञानका ही सम्बन्ध होना बन सकेगा ।] कारण कि प्रयत्नसे उत्पन्न होनेवाली गमनक्रियाकी परम्परा एक ही प्रथम प्रयत्नमात्रसे उत्पन्न होती हुई नहीं देखी गई है। यदि कहो कि बाणके छोड़ने या चक्रके घुमाने आदिमें प्रथम प्रयत्नसे ही क्रियाकी परम्परा (बाणका बराबर चला जाना और चक्रका घूमते रहना) होती ही रहती है, तो यह कहना उचित नहीं है, कारण कि ऐसे स्थलमें उत्तर-उत्तर क्रियाओंकी उत्पत्ति वेगात्मक संस्कारके द्वारा होती है। और धाराप्रवाहसे होनेवाले ज्ञानोंमें ऐसा कोई संस्कार नहीं है। प्रथम ज्ञानसे उत्पन्न हुए संस्कारके कारण उत्तरोत्तर ज्ञानोंकी धाराका उत्पन्न होना भी नहीं मान सकते, कारण कि उत्तरोत्तर ज्ञानधाराको संस्कारजन्य माननेसे स्मृति—स्मरणरूप ज्ञान—माननेका प्रसङ्ग आ जायगा। यदि उसको स्मृति मानेंगे, तो इन्द्रियसंयोगकी अपेक्षाके अभावका प्रसङ्ग होगा। इससे द्वितीय और तृतीय आदिमें प्रमाणाधीनत्व होनेसे प्रथम ज्ञानमें भी वही प्रकार मानना होगा, इस अवस्थामें प्रयत्नके अन्वय और व्यतिरेक प्रमाणकी सामग्रीके सम्पादनमें उपपन्न होते हैं ।

एवं स्मृतिज्ञानमपि संस्कारोद्बोधाधीनं न पुरुषप्रयत्नाधीनम्, सदृशदर्शनाददृष्टवशाद्वा संस्कारोद्बोधे प्रयत्नमन्तरेणाऽप्यनिष्टविषयस्मृतिदर्शनात्। यदि क्वचित् स्मृतिविशेषे प्रयत्नापेक्षा दृश्येत तदाऽपि प्रयत्नेन चिन्तापरपर्यायचित्तैकाग्र्यमेव जायते, न तु स्मृतिः। तेन चैकाग्र्येण संस्कार उद्बोध्यते। तदुक्तम्—'सदृशादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः' इति।

यत्तु शास्त्रवशादाहवनीयादीनां शरीरावलोकनम्, तत्राऽस्ति काचिदाहवनीयदेवताया मूर्त्तिरिति योऽयं परोक्षः प्रत्ययो मूर्तिविशेषविषयः स न पुरुषतन्त्रः, विनैव प्रयत्नं मूर्त्तिविशेषवाचिशब्दैरेव जायमानत्वात्। यच्च पुरोवर्त्यङ्गाराणां तन्मूर्त्तिविशेषाकारेण भावनं तन्न ज्ञानम्,

---

उक्त रीतिके अनुसार स्मरणात्मक ज्ञान भी संस्कारके उद्बोधनसे उत्पन्न होता है, पुरुषप्रयत्नके द्वारा उत्पन्न नहीं होता, कारण कि सदृश वस्तुके दर्शनसे अथवा अदृष्टवश संस्कारके जाग्रत् होनेपर प्रयत्नके विना भी अपनी अनभीष्ट (अप्रिय) वस्तुका स्मरण होना देखा गया है। [अप्रियका स्मरण कोई नहीं चाहता, जिसके लिए प्रयत्न किया जाय।] यदि कहींपर स्मरण विशेषमें प्रयत्नकी अपेक्षा देखी जाती है, तो वहाँपर भी प्रयत्नके द्वारा केवल चिन्तारूपी चित्तकी एकाग्रतामात्र होती है, स्मरणकी उत्पत्ति नहीं होती। [प्रयत्नसे चित्तैकाग्र्य होता है, चित्तकी एकाग्रतासे संस्कारका उद्बोधन और उससे स्मृति होती है, ऐसा नियम दिखलाते हैं—] प्रयत्नजनित उस चित्तकी एकाग्रतासे संस्कार जाग्रत् होता है। इस विषयमें कहा गया है—'सदृश, अदृष्ट तथा चिन्ता आदि स्मृतिके कारणीभूत संस्कारके उद्बोधक हैं।' [इस वचनसे सिद्ध होता है कि चिन्तादि प्रयत्न भी संस्कारके ही उद्बोधक हैं, स्मरणके नहीं।]

शास्त्रके आधारपर आहवनीय आदि अग्निके जिस शरीरका प्रत्यक्ष करना कहा गया है, वह कोई आहवनीय देवताका आकाररूप शरीर नहीं है, इसलिए जो यह शब्दात्मक शास्त्र द्वारा उत्पन्न हुए आकारविशेषका परोक्षात्मक ज्ञान होता है, वह भी पुरुषव्यापाराधीन नहीं है, कारण कि पुरुषकृत प्रयत्न (अभिमुख होना आदि) के बिना भी आकारविशेषके बोधक शब्दोंसे ही तादृश परोक्ष ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। और सामने विद्यमान

अयथावस्तुत्वात् । न चाऽयथावस्तुत्वे कथं शास्त्रीयत्वमिति वाच्यम्, नहि शास्त्रमङ्गाराणां हस्तपादादीनवयवान् प्रतिपादयति । तथा सति प्रत्यक्षविरोधप्रसङ्गात्, किन्तर्ह्ययथावस्तुगोचरेणाऽपि भावनेन फलविशेषः साध्य इति प्रतिपादयति । न चाऽसौ साध्यसाधनभावो मिथ्या, ततो भावनस्याऽयथावस्तुत्वेऽपि न शास्त्रस्य काचिद्धानिः । भावनस्य च पुरुषतन्त्रत्वमस्माभिरभ्युपेयत एव, तस्य ध्यानक्रियारूपत्वात् । ननु ध्यानमप्यनुभवतन्त्रमेव धारावाहिकस्मृतिज्ञानरूपत्वादिति चेद्, नः अननुभूते स्मृत्ययोगात् । नहि योषिदादेर-

---

लाल अङ्गारोंमें उस आकार-विशेषका जो चिन्तन है, वह तो यथार्थ-ज्ञान नहीं है, कारण कि (अंगारोंका उस आकारविशेषसे चिन्तन करना) यथार्थ वस्तु नहीं है। यदि यथार्थ वस्तु नहीं है, तो शास्त्रकारोंने उसका प्रतिपादन कैसे किया ? ऐसी शङ्का करना भी उचित नहीं है, क्योंकि शास्त्र अङ्गारोंके हाथ, पांव आदि अवयवोंका प्रतिपादन नहीं कर रहा है। यदि ऐसा होगा, तो प्रत्यक्षके साथ विरोध होनेका प्रसङ्ग होगा। [तब शास्त्र किसका प्रतिपादन करता है ? यह जिज्ञासा हो, तो सुनो] शास्त्र अयथार्थ-वस्तुविषयक भावनासे भी फलविशेष होता है, ऐसा प्रतिपादन करता है। और उक्त शास्त्रीय साध्य-साधनभाव (कार्यकारणभाव) मिथ्या (अयथार्थ) नहीं है, इसलिए उक्त भावनाके अयथार्थ होनेपर भी शास्त्रकी कोई हानि नहीं है। [विष-शङ्का आदिसे भी मरणादि कार्य देखे जाते हैं, अतः अयथार्थसे भी यथार्थ फलकी उत्पत्ति होनेके कारण शास्त्र द्वारा अयथार्थ भावनासे यथार्थ फलविशेषकी उत्पत्तिका तथा उनमें साध्यसाधनभावका प्रतिपादन होनेपर भी उसमें (शास्त्रमें) अप्रामाण्यरूप हानि नहीं आ सकती।] और भावना पुरुषव्यापारके अधीन है, ऐसा हम स्वीकार करते ही हैं, कारण कि भावना (मानसी क्रिया) ध्यानात्मक क्रियास्वरूप है।

शङ्का—ध्यान भी तो अनुभवके ही अधीन है, कारण कि धाराप्रवाहसे होनेवाला स्मरणात्मक ज्ञान ही ध्यान है [और स्मरण अनुभवके ही अधीन है]।

समाधान—[अङ्गारोंका आकारविशेष अनुभवमें नहीं आता है, ऐसी दशामें उस आकारविशेषका स्मरणात्मक ध्यान कैसे किया जा सकता है, इस आशयसे

ग्न्यादिरूपत्वं किंचिदनुभूतम् । ननु 'योषा वाव गोतमाग्निः' इत्याग-
माच्चदनुभव इति वाच्यम् , किमस्मादागमात् प्रमितिर्जायते किं वा
विपर्ययानुभवः ? आद्ये योषिदग्नित्वप्रमितिपरेणाऽनेन वाक्येन ध्यान-
विधिर्न सिध्येत् । अथ विधिपरमेतद्वाक्यं तदा न योषिदग्नित्वं प्रमी-
यते । उभयपरत्वे वाक्यभेदो विरुद्धत्रिकद्वयापत्तिश्च । योषिदग्नित्वप्र-
मितौ प्रत्यक्षविरोधश्च । न द्वितीयः, दोषरहितस्याऽऽगमवाक्यस्य विप-
र्ययानुभवहेतुत्वायोगात् । तस्मान्नैतेन वाक्येन प्रसिद्धयोर्योषिदग्न्यो-

---

उत्तर देते हैं—] जिसका अनुभव नहीं हुआ है, उसका स्मरण नहीं हो सकता। स्त्री आदिका अग्नि आदिके रूपमें कभी भी अनुभव नहीं हुआ है। 'स्त्री अग्नि है' एतदर्थक आगमके (श्रुतिके) बलसे तादृश अनुभवका होना भी नहीं माना जा सकता, कारण कि इसमें विकल्प किया जा सकता है कि उस शास्त्रसे उक्त प्रमारूप (यथार्थ ज्ञानरूप) अनुभव होता है ? अथवा विपर्ययरूप (अयथार्थरूप) अनुभव होता है ?। प्रथम कल्पके माननेमें स्त्रीमें अग्निका निश्चय करानेवाले शास्त्रसे ध्यानका विधान सिद्ध नहीं हो सकता। और यदि वह शास्त्र ध्यानका विधायक माना जाय, तो स्त्रीमें अग्निका निश्चय नहीं हो सकता। शास्त्रका दोनोंमें तात्पर्य माननेसे वाक्यभेद और विरुद्ध दो त्रिकोंकी आपत्ति होगी। [सकृदुच्चरित न्यायसे एक वाक्य एक ही अर्थका बोधक होगा, इसलिए दोनों अर्थोंका बोधन करनेके लिए दो वाक्य मानने होंगे, एक विधायक होगा और दूसरा प्रमापक होगा, इस प्रकार वाक्यभेद करनेसे गौरव होगा। इस गौरवसे अतिरिक्त दूसरा भी दोष होगा—यदि योषिदग्निका विधान किया जाय, तो योषिदग्निमें विधेयत्व, उपादेयत्व एवं प्राधान्यरूप त्रिक प्राप्त होते हैं। अथ च योषिदग्निकी उक्त वाक्यसे प्रमा मानी जाय, तो योषिदग्निमें उद्देश्यत्व, अनुवाद्यत्व एवं गुणत्वरूप त्रिक प्राप्त होते हैं। विधिस्थलमें योषिदग्नि प्रधान है और प्रमितिस्थलमें योषिदग्नि ध्यानविशेषण होनेसे अप्रधान है, इस प्रकार इन विरुद्ध त्रिकोंके कारण योषिदग्निमें वैरूप्य प्रसङ्ग आ जाता है।] स्त्रीमें अग्निका निश्चय करनेसे प्रत्यक्षविरोध भी स्पष्ट है। दूसरा विकल्प भी नहीं बन सकता, कारण कि (अपौरुषेय होनेसे) सर्वथा दूषणशून्य शास्त्रको विपर्ययरूप (अयथार्थरूप) अनुभवात्मक ज्ञानका कारण होना प्राप्त नहीं हो सकता।

स्तादात्म्यमनुभवितुं शक्यम् , किं तर्हि यथा दर्शपूर्णमासादिरूपायाः शारीरक्रियायाः स्वर्गसाधनत्वं तद्वाक्यात् प्रमीयते तथाऽस्मादपि वाक्यात् कस्याश्चिन्मानसक्रियायाः फलविशेषसाधनत्वं प्रमीयते तर्हि योषिदग्निपदद्वयं व्यर्थं स्यादिति चेद् , न; क्रियाभाजो मनस आकारविशेषसमर्पकत्वात् । यथा 'गोकर्णाकारेण पाणिनाऽऽचामेत्' इत्यत्र गोशब्दः कर्णशब्दो वाऽऽचमनाङ्गस्य पाणेः स्वार्थसदृशाकारं केवलं समर्पयतो न तु प्रसिद्धमर्थं प्रतिपादयतः तथा योषिदग्निशब्दावपि प्रसिद्धस्वार्थमस्पृशन्तावेव तत्सदृशाकारं मनसो ध्यानाङ्गस्य किं न समर्पयेताम् ? न च योषिदग्नितादात्म्यस्याऽत्यन्तमप्रसिद्धत्वात् तत्सदृशाकारसमर्पणमयुक्तमिति वाच्यम् । किं शब्दस्याऽत्यन्ताविद्यमानाकारसमर्पकत्वाभावः किं वा मनसस्तदाकारभाक्त्वाभावः ? उभयमपि वक्तु-

---

इसलिए 'योषा वाव' इत्यादि उक्त वाक्यसे लोकमें प्रसिद्ध (अनुभूत) स्त्री अथवा अग्निमें परस्पर तादात्म्यका (अभेद प्रत्ययका) अनुभव नहीं हो सकता, किन्तु जैसे शरीरसे निष्पन्न होनेवाले दर्शपूर्णमास आदि क्रिया-कलापमें शास्त्र द्वारा स्वर्गके प्रति साधनता (हेतुता) निश्चित होती है वैसे ही 'योषा वाव' इस वाक्यसे भी किसी (ध्यानकर्म) मानस क्रियाका फलविशेषके प्रति हेतु होना निश्चित होता है । तब तो 'योषित्' और 'अग्नि'—इन दोनों पदोंका देना व्यर्थ होगा, ऐसी शङ्का करना भी सङ्गत नहीं है, कारण कि क्रिया करनेमें तत्पर अन्तःकरणको आकार प्राप्त करानेके लिए दोनोंका सार्थक्य है । जैसे 'गोके कानका आकार बना कर हाथसे आचमन करना चाहिए' इत्यर्थक वाक्यमें गोशब्द और कर्णशब्द आचमनके अङ्गभूत (साधनीभूत) हाथका केवल गोके कर्णरूप स्वार्थके सदृश आकाररूप अर्थका ही प्रतिपादन करते हैं, प्रसिद्ध गोके कानरूप अर्थका प्रतिपादन नहीं करते, वैसे ही प्रकृतमें योषित् और अग्निशब्द भी अपने लोकप्रसिद्ध स्वार्थसे सम्बन्ध न रखते हुए ही ध्यानके साधनीभूत अन्तःकरणको अपने स्वार्थके सदृश आकारका ही समर्पण क्यों नहीं कर सकते ? योषित् और अग्निका तादात्म्य लोकमें भी प्रसिद्ध नहीं है, इसलिए उसका प्रतिपादन करना युक्तिसङ्गत नहीं है, ऐसा कहना भी उचित नहीं है, कारण कि इसमें प्रश्न करेंगे कि क्या शब्द अत्यन्त अप्रसिद्ध आकारका समर्पण

मशक्यम् , यतो नरस्य विषाणस्य चाऽत्यन्ताविद्यमानमेव सम्बन्धाकारं नरविषाणशब्दः समर्पयन्नुपलभ्यते मनश्च तमाकारं भजते । ततश्च श्रुतिसमर्पिताकारविशिष्टाया मानसक्रियायाः प्रवाहो ध्यानं न तु स्मृतिप्रवाहः । नन्वविद्यमानविषये ध्यानस्मृतिप्रवाहयोरसाङ्कर्येऽपि विद्यमानविषये चतुर्भुजधारिविष्ण्वादौ शास्त्रेणाऽनुभूते विधीयमानं ध्यानं न स्मृतिप्रवाहाद्विशिष्यत इति चेद् , न; परोक्षत्वेनाऽनुभूताया मूर्त्तेरपरोक्ष-शालग्रामप्रतिमादावनुसन्धानस्य विहितस्य प्रागनुभूतताभावेन स्मृतित्वायोगात् । अपरोक्षतयाऽनुभूतेष्वपि वस्तुषु स्मृतिर्ध्याना-द्विशिष्यते । तद्यथा—बाल्ये पठित्वा वेदं चिरकालव्यवधाने सति पुनः पर्यालोचयन्नेकैकस्मिन् वाक्ये चिरं चित्तैकाग्र्यं कृत्वा तत्तद्वाक्यं यथापठितमेवाऽवगच्छति सैषा स्मृतिः। न चाऽत्र पुरुषः स्वतन्त्रः,

---

करनेमें समर्थ नहीं है ? या अन्तःकरण तादृश आकारको प्राप्त नहीं कर सकता ? इनमें से एकको भी नहीं मान सकते, कारण कि नरविषाणशब्द अत्यन्त अप्रसिद्ध ही मनुष्य और सींगके परस्पर सम्बन्धाकारको समर्पण कराता हुआ देखा जाता है और अन्तःकरण उस आकारको प्राप्त भी होता है । इसलिए शब्दात्मक श्रुतिसे प्राप्त हुए आकारसे युक्त मानस क्रियाकी प्रवाह-परम्परा ही ध्यान पदार्थ है, स्मरणकी परम्परा ध्यानपदार्थ नहीं है ।

शङ्का—अत्यन्त अप्रसिद्धात्मक विषयके स्थलमें ध्यान और स्मृतिकी परम्परामें पार्थक्य सिद्ध होनेपर भी शास्त्र द्वारा अनुभवमें आये हुए चार भुजाओंको धारण करनेवाले विष्णु भगवान्‌के ध्यानका विधान करनेमें तो स्मरण-परम्परासे अतिरिक्त दूसरा ध्यान पदार्थ कोई नहीं है ।

समाधान—शब्द द्वारा परोक्षरूपसे अनुभूत मूर्त्तिके प्रत्यक्ष अनुभूत शालग्राम-शिलारूप प्रतिमा आदिमें जिस अनुसन्धानका (ध्यानका) विधान है, वह अनुभूत न होनेके कारण स्मरणरूप ज्ञान नहीं हो सकता है । प्रत्यक्षरूपसे अनुभूत वस्तुओंका भी स्मरण ध्यानकी अपेक्षा विशिष्ट अर्थात् अतिरिक्त है । जैसे कि बाल्यकालमें वेद पढ़कर बीचमें अधिक समय तक व्यवधान हो जानेसे अनन्तर दुबारा पर्यालोचन करते हुए एक-एक वाक्यमें अधिक काल तक चित्तकी एकाग्रता करके पठनक्रमके अनुसार ही उन वाक्योंका

प्रयत्नेन चित्तैकाग्र्ये संपादितेऽपि कस्मिंश्चिद् वाक्यविशेषे स्मृत्यनुदयात् । न च स्मर्यमाणमपि वाक्यमन्यथा स्मर्तुं शक्यम्, अवेदवाक्यत्वप्रसङ्गात् । नाऽपि स्वेच्छावशादस्मर्तुं शक्यम् ; अनिच्छतो शौचावसरेऽपि कदाचिद्वेदवाक्यस्मृतेरनिवार्यत्वात् । अतः कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुमशक्या यथानुभूतं वस्त्वविलङ्घयन्ती तत्संस्कारोद्बोधमात्राधीना स्मृतिरित्युच्यते । ध्यानं त्वनुभूतेऽननुभूते वा वस्तुनि विद्यमानानामविद्यमानानां वा धर्माणां निरङ्कुशं कल्पनं यल्लोके मनोराज्यमिति प्रसिद्धम् । न च तत्र पुरुषः परतन्त्रः, स्वेच्छामनोभ्यां विना साधनान्तराऽनपेक्षणात् । तर्ह्ययथाशास्त्रमपि देवता-

---

ज्ञान प्राप्त करता है, इसका नाम स्मरण है। इस प्रकारके स्मरणमें पुरुष स्वाधीन नहीं है, कारण कि प्रयत्नके द्वारा चित्तकी एकाग्रताको सम्पन्न कर लेनेपर भी किसी किसी (पठित भी) वाक्यविशेषके स्मरणका उदय नहीं होता और स्मरणमें आनेवाले वाक्यका भी अन्यथा [पठित आनुपूर्वीके विपरीत] स्मरण नहीं हो सकता, कारण कि अन्यथा स्मरणमें आये वाक्यको वेदवाक्य न होनेका प्रसङ्ग आ जायगा। [अर्थात् जबतक यथापठित आनुपूर्वीका ज्ञान न हो जाय, तबतक तादृश स्मृतिका जनक चित्तैकाग्रतादि व्यापार होता ही रहेगा ।] और उसमें अपनी इच्छाका स्वातन्त्र्य भी नहीं है कि उसका स्मरण होना रोक सके, इच्छा न रहते हुए भी अशुद्ध अवस्थामें कभी-कभी वेदवाक्योंका स्मरणमें आ जाना नहीं रोका जा सकता। इसलिए जिसका करना, न करना या अन्यथा-करना सम्भव नहीं है और जो यथानुभूत वस्तुका उल्लङ्घन नहीं करता एवं जो केवल पूर्व अनुभवसे उत्पन्न संस्कारके उद्बोधसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान है, उसको स्मरण कहते हैं। और जिस विषयका अनुभव हुआ हो या न हुआ हो, उस (अनुभूत या अननुभूत) वस्तुमें रहने या न रहनेवाले धर्मोंकी निरङ्कुश (स्वेच्छामात्रसे) कल्पना करना ध्यान कहलाता है, जिसको लोकमें मनोराज्य नामसे प्रसिद्धि दी गई है। उस ध्यानमें पुरुष पराधीन (विषयादिके वश) नहीं है, क्योंकि अपनी इच्छा तथा अन्तःकरणके अतिरिक्त दूसरे साधनकी अपेक्षा नहीं रहती। तब तो शास्त्रके प्रतिकूल भी (जैसे कि शास्त्रोंमें वर्णित नहीं

दिध्यानं स्वेच्छानुसारेण प्रसज्येतेति चेत्, सत्यम्; तत्केन निवार्यते। नहि मनोराज्यं राजादिना शास्त्रेण वा निवारयितुं। शक्यते परन्तु शास्त्रोक्तध्याने शास्त्रीयः फलविशेषो भवति नेतरत्र, अदृष्टे साध्यसाधनसम्बन्धे शास्त्रस्य नियामकत्वात्। न च शास्त्रमप्ययथावस्तुगोचरध्यानेन कथं फलविशेषं प्रतिपादयतीति वाच्यम्, नहि वयं शास्त्रं पर्यनुयोक्तुं प्रभवामः, शास्त्रस्याऽचिन्त्यमहिमत्वात्। अन्यथा क्वाऽऽहुतिप्रक्षेपः क्व वा स्वर्गः कामत्रोपपत्तिमद्राक्षीः? अथाऽपि श्रद्धाजाड्येन योषिदग्न्यात्मिकां कांचिद्देवतां परिकल्प्य तद्ध्यानस्य वस्तुविषयत्वं ब्रूषे तर्ह्यादित्यो यूपो यजमानः प्रस्तर इत्यादावपि

है) अपनी इच्छामात्रसे देवता आदिके ध्यानकी प्रसक्ति हो जानेकी शङ्का की जाय, तो उचित ही है, क्योंकि ऐसे ध्यानका निवारण कौन कर सकेगा? मनोरथसे कल्पित राज्यकी निवृत्ति कोई राजा या शास्त्र नहीं कर सकता। परन्तु भेद इतना ही है कि शास्त्रोक्त ध्यानमें शास्त्रोंसे प्रतिपादित फलविशेष होता है और अन्य प्रकारके (अपनी इच्छामात्रसे कल्पित अशास्त्रीय) ध्यानमें उक्त फलकी सिद्धि नहीं होती, कारण अदृष्टरूप कार्यकारणभावमें शास्त्र नियामक (व्यवस्थापक) माना गया है। अयथार्थ-वस्तुविषयक ध्यानसे फलविशेषकी उत्पत्तिका शास्त्र भी कैसे प्रतिपादन करते हैं? यह शङ्का भी नहीं की जा सकती, कारण कि हम जैसे साधारण बुद्धिवाले पुरुष शास्त्रोंके ऊपर अन्यथा आरोप करनेमें समर्थ नहीं हैं, क्योंकि शास्त्रोंका महत्त्व हम लोगोंके ध्यानमें भी नहीं आ सकता। यदि ऐसा न हो, तो कहाँ आहुतिका देना और कहां स्वर्ग, इसमें तुम कौन-सी उपपत्ति देखते हो? [अर्थात् अग्निमें घृतादि हविस् द्रव्यका आहुतिरूपसे प्रक्षेप करना होम कहलाता है। और उसका फल स्वर्ग-प्राप्ति शास्त्रोंमें कही गयी है। इस कार्यकारणभावसम्बन्धकी उपपत्ति दृष्ट न होनेसे अचिन्त्य ही माननी होगी, अतः शास्त्रोंमें दृष्टानुसारी तर्कबलसे कोई आरोप नहीं लगाया जा सकता।] यदि उक्त युक्तिसे (शास्त्रोंको अचिन्त्यमहिम मानकर) श्रद्धासे मूक (तर्कशून्य) होकर योषिदग्निरूप किसी नवीन देवताकी कल्पना करके उसके ध्यानको वस्तुविषयक होना कहो, [इससे पूर्व प्रघट्टकमें कहा गया है कि 'योषा वाव'

तत्तद्रूपां देवतां प्रकल्प्य स्वार्थे प्रामाण्यं प्रसज्येत । प्रत्यक्षविरोधस्तु भवतोऽपि समानः । न चैवमिन्द्रादिदेवतानामप्यपलापः, तत्प्रतिपादकमन्त्रार्थवादानां मानान्तरविरोधाभावात् । ननु सर्वेष्वपि वस्तुष्वभिमानिन्यो देवताः सन्ति 'मृदब्रवीत्', 'आपोऽब्रुवन्' इत्यादौ सूत्रकारेण तदङ्गीकारादिति चेत् , तर्ह्यत्राऽप्यग्न्यभिमानिनी काचिद्देवता योषिदभिमानिनी चाऽपरेति देवताद्वयमस्तु । न च ते देवते अत्र ध्येये,

इत्यादि वाक्य द्वारा प्रतिपादित ध्यानमें आकारविशेषसे युक्त कोई देवताकी मूर्ति उल्लिखित नहीं है, केवल ध्यानमात्र है, उसका खण्डन करते हैं कि शास्त्रोंको अचिन्त्यमहिम माननेवाला तादृश आकारकी देवमूर्ति भी मान सकता है। ऐसी दशामें उस शास्त्रीय मूर्तिका ध्यान अवस्तुविषयक नहीं माना जा सकता] तो 'आदित्यो यूपः' (सूर्य यूप—स्तम्भ—है) तथा 'यजमानः प्रस्तरः' (यजमान कुश-मुष्टि है) इत्यादि वाक्योंमें भी तत्तद्रूप देवताविशेषकी कल्पना करके स्वार्थमें प्रामाण्य आ जानेका प्रसङ्ग आ जायगा। [सिद्धान्तमें सूर्यका यूप होना या यजमानका कुश-मुष्टि होना सम्भव न होनेसे उक्त वाक्योंका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं माना जा सकता, प्रत्युत वे अर्थवादवाक्य माने जाते हैं, अब तो शास्त्रोंमें श्रद्धाके वश तादृश आकारवाली देवताका होना सम्भव होनेसे स्वार्थमें तात्पर्य मान लेनेका प्रसङ्ग नहीं हटाया जा सकेगा।] प्रत्यक्षविरोध तो आपको भी समान ही है। [जैसे आदित्यका यूप होनेमें प्रत्यक्ष विरोध है, ऐसे ही योषित्का अग्नि होनेमें भी प्रत्यक्ष विरोध है।] उक्त रीतिसे (कल्पित—मिथ्या—वस्तुविषयक ध्यानकी उपपत्ति माननेसे) इन्द्र आदि देवताओंके भी अपलापका (आकारविशेषसे युक्त न माननेका) प्रसङ्ग नहीं आ सकता, कारण कि इन्द्रादि देवताओंके प्रतिपादक मन्त्र तथा अर्थवाद-वाक्योंका प्रत्यक्ष आदि दूसरे प्रमाणोंसे विरोध नहीं आता है।

शङ्का—सभी पदार्थोंमें अभिमानी देवता हैं—जैसे 'मिट्टीने कहा' या 'जलने कहा' इत्यादि वाक्योंमें सूत्रकारने भी ऐसा माना है।

समाधान—यदि उक्त रीतिसे सर्वत्र अभिमानी देवता माने जायँ, तो प्रकृतमें भी एक अग्निको अभिमानी देवता और दूसरा योषित्का अभिमानी देवता इस प्रकार दो देवता मानने होंगे। [क्योंकि प्रकृतमें योषित् और अग्नि दो पदार्थ हैं, अतः तदभिमानी देवता भी दो ही होंगे।] परन्तु प्रकृतमें उन दो

किन्तु योषिदग्नितादात्म्यम् । न च तादात्म्यस्याऽवास्तवस्याऽभिमानिनी देवता संभवति, नरविषाणादावतिप्रसङ्गात् । न च योषिदग्नि-नामिका काचिद्देवता स्यादिति मन्तव्यम्, नाममात्रत्वे योषिदवयवेषु यथायोगमग्न्यवयवसम्पादनवैफल्यात् । सम्पाद्यते हि तथा श्रुतौ 'योषा वाव गोतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिः' इत्यादिना । अथैतद्ध्यानफलप्रदाता परमेश्वर एतद्देवता भविष्यति तथापि नाऽसावत्र ध्येयः । नहि सर्वान्तर्यामिणो जगदीश्वरस्याऽतिजुगुप्सितयोषिदवयवरूपेण ध्यानमुचितम् । परमेश्वरस्य सर्वात्मकत्वादविरोध इति चेत्, तर्हि 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' इत्यनया न्यायानुगृहीतया श्रुत्योपास्याकारप्राप्तेः फलत्वावगमादुपा-

---

देवता ध्यानके विषय नहीं हैं, किन्तु योषित् और अग्निका तादात्म्य ही ध्यानका विषय है । और अवस्तुभूत दोनोंके तादात्म्यके अभिमानी देवताका सम्भव भी नहीं है । [यदि अवस्तुका भी अभिमानी देवता माना जाय, तो] मनुष्यके सींगरूप वस्तु आदिमें अतिप्रसङ्ग आ जायगा । और योषिदग्निनामवाले किसी अतिरिक्त देवताका मानना भी उचित नहीं है, कारण कि योषिदग्निनामक देवताके माननेमें योषित् (स्त्री) के अवयवोंमें यथोचित अग्निके अवयवोंकी सम्पत्ति करना व्यर्थ है । और 'हे गोतम ! स्त्री अग्नि है, उसका उपस्थ ही समिधा है और केश धूम एवं योनि ज्वाला है' इत्याद्यर्थक श्रुतिसे ऐसी सम्पत्ति दिखलाई गई है । यदि कहो कि उक्त ध्यानके फलविशेषको देनेवाले परमेश्वर ही इस प्रकारके देवता होंगे, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि परमेश्वर प्रकृतमें ध्यानका विषय नहीं हो सकता, कारण कि सर्वान्तर्यामी जगदीश्वरका अत्यन्त घृणास्पद स्त्रीके अवयवरूपसे ध्यान करना उचित नहीं है । यदि कहो कि परमेश्वर सकलस्वरूपात्मक है, अतः विरोध नहीं है [अर्थात् आपकी दृष्टिसे घृणास्पद स्त्रीके अवयवोंका भी स्वरूपभूत जब ईश्वर हो सकता है, तब तद्रूपसे उसका ध्यान करनेमें विरोध ही क्या है ?], तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'उस परमेश्वरकी जिस जिस रूपमें उपासना की जाय, वह उसी रूपमें हो जाता है' एतदर्थक न्यायानुगृहीत श्रुतिसे यह प्रतीत होता है कि उपासकको उपास्यके आकारकी प्राप्तिरूप फल

सकस्याऽत्र जुगुप्सितयोषिदवयवत्वप्राप्तावग्निरूपत्वप्राप्तौ वा सत्यामनर्थफलैव पञ्चाग्निविद्या स्यात् । अथ विशेषशास्त्रबलादत्र ब्रह्मलोकप्राप्तिः फलं तर्हि तद्बलादेव विनाऽप्युपास्यदेवतामवस्तुविषयेण ध्यानेन फलसिद्धौ शास्त्रभक्तंमन्येन त्वया ध्यानस्य वस्तुविषयतायां नाऽत्यन्तमभिनिवेष्टव्यम् ।

अथोच्येत—

'उपपापेषु सर्वेषु पातकेषु महत्सु च ।
प्रविश्य रजनीपादं ब्रह्मध्यानं समाचरेत् ॥'

इति स्मृतौ यथावस्तुविषयध्यानमवगम्यते इति । तत्र किं ध्यातृदृष्ट्या वस्तुविषयत्वं शास्त्रदृष्ट्या वा ? आद्येऽपि यदि ध्याता ब्रह्मात्मत्वं जानाति तदा नाऽसौ प्रायश्चित्तेऽधिकरोति, पातकादिसम्बन्धा-

---

मिलता है, इससे प्रकृतमें उपासकको अत्यन्त घृणास्पद स्त्रीके अवयवोंके रूपकी अथवा अग्निरूपकी प्राप्तिरूप फलके मिलनेसे अनर्थ (अनिष्ट) फल देनेवाली ही पञ्चाग्निविद्याकी उपासना होगी । यदि कहो कि प्रकृतमें विशेष शास्त्रके बलसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति ही फल होगा, तो उसी शास्त्रके बलसे उपास्य देवताके बिना भी अवस्तुविषयक ध्यानसे फलकी सिद्धि हो जायगी, फिर अपनेको शास्त्रभक्त कहलानेवाले तुम्हें ध्यानमें वस्तुविषयकत्वकी सिद्धि करनेमें आग्रह नहीं करना चाहिए ।

शङ्का—यदि कहा जाय कि 'सम्पूर्ण उपपातक तथा बड़े बड़े पातकोंके होनेपर रजनीपादमें प्रवेश करके (ब्राह्ममुहूर्तमें) ब्रह्मका ध्यान करना चाहिए' एतदर्थक स्मृतिमें यथार्थ ब्रह्मरूप वस्तुका ध्यान करना प्रतीत होता है । [ऊपर कहे गये सिद्धान्तके अनुसार आप स्मरणको यथावस्तुविषयक और ध्यानको अयथावस्तुविषयक मानते हैं । परन्तु ऐसा मानना असङ्गत है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो प्रकृत स्मृतिमें ब्रह्मध्यानके स्थानमें ब्रह्म-स्मरणपद देना चाहिए था, परन्तु ध्यानपद दिया है, अतः मालूम पड़ता है कि ध्यान यथावस्तुविषयक होता है, यह भाव है ।]

समाधान—तो इसमें प्रश्न किया जा सकता है कि उक्त स्मृतिमें क्या ध्याता पुरुषकी दृष्टिसे ध्यान यथावस्तुविषयक कहा जाता है ? अथवा शास्त्रदृष्टिसे ? प्रथम कल्पको माननेपर भी यदि ध्यान करनेवाले पुरुषने ब्रह्मात्मका साक्षात्कार कर लिया है, तो उसका प्रायश्चित्तमें अधिकार ही

भावात् । अथ न जनाति तदाऽसावात्मानमन्तःकरणविशिष्टतया ब्रह्मस्वरूपं च परोक्षतयाऽवगच्छन्नहं ब्रह्मास्मीति ध्यानं कथं वस्तुविषयं मन्येत। न द्वितीयः, ध्याता ह्यन्तःकरणविशिष्टस्याऽऽत्मनो ब्रह्मत्वं ध्यायति । यद्यपि तत्राऽन्तःकरणांशं विहाय चिदंशस्य ब्रह्मत्वं शास्त्रसंवादि तथाऽपि न तावता ध्यानस्य वस्तुविषयत्वम् । अन्यथाऽनेन न्यायेनांऽशतः संवादिनां शुक्तिरजतादिज्ञानानां यादृच्छिकसंवादिलिङ्गाभासादिजन्यज्ञानानां च वस्तुविषयत्वेन प्रामाण्यप्रसङ्गात् ।

नहीं है, कारण कि उसमें पातक आदिके सम्बन्धका ही सम्भव नहीं है। [स्मृतिकारोंने भी कहा है—'गृहस्थोक्तानि पापानि कुर्वन्त्याश्रमिणो यदि। शौचवच्छोधनं कुर्युरर्वाग् ब्रह्मनिदर्शनात् ॥' अर्थात् यदि गृहस्थके समान पापोंको अन्य आश्रमधारी (ब्रह्मचारी), वानप्रस्थ तथा संन्यासी करें, तो क्रमशः द्विगुण, त्रिगुण और चतुर्गुण प्रायश्चित्त करें, परन्तु उक्त प्रायश्चित्तको ब्रह्मसाक्षात्कारके पूर्व ही करना चाहिए । ब्रह्मसाक्षात्कारके अनन्तर तो 'क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' के अनुसार कोई पापपुण्यका संसर्ग ही नहीं रहता ।] यदि कहो कि ध्याता पुरुषको ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता, तो वह (ध्याता पुरुष) आत्माको अन्तःकरणविशिष्टरूपसे और ब्रह्मस्वरूपको परोक्षरूपसे जानता हुआ 'मैं ब्रह्म हूँ' इस ध्यानको कैसे वस्तुविषयक समझ सकेगा। दूसरा पक्ष भी नहीं हो सकता, (अर्थात् शास्त्रदृष्टिसे भी ब्रह्मध्यान यथावस्तुविषयक नहीं हो सकता) कारण कि ध्यान करनेवाला पुरुष अन्तःकरणविशिष्ट आत्माका ब्रह्मरूपसे ध्यान करता है [ध्यानके विषय उस अन्तःकरणविशिष्ट आत्माको ब्रह्म समझता है, जो कि यथार्थ वस्तु नहीं है]। यद्यपि उक्त स्थलमें अन्तःकरणरूप अंशका त्याग करके चैतन्यरूप अंशमें ब्रह्मत्व शास्त्रसम्मत है [अतः यथार्थ वस्तु हो गया] तथापि इतनेसे ध्यानमें यथार्थवस्तुविषयकत्व नहीं माना जा सकता। यदि अंशतः त्याग करनेसे अंशतः यथार्थवस्तुविषयकत्वका ज्ञानमें अङ्गीकार किया जाय, तो अंशतः संवादवाले शुक्तिरजतादि ज्ञानोंको और इच्छा-मात्रसे संवादप्राप्त लिङ्गाभासादिसे उत्पन्न हुए ज्ञानोंमें भी (अंशतः) यथार्थवस्तुविषयकत्व होनेसे प्रामाण्य माननेका प्रसङ्ग आ जायगा ।

ननु विदितब्रह्मात्मतत्त्वानामपि 'ब्रह्मध्यानं करिष्यामः' इति व्यवहारदर्शनाद्ध्यानस्य वस्तुविषयत्वमिति चेद्, नः प्रबलपूर्ववासनया प्रच्युते ब्रह्मात्मत्वानुभवे तस्यामेवाऽवस्थायामेवं व्यवहारात् । नहि ब्रह्मात्मत्वमनुभवन्त एवं व्यवहर्तुमर्हन्ति । नहि लोके देवदत्तः स्वस्य मनुष्यत्वमनुभवन् मनुष्यत्वं ध्यायामि ध्यास्यामीति वा व्यवहरति । ननु 'ध्यायति प्रोषितनाथा पतिम्' इत्यत्र वस्तुविषयेऽपि ध्यानव्यवहारोऽस्तीति चेद्, नः तत्र ध्यानशब्दस्य पूर्वानुभूतपतिविषयस्मरणलक्षकत्वात् । यद्वा विरहातुरा मनोराज्यं करोतीति मुख्यमेव ध्यानमस्तु । तस्मादवस्तुविषये ध्याने पुरुषस्य स्वच्छन्दप्रवृत्तौ कः प्रतिबन्धः ? ननु सकृत्प्रयत्नमात्रेण घटिकामात्रं ध्यानानुवृत्तिरुपलभ्यते, तत्र प्राथमिकमनोव्यापारं परित्यज्येतरेषां मनोव्यापाराणां प्रयत्न-

---

शङ्का—ब्रह्मसाक्षात्कार किये हुए यतियोंका भी 'हम ब्रह्मका ध्यान करेंगे' इत्याकारक व्यवहार देखनेसे ध्यान वस्तुविषयक माना जाय।

समाधान—ऐसा नहीं हो सकता, कारण कि पूर्वजन्मार्जित वासनाके प्राबल्यसे ब्रह्मसाक्षात्कारके छूट जानेपर (विस्मृत हो जानेपर) अज्ञानकी अवस्थामें ही उक्त व्यवहार होता है। देवदत्त अपनेको मनुष्य समझता हुआ 'मैं मनुष्यरूपका ध्यान करता हूँ या करूँगा' ऐसा व्यवहार नहीं करता।

शङ्का—'प्रोषितभर्तृका (जिस स्त्रीका पति परदेशमें है, वह स्त्री) अपने पतिका ध्यान करती है, इस व्यवहारमें वस्तुभूत पतिविषयक ज्ञानमें भी ध्यानका व्यवहार देखा गया है।

समाधान—उक्त व्यवहारमें ध्यानपदका लक्षणाके द्वारा पूर्वानुभूत पतिका स्मरण ही अर्थ समझना चाहिए। अथवा विरहके दुःखमें डूबी हुई प्रोषितभर्तृका (पतिध्यानसे) मनोरथस्वरूप राज्य (विरहाभावका अनुभव) कर रही है, इस अर्थमें उसका तात्पर्य होनेसे (अवस्तुविषयक) मुख्य ही ध्यान उक्तव्यवहारस्थलमें माना जा सकता है। इसलिए अवस्तुविषयक ध्यानके विषयमें पुरुषकी अपनी इच्छा-पूर्वक प्रवृत्ति होनेमें कौन प्रतिबन्ध है ?

शङ्का—केवल एकबारके प्रयत्नमात्रसे घड़ीभर ध्यानकी अनुवृत्ति होती है, उसमें पहलेके मनोजन्य व्यापारको छोड़कर अन्य आगे होनेवाले मनके व्यापारोंको प्रयत्नकी अपेक्षा न रहनेसे धारावाहिक-ज्ञान-न्यायसे प्रथम प्रथम

निरपेक्षत्वाद् धारावाहिकज्ञानन्यायेन तन्निरपेक्षत्वे प्राथमिकस्याऽपि प्राप्ते सति सामग्रीसम्पादन एव प्रयत्न उपक्षीयतां तथा च ज्ञानाद् ध्यानस्य पुरुषतन्त्रत्वकृतं वैषम्यं न भविष्यतीति चेत् , किमिदानीमेवाऽऽरभ्याऽभ्यस्यतामपि सकृत्प्रयत्नाद् ध्यानानुवृत्तिः किं वा पट्वभ्यासवतामेव ? नाऽऽद्यः, अनुभवविरोधात् । न द्वितीयः, प्रतिमनोव्यापारं विद्यमानानामेव पृथक्प्रयत्नानामभ्यासपाटवाभिभूततयाऽनभिमन्यमानत्वात् । यथा बालस्यैकहायनस्य प्राथमिकगमनाभ्यासावसरे

होनेवाले मनोव्यापारमें भी प्रयत्ननिरपेक्षत्वके प्राप्त होनेपर [स्मरणके समान] सामग्रीसम्पादनमें ही प्रयत्नका उपयोग होगा। इस रीतिसे ज्ञानकी अपेक्षा ध्यानमें पुरुषके प्रयत्न द्वारा किया गया वैषम्य (भेद) नहीं हो सकेगा। [जैसे धाराप्रवाहसे होनेवाले ज्ञान प्रयत्ननिरपेक्ष मनोव्यापारमात्रसे उत्पन्न हो जाते हैं, और सर्वप्रथम ज्ञान भी केवल वैसे ही मनोव्यापारसे हो जाता है, उन्मुखीभवन आदि पुरुष प्रयत्न तो विषयेन्द्रियसंयोग आदि ज्ञान-सामग्रीमात्रका उत्पादन करनेमें उपयुक्त होकर क्षीण हो जाते हैं, वैसे ही ध्यानस्थलमें भी उक्त न्यायसे पुरुषप्रयत्न केवल ध्यानसामग्रीमात्रके उत्पन्न करानेमें उपक्षीण होगा, ध्यान तो प्रयत्ननिरपेक्ष मनोव्यापारमात्रसे धारावाहिक ज्ञानके तुल्य होता रहेगा, यह भाव है।]

समाधान—उक्त रीतिके माननेसे प्रश्न किया जा सकता है कि प्रथम प्रथम अभ्यास करनेवालोंका भी क्या एक ही बारके प्रयत्नसे ध्यान बराबर बना रहता है ? अथवा पर्याप्त अभ्यास (पुनः पुनः परिशीलन) वालोंका ही ? इनमें प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता, कारण कि इसमें अनुभवविरोध आता है। [अनुभवमें यही आया है कि एकबारके ही प्रयत्नसे ध्यान नहीं बना रहता; ध्यानकी अनुवृत्तिके लिए पर्याप्त अभ्यास करना पड़ता है।] दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता, कारण कि (पर्याप्त अभ्यासवालोंके भी) प्रत्येक मनोव्यापारमें विद्यमान ही पृथक् पृथक् प्रयत्न अभ्यासकी पटुताके कारण अभिभूत हो जाते हैं, अतः प्रतीत नहीं होते। [अर्थात् ध्यानानुवृत्तिस्थलमें सर्वत्र (प्रवीण-अप्रवीण दोनोंके ध्यानमें) प्रथम प्रथम हुए ध्यानके समान पृथक्

प्रतिपादविन्यासं पृथक्प्रयत्नोऽभिव्यज्यते न तथा पुनः शीघ्रगमने तदभिव्यक्तिरस्ति । न चाऽत्र पुनः पृथक्प्रयत्नाभावः, विषमस्थले व्यवधानपतनादिना तदभिव्यक्तेः । एवं ध्यानाभ्यासपाटवोपेतस्याऽपि प्राथमिकध्यानानुसारेण प्रयत्नविशेषा अवगन्तव्याः ।

अथवा यथा चक्रबाणे वेगरहितेऽप्यृजूकृते तस्मिन्नेव वेगस्तथाऽभ्यासात् प्राग्वेगशून्येऽपि ध्यानाभ्यासादृजूकृते मनसि वेगाख्यः संस्कारः कल्प्यताम् । अस्मिन्नपि पक्षे ध्यानस्य प्रयत्नतन्त्रत्वं

पृथक् प्रयत्न प्रत्येक मनोव्यापारोंमें अपेक्षित हैं और वे प्रयत्न होते ही रहते हैं, परन्तु अप्रवीणके तो स्पष्ट प्रतीत होते रहते हैं और प्रवीण पुरुषके अपने अभ्यासके पाटवसे स्पष्ट प्रतीत न होनेसे उन प्रयत्नोंमें न होनेका अभिमानमात्र हो जाता है, वस्तुतः प्रयत्न तो प्रवीणके भी पृथक् पृथक् विद्यमान ही हैं । इस आशयको दृष्टान्त द्वारा दिखलाते हैं—] जैसे एक वर्षकी अवस्थावाले बालकका प्रथम चलना सीखनेके अवसरपर प्रत्येक पैर रखनेमें पृथक् पृथक् प्रयत्नोंका होना स्पष्ट प्रतीत होता रहता है, परन्तु (अभ्यास हो जानेपर) शीघ्र चलनेमें तादृश पृथक् पृथक् प्रयत्नोंकी स्पष्ट प्रतीति नहीं होती । और यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त स्थलमें (शीघ्रगमनमें) पृथक् प्रयत्न नहीं है । विषम स्थलमें (ऊचनीच भूमिमें) धीरे धीरे उतरना आदि क्रियाके द्वारा उन पृथक् पृथक् विद्यमान प्रयत्नोंकी स्पष्ट प्रतीति होती है । इस प्रकार ध्यानके अभ्यासकी प्रवीणतासे युक्त पुरुषके भी प्रथम होनेवाले ध्यानके अनुसार पृथक् पृथक् प्रयत्न समझ लेने चाहिए ।

[यदि उक्त सिद्धान्तको न माननेका आग्रह हो, तो पक्षान्तर कहते हैं—] अथवा जैसे वेगशून्य भी वक्रबाणके (टेढ़े बाणके) सीधे कर देनेसे उसीमें वेग उत्पन्न हो जाता है, वैसे ही ध्यानाभ्याससे पहले वेगरहित भी मनमें, ध्यानाभ्याससे उसके स्थिर होनेपर, वेगनामक संस्कारकी कल्पना करनी चाहिए। [इस कल्पनाके आधारपर शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि वेगसे ही ध्यानकी अनुवृत्ति सिद्ध हो जायगी, उसके लिए पृथक् पृथक् प्रयत्न माननेकी आवश्यकता नहीं है तदनुसार प्रथम ध्यान भी प्रयत्ननिरपेक्ष ही होगा, उसका खण्डन करते हैं—] इस पक्षमें भी ध्यानके प्रयत्नसापेक्ष होनेका निवारण नहीं किया जा सकता, जैसे बाणमें प्रथम

नाऽपैति । बाण इव गमनस्याऽप्याद्यक्रियायाः प्रयत्ननान्तरीयकत्वात् । न चैवं धारावाहिकज्ञानेषु पृथक्प्रयत्नाः कल्पयितुं शक्यन्ते । यथाऽनभ्यस्तविषये ध्याने प्राथमिके द्वयोर्द्वयोरावृत्त्योर्मध्ये किंचित् किंचिद्व्यवधानं पृथक्प्रयत्नगमकमस्ति न तथा प्राथमिकेऽपि धारावाहिकज्ञाने तदस्ति । प्रमाणप्रमेयसम्बन्धजन्ये तस्मिन् बालवृद्धयोर्विशेषाऽदर्शनात् । अथ द्वितीयतृतीयादिज्ञानाकारपरिणामपरम्परानिर्वाहाय मनसि वेगः कथंचित् कल्प्येत तथाप्यज्ञानस्य प्रयत्ननान्तरीयकत्वाभावान्न ज्ञानं पुरुषतन्त्रम् । नहि ज्ञानं प्रयत्नानन्तरमेव

गमन-क्रिया प्रयत्नके बिना नहीं हो सकती, वैसे ही मनमें भी (ध्यानजनक) प्रथम व्यापार प्रयत्नके बिना हो ही नहीं सकता । [पुनः प्रथम कल्पका सिंहावलोकन करते हैं—] जैसे ध्यानानुवृत्तिस्थलमें पृथक् पृथक् प्रयत्न होते हैं, वैसे धारावाहिक ज्ञानस्थलमें पृथक्-पृथक् प्रयत्नोंकी कल्पना नहीं की जा सकती । [ध्यानस्थलके समान ज्ञानप्रवाहमें प्रयत्नोंकी कल्पनाके आधारका अभाव दिखलाते हैं—] नूतनविषयके प्रथम ध्यानमें जैसे दो दो (ध्यानों) के मध्यमें होनेवाला कुछ-कुछ व्यवधान पृथक्-पृथक् प्रयत्नोंका सूचक है । [यदि मध्यमें दूसरा पृथक् प्रयत्न न होता, तो निरन्तर आवृत्तिकी अनुवृत्ति होनी चाहिए, दोनोंके बीचमें व्यवधान न होता । यह व्यवधान ही पृथक् प्रयत्नको सिद्ध करता है ।] इस भाँति प्राथमिक—प्रथम उत्पन्न हुए—भी धारावाहिक ज्ञानमें कोई गमक नहीं है । ज्ञानस्थलमें तो प्रमाण—इन्द्रियादि—और प्रमेय—विषय—के सम्बन्धसे उत्पन्न हुए ज्ञानमें बाल तथा वृद्धके कारण कोई विशेष नहीं देखा जाता । [यदि ध्यानके तुल्य ज्ञान भी प्रयत्नसापेक्ष होता, तो बाल तथा वृद्धके ज्ञानमें भी ध्यानके समान विशेषता आनी अनिवार्य होती । अर्थात् अधिक प्रयत्नशाली वृद्धके ज्ञानमें कम प्रयत्नशाली बालकके ज्ञानकी अपेक्षा भेद होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं है ।] यद्यपि द्वितीय या तृतीय ज्ञानकी धाराकी सिद्धिके लिए अन्तःकरणमें यथाकथंचित् वेगनामक संस्कारकी कल्पना की भी जाय, तथापि अज्ञान प्रयत्नके अनन्तर ही उत्पन्न नहीं होता है, [अज्ञानपदको अज्ञाननिवृत्तिपरक मान करके तात्पर्य मानना होगा कि यदि अज्ञाननिवृत्तिमें ऐसा नियम होता कि प्रयत्नके ही अनन्तर वह हो सकती है, तो उसके जनक

जायते, किन्तु तेन प्रयत्नेन प्रमाणादिसामग्र्यां सम्पादितायां पश्चादुत्पद्यते तथाऽज्ञाने निवृत्तिरपि न प्रयत्नानन्तरभाविनी, किं तर्हि प्रयत्नेन विरोधिसामग्र्यां सम्पादितायां पश्चान्निवर्त्तते । एवं च सामग्र्याः प्रयत्नतन्त्रत्वे सति ज्ञानमेव पुरुषेण कर्तुमकर्तुं वा शक्यमिति वादिनां विभ्रमः । अन्यथाकरणं तु ज्ञानस्याऽत्यन्तमनाशङ्कनीयमित्युक्तं पुरस्तात् । न च ध्यानमपि प्रयत्नसम्पादितसामग्रीतन्त्रं न प्रयत्नतन्त्रमिति वक्तुं शक्यम्, प्रयत्नातिरिक्तसामग्र्यभावात् । अतो ध्यानस्याऽन्यव्यवधानमन्तरेण साक्षादेव करणाकरणे सुशके । अन्यथाकरणं तु निरङ्कुशं संभवति । तदेवमजन्यफलं वस्तुविषयं प्रमाण-

---

ज्ञानको भी प्रयत्नानन्तर होनेका नियम होनेसे ज्ञान पुरुषाधीन माना जाता, परन्तु उक्त नियम नहीं है] इसलिए ज्ञानका होना पुरुषके अधीन नहीं माना जा सकता । [उक्त आशयका उपपादन करते हैं—] ज्ञान प्रयत्नके अव्यहित अनन्तर ही नहीं होता, किन्तु उस प्रयत्नके द्वारा 'विषयेन्द्रियसंयोग आदि' प्रमाणादि सामग्री सम्पन्न होती है, तदनन्तर ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। एवं अज्ञानमें निवृत्ति भी प्रयत्नके अनन्तर ही नहीं होती, किन्तु प्रयत्न द्वारा अज्ञानविरोधी (आवरणभङ्ग आदि) सामग्री उत्पन्न होती है, और उसके पश्चात् अज्ञान निवृत्त होता है। इस निश्चयके अनुसार सामग्रीको ही पुरुषव्यापारके अधीन होना सिद्ध है, इसपर भी अन्य वादियोंका, ज्ञानकी ही उत्पत्ति या अनुत्पत्ति पुरुषके प्रयत्नके अधीन है, यह कहना भ्रममात्र है। ज्ञानके अन्यथा करनेकी तो शङ्का भी नहीं की जा सकती, इसका पहले ही स्पष्ट प्रतिपादन कर आये हैं। उक्त रीतिके अनुसार ध्यानको भी प्रयत्न द्वारा सम्पादित सामग्रीके अधीन मानकर पुरुषप्रयत्नके अधीन नहीं मानते, ऐसा कहना युक्तिसङ्गत नहीं है, कारण कि ध्यानमें प्रयत्नके अतिरिक्त सामग्री नहीं है। [अर्थात् ध्यानमें प्रयत्न ही सामग्री है, उस प्रयत्नरूप सामग्रीके नान्तरीयक होनेसे ध्यानका पुरुषाधीन होना निर्विवाद है ।] इसलिए ध्यानकी प्रयत्नके बिना साक्षात् उत्पत्ति होनेसे उसका करना या न करना सम्भव हो सकता है। और अन्यथाकरना तो निर्बाध (किसी भी प्रतिबन्धके बिना) सम्भव है। उक्त सम्पूर्ण प्रघट्टकके निष्कर्षसे फलित होता है कि जन्य

जन्यं ज्ञानं जन्यफलं वस्तुनिरपेक्षं पुरुषेच्छाप्रयत्नमात्रजन्यं ध्यानमिति ज्ञानध्यानयोर्मानसत्वेन समयोरपि फलतो विषयतः कारणतश्च महद्वैलक्षण्यं सिद्धम् । एवं च सत्यपुरुषतन्त्रतयाऽनुष्ठातुमशक्यं ब्रह्मज्ञानं विधियोग्यं न भवतीति 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इति तव्यप्रत्ययोऽर्हार्थोऽवगन्तव्यः । कथं तर्ह्यात्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येदिति

फलसे शून्य, वस्तुविषयक तथा प्रमाणके द्वारा उत्पन्न होनेवाला ज्ञान होता है और जन्य फलवाला, वस्तुकी अपेक्षासे विरहित एवं पुरुषकी इच्छासे उत्पन्न प्रयत्नमात्रसे उत्पन्न होनेवाला ध्यान कहलाता है। इस प्रकार मनोजन्य होनेसे ज्ञान और ध्यानमें समता होते हुए भी फल, विषय तथा कारणके द्वारा बहुत बड़ा भेद सिद्ध होता है। इस निष्कर्षके अनुसार पुरुषव्यापारके अधीन न होनेसे ब्रह्मज्ञानका अनुष्ठान (विधान) नहीं हो सकता। इसलिए 'आत्मा वा अरे'—आत्मदर्शन करना चाहिए—इस वाक्यमें योग्यतारूप अर्थका वाचक 'तव्य' प्रत्यय है, ऐसा समझना चाहिए।

शङ्का—'आत्माको अपने आत्मामें ही देखे' एतदर्थक 'आत्मन्येव—' इत्यादि वाक्योंसे दर्शनका विधान कैसे सङ्गत हो सकता है। [यद्यपि प्रकृत वाक्यमें भी अर्ह अर्थमें ही लिङ् हो सकता है, तथापि भाष्यानुकूल समाधान देनेके लिए प्रकृत वाक्यमें शङ्का करते हैं। भगवान् शङ्कराचार्य ब्रह्ममें चोदनाकी विषयताके अभावका प्रतिपादन करके समन्वयसूत्रमें 'किमर्थानि तर्हि आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्य इत्यादीनि विधिच्छायानि वचनानि' अर्थात् ब्रह्मदर्शनविषयक विधानकी उपपत्ति कैसे हो सकती है? यों शङ्का करके समाधान करते हैं—'स्वाभाविकप्रवृत्तिविषयविमुखीकरणार्थानि'—अर्थात् इष्ट वस्तुको पानेकी और अनिष्ट वस्तुके परिहारकी उत्कट अभिलाषामें चित्त व्यग्र होनेसे परमात्माकी ओर नहीं झुकता, इसलिए बाहरी विषयोंसे अन्तःकरणकी वृत्तिको हटानेके लिए प्रयत्नशील रहनेके विधानमें उक्त वाक्यघटक लिङादिका तात्पर्य है, इस आशयसे उत्तर देते हैं।]

(१) 'अर्हे कृत्यतृचश्च'—पाणिनीय सूत्रसे अर्ह अर्थमें दृशधातुसे तव्य प्रत्यय होकर 'द्रष्टव्यः' पदकी सिद्धि हुई है, 'प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च' सूत्रसे प्रैष—प्रेरणा—रूप अर्थमें नहीं हुई है।

दर्शनविधिरिति चेद् , दर्शनसाधनभूतान्तर्मुखत्वादिविधित्वेन व्याख्येय इति ब्रूमः । व्याख्यातं चाऽस्माभिर्विचारविधिपरत्वेन प्रथमसूत्रतृतीय-वर्णके । तदेवं मोक्षपर्यालोचनया उत्पत्त्याद्ययोग्यब्रह्मपर्यालोचनया ज्ञानपर्यालोचनया च विध्यसंभवादहेयानुपादेयात्मतत्त्वे वेदान्ताः पर्यवस्यन्तीत्यभ्युपेयम् ।

नन्वहंप्रत्ययावसेयात्मनः कर्माङ्गत्वात् तत्र पर्यवसितानां वेदान्ता-नामपि कर्मविधिवाक्यैरेकवाक्यता स्यादिति चेद् , न; अनन्यवेद्ये क्रियाकारकसंसर्गशून्य एवाऽऽत्मनि वेदान्तानां पर्यवसनात् । अग्निहोत्र-फला वेदाः शीलवृत्तफलं श्रुतमिति स्मृतिकारैः सर्वो वेदो धर्मे विनि-युक्त इति चेद्, न; 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि', 'सर्वे वेदा यत्प-

समाधान—साक्षात्कारके कारणीभूत अन्तर्मुखत्व आदि (बाहरी विषयोंसे विमुख कर अन्तःकरणको आभ्यन्तर कर अध्यात्मके चिन्तनमें लगाना) के विधानमें तात्पर्य मानकर उन वाक्योंका व्याख्यान करना चाहिए, ऐसा हम कहते हैं। और हम प्रथम सूत्रके तृतीय वर्णकमें उक्त वाक्योंका विचारविधिमें तात्पर्य कह आये हैं। इस प्रकार मोक्ष तथा उत्पत्ति आदिके अयोग्य ब्रह्म तथा ज्ञान—इन सबके पूर्वोक्त स्वरूपोंका विवेचन करनेसे विधिका अवसर सम्भव न होनेसे हानोपादानशून्य ब्रह्मतत्त्वका विवेचन करनेमें ही वेदान्त-वाक्योंका तात्पर्य निर्द्धारित करना चाहिए ।

शङ्का—'अहम् 'मैं' इस प्रतीतिसे प्रतीयमान आत्मा ही विश्वजिदादि कर्मकलापका (कर्तव्यत्वेन) अङ्ग है, इसलिए उसी अहंप्रत्ययके विषय आत्मामें तात्पर्य रखनेवाले वेदान्तोंकी भी कर्मविधायक वाक्योंके साथ एकवाक्यता करनी ही उचित है ।

समाधान—उक्त कथन उचित नहीं है, कारण कि किसी भी अन्य प्रमाणसे वेद्य न होनेवाले क्रियाकारकभावरूप सम्बन्धसे विरहित आत्मामें ही वेदान्तोंका तात्पर्य निर्द्धारित होता है। यदि यह शङ्का हो कि 'वेदोंका प्रयोजन (तात्पर्य) अग्निहोत्र आदि कर्मोंका प्रतिपादन करना है और शील तथा सदाचारका प्रतिपादन करना शास्त्रोंका प्रयोजन है' एतदर्थक स्मृतिके रचयिता आचार्योंने सम्पूर्ण वेदोंका चोदनात्मक धर्ममें ही विनियोग किया है, तो यह शङ्का उचित नहीं है, कारण कि

दमामन्ति', 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' इति श्रुतिस्मृतिवशात् पूर्वस्मृत्यर्थस्य निर्णेतव्यत्वात् ।

नन्वाम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानामिति वदन् जैमिनिरित्थं मन्यते—उत्तमवृद्धोक्तशब्दश्रवणानन्तरं मध्यमवृद्धस्य प्रवृत्तिं दृष्ट्वा तया तस्य कार्यज्ञानमनुमाय कार्यान्वित एवाऽर्थे शब्दसामर्थ्यं व्युत्पित्सुर्जानाति । तथा च सिद्धवस्तुन्यगृहीतसामर्थ्यस्य शब्दस्य तद्बोधकत्वासंभवाद्वेदान्तानामप्यद्वैतात्मतत्त्वबोधकत्वं नाऽस्तीति, मैवम् ; किं भाट्टमतमवलम्ब्यैवमुच्यते किं वा प्राभाकरमतमवलम्ब्य ? नाऽऽद्यः ।

'उस उपनिषत्—वेदान्त—वाक्योंसे प्रतिपादित पुरुषके विषयमें प्रश्न करता हूँ' एवं 'सब वेद जिस पदका प्रतिपादन करते हैं' इत्यर्थक श्रुतियां और 'सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा मैं ही जाना जाता हूं' इत्यर्थक स्मृतिके अनुसार ही 'अग्निहोत्रफला—' इत्यादि पूर्वोक्त स्मृतिके तात्पर्यका निर्णय करना चाहिए ।

शङ्का—'सम्पूर्ण आम्नाय—वेद—क्रियाके (कर्मकाण्डके) प्रतिपादनके ही निमित्त हैं, जो वेदवाक्य क्रियाका प्रतिपादन नहीं करते, वे सब अनर्थक हैं' इस अभिप्रायके 'आम्नायस्य—' इत्यादि सूत्रकी रचना करनेवाले जैमिनि मुनिका सिद्धान्त है कि उत्तम वृद्ध (आज्ञा देनेवाले पुरुष) के द्वारा कहे गए 'गाय लाओ' इत्यादि वाक्य सुननेके अनन्तर प्रयोज्य वृद्धकी (जिसको आज्ञा दी गयी है, उसकी गौ आदि लानेमें) प्रवृत्ति देखकर उस प्रवृत्तिसे प्रयोज्य वृद्धमें कार्यज्ञानका अनुमान करके शब्दार्थव्युत्पत्तिकी इच्छा रखनेवाला अबोध बालक कार्यसे अन्वित ही अर्थमें शब्दकी सामर्थ्य निर्द्धारित करता है [अर्थात् कार्यान्वित अर्थमें ही शब्दकी शक्तिको जानता है ।] इस प्रक्रियाके अनुसार सिद्धभूत (क्रियाऽन्वयशून्य) अर्थमें शब्दशक्तिका ज्ञान न होनेसे शब्दमें तादृश सिद्ध अर्थका बोधकत्वका सम्भव न हो सकनेके कारण वेदान्तवाक्योंका भी अद्वैतरूप आत्मतत्त्वका बोधक होना सम्भव नहीं है । [इसलिए विधिशेष ही वेदान्तवाक्योंको मानना चाहिए ।]

समाधान—जैमिनिसूत्रोंके दो व्याख्याता हैं, एक कुमारिल भट्ट और दूसरे प्रभाकर, इनमें से उक्त कथन क्या भट्टानुयायियोंके मतके आधारपर है ? अथवा प्रभाकरानुयायियोंके मतको लेकर ? इनमें प्रथम कल्प

अभिहितान्वयवादी हि भाट्टः। स चैवं व्युत्पत्तिप्रक्रियां रचयति—उत्तमवृद्धेन वाक्ये प्रयुक्ते श्रोतुर्मध्यमवृद्धस्य प्रवृत्त्या विशिष्टसंसर्गज्ञानं शब्दकार्यत्वेनाऽनुमाय शब्दसमुदायस्याऽर्थसमुदाये सामर्थ्यं प्रतिपद्यते। तत्र गामानय गां बधानेत्यादिप्रयोगेष्वावापोद्धाराभ्यामानयनतत्संसर्गव्यभिचारेऽपि गोमात्रस्याऽन्वयाद् बन्धनेऽपि गोशब्दस्य गोमात्रे सम्बन्धं प्रतिपद्यते न त्वानयनतत्संसर्गयोर्व्यभिचरितयोः। एवं सर्वपदानां पदार्थ-

---

नहीं बन सकता, कारण कि भट्टके अनुयायी अभिहितान्वयवादी हैं। उनके मतमें व्युत्पत्तिप्रक्रिया इस रीतिपर दिखलाई गयी है—उत्तम वृद्धके द्वारा 'गाय लाओ' इत्यादि वाक्यके प्रयुक्त होनेपर (श्रोता) मध्यम वृद्धकी प्रवृत्तिसे विशिष्ट सम्बन्धज्ञान शब्दका कार्य है, ऐसा अनुमानकर 'गामानय' इत्यादि शब्द-समुदायके (पृथक् पृथक् एक एक शब्दका नहीं) विशिष्ट संसर्गविषयक अर्थसमुदायमें सामर्थ्यका—शक्तिका—अवधारण करता है। अनन्तर 'गायको लाओ', 'गायको बांधो' इत्यादि प्रयोगोंमें आवाप और उद्वापसे आनयन (लाना) तथा उसके साथ कर्मत्वरूप संबन्धका व्यभिचार होनेपर भी केवल गोपदार्थभूत गाय-मात्रका बन्धनमें भी अन्वय होनेसे गोशब्दके गोपदार्थमात्रमें शक्तिरूप सम्बन्धका बोध होता है, व्यभिचरित होनेवाले आनयन और उसके सम्बन्धमें शक्तिग्रह नहीं होता। [बालक उत्तम वृद्ध द्वारा कहे गये—'गामानय' इत्यादि वाक्यको सुन और तदन्तर मध्यम वृद्धकी प्रवृत्तिको देख कर विशिष्ट (कर्मत्वसम्बन्धसे गोपदार्थान्वित) आनयनरूप अर्थमें ही उक्त वाक्यकी शक्ति समझता है। वह बालक कल्पना करता है कि यदि मध्यम वृद्धको उक्त वाक्यका अर्थबोध न हुआ होता, तो वह वाक्यको सुननेके बाद कार्यमें प्रवृत्त न होता। प्रवृत्ति भी उसकी दूर देशमें विद्यमान गायको समीपमें ले आनेमें ही हुई है, इसलिए निश्चित होता है कि 'गामानय' वाक्यकी सामर्थ्य इसी अर्थका बोध करानेमें है। इससे उसने ऐसा भी निर्द्धारण किया कि वाक्यसे सम्बन्ध रखनेवाले अर्थका ही ज्ञान होता है, क्योंकि उसने यही अर्थ क्यों समझा? कोई दूसरा ही कार्य क्यों नहीं किया?। तदनन्तर उस बालकने उत्तम वृद्धको कहते सुना कि 'गां बधान, अश्वमानय' (गाय बांधो और घोड़ा ले आओ) और मध्यम वृद्धको गाय बांधते और घोड़ा लाते देखा। इसमें कुछ-कुछ दूसरे-दूसरे प्रकारके शब्दोंको सुनने

स्वरूपमात्रेषु सामर्थ्यप्रतिपत्तेः संसर्गबोधः किंनिबन्धन इति वीक्षाया-मनन्यथासिद्धान्वयतिरेकाभ्यां शब्दावगतपदार्थनिबन्धन इति कल्प्यते। ततः पदेभ्यः पदार्थाः पदार्थेभ्यः संसर्ग इत्यभिहितान्वय इति।

तथा कुछ-कुछ दूसरे-दूसरे प्रकारके अर्थोंको देखनेसे विचार किया कि प्रथम वाक्यमें जैसे गोपद था वैसे ही दूसरे वाक्यमें भी है, और अर्थ भी—प्रथम व्युत्पत्तिके समान गलकम्बल, पूछ आदिवाली वस्तु भी—समान ही है। परन्तु आनयनका (दूरदेशसे समीप देशमें लानेका) सम्बन्ध नहीं दीख रहा है, इसलिए उसने निश्चय कर लिया कि गोपदार्थके साथ आनयन तथा उसके सम्बन्धका बोध होना नियमतः नहीं है, अर्थात् व्यभिचरित है, किन्तु गलकम्बल आदिसे युक्त वस्तु तो नियमित दीख रही है, अतः गोपदका शुद्ध (सम्बन्धरहित) गल-कम्बल आदिसे युक्त वस्तु ही अर्थ है। एवं आनयन भी पदार्थसे सम्बन्ध रखता हुआ ही सर्वत्र प्रतीत नहीं होता, कारण कि 'अश्वमानय' इस वाक्यका अर्थ, जो कि 'अश्वमानय' वाक्यके श्रवणके अनन्तर मध्यम वृद्धकी प्रवृत्तिको देखनेसे ज्ञात हुआ है, उसमें गोपदार्थ और उसका सम्बन्ध नहीं है, इसलिए आनयन पदार्थ भी शुद्ध सम्बन्धरहित दूर देशसे समीप देशमें लानामात्र ही है। इस व्यावहारिक प्रक्रियाके अनुसार व्यवहारके शक्तिग्राहक होनेपर भी उसमें किसी-किसी शब्दकी तथा किसी-किसी अर्थकी अनुवृत्तिरूप आवाप एवं किसी-किसी शब्द तथा अर्थका भी न रहनारूप उद्वापसे गो आदि पदोंकी शक्तिका अन्वयविरहित अर्थमें ही निश्चय होता है, इस आशयसे निष्कर्ष लिखते हैं—] इस प्रकार सभी पदोंका शुद्ध पदार्थस्वरूपमात्रमें सामर्थ्यका (शक्तिका) ज्ञान होता है। यदि पदसे केवल पदार्थका ही बोध होता है, तो अन्वयस्वरूप सम्बन्धकी (जो वाक्यसे प्रतीत होता है) प्रतीति कैसे होगी, यों जिज्ञासा होनेपर उत्तरमें कल्पना की जायगी कि अन्यथासिद्धिको प्राप्त न होनेवाले अन्वय तथा व्यतिरेकके बलसे शब्दश्रवणके बाद प्रतीत हुए पदार्थ ही अन्वयकी भी प्रतीति करा देंगे। [अर्थात् पदोंके अन्वय-व्यतिरेक पदार्थमात्रकी प्रतीति करानेमें ही उपयुक्त होते हैं, उनसे संसर्गका बोध नहीं हो सकता, किन्तु पद द्वारा प्रतीत हुए पदार्थ ही अन्वय-व्यतिरेकके बलसे संसर्गका बोध कराते हैं। यद्यपि प्रत्यक्ष-दृष्ट घट, पट आदि पदार्थोंसे संसर्गका बोध नहीं होता, तथापि पदोंके द्वारा उपस्थित

एवं च सत्येतन्मतानुसारेण शब्दस्य न कार्यान्वितस्वार्थे सामर्थ्यं किन्तु स्वार्थमात्रे। ततः सूत्रगतानर्थक्यपदेनाऽक्रियार्थानां शब्दानां नाऽभिधेयाभावो वर्णयितुं शक्यः। अथ प्रयोजनाभावो वर्ण्येत, तन्न; सोऽरोदीदित्यादिवाक्यानां तथात्वेऽपि निरतिशयानन्दरूपब्रह्मप्रतिपादकानां वेदान्तानां निष्प्रयोजनत्वायोगात्।

नन्वस्तु तर्हि द्वितीयः पक्षः, अन्विताभिधानवादिना प्राभाकरेण भाट्टवद्भिरलपदार्थव्युत्पत्त्यनङ्गीकारात्। स ह्येवं व्युत्पत्तिप्रक्रियां रचयति—शुक्लां गामानय दण्डेनेति शब्दस्य श्रवणानन्तरं श्रोतुर्गवानयने प्रवृत्तिमुपलभ्य गवानयकर्त्तव्यताऽनेन श्रोत्रा शब्दात्प्रतिपन्नेति भूतार्थ-

---

पदार्थोंमें संसर्गबोधकत्व स्वभावसिद्ध है।] इसलिए पदोंसे पदार्थ तथा पदार्थोंसे सम्बन्धका बोध होता है, ऐसा अभिहितान्वयवादी (भाट्ट) कहते हैं। भट्टमतावलम्बियोंकी प्रक्रियाको माननेवालोंके मतमें कार्यसे अन्वित स्वार्थमें शब्दकी शक्ति नहीं है, किन्तु अन्वयरहित स्वार्थमें ही है। इस सिद्धान्तके अनुसार जैमिनि मुनिजीके उक्त 'आम्नायस्य०' इत्यादि सूत्रमें स्थित आनर्थक्यपदसे क्रियामें तात्पर्य न रखनेवाले शब्दोंका अभिधेय (वाच्य अर्थ) नहीं है, ऐसा आनर्थक्य नहीं कह सकते, [क्योंकि उक्त रीतिसे पदमात्रका क्रियानन्वित स्वार्थ ही है]। यदि आनर्थक्यपदसे प्रयोजनका अभाव कहा जाय, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'वह रोया' इत्याद्यर्थक वाक्योंके प्रयोजनरहित होनेपर भी अतिशयविरहित (सर्व श्रेष्ठ) आनन्दरूप ब्रह्मका प्रतिपादन करनेमें प्रवृत्त वेदान्तवाक्य प्रयोजनरहित हो ही नहीं सकते।

शङ्का—अच्छा तो दूसरा पक्ष ही मानो, अर्थात् प्रभाकरमतके अनुसार उक्त सूत्रका तात्पर्य वर्णन किया जायगा, कारण कि प्रभाकरके अनुयायी भट्टमतानुयायियोंके समान अन्वयके विना शुद्ध पदार्थमें व्युत्पत्ति नहीं मानते। वे इस प्रकार व्युत्पत्तिप्रक्रियाकी रचना करते हैं—'दण्डसे शुक्ल गाय ले आओ' इस प्रकार शब्दोंके सुननके अनन्तर श्रोता (सुननेवाले) की गाय लानेमें प्रवृत्ति देखकर इस श्रोताने उक्त वाक्यसे गायका ले आनारूप कर्तव्यका ज्ञान प्राप्त किया, इसलिए (गाय आदि रूप) सिद्ध वस्तुसे अन्वित कार्यमें शब्द-

संसृष्टे कार्ये शब्दसमुदायस्य सामर्थ्यं बालः प्रतिपद्यते। पुनश्च गां बधानाऽश्वमानयेत्यादिप्रयोगान्तरेषु गोशब्दस्याऽन्वये कार्यसंसृष्टगवाकृते-रन्वयात्तदुद्धारे च कार्यसंसृष्टगवाकृतेरेवोद्धारात् कार्यसंसृष्टायां गवि पद-सामर्थ्यं कल्प्यते। आनयनतत्संसर्गव्यभिचारेऽपि कार्यसंसर्गाव्यभि-चारात्। एवं च सति यथाऽभिहितान्वयवादे पदानां प्रथमावगतसंसर्ग-बुद्धिहेतुत्वस्याऽपवादो वाक्यवाक्यार्थयोर्मध्ये पदार्थतच्छक्तिव्यवधानगौरवं चेति दोषद्वयमस्ति न तथाऽन्विताभिधानवादे तदस्ति प्रत्युत पदानामेव संसर्गप्रतिपादने लाघवमिति।

समुदायकी शक्तिको बालक निर्द्धारित करता है। तदनन्तर 'गाय बांधो और घोड़ा ले आओ' इत्यादि दूसरे शब्दोंके प्रयोगोंमें गोपदका अन्वय करनेमें कार्यसे सम्बद्ध ही गोपदार्थभूत आकृतिका अन्वय होता है और दूसरे वाक्योंमें गोपदके न रहनेसे (बदल देनेसे) कार्यसम्बद्ध ही गोपदार्थ बदल जाता है, [अनन्वित गोपदार्थ नहीं है], इसलिए कार्यान्वित गोपदार्थमें ही गोपदकी सामर्थ्यकी (शक्तिकी) कल्पना की जाती है। यद्यपि आनयन तथा उसके संसर्गका (कर्मत्व आदिका) 'गौरागच्छति' आदि वाक्यमें व्यभिचार पाया जाता है, तथापि कार्यसामान्यमात्रसे अन्वयका तो कहीं भी व्यभिचार नहीं है। [अभिहितान्वयवादकी अपेक्षा अन्विताभिधान-वादमें लाघव दिखलाते हैं—] उक्त अन्विताभिधानवादकी प्रक्रियाके मान लेनेसे जैसे अभिहितान्वयवादमें पदोंके प्रथम (व्यवहारसे) प्रतीत हुए संसर्ग-ज्ञानके कारणका बाध करनारूप एक और दूसरा वाक्य तथा वाक्यार्थके मध्यमें पदार्थ तथा उस वाक्यकी शक्तिके ज्ञानका व्यवधानरूप यों दो दोष आ जाते हैं, वैसे अन्विताभिधानवादमें दोष नहीं आते। इसके विपरीत पदोंका ही सीधा अन्वय प्रतिपादन करनेमें लाघव है। [अर्थात् पद ही सीधे वाक्यार्थ-रूप अन्वयका बोध करा देते हैं, अतः उसके लिए अतिरिक्त वाक्यशक्ति मानना आवश्यक नहीं है। अभिहितान्वयवादमें तो वाक्यार्थबोधके हेतु-भूत पदोंके द्वारा पदार्थस्मृति तो अपेक्षित ही है, परन्तु इसके अतिरिक्त पदार्थोंका परस्पर अन्वय बोध होनेके लिए वाक्यशक्तिग्रह होनेके अनन्तर व्यवधानसे ही संसर्गावगाही वाक्यार्थबोध होता है, अन्विताभिधान-

नैतत्सारम्, नहि प्रयोगभेदेपु कार्यसंसर्ग एव गवाकृतेर्नियमेन प्रतीयते, किन्तु गुणद्रव्यक्रियाकारकसंसर्गश्च। तथाहि—शुक्लां गामानयेत्यत्र गुणस्य जातियुक्तेन द्रव्येण सम्बन्धः द्रव्यस्य च विभक्त्यर्थेन कारकेण पुनश्च विभक्त्यर्थविशिष्टस्य द्रव्यस्य क्रियया क्रियायाश्च नियोगकार्येणेति व्यवहितः कार्यसम्बन्धः। तथा च सत्यव्यवहितसम्बन्धोपादानसिद्ध्येऽन्यान्वितस्वार्थमात्रे शब्दसामर्थ्यमभ्युपेयम्, लाघवात्। अन्यथाऽनुवादप्रसङ्गात्। कार्यान्वितस्वार्थेपु प्रमाणान्तरगृहीतेपु शब्दसामर्थ्यं प्रतिपद्य पश्चाद् वाक्यप्रमाणादपि तावन्मात्रप्रतिपत्तौ कथमनुवादो

वादके समान पदोंके श्रवणान्तर पदशक्तिके द्वारा अव्यवधानसे वाक्यार्थ बोध नहीं हो सकता।]

समाधान—इस प्रकार अन्विताभिधानवादका क्रियान्वित स्वार्थमें पदोंका अर्थवर्णन करनेकी प्रक्रिया सारगर्भित नहीं है अर्थात् असंगत है, कारण कि सब प्रकारके प्रयोगोंमें अकेले गोपदार्थस्वरूपमें कार्यका ही सम्बन्ध नियमसे (अव्यभिचाररूपसे) प्रतीत नहीं होता, किन्तु गुण, द्रव्य, क्रिया तथा कारकका भी सम्बन्ध प्रतीत होता है। [उक्ताशयका उपपादन करते हैं—] 'शुक्ल वर्णकी गायको लाओ' इस वाक्यमें शुक्ल गुणका गोत्वजातिसे युक्त गायरूप द्रव्यके साथ सम्बन्ध और उस द्रव्यका विभक्त्यर्थभूत कारकसम्बन्ध एवं विभक्त्यर्थ कारकसम्बन्धसे विशिष्ट (कर्मकारक) द्रव्यका 'आनयन आदि' क्रियासे तथा क्रियाका (लोडादिके अर्थभूत) नियोगस्वरूप कार्यसे अन्वय होता है। इस प्रकारसे होनेवाली प्रक्रियाके अनुसार गोपदवाच्य गोपदार्थका कार्यके साथ व्यवधानसे ही सम्बन्ध होता है। इस दशामें अव्यवहित सम्बन्धकी सिद्धिके लिए (स्वार्थसे अतिरिक्त) अन्य पदार्थसे अन्वयप्राप्त स्वार्थमें ही लाघवके अनुरोधसे शब्दकी शक्ति मानना उचित है। अन्यथा माननेसे अनुवादका प्रसङ्ग आ जायगा। [तात्पर्य यह है कि कार्यान्वित ही गवादिरूप स्वार्थमें यदि गोपदकी शक्ति मानी जाय, तो कार्यबोधक लोट् आदिका प्रयोग करना गोपदादिसे ही सिद्धार्थका प्रतिपादक होनेसे अनुवादकके अतिरिक्त विधिबोधक नहीं हो सकता], कारण कि 'व्यवहारके दर्शनसे अनुमानादि प्रमाण द्वारा गृहीत कार्यान्वित स्वार्थमें गो आदि पदोंकी शक्तिका निश्चय करके

न भवेत् । न च कार्येण सर्वपदार्थानामव्यवहितः सम्बन्धोऽस्ति येन तत्संसृष्टे सामर्थ्यं स्यात् । अस्ति कार्यस्य सर्वपदार्थैः सम्बन्धः शेषशेषिलक्षण इति चेत्, तत्र कार्यस्य शेषिता नाम किं स्वामिता किं वाऽवयविता उत साध्यता अथवा परमसाध्यता ? नाऽऽद्यः, अचेतनस्य स्वामित्वायोगात् । न द्वितीयः, इतरपदार्थानां कार्यं प्रत्यवयवत्वाभावात्, न तृतीयः, क्रियाया एव सर्वत्र कारकसाध्यत्वात् । न चतुर्थः, स्वर्गादेरेव परमसाध्यत्वात् । अतः सर्वानुगतैकप्रयोजकलाभायाऽन्यान्विते सामर्थ्यमभ्युपेयम् । यदि कार्यान्विते सामर्थ्यं स्यात्

तदनन्तर वाक्यरूप प्रमाणसे भी यदि कार्यान्वयका ही बोध होगा, तो वाक्यमें अनुवादकत्वका प्रसङ्ग क्यों नहीं होगा ? और सम्पूर्ण पदार्थोंका कार्यके (नियोगके) साथ व्यवधानशून्य सम्बन्ध हो भी नहीं सकता, जिससे कि कार्य-सम्बद्ध स्वार्थमें शब्दकी शक्ति हो सके ।

शङ्का—सम्पूर्ण पदार्थोंके साथ कार्यका शेषशेषिभावरूप सम्बन्ध विद्यमान ही है ।

समाधान—यदि शेष-शेषिभाव सम्बन्ध कार्यके साथ है, तो इसमें विकल्प हो सकते हैं कि कार्यमें शेषिता (कार्यको शेषी मानना) क्या स्वामित्वरूप है ? या अवयवितारूप है ? अथवा साध्यतारूप है ? अथवा परमसाध्यतारूप है । इनमें प्रथम कल्प नहीं बन सकता, कारण कि अचेतनका कार्यका स्वामी होना सम्भव नहीं है । दूसरा कल्प भी युक्त नहीं है, क्योंकि अन्य पदार्थ कार्यके अवयव नहीं हो सकते । तृतीय पक्ष भी नहीं हो सकता, कारण कि सर्वत्र क्रिया कारकसे ही साध्य होती है, [अतः प्रकृतमें नियोगात्मक कार्य भी कारकसाध्य ही है] । चतुर्थ पक्ष भी नहीं बन सकता, कारण कि परम साध्य तो स्वर्ग आदि ही हैं । इसलिए सर्वत्र अनुगत एक प्रयोजकके लाभके लिए अन्यसे अन्वित पदार्थमें ही शक्ति मानना उचित है । [पूर्वप्रदर्शित रीतिसे नील आदि गुणोंका घटादि द्रव्योंके साथ और गुणान्वित द्रव्योंका विभक्त्यर्थभूत कर्मादिसम्बन्ध द्वारा क्रियाके साथ अन्वय होगा, अनन्तर क्रियाका 'लोट्' आदिके अर्थभूत नियोगके साथ अन्वय होगा, इतनी परम्पराको लेकर आपके अन्तर्गडुभूत नियोगके साथ

तदा कार्यपदस्य तन्न सिध्येत्, कार्यान्तराभावात्। अस्ति धात्वर्थलक्षणं कार्यान्तरमिति चेद्, न; धात्वर्थस्य प्रथमतः कार्यत्वाभावात्। नियोगकार्यस्य साध्यत्वसिद्ध्यर्थं धात्वर्थे विषयत्वेनाऽन्विते पश्चात् करणभूतस्य च तस्य धात्वर्थस्याऽनुष्ठेयतया कार्यत्वं न तु नियोगान्वयकाले। न चैक-

---

पदार्थका अन्वय होगा, इसलिए पदकी सामान्यतः अन्य पदार्थसे अन्वित स्वार्थमें ही शक्ति माननी चाहिए, कार्यान्वितमें नहीं माननी चाहिए, क्योंकि कार्यान्वय सर्वत्र अनुगत नहीं है और व्यभिचरित भी है, इस आशयसे व्यभिचार-स्थल दिखलाते हैं—]—यदि कार्यान्वित स्वार्थमें ही शब्दकी सामर्थ्य मानी जाय, तो कार्यरूप पदका वह (कार्यान्वितरूप स्वार्थ) सिद्ध नहीं होगा, कारण कि वहांपर कार्यरूप पदार्थसे अतिरिक्त दूसरा कार्य नहीं है। [जैसे 'गामभ्याज' इत्यादि वाक्यमें गोपदार्थसे अतिरिक्त लोडन्त पदार्थ प्रेरणारूप क्रियाका नियोगात्मक कार्य विद्यमान है, इसलिए उक्त स्थलमें व्यवहित भी क्रियान्वित स्वार्थका सम्भव है, वैसे जहाँ 'कार्यम्' ऐसा पद है, वहां अतिरिक्त पदार्थ कार्य नहीं है, जिससे कि उसके साथ अन्वित होकर कार्यपद अपने स्वार्थका बोध करा सके। कार्यमें वाचकरूप दो पद हैं—एक कृधातु और दूसरा ण्यत्रूप कृत्य प्रत्यय इन दोनोंका कार्य ही अर्थ है, इसलिए परस्परान्वित स्वार्थका बोध हो सकता है, ऐसा समझ कर वादी शङ्का करता है—] यदि कहो कार्यपदमें कृधातुका अर्थस्वरूप अतिरिक्त कार्य भी विद्यमान ही है, [नियोगनिर्वाहके लिए धात्वर्थमें कार्यत्वबुद्धि कर्तव्यबुद्धिके निश्चयके बाद ही हो सकती है, इस आशयसे सिद्धान्तीका समाधान है—] तो यह कहना भी उचित नहीं है, कारण कि नियोगरूप कार्यके साथ अन्वय होनेसे पहले धात्वर्थ कार्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नियोगस्वरूप कार्यमें साध्यत्वकी सिद्धिके लिए विषयस्वरूपसे धात्वर्थका अन्वय होता है, अनन्तर करणात्मक उस धात्वर्थमें, अनुष्ठानयोग्य होनेसे, कार्यत्व माना जा सकता है, परन्तु नियोगके साथ अन्वय होते समय वैसा नहीं माना जा सकता। [तात्पर्य यह है कि 'यजेत' इत्यादि स्थलमें लिङादिप्रत्यय द्वारा यागविषय नियोगकी प्रतीति हुई। वह नियोग स्वयं कृतिसाध्य नहीं हो सकता, अतः नियोगमें कृतिसाध्यत्वका निर्वाह करनेके लिए विषयीभूत यजादिधात्वर्थरूप यागादिमें कृति-

स्मिन् कार्यपदे व्यभिचारभयेन बहूनां पदानामव्यभिचरितकार्यान्वितार्थत्वहानमयुक्तमिति वाच्यम्, तथा सत्यर्थगतप्रमाणान्तरग्राह्यत्वस्याऽप्यव्यभिचारितया शब्दसामर्थ्यविषयत्वप्रसङ्गात्। अथोच्येत--अनन्यथा-

---

साध्यत्व माना जाता है। इस रीतिसे जबतक यागका विषयत्वरूपसे नियोगमें अन्वय नहीं होता, तबतक यागमें कृतिसाध्यत्वरूप अनुष्ठेयत्वकी सिद्धि ही नहीं हो सकती, फिर वह कृतिसाध्यरूप कार्य कैसे माना जा सकता है? क्योंकि वह तो नियोगविषय होनेसे सिद्ध ही है। और नियोगका तो कार्यत्व-बुद्धिविषयताशून्य शुद्ध धात्वर्थमात्रसे अन्वय होता है, कार्यबुद्धिमें विषय हुए धात्वर्थसे नहीं होता, क्योंकि धात्वर्थभूत यागादि पदार्थमें कर्तव्यबुद्धि तो नियोगमें अन्वय होनेपर ही होती है। इससे यह भी नहीं कह सकते कि नियोगके अनन्तर अन्वय हो जानेपर कार्यबुद्धि होती ही है, अतः कार्यान्वय बन ही गया, कारण कि हम तो यही कहते हैं कि नियोगके साथ अन्वयकालमें तो कार्यके साथ अन्वय नहीं होता। और दूसरा अन्योन्याश्रय दोष भी आता है—विषयके बिना विषयीका सम्भव नहीं है, अतः धात्वर्थ यागादिरूप विषयमें अन्वयके अनन्तर ही विषयी नियोगकी सिद्धि होगी और नियोगमें धात्वर्थके अन्वयके अधीन ही धात्वर्थमें कार्यत्वकी सिद्धि होगी।]

शङ्का—[पदका कार्यान्वित ही अर्थ है, ऐसा माननेवालोंका कहना है कि] एक कार्यपदमें व्यभिचार होगा, इस डरसे व्यभिचरित न होनेवाले कार्यान्वित अर्थमें अनेक पदोंकी शक्तिका त्याग करना युक्तिसङ्गत नहीं है।

समाधान—यदि अधिक स्थलमें व्यभिचरित न होनेवाला अर्थ ही पदोंका अर्थ मान लिया जाय, तो पदोंके स्वार्थमें सर्वदा विद्यमान प्रमाणान्तरग्राह्यत्वरूप अर्थमें भी, (अर्थात् घटादि पदार्थ केवल पदके द्वारा ही नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष आदि दूसरे प्रमाणोंसे भी गृहीत होते हैं) अधिक स्थलोंमें व्यभिचार न होनेसे, शब्दशक्तिके विषयत्वका प्रसङ्ग हो जायगा। [यद्यपि विकल्पवृत्तिसे उपस्थित होनेवाले वन्ध्यापुत्रादि पदार्थोंमें प्रमाणान्तरग्राह्यत्वका व्यभिचार है, तथापि अधिक स्थलमें व्यभिचारशून्य होनेके कारण वादीके मतमें अल्प स्थलका व्यभिचार बाधक न होनेसे उक्त अतिप्रसङ्ग दोषमें कोई बाधक नहीं है।]

सिद्धान्वयव्यतिरेकबलात् सर्वत्र शब्दवाच्यत्वं कल्पनीयम् , प्रमाणान्तरग्राह्यत्वस्याऽव्यभिचारित्वं तु प्रयोगनिमित्ततयाऽन्यथासिद्धम् ; शब्दप्रयोगो हि प्रमाणान्तरगृहीत एवाऽर्थे सम्भवति नाऽन्यथा। तस्मान्नोक्तप्रसङ्ग इति। तर्हि कार्यस्याऽव्यभिचारित्वमप्यन्यथासिद्धम्। मध्यमवृद्धप्रवृत्तिदर्शनेन हि बालस्य व्युत्पत्तिर्भवति। न च कार्यज्ञानेन विना मध्यमवृद्धप्रवृत्तिः, अतः *प्रवृत्तिरूपलिङ्गदर्शनहेतुकार्याव्यभिचारस्याऽन्यथासिद्धेर्न कार्यस्य

शङ्का—यदि वादीका कहना हो कि अन्यथासिद्धिसे शून्य अन्वय और व्यतिरेकके आधारपर ही सर्वत्र शब्दके वाच्य अर्थकी कल्पना की जाती है और प्रमाणान्तरग्राह्यत्वरूप अर्थमें व्यभिचारका न आना तो उसकी प्रयोगमें निमित्तता होनेसे ही अन्यथासिद्ध है। [अर्थात् प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंके द्वारा अर्थज्ञान प्राप्त करके शब्दप्रयोग किया जाता है, अतः अर्थमें गृहीत तथा अव्यभिचरित प्रमाणान्तरगम्यत्व तो प्रयोगमें ही पुरुषको प्रवृत्त करा देनेमें उपयुक्त हो जाता है, उसमें शब्दसामर्थ्यका विषय होनेतक बल ही नहीं रह जाता, अतः प्रयोग द्वारा अन्यथासिद्ध हो जाता है।] कारण कि शब्दोंका प्रयोग तो प्रमाणान्तरोंसे ज्ञात अर्थमें ही हो सकता है, अन्यथा नहीं होता। [अर्थात् ज्ञात पदार्थोंका ही बोध करानेके लिए शब्दोंका प्रयोग होता है, अज्ञात पदार्थोंके लिए शब्दोंका प्रयोग ही नहीं हो सकता] इसलिए उक्त अतिप्रसङ्ग (प्रमाणान्तरगम्यत्वरूप अर्थमें शब्दसामर्थ्यविषयत्वरूप दोषका होना) नहीं बन सकता।

समाधान—तब तो कार्यका भी व्यभिचारसे शून्य होना अन्यथासिद्ध है। [कार्यकी अन्यथासिद्धि दिखलाते हैं—] मध्यम वृद्धकी (जिसको काम करनेकी आज्ञा दी गई है, उसकी) प्रवृत्तिको देखनेसे ही बालकको व्युत्पत्ति (शब्दके अर्थका ज्ञान) होती है। और कार्यज्ञानके बिना मध्यम वृद्धकी प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती। [अर्थात् यदि काम करनेवालेको कामका ही पता न हो, तो वह करेगा ही क्या? इस दशामें उसकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती, परन्तु बालक उसको काम करते देखता है,

* 'प्रवृत्तिरूपलिङ्गदर्शनहेतुकार्याव्यभिचारस्य' इस पदमें प्रवृत्तिरूपं यत् लिङ्गम्, तस्य दर्शनम्, तत्र हेतुर्यः कार्यस्य अव्यभिचारस्तस्य—ऐसा समास है। प्रवृत्तिके

सर्वपदसामर्थ्यविषयत्वम् । एवं च सति देवदत्तो भुक्त्वा निर्गत इत्येवमादिभिः कार्यशून्यैरपि वाक्यैर्लोके प्रतीयमानाऽर्थप्रमितिरुपपद्यते । न च कार्यरहितस्थले कथं व्युत्पत्तिरिति वाच्यम् , निघण्टुव्याकरणोपदेशैरपि व्युत्पत्तिसम्भवात् । तस्मात् कार्यमनपेक्ष्याऽन्यान्वितस्वार्थं पदान्यभिदधति ।

नन्वन्विताभिधानाङ्गीकारे गोशब्द आनयनबन्धनाद्यनेकप्रतियोगिकान्वयवत्स्वार्थमभिदध्याद् आनयशब्दश्च गवाश्वाद्यनेकप्रतियोगिकान्वयवत्स्वार्थम् । तथा च गामानयेति वाक्यस्याऽर्थो व्यवस्थितो न

इसलिए उसको निश्चय होता है कि कार्यज्ञान इसको अवश्य हुआ है ।] इससे प्रवृत्तिरूप लिङ्गदर्शनमें कारणीभूत कार्यके अव्यभिचारकी (अन्वय-व्यतिरेककी) अन्यथासिद्धि होनेसे कार्य सम्पूर्ण पदोंकी सामर्थ्यका (शक्तिका) विषय है, ऐसा नहीं बन सकता । कार्यमें पदोंकी शक्तिका विषयत्व न होनेसे ही कार्यमें तात्पर्य न रखनेवाले 'देवदत्त भोजन करके चला गया' इत्यादि वाक्योंसे भी लोकमें प्रतीयमान अर्थकी प्रतीति देखी जाती है । यदि कहो कि जहां कार्यशून्य वाक्य हैं, वहाँ अर्थप्रतीति नहीं होती, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, कारण कि निघण्टु (वैदिककोश—या साधारण कोश) तथा व्याकरण आदि शास्त्रोंके उपदेशोंसे भी व्युत्पत्ति (अर्थ-प्रतीति) हो सकती है । इसलिए कार्यकी अपेक्षा न करके केवल अन्य पदार्थोंसे अन्वित स्वार्थका ही पद अभिधान (शक्ति द्वारा बोध) करते हैं ।

शङ्का—अन्विताभिधानके माननेमें 'गो' शब्द अपनी अभिधाशक्तिके द्वारा आनयन, बन्धन आदि अनेक अर्थोंके अन्वयसे युक्त ही स्वार्थका बोध करावेगा तथा 'आनय' शब्द भी गाय तथा अश्व आदि अनेक पदार्थोंके साथ अन्वित ही अर्थका बोध करावेगा, इस परिस्थितिमें 'गाय ले आओ' इस वाक्यका अर्थ व्यवस्थित नहीं होगा [अर्थात् उक्त वाक्यमें आनयना-

---

ही कार्यके अन्वय तथा व्यतिरेकका अनुमान होता है, इसलिए प्रवृत्ति ही कार्याव्यभिचारका अनुमापक लिङ्ग है । जैसे धूम वह्निका अनुमापक है और धूमदर्शनमें हेतु वह्निका अव्यभिचार—अन्वयव्यतिरेक—है, वैसे ही प्रवृत्तिरूप लिङ्गके दर्शनमें हेतु कार्यका अव्यभिचार है ।

स्यादिति चेद्, मैवम्; गोशब्दार्थान्वयप्रतियोगिविशेषमानयशब्दो नियच्छति तथाऽऽनयशब्दार्थान्वयप्रतियोगिविशेषं गोपदमिति पदद्वयबलाद्वाक्यार्थव्यवस्थासिद्धेः। नन्वेवमपि गोपदस्याऽऽनयनसंसृष्टगोत्वमर्थः। आनयपदस्याऽपि गोत्वसंसृष्टमानयनमित्यर्थाधिक्याभावात् पदद्वयस्य पर्यायता स्यादिति चेद्, मैवम्; नहि गामिति पदमात्रादानयनान्वितत्वं गोः प्रतीयते आनयेति वा पदमात्रादानयनस्य गवान्वितत्वं किन्तु पदद्वयेन परस्परान्वितत्वं प्रतीयते, अतो नोक्तदोषः।

न्वित स्वार्थ ही गोपदका अर्थ है, ऐसी व्यवस्था नहीं हो सकती, जब कि गोपदका अनेक पदार्थान्वित स्वार्थ है]।

समाधान—उक्त दोष नहीं आ सकता, कारण कि गोपदार्थके साथ अन्वित होनेवाले पदार्थका नियमन (व्यवस्थापन) आनयपद कर देता है। एवं आनयन पदार्थके साथ अन्वयको प्राप्त होनेवाले पदार्थकी व्यवस्था गोपद करता है, इसलिए गो और आनयन—इन दोनों पदोंके कारण वाक्यार्थकी व्यवस्था बन जाती है। इस प्रकार व्यवस्था बन जानेपर भी शङ्का रह जाती है कि गोपदका आनयनसे सम्बद्ध गोत्व ही (गोपदार्थ) अर्थ है और आनयपदका भी गोपदके स्वार्थसे सम्बद्ध आनयनरूप अर्थ है, यों दोनों पदोंका ('गो' पद और 'आनय' पदका) एक दूसरेके अर्थसे अतिरिक्त अधिक अर्थ न होनेसे उन्हें पर्याय मानना पड़ेगा। उत्तर देते हैं कि उक्त शङ्का नहीं हो सकती, कारण कि केवल गोपदके श्रवणमात्रसे आनयनयुक्त गोपदार्थकी प्रतीति नहीं होती और न केवल आनयपदसे ही गोपदार्थसे अन्वित आनयनकी प्रतीति होती है, किन्तु दोनों पदोंके रहनेसे ही एक दूसरे अर्थसे अन्वित पदार्थकी प्रतीति होती है; इसलिए उक्त दोष नहीं आ सकता *।

---

* पर्यायस्थलमें स्वतन्त्र एक एक शब्द ही प्रतीत होनेवाले सम्पूर्ण स्वार्थका बोध करा देते हैं, इसलिए सब पर्याय शब्दोंका प्रयोग एक साथ प्राप्त नहीं होता। प्रकृतमें इसके विपरीत दोनों पदोंके रहनेसे ही परस्परान्वित अर्थका बोध होता है, केवल एक-एक पदके प्रयोगसे नहीं, इसलिए दोनों पदोंके अर्थमें प्रत्येकके अर्थसे भेद सिद्ध ही है।

ननु गोशब्दोच्चारणे कृते गवाकृतिरेव किमिति प्रतीयते न सामर्थ्य-विषयीभूतं सर्वमिति। अव्यभिचारात्संस्कारभूयस्त्वाद्गवाकृतेरितरेषां व्यभिचारादिति ब्रूमः। ननु गोशब्देनाऽऽनयशब्देन च पूर्वापरीभावादर्थभेद इति वाच्यम्, आहिताग्न्यग्न्याहितशब्दयोरप्यर्थभेदप्रसङ्गात्।

[यदि अन्यसे अन्वित पदार्थमें पदोंकी शक्ति मानी जाय, तो स्वेतरयावत्पदार्थजात (अपने स्वार्थसे अतिरिक्त सभी अन्य पदार्थ) पदकी शक्तिके विषय हो जायँगे, इस रीतिसे आनयनादिके साथ अन्वयकी प्रतीतिका भी गो आदि पद द्वारा सम्भव होनेके कारण गो और आनय आदि पद समानार्थक होनेसे पर्याय हो जायँगे, ऐसी आशङ्का करते हैं—]

गोशब्दके उच्चारण करनेसे केवल गायका ही आकारविशेष प्रतीत क्यों होता है? गोपदकी शक्तिके विषय अन्य सकल पदार्थ प्रतीत क्यों नहीं हो जाते? [जिससे कि पर्याय होनेका दोष निवृत्त हो सके।]

समाधान—गायकी आकृतिके उपस्थित होनेमें कारण संस्कारका आधिक्य है और गोपदार्थमें उसका व्यभिचार भी नहीं है, इतर सम्पूर्ण पदार्थोंके साथ तो व्यभिचार विद्यमान है, * ऐसा हम कहते हैं। गोशब्द और 'आनय' शब्दको ('गामानय' 'आनय गाम्' इस प्रकार) आगे पीछे बदल कर उसका प्रयोग करनेसे अर्थके परिवर्तनकी भी आशङ्का नहीं की जा सकती, कारण कि इस प्रकारका परिवर्तन करनेसे तो आहिताग्नि और अग्न्याहित—इन दोनों पदोंके अर्थमें भी भेद (परिवर्तन) हो जायगा। †

* 'गामानय' या 'गां बधान' इत्यादि भिन्न-भिन्न वाक्योंमें गायका आकार तो एक-सा सर्वत्र अन्वित है, उसमें व्यभिचार नहीं है; पर आनयन या बन्धन परस्पर व्यभिचरित हैं, अतः एक दूसरे वाक्यमें एक दूसरे अर्थका अभाव है।

† 'आहिता अग्नयो येन' 'जिसने अग्निका आधान किया हो' इस बहुव्रीहि समासमें 'आहित' पदका, निष्ठान्त होनेसे, पूर्वप्रयोग नियमतः प्राप्त था, परन्तु 'वाहिताग्न्यादिषु' इस पाणिनीय सूत्रके अनुसार आहितपदका पूर्वप्रयोग करनेमें विकल्प हो जाता है। इसलिए आहिताग्नि तथा अग्न्याहित, यों दोनों प्रकारका प्रयोग होता है, परन्तु अर्थ दोनों प्रयोगोंसे एक ही प्रतीत होता है, उसमें अग्नि तथा आहितका पूर्वप्रयोग करनेसे कोई भेद नहीं आता, एवं 'गामानय' (गाय लाओ) अथवा 'आनय गाम्' (ले-आओ गाय) ऐसा बदल कर प्रयोग करनेपर भी अर्थभेदका प्रसङ्ग नहीं आ सकता, यह भाव है।

ननु गोशब्देन गोत्वेऽभिहिते तत्संसृष्टमानयनमितरेणाऽभिधीयते तथाऽऽनयशब्देनाऽऽनयनेऽभिहिते तत्संसृष्टं गोत्वं गोशब्देनाऽभिधीयत इत्यन्योन्याश्रयत्वमिति चेद् , नैष दोषः; तत्तत्पदश्रवणदशायां स सोऽर्थः प्रतीयते अन्त्यपदोच्चारणानन्तरं च युगपत्सर्वपदानि स्मर्यमाणानि सम्भूय स्वार्थान् पूर्वमभिहितानेवाऽन्योन्यसंसृष्टतया प्रतिपादयन्ति। तथा च कुत इतरेतराश्रयता। तदुक्तं शालिकनाथेन—

'पदजातं श्रुतं सर्वं स्मारितानन्वितार्थकम्।
न्यायसम्पादितव्यक्ति पश्चाद्वाक्यार्थबोधकम् ॥' इति ॥

न चैवमभिहितान्वयवादादर्थादविशेषप्रसङ्गः, अभिहितान्वयवादे

शङ्का—गोशब्द द्वारा उसके अर्थभूत गोत्वकी (आकारविशेष गोस्वरूपकी) प्रतीति होनेके अनन्तर गोत्वसे अन्वित आगमनकी प्रतीति होती है एवं आनयशब्दसे आनयनरूप अर्थका अभिधान होनेपर आनयनसे अन्वित गोत्वरूप अर्थकी प्रतीति होती है, इस रीतिसे अन्योन्याश्रय दोष आनेका प्रसङ्ग होता है।

समाधान—उक्त दोष देना उचित नहीं है, कारण कि गो आदि तत्–तत् पदके श्रवणसे गोत्व आदि तत्–तत् अर्थ प्रतीत होता है, अन्तिम (वाक्यमें अन्त्य) पदके सुननेके अनन्तर ही सम्पूर्ण पूर्वोच्चरित एक साथ स्मृतिमें आये हुए पद मिलकर पदश्रवणकालमें आभिहित ही अपने अपने अर्थोंका, एक दूसरे पदार्थके साथ अन्वितरूपसे, प्रतिपादन करते हैं। इस परिस्थितिमें अन्योन्याश्रय दोषका प्रसङ्ग ही कैसे हो सकता है ? यही बात शालिकनाथने भी कही है—

'सम्पूर्ण पद श्रवणगोचर होते हुए अनन्वित 'केवल' स्वार्थके स्मारक होते हैं, अनन्तर याने अन्तिम पद श्रवणके पश्चात् आकाङ्क्षादि वाक्यन्यायोंसे एक ही स्मृतिमें व्यक्त हुए सम्पूर्ण पद संसर्गरूप वाक्यार्थके बोधक होते हैं अर्थात् अन्तिम पदके श्रवणके अनन्तर होनेवाली स्मृतिमें आरूढ़ पद परस्पर अन्वित अर्थके बोधक होते हैं'।

यदि शङ्का हो कि उक्त रीतिके अनुसार अन्विताभिधानवादमें अभिहितान्वयवादकी अपेक्षा वैलक्षण्यकी सिद्धि ही नहीं होगी [अर्थात् अभि-

हि पदानि पदार्थानभिधायोपक्षीयन्ते पदार्थेभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तिः। अन्विताभिधानवादे तु पदानामेव वाक्यार्थप्रतिपादकत्वमिति विशेषः। तस्मादन्विताभिधानवादे दोषाभावात् फलितो द्रुम इत्यादिकार्यशून्यवाक्यप्रयोगाणां च लोके भूयसामुपलम्भाद्वेदेऽपि 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः' 'तस्मात्पूषा प्रपिष्टभागः' इत्यादिकार्यरहितवाक्यानामुपलम्भादन्यान्वितस्वार्थमात्रे शब्दसामर्थ्यं सिद्धम्। यद्यपि तेषु वेदवाक्येषु कर्तव्य इति पदमध्याह्रियते तथाऽपि न वाक्यार्थप्रतिपत्तिसिद्धये तदध्याहारः, अन्तरेणाऽप्यध्याहारं तत्प्रतिपत्तेः। किन्तु अपूर्वार्थद्रव्यदेवतासम्बन्धावगमाधीनस्तदध्याहारः।

हितान्वयवादके समान इस मतमें भी श्रवण कालमें पदोंका अनन्वित ही स्वार्थ प्रतीत होता है, इससे कोई वैलक्षण्य नहीं आया, यह भाव है], तो यह भी युक्त नहीं है, कारण कि अभिहितान्वयवादमें पदार्थोंका अभिधान करके पद सामर्थ्यहीन हो जाते हैं, अनन्तर पदोंके द्वारा उपस्थित हुए पदार्थ वाक्यार्थका ज्ञान कराते हैं। और अन्विताभिधानवादमें तो इसके विपरीत पद ही वाक्यके अर्थका प्रतिपादन करते हैं, यों दोनों मतोंमें भेद है, अतः अन्विताभिधानवादमें दोषका अभाव है और 'फला हुआ वृक्ष' इस प्रकार लोकमें कार्यरहित वाक्योंके अनेक प्रयोग पाये जाते हैं तथा वेदमें भी 'वषट्कार करनेवालेका प्रथम भक्ष' एवं 'इसलिए सूर्यका भाग प्रपिष्ट' इत्यादि अर्थवाले कार्यशून्य वाक्य उपलब्ध होते हैं, इससे केवल अन्यान्वित स्वार्थमें पदकी शक्ति सिद्ध होती है। यद्यपि ऊपर कहे गये वेदवाक्योंमें 'कर्तव्य' पदका अध्याहार किया जाता है, [इससे उक्त वाक्योंका 'वषट्कर्ताके लिए प्रथम भक्ष करना चाहिए' और 'सूर्यका भाग प्रपिष्ट करना चाहिए', इस अर्थमें तात्पर्य होनेके कारण वे नियोगशून्य नहीं माने जा सकते] तथापि वाक्यार्थबोधकी सिद्धिके लिए उक्त पदका अध्याहार नहीं किया जाता, कारण कि अध्याहारके बिना भी वाक्यार्थबोधकी सिद्धि हो जाती है [अर्थात् नियोगबोधक 'तव्य' आदिके बिना भी सिद्ध पदार्थोंके परस्पर अन्वयका बोध होनेमें कोई बाधा नहीं है], किन्तु अपूर्वोत्पत्तिके प्रयोजक द्रव्य तथा देवताके सम्बन्धकी प्रतीतिके बलपर 'कर्तव्य' पदका अध्याहार है।*

---

* अर्थात् वषट्कारके साथ प्रथम भक्षका सम्बन्ध प्रमाणान्तरसे अप्राप्त होनेके कारण अपूर्व

यत्तु वृद्धव्यवहारानुसारिणा सूत्रकारेणैव कार्यान्वितस्वार्थे शब्दसामर्थ्यं दर्शितम्—'तद् भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः' इति, तत्र धर्मजिज्ञासोपक्रमात् प्रकृतोपयोगितया क्रियार्थतेत्युक्तम्, न तु सिद्धार्थे सामर्थ्याभावाभिप्रायेण, यतो भाष्यकारेणैव गुणगुण्यादीनां विशेषणविशेष्यादिभावेन समन्वयो दर्शितः। यदि जैमिनीयसूत्रं सिद्धार्थे शब्दसामर्थ्याभावपरं

शङ्का—वृद्धव्यवहारका अनुसरण करके सूत्रकार जैमिनिमुनिने ही 'तद् भूतानाम्'—'पूर्वोक्त निष्कर्षके अनुसार सिद्ध पदार्थोंका समाम्नाय—कथन—कार्यके ही निमित्तसे होता है' इत्यर्थक सूत्र द्वारा कार्यान्वित स्वार्थमें पदोंकी शक्ति दिखलाई है।

समाधान—सूत्रकारने उक्त सूत्रमें क्रियार्थपद इसलिए दिया है कि वहाँ धर्मजिज्ञासाका उपक्रम (प्रकरण) होनेसे प्रकृत धर्मजिज्ञासाका वह उपयोगी है, * सिद्ध पदार्थोंका अभिधान करनेमें पदोंकी शक्ति ही नहीं है, इस अभिप्रायसे नहीं दिया गया है, [अर्थात् उक्त सूत्रमें प्रस्तावोपयोगी क्रियार्थपद देनेका तात्पर्य यह नहीं हो सकता कि पदोंका स्वार्थ सिद्धस्वरूप अर्थ नहीं है,] कारण कि जैमिनिमुनिके सूत्रोंके व्याख्याता भाष्यकार शबरस्वामीने गुण तथा गुणी (द्रव्य) आदिका विशेष्यविशेषण आदि भावसे समन्वय दिखलाया है †। यदि आग्रहवश जैमिनिके सूत्रका तात्पर्य सिद्ध (भूत) अर्थमें पदोंकी शक्तिके अभावके बोधनमें ही है, ऐसी कल्पना की जाय, तो

है। तथा प्रविष्ट भागके साथ सूर्य देवताका सम्बन्ध अपूर्व है, इस प्रकार उक्त वाक्योंका समन्वय होनेसे 'कर्तव्य' पदका अध्याहार है, इसके विपरीत 'कर्तव्य' पदका अध्याहार करनेके अनन्तर उक्त वाक्योंके प्रदर्शित अर्थमें तात्पर्यका निर्णय नहीं किया जाता, इसलिए सिद्ध अर्थोंका अन्वय सम्भव है।

* चोदनात्मक साध्यरूप धर्मके निरूपणके प्रस्तावमें सिद्ध पदार्थोंका कथन क्रियानिमित्त ही माना जा सकता है, अन्यथा साध्यनिरूपणके प्रस्तावमें सिद्धका निरूपण करना व्यर्थ हो जायगा।

† 'शुक्लः पटः' या 'खण्डो गौः' इत्यादि वाक्योंमें शुक्ल पट तथा खण्ड गो आदिका विशेष्यविशेषणभाव दिखलाकर ही पदार्थोंका अन्वय किया गया है; किसी क्रियामें अन्वय करके पदार्थोंका समन्वय नहीं किया गया है। भाष्यकारके साथ उक्त प्रकारसे सिद्ध पदार्थोंका समन्वय करनेसे सूत्रविरोध भी नहीं है, कारण कि सूत्रमें प्रसङ्गसे दिया गया क्रियार्थपद सिद्ध पदार्थोंमें समन्वयके अभावका बोधन नहीं कर रहा है।